अन्तर्राष्ट्रीय संगठन

INTERNATIONAL ORGANIZATION

Dr. M. P. ROY

M. A., Ph. D.

Head, Deptt. of Political Science

S. D. Govt. P. G. College, BEAWAR

PADAM BOOK COMPANY

JAIPUR-2

New Edition 1972-73

Published by Padam Book Co., Jaipur.
Printed at Jhulelal Printers, Jaipur.
Price Rs. Thirty only

दो शब्द

'अन्तर्राष्ट्रीय संगठन' अन्तर्राष्ट्रीय जगत में सह-अस्तित्व के प्रतीक हैं, मानव-सभ्यता के उन्नायक हैं। मानव-स्वभाव में सहयोग और सहजीवन के जो अंकुर छिपे हैं, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन उन्हीं का एक व्यापक अथवा सार्वभौम स्तर पर प्रसार है। प्रस्तुत कृति इन्हीं अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की—विशेषकर राष्ट्रसंघ और वर्तमान संयुक्त राष्ट्रसंघ की जीवन-गाथा है जो इनके धुंधले-उजले, सैद्धान्तिक, व्यावहारिक, सभी पक्षों को चित्रित करती है।

हिन्दी भाषा में अन्तर्राष्ट्रीय संगठन पर जो भी रचनाएं उपलब्ध हैं, उनमें अधिकांशतः राष्ट्रसंघ, संयुक्त राष्ट्रसंघ एवं क्षेत्रीय संगठनों के जन्म, गठन, विकास एवं कार्य-कलापों का ही चित्रण है। अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का सैद्धान्तिक धरातल स्पष्ट नहीं किया गया है और विवेचना-पक्ष शिथिल है। प्रस्तुत रचना इस अभाव की कुछ पूर्ति कर सकेगी ऐसा विश्वास है। निर्णय सुविज्ञ पाठकों पर है।

रचना में यह विश्वास अभिव्यक्त है कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के प्रहरी के रूप में संयुक्त राष्ट्रसंघ सफल होगा, पर हाल में बंगला देश और भारत-पाक युद्ध के प्रति संघ का जो घोर असम्मानजनक, पक्षपातपूर्ण एवं निष्क्रिय रवैया रहा है, वह राष्ट्रसंघ के पतनोन्मुख मार्ग की बरबस ही याद दिला देता है। यदि विश्व संस्था को जीवित रहना है तो उसे अपने गौरव की रक्षा करनी ही होगी, दुर्योधन और दुशासन की नीति छोड़नी ही पड़ेगी।

अनुक्रम

1

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की अवधारणा

(THE CONCEPT OF INTERNATIONAL ORGANIZATION)



"अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का अस्तित्व इसलिये है कि हम एक ऐसे अन्योन्याश्रित विश्व में रहते हैं जिसमें मनुष्य की अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति तब तक सम्भव नहीं जब तक उसके जीवन के कुछ निश्चित पहलुओं को अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर संगठित न किया जाये। मनुष्य की प्रमुख आवश्यकताएं शान्ति और समृद्धि हैं जिन्हें पाने के लिए वह अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की कामना करता है।"[1]

—चार्ल्स पी. श्लीचर

बीसवीं शताब्दी में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में विकास का एक प्रमुख क्षेत्र अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की वृद्धि रहा है। मानव-इतिहास में पहली बार लगभग सार्वभौमिक प्रकार के (Universal type) स्थायी संगठनों का उदय हो पाया है।[2] सम्भवतः 'स्थायी' (Permanent) शब्द उपयुक्त न लगे क्योंकि राष्ट्रसंघ का जीवनकाल लगभग चौथाई शताब्दी तक ही रहा था और उसमें भी प्रभावकारी अवधि मुश्किल से पन्द्रह वर्ष की ही थी तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ का भविष्य भी, दो दशाब्दियों से भी अधिक के सक्रिय अस्तित्व के बावजूद, अभी तक बहुत अनिश्चित है।[3] फिर भी यह प्रवृत्ति सुनिश्चित रूप से पनप चुकी है कि शान्ति, सुरक्षा, समृद्धि और विभिन्न समस्याओं के समाधान के लिये राष्ट्र परस्पर अविलम्ब टकराने के स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के माध्यम से अपनी नीतियों और हितों का संरक्षण करें। युद्ध और असुरक्षा के विरुद्ध मनुष्य की शान्तिप्रिय और सहयोगपूर्ण भावनाओं ने ही उसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की स्थापना की दिशा में प्रेरित किया है। अन्तर्राष्ट्रीयतावाद पुष्पित-पल्लवित तभी होता है जब बमों की वर्षा होती है।[4]

---

1. *Charles P. Schleicher* : International Politics, p 145.
2. *Palmer & Perkins* ; International Relations, p. 298.
3. *Ibid*, p 298
4. *Charles P. Schleicher* : International Relations, p. 149.

कूटनीति (Diplomacy), सन्धि-समझौते (Treaty-negotiations), अन्तर्राष्ट्रीय कानून (International law), सम्मेलन (Conference), प्रशासन (Administration), न्यायीकरण (Adjudication) आदि भेद विश्व-संगठनों के विशेष रूप है, तथापि विश्व-संगठन का सामान्य रूप 'अन्तर्राष्ट्रीय संघ या संगठन' (International Organization) माना जाता है,[1] जैसे कि संयुक्त राष्ट्रसंघ।

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की अवधारणा (The Concept of International Organization) को स्पष्ट समझने के लिये हम क्रमश निम्नांकित उप-शीर्षकों पर विचार करेंगे—

1 अन्तर्राष्ट्रीय संगठन प्रक्रिया के रूप मे
2 सम्प्रभुता और अन्योन्याश्रयता अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के आधार रूप मे .
3 अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की परिभाषा
4. अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के अध्ययन के दृष्टिकोण
5 अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के उद्देश्य
6 अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के प्रकार

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन प्रक्रिया के रूप में
(International Organization as Process)

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन (International Organization) एक प्रक्रिया (Process) है जबकि विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय संगठन (International Organizations) उस प्रक्रिया की गति अथवा रूप के प्रतिनिधि पहलू (Representative aspects of the phase of that process) हैं।[2] कूटनीति, सन्धि, समझौतो, सम्मेलनो, अन्तर्राष्ट्रीय कानून, आदि साधनो के माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की प्रक्रिया निरन्तर प्रवाहमान है जो मूर्त रूप मे अन्तर्राष्ट्रीय संगठनो को जन्म देती है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो की वृद्धिमान जटिलता अन्तर्राष्ट्रीय संगठनो के अस्तित्व के लिये उत्तरदायी है, विश्व संगठन की प्रक्रिया (Process of organizing) मे प्रालिप्त है। इस प्रक्रिया का अतीत यद्यपि अधिक लम्बा नही है तथापि वह पर्याप्त महत्वपूर्ण है। इस प्रक्रिया का वर्तमान उलझन भरा और जटिल है किन्तु अध्ययन की महत्वपूर्ण विषय-सामग्री है। यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि यदि मनुष्य का कोई भविष्य है (If man has a future) तो ठीक उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की प्रक्रिया का भी भविष्य है।[3] यह निकट भूत ही की उपज है, तथापि एक स्थापित प्रवृत्ति (An established trend) बन चुकी है। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन (International Organizations) राष्ट्रसंघ, संयुक्त राष्ट्रसंघ

1. "International Organization", Encyclopaedia of the Social Sciences, 1932 VIII, 180-181
2 *Inis L Claude* Swords into Plow-Shares, p 6.
3. Ibid, Pages 3-4

आदि) या और जा सकते हैं, पर अन्तर्राष्ट्रीय संगठन (International organization as process) को बने रहना है।[1] राष्ट्रसंघ के पराभव ने लगभग स्वतः ही यह प्रश्न उठा दिया कि आगे किस प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना की जानी है और दुर्भाग्यवश वर्तमान संयुक्त राष्ट्रसंघ भी असफल हुआ तो पुनः वैसी ही प्रतिक्रिया उत्पन्न होगी।

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का उद्भव यथार्थतः सुदूर प्राचीन की नहीं वरन् निकट भूत की ही बात है। पाश्चात्य जगत् में उदार लोकतन्त्र (Liberal democracy) के प्रादुर्भाव के साथ ही वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के उदय का रंगमंच तैयार होने लग गया। राष्ट्रीय सरकार में लोकतन्त्र ने अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के विकास को सम्बल प्रदान किया क्योंकि सारभूत रूप में दोनों ही "मतैक्य-प्रक्रिया" (Consensual process) को लिए हैं।[2] जिस प्रकार राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था (National political setting) में लोकतन्त्र में आमितों की इच्छा में जन-निर्णय की प्रक्रिया (A process of public decision-making) निहित होती है, ठीक उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय संगठन में सम्बन्धित राज्यों की सहमति से अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की प्रक्रिया (A process of international co-operation) सन्निहित है।[3]

प्लानो एवं रिग्ज (Plano & Riggs) के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की प्रक्रिया पूर्णतः अनुभवजन्य (Empirical) और प्रयोजनवादी (Pragmatic) है। "यह बहुराज्य व्यवस्था (Multi-state system) को एक तथ्य के रूप में स्वीकार करती है और उसका उद्देश्य केवल उन संघर्षों एवं विरोधों को मिटाने (to reconcile the conflicts and contradictions) के अधिक प्रभावशाली साधन प्रदान करना है जो इस व्यवस्था (बहुराज्य व्यवस्था) की अपनी विशेषता है। किसी अधिराष्ट्रीय सरकार (Supranational government) के अभाव में केवल स्वैच्छिक सहमति अथवा समझौते ही अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के निपटारे में सफल हो सकते हैं, और अन्तर्राष्ट्रीय संगठन इस प्रकार के समझौतों की उपलब्धि के लिये एक संस्थात्मक साधन (An institutionalized means) प्रदान करता है।"[4] यह सिद्धान्तों की प्रस्थापना करता है, आवश्यक मशीनरी प्रदान करता है और उत्साह दिलाता है तथापि मूर्त और वास्तविक परिणामों के लिये 'सहयोग' (Co-operation) ही सर्वोपरि अपेक्षित है। "स्वीकृति से उत्पन्न सहयोग (Co-operation engendered by consent) अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की प्रक्रिया की कुंजी (Key to the process of international organization) है।" यदि सहयोग मिल रहा हो तो अन्तर्राष्ट्रीय अभिकरणों द्वारा बड़ी-बड़ी उलझनें सुलझायी जा सकती हैं और

1. Ibid, p. 6.
2. *Plano and Riggs*: Forging World Order, the Politics of International Organization, p. 7.
3. Ibid, p. 8.
4. Ibid, p. 8.

शान्ति तथा सुरक्षा की दिशा में महान् कार्य सम्पन्न हो सकता है। पर यदि सहयोग का अभाव हो तो अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की दशा केवल 'वहस करने वाली सभाओं' (Debating societies) की सी हो जायगी। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की सुदृढ़ता और शिथिलता इसके सदस्यों की इच्छा पर निर्भर है। इसकी सफलता-असफलता का श्रेय उन्हीं के माथे है।

अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के वर्तमान प्रसार को देखते हुए लगता यही है कि अधिकांश राष्ट्रों में निर्णयकर्ताओं (the decision-makers) ने यह विचार स्वीकार-सा कर लिया है कि राष्ट्र मनुष्य की भाँति ही, सामूहिक कार्यवाही (collective action) के माध्यम से अपने भाग्य को साज-सवार और नियन्त्रित कर सकते हैं। फिर भी यह निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन केवल मात्र इसीलिए सफल हो जायेंगे कि प्रक्रिया (The process of international organization) स्वीकार करली गयी है।[1] अतीत का इतिहास साक्षी है कि शान्ति, सुरक्षा और सहयोग की महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ युद्ध और निर्मम कार्यों की ओर सहसा लौट पड़ने के कारण तेजी से *विनिष्ट हो गईं।* हमें स्मरण रखना होगा कि केवल युद्ध ही अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को विनष्ट अथवा क्षीण नहीं करता वरन् गतिरोधों, अप्रभावी निर्णयों, निष्क्रियता आदि विभिन्न कार्यों से भी उस पर विपरीत प्रभाव पड़ता है और उसका अस्तित्व निरर्थक एवं निष्प्रभावी बन जाता है। "उदार लोकतान्त्रिक प्रक्रिया पर निर्मित राष्ट्रीय सरकारों की भाँति ही, अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के लिये सबसे बड़ा खतरा गलत निर्णय लेना नहीं है बल्कि निर्णय लेने में असफल रहना है—विशेषकर उस समय जबकि अविलम्ब निर्णय लेना अपरिहार्य हो।"[2] अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इतिहास का जो प्रवाह अब तक रहा है उसके आधार पर यही कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की प्रक्रिया के भविष्य के बारे में सजग और चौकन्ने आशावाद (A guarded optimism) की आवश्यकता है।

सम्प्रभुता और अन्योन्याश्रयता अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के आधार रूप में
(Sovereignty and Interdependence as basis of International Organizations)

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन दो परस्पर विरोधी तत्वों अथवा शक्तियों—राष्ट्रीय सम्प्रभुता और अन्तर्राष्ट्रीय *अन्योन्याश्रयता*—के बीच समझौते का प्रयास है। यह अन्तर्निहित असंगति इसकी एक अनोखी विशिष्टता है। सम्प्रभुता की माँग है कि राष्ट्रीय हित को सर्वोपरि मानकर अन्तर्राष्ट्रीय जगत में व्यवहार किया जाय और अपनी इच्छा के अतिरिक्त किसी दूसरे की इच्छा या बाह्य शक्ति के आदेशों से बाधित न हो जबकि

1. *Plano and Riggs* op cit, p 8
2. Ibid, p. 8.

अन्तर्राष्ट्रीय अन्योन्याश्रयता का तकाजा है राष्ट्र अपने अस्तित्व और विकास के लिए दूसरे राष्ट्रों से सहयोग करें—उन्हें सहायता दें और उनसे सहायता लें। जिस गति से औद्योगिक और आर्थिक युग का विकास हुआ है तथा समय और स्थिति का जो प्रवाह है उससे राष्ट्रों के मध्य पारस्परिक निर्भरता के मार्ग से हटना आत्मघाती है।

अन्योन्याश्रयता में वृद्धि और सम्प्रभुता-सिद्धान्त से तीव्र लगाव—ये दोनों बातें परस्पर इतनी विरोधी हैं कि जब तक इनमें से किसी एक का अन्त नहीं होगा, राष्ट्रों के बीच संघर्ष और युद्ध चलते रहेंगे। साथ ही यह भी सुनिश्चित है कि इनमें से किसी की भी समाप्ति असम्भव है। अतः यही मार्ग श्रेयस्कर समझा गया है कि इन दोनों शक्तियों के बीच इस प्रकार ताल-मेल बैठाते हुए चला जाय कि संघर्षों और युद्धों की आशंकाएं क्षीण हो जाय। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन इस दिशा में एक प्रभावी प्रयास है। इसे हम वह समन्वयस्थली कह सकते हैं जहां राष्ट्रीय सम्प्रभुता को पूर्ण सम्मान देते हुए अन्योन्याश्रयता का विकास किया जाता है। अग्रिम पंक्तियों में हम सम्प्रभुता और अन्योन्याश्रयता के तत्वों पर कुछ विस्तार से प्रकाश डालेंगे।

सम्प्रभुता (Sovereignty)

राज्य की सम्प्रभुता का अर्थ समय-समय पर बदलता रहा है। 16वीं और 17वीं शताब्दियों में सम्प्रभुता को राज्य की पूर्ण और निरंतर शक्ति माना जाता था। बोदाँ ने बतलाया कि यह राज्य की सर्वोच्च शक्ति है, जिस पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता। इस पर केवल ईश्वर का आदेश और प्रकृति के नियम का प्रतिबन्ध रहता है। स्पष्ट है कि बोदाँ के युग में सम्प्रभुता न केवल असीमित थी बल्कि निरंकुश, अनियमित और अविभाज्य भी थी। बाद की शताब्दियों में वस्तुस्थिति बदलने के साथ सम्प्रभुता की धारणा में भी परिवर्तन आया। वेस्टफेलिया की सन्धि के बाद अनेक छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो गये जो एक-दूसरे से स्वतन्त्र थे। इनमें से कुछ राज्य पूर्ण स्वतन्त्रता के स्वामी थे। जो राज्य दूसरे राज्यों पर निर्भर थे उन्हें सापेक्षिक-सम्प्रभु या अर्ध-सम्प्रभु कहा गया। इस प्रकार द्वारा सम्प्रभुता का विभाजन स्वीकार किया गया। जब 1787 में संयुक्त-राज्य-अमेरिका विभिन्न राज्यों का समूह बन गया तो सिद्धान्त रूप में सम्प्रभु-संघ-राज्य के सदस्यों के बीच सम्प्रभुता का विभाजन स्वीकार कर लिया गया। 19वीं शताब्दी में सम्प्रभुता के विभाजन की समस्या लगभग समाप्त सी हो गयी। अर्ध-स्वतन्त्र-राज्यों के अस्तित्व ने इस समस्या को सुलझाने में प्रभावी भाग अदा किया। 20वीं शताब्दी में सम्प्रभुता की समस्या विचारकों के आकर्षण का केन्द्र बन गयी और यद्यपि आज पूर्व-धारणायें भी विद्यमान हैं, तथापि अधिकांशतः यह स्वीकार किया जाने लगा है कि पूर्ण और निरंकुश प्रभुता की धारणा अव्यावहारिक है क्योंकि राज्य वास्तविक व्यवहार में एक दूसरे पर निर्भर हैं। अन्तर्राष्ट्रीय-शान्ति और प्रयोग के लिए यह आवश्यक है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून को महत्व दिया जाय, अन्तर्राष्ट्रीय-तत्वों के निर्वहन का भागीदार बना जाय।

इस प्रकार साराश रूप में सम्प्रभुता के विचारक 3 वर्गों में बँटे हुए हैं—प्रथमत, आज भी अनेक विद्वान् सम्प्रभुता को अविभाज्य और अदेय मानते हैं, द्वितीयत अनेक विचारक इसे विभाज्य मानते हुए तर्क देते हैं कि बिना दूसरे को सौंपे हुए इसका वैधानिक-प्रयोग हो ही नही सकता, एवम् तृतीयत: यह माना जाता है कि आधुनिक युग में सम्प्रभुता नाम की कोई वस्तु व्यवहारतः पायी ही नहीं जाती।

सम्प्रभुता है अथवा नहीं, अविभाज्य है या विभाज्य आदि पर विवाद नहीं करके यहा हमारा—अभिप्राय केवल अन्तर्राष्ट्रीय-सगठन के एक आधार के रूप में सम्प्रभुता पर विचार करना है। चाहे सम्प्रभुता की कितनी ही छिछालेदारी की गयी हो, यह स्वीकार करना होगा कि प्रत्येक राज्य की राष्ट्रीय-सरकार के पास ऐसी शक्ति होती है जो कि राज्य के अन्य किसी भी समूह, व्यक्ति अथवा संस्था को प्राप्त नहीं होती तथा जिसके कारण वह राज्य किसी भी बाह्य-शक्ति के आदेशों को अनिवार्यतः मानने को बाध्य नहीं होता। राष्ट्रीय सम्प्रभुता सम्बन्धी कटु सत्य यही है कि राज्य अपनी सम्प्रभुता का प्रयोग अपनी जनता के हित में, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में करते हैं। हर राष्ट्र को अपनी सम्प्रभुता से लगाव है और राष्ट्रीय हित को सर्वोपरि मानते हुए ही वे अन्तर्राष्ट्रीय-कानून व व्यवहार करते हैं। सम्प्रभुता की धारणा का अन्त नहीं किया जा सकता क्योंकि इसके साथ राष्ट्रीयता की बलशाली भावना जुड़ी हुयी है। सम्प्रभुता राष्ट्र की आत्म-शक्ति होती है और इसी के कारण व्यक्ति का राष्ट्र के प्रति मनोवैज्ञानिक लगाव होता है। अभी तक तो विश्व के राष्ट्र सम्प्रभुता के सिद्धान्त से चिपके हुए हैं। वे समझते हैं कि सम्प्रभुता को त्यागने का अर्थ असहाय और असमर्थ बन जाना होगा।

निःसन्देह अपनी सम्प्रभुता राष्ट्रों को प्यारी है, तथापि यह भी एक प्रकट तथ्य है कि सम्प्रभुता-सिद्धान्त का कठोरता से अनुपालन विश्व-शान्ति के लिए खतरा है। सम्प्रभुता की भावना राष्ट्रीयता की भावना से सम्बद्ध होकर साम्राज्यवादी और युद्धों को प्रोत्साहन देती रही है। आधुनिक परिस्थितियों में बदले हुए अन्तर्राष्ट्रीय-सम्बन्धों के समुचित सञ्चालन के लिए राज्यों में सम्प्रभुता को सीमित करना आवश्यक हो गया है। लॉस्की का मत था कि, "दूसरे राष्ट्रों के साथ एक राष्ट्र को किस प्रकार जीवन व्यतीत करना है"—यह एक ऐसा विषय है जिसका निर्णय वह राष्ट्र अकेला ही नही कर सकता। यदि कोई राष्ट्र अपनी मनमानी करना चाहेगा तथा अपनी सम्प्रभुता के नाम पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून अथवा अन्य देशों के प्रभाव को मानने से और अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के सदस्य के रूप में अपने दायित्वों को निभाने से इन्कार कर देगा तो यह स्वाभाविक है कि विश्व के राज्यों के बीच संघर्ष और तनाव उत्पन्न होंगे जो बढ़ कर एक दिन विनाशक रूप भी धारण कर लेंगे। जिस प्रकार व्यक्ति की स्वतन्त्रता समाज की परम्पराओं और राज्य के कानूनों को मानने में निहित है उसी प्रकार राज्यों को भी विशिष्ट कानूनों का पालन करना चाहिए। स्वतन्त्रता कभी निर्बाध नहीं होती और यही बात राष्ट्रीय सम्प्रभुता के

बारे में लागू होने चाहिए। संसार में सहयोग और शान्ति बनाये रखने के लिए यह आवश्यक माना जाने लगा है कि सम्प्रभुता की पुरानी परिभाषाओं को बदल दिया जाय। पामर तथा परकिन्स (*Palmer & Perkins*) का विचार है कि या तो नयी प्रभुता विकसित की जाए अथवा सम्प्रभुता की पूरी मान्यता को ही ठुकरा दिया जाय। जब तक सम्प्रभुता पर कानून की सीमाएँ आरोपित कर उन्हें व्यवहार में नहीं लाया जाता तब तक शान्तिपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय समाज की आशाएँ कम ही दिखाई देती हैं।[1]

अन्योन्याश्रयता (Inter-dependence)

आज के युग में अन्तर्राष्ट्रीय अन्योन्याश्रयता ऐसी ही वास्तविकता है जैसी कि राष्ट्रीय-सम्प्रभुता। आज अन्तर्राष्ट्रीय जगत में कोई भी राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के सहयोग और सहायता के बिना नहीं रह सकता। औद्योगिक प्रगति युद्ध की आधुनिक तकनीक, संचार और यातायात के क्षेत्र में हुए क्रान्तिकारी विकास आदि ने राष्ट्रों की पारस्परिक निर्भरता को अपरिहार्य बना दिया है। राज्यों को विभिन्न कारणों से सन्धियां करनी पड़ती हैं। फलतः प्रत्येक राज्य दूसरे राज्यों के प्रभाव, सन्धियों, वायदों तथा आश्वासनों से बंध जाता है। ऐसी स्थिति में बोदां अथवा आस्टिन की सम्प्रभुता की धारणा गले नहीं उतरती। सच तो यह है कि अन्योन्याश्रयता ने यह स्थिति पैदा कर दी है कि हम सम्प्रभुता के दो रूपों की चर्चा करने लगे हैं—राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सम्प्रभुता का रूप सुरक्षित, स्थायी और अविभाज्य रह सकता है लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में यह विभिन्न दृष्टियों से सीमित और प्रतिबन्धित है। क्विन्सी राइट (Quincy Wright) ने लिखा है कि म्यूनिसिपल-कानून की दृष्टि से सम्प्रभुता एक ऐसी इकाई है जिसे सीमित अथवा विभाजित नहीं किया जा सकता, लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय-कानून की दृष्टि से इसे विशेषतः विभाजित और सीमित किया जा सकता है।[2] क्लाइड ईगलटन (*Clyde Eagleton*) का मत है कि सम्प्रभुता को पूर्ण निर्बाध मानना और यह कहना कि सम्प्रभुता को त्याग दिया जाय, अनुचित है। इस समय समस्या सम्प्रभुता को कैसे की नहीं है। आवश्यकता यह है कि कुछ विषय जो अन्तर्राष्ट्रीय महत्व के हैं उन पर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण स्थापित किया जाय तथा शेष पर राष्ट्र स्वयं ही नियन्त्रण रखें। क्विन्सी राइट (Quincy Wright) ने सम्प्रभुता पर तीन क्षेत्रों में सीमाएं लगाना आवश्यक माना है—(क) अन्तर्राष्ट्रीय विवादों (International Controversies) में स्वतन्त्र निर्णय देने की शक्ति, (ख) अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में सशस्त्र सैनिक शक्ति के संगठन और प्रयोग की शक्ति तथा (ग) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर मनमाना प्रतिबन्ध लगाने की शक्ति। वर्तमान अन्योन्याश्रयता के प्रकाश में यह कहा जाने लगा है कि विश्वशान्ति, अन्तर्राष्ट्रीय कानून, अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन, सद्व्यवहार, अन्तर्राष्ट्रीय-नैतिकता आदि साधनों द्वारा

1. *Palmer & Perkins* : Ibid, p. 28.
2. *Quincy Wright* : Mandates under the League of Nations, pp. 289-91.

कुछ ऐसे तत्त्व एवं लक्ष्य हैं, जिन्हें अधिकांश समाजवादी वाञ्छनीय मानते हैं। इन आधारों पर कुछ विद्वानों ने इसे परिभाषित करने का प्रयत्न किया है जिससे यदि आंशिक रूप में भी समाजवाद का अर्थ समझा जा सके तो विवेचन की समस्या थोड़ी बहुत हल हो सकती है।

समाजवाद की कई परिभाषाएँ हमारे सामने आती हैं। पेरिस के एक पत्र-Le Figaro-ने 1892 में जब समाजवाद की परिभाषाओं को एकत्र करने का प्रयास किया तो लगभग 600 परिभाषाओं का संकलन प्राप्त हुआ। डॉन ग्रिफिथ (Don Griffiths) ने अपनी पुस्तक–What is Socialism : A Symposium (1924)-में समाजवाद की लगभग 261 परिभाषाएँ दी हैं। आजकल जिन पुस्तकों में समाजवाद की समीक्षा मिलती है उनमें यही कुछ परम्परागत परिभाषाएँ प्रायः देखने में आती हैं। प्रो॰ एली के मतानुसार "समाजवादी व्यक्ति वह है जो राज्य के अन्तर्गत संगठित समाज को इस दृष्टि से देखता है कि वह आर्थिक वस्तुओं का न्याय संगत वितरण करने तथा मानवता को ऊँचा उठाने में सहायक हो।" इसी प्रकार अंग्रेज दार्शनिक बर्ट्रेन्ड रसल (Bertrand Russell) के विचारों को उद्धृत किया जाता है जिन्होंने "समाजवाद को भूमि तथा सम्पत्ति के सामाजिक स्वामित्व का समर्थक बताया है।" एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका (Encyclopaedia Britannica) की अनुवादित परिभाषा के अनुसार –

> "समाजवाद उस नीति या सिद्धान्त को कहते हैं जिसका उद्देश्य एक केन्द्रीय लोकतन्त्रीय सत्ता द्वारा प्रचलित व्यवस्था की अपेक्षा धन का उत्तम वितरण एवं उसके अधीन रहते हुए धन का उत्तम उत्पादन उपलब्ध करना है।"7

इनके अतिरिक्त निम्नलिखित प्रसिद्ध समाजवादी तथा विद्वानों के विचारों को देना अधिक उपयुक्त होगा—

इंगलैण्ड के प्रसिद्ध समाजवादी राजनीतिज्ञ रेमजे मैक्डोनेल्ड (J. Ramsay MacDonald)–"सामान्य रूप से समाजवाद की इससे अच्छी परिभाषा नहीं हो सकती कि समाजवाद का उद्देश्य समाज के आर्थिक तथा भौतिक शक्तियों का मानवीय शक्तियों द्वारा संगठन एवं नियन्त्रण करना है।" 8

---

7 "Socialism is that policy or theory which *aims at securing by the action of the central democratic authority a better distribution and in due subordination thereto a better production of wealth than now prevails*".

8 "No better definition of socialism can be given in general terms than it aims at the organisation of the *material* economic forces of society and their control by the human forces."

Ramsay MacDonald J., Socialism: Critical and Constructive, p. 60

स्वीडन के प्रतिनिधि ने ठीक ही कहा था कि "विश्व के राष्ट्र अधिकतम सम्प्रभुता के साथ शान्ति चाहते हैं।" सम्प्रभुता को सुरक्षित रखते हुए अन्तर्राष्ट्रीय संगठन में प्रवेश करके राष्ट्र जिन प्रश्नों पर दूसरे राष्ट्रों से सहमत होता है उन पर वह उनके साथ सहयोग करता है और जिनमें वह सहमत न हो वहां दूसरे राष्ट्रों को अपने पक्ष में प्रभावित करने की चेष्टा करता है। सम्प्रभुता-सिद्धान्त से चिपके रहने के कारण कोई भी राष्ट्र दूसरों के आदेशों को मानने अथवा उनके समक्ष आत्मसमर्पण करने को तैयार नहीं होता पर कूटनीतिक-शतरंज की "शह" और "मात" की बाजी खेलता है। प्रायः समस्याओं का हल निकल आता है अथवा विरोधी राष्ट्रों में आपसी प्रत्यक्ष वार्ता का द्वार खुल जाता है, और शीत-युद्ध के भंवर में फंसकर शस्त्रों की टकराहट का खतरा टल जाता है। पर शस्त्र न टकरायें इसकी कोई गारण्टी नहीं है।

सम्प्रभुता सम्पन्न राष्ट्र अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए परस्पर सहयोग करते हैं अन्यथा अपनी शक्ति और स्थिति के आधार पर दूसरों को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं। "यही स्थिति अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों को जन्म देती है।"

अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में अन्तर्निहित उपर्युक्त असंगति का ही यह प्रभाव है कि प्रायः किसी भी सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय संगठन या संस्था के उद्देश्य एक दम सुस्पष्ट और निश्चित नहीं होते। उन्हें गोलमाल भाषा में व्यक्त किया जाता है और उन पर आदर्शों का मुलम्मा चढ़ाया जाता है ताकि संगठनों को विश्वव्यापी समर्थन मिल सके। सम्प्रभुता-सिद्धान्त के मोह में फंसे राष्ट्र किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को निर्णयात्मक तथा व्यावहारिक शक्ति प्रदान करने से हिचकते हैं और इसीलिए ऐसी शब्दावली का प्रयोग किया जाता है जो विश्व के सभी देशों के नागरिकों को अच्छी लगे। वर्तमान संयुक्त-राष्ट्र-संघ की सुरक्षा परिषद् को कार्यवाही करने का अधिकार अवश्य दिया गया है लेकिन वहां भी राष्ट्रीय सम्प्रभुता को सुरक्षित रखा गया है। प्रथम तो परिषद् के आदेशों और निर्णयों के पालन का दायित्व राष्ट्रीय सरकारों पर है और दूसरे, किसी भी बाध्यकारी कार्यवाही के लिए बड़े राष्ट्रों की सर्व-सहमति आवश्यक है। इन बड़े राष्ट्रों को निषेधाधिकार (Veto-power) दिया गया है।

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की परिभाषा एवं उसका स्वरूप
(Definition and Nature of International Organization)

पूर्व वर्णन से प्रकट अन्तर्राष्ट्रीय-संगठन स्वतन्त्र और संप्रभुता सम्पन्न राज्यों का एक औपचारिक समूह होता है जिसकी स्थापना अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति, सुरक्षा, सहयोग आदि कुछ निर्दिष्ट लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये की जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन चाहे रूप, आकार, उद्देश्य आदि की दृष्टि से सर्वथा भिन्न हों तथापि उनके जन्म के मूल में यही भावना काम करती है कि मानव समाज संघर्षों से दूर हटकर एक बने। चूंकि इस प्रकार के संगठनों में प्रवेश करते समय राज्य अपनी सम्प्रभुता को आंच नहीं आने देते, अतः ये अतिराष्ट्रीय राज्य (Supranational S.ates)

राष्ट्रीय सम्प्रभुता के चारों ओर ऐसी बाड़ लगा दी जाय कि उसको उच्छृंखल बनने का अवसर ही प्राप्त न हो सके। इतना ही नहीं, राज्यों की स्वतन्त्रता और सम्प्रभुता दूसरे राज्यों पर स्वयमेव यह दायित्व डाल देती है कि वह किसी राज्य के मामलों में हस्तक्षेप नहीं करे। हस्तक्षेप में सदैव यह धमकी छिपी रहती है कि यदि उसे नहीं माना गया तो क्या परिणाम होगा। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के इतिहास में इस प्रकार के हस्तक्षेपों और उनके परिणामों के उदाहरणों की कमी नहीं है।

राज्यों की सम्प्रभुता से यह भी प्रकट होता है कि कोई राज्य दूसरे राज्य के प्रदेश पर अपनी सम्प्रभुता का प्रयोग नहीं कर सकता। यदि किसी राज्य की सम्प्रभुता को हानि पहुँचाने वाला कार्य किया गया तो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा खतरे में पड़ जायेगी। इस दृष्टि से प्रत्येक राज्य का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह शान्ति, सुरक्षा, समृद्धि आदि के क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय-अन्योन्याश्रयता को ध्यान में रखते हुए, दूसरे राज्यों की सम्प्रभुता-शक्ति का आदर करें और उसमें किसी प्रकार की बाधा न डालें।

राज्यों का यह भी कर्त्तव्य हो जाता है कि अपनी सीमाओं में ऐसे कार्यों और व्यक्तियों को प्रोत्साहन न दें जो दूसरे राज्यों में आतंक फैलाने वाले हों। राष्ट्रसंघ ने अपने एक निर्णय में स्पष्ट घोषित किया है कि राज्य को अपने प्रदेश के राजनीतिक उद्देश्य से आतंकवादी कार्यों को न तो प्रोत्साहित करना चाहिए और न बर्दाश्त करना चाहिए। राजनीतिक-प्रकृति के आतंकवादी कार्यों का सदा दमन करना चाहिए और विदेशी सरकार की प्रार्थना पर ऐसे कार्यों के दमन में सहयोग देना चाहिए।

उपर्युक्त विवरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि राष्ट्रीय सम्प्रभुता और अन्योन्याश्रयता—दोनों ही शक्तियां प्रबल हैं। न तो राष्ट्रीय सम्प्रभुता की धारणा समाप्त हो सकती है और न ही अन्योन्याश्रयता के मार्ग से सर्वथा अलग हटा जा सकता है क्योंकि ऐसा करना आत्म-घाती होगा। साथ ही यह भी है कि ये दोनों ही शक्तियां परस्पर विरोधी हैं। जब तक इनमें से किसी एक का अन्त न किया जाय, संघर्षों और युद्धों को प्रोत्साहन मिलता ही रहेगा। इसलिए विश्व के राजनीतिज्ञों और विवेकशील राष्ट्रों ने अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना का मार्ग अपनाया है जिसमें राष्ट्रीय सम्प्रभुता को पूर्ण सम्मान देते हुए अन्योन्याश्रयता का विकास किया जाता है—एक ऐसा मार्ग चुना जाता है जिसमें दोनों शक्तियों के टकराने की नौबत यथासम्भव न आ पाये और आपसी समस्याओं को विचार-विमर्श के माध्यम से सुलझाने का प्रयास किया जाय। राष्ट्रीय सम्प्रभुता और अन्तर्राष्ट्रीय अन्योन्याश्रयता-जन्य परिस्थितियों ने राष्ट्रों को अन्तर्राष्ट्रीय संगठन बनाने और इसकी सदस्यता ग्रहण करने के लिए बाध्य किया है। राष्ट्र अपनी सम्प्रभुता सुरक्षित रखते हुए इस संगठन में प्रवेश कर सकते हैं। उदाहरणार्थ संयुक्त-राष्ट्र-संघ के चार्टर के अनुच्छेद 2 में स्पष्ट प्रावधान है कि "यह संगठन सभी सदस्य राष्ट्रों की समान सम्प्रभुता के सिद्धान्त पर आधारित है।" नवम्बर 1949 में महासभा (General Assembly) में

स्वीडन के प्रतिनिधि ने ठीक ही कहा था कि "विश्व के राष्ट्र अधिकतम सम्प्रभुता के साथ शान्ति चाहते हैं।" सम्प्रभुता को सुरक्षित रखते हुए अन्तर्राष्ट्रीय संगठन में प्रवेश करके राष्ट्र जिन प्रश्नों पर दूसरे राष्ट्रों से सहमत होता है उन पर वह उनके साथ सहयोग करता है और जिनमें वह सहमत न हो वहां दूसरे राष्ट्रों को अपने पक्ष में प्रभावित करने की चेष्टा करता है। सम्प्रभुता-सिद्धान्त से चिपके रहने के कारण कोई भी राष्ट्र दूसरों के आदेशों को मानने अथवा उनके समक्ष आत्मसमर्पण करने को तैयार नहीं होता पर कूटनीतिक-शतरंज की "शह" और "मात" की बाजी खेलता है। प्राय समस्याओं का हल निकल आता है अथवा विरोधी राष्ट्रों में आपसी प्रत्यक्ष वार्ता का द्वार खुल जाता है, और शीत-युद्ध के भँवर में फँसकर शस्त्रों की टकराहट का खतरा टल जाता है। पर शस्त्र न टकरायें इसकी कोई गारण्टी नहीं है।

सम्प्रभुता सम्पन्न राष्ट्र अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए परस्पर सहयोग करते हैं अन्यथा अपनी शक्ति और स्थिति के आधार पर दूसरों को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं। "यही स्थिति अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों को जन्म देती है।"

अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में अन्तर्निहित उपर्युक्त असंगति का ही यह प्रभाव है कि प्रायः किसी भी सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय संगठन या संस्था के उद्देश्य एक दम सुस्पष्ट और निश्चित नहीं होते। उन्हें गोलमाल भाषा में व्यक्त किया जाता है और उन पर आदर्शों का मुलम्मा चढ़ाया जाता है ताकि संगठनों को विश्वव्यापी समर्थन मिल सके। सम्प्रभुता-सिद्धान्त के मोह में फँसे राष्ट्र किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को निर्णयात्मक तथा व्यावहारिक शक्ति प्रदान करने से हिचकते हैं और इसीलिए ऐसी शब्दावली का प्रयोग किया जाता है जो विश्व के सभी देशों के नागरिकों को अच्छी लगे। वर्तमान संयुक्त-राष्ट्र-संघ की सुरक्षा परिषद् को कार्यवाही करने का अधिकार अवश्य दिया गया है लेकिन वहां भी राष्ट्रीय सम्प्रभुता को सुरक्षित रखा गया है। प्रथम तो परिषद् के आदेशों और निर्णयों के पालन का दायित्व राष्ट्रीय सरकारों पर है और दूसरे, किसी भी बाध्यकारी कार्यवाही के लिए बड़े राष्ट्रों की सर्व-सहमति आवश्यक है। इन बड़े राष्ट्रों को निषेधाधिकार (Veto-power) दिया गया है।

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की परिभाषा एवं उसका स्वरूप
(Definition and Nature of International Organization)

पूर्व वर्णन से प्रकट अन्तर्राष्ट्रीय-संगठन स्वतन्त्र और सम्प्रभुता सम्पन्न राज्यों का एक औपचारिक समूह होता है जिसकी स्थापना अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति, सुरक्षा, सहयोग आदि कुछ निर्दिष्ट लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये की जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन चाहे रूप, आकार, उद्देश्य आदि की दृष्टि से सर्वथा भिन्न हों तथापि उनके जन्म के मूल में यही भावना काम करती है कि मानव समाज संघर्षों से दूर हटकर एक बने। चूंकि इस प्रकार के संगठनों में प्रवेश करते समय राज्य अपनी सम्प्रभुता को आंच नहीं आने देते, अत. ये अधिराष्ट्रीय राज्य (Supranational S ates)

से भिन्न होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के अभिप्राय और स्वरूप को विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से प्रकट किया है।

आर्गेन्सकी के अनुसार "अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना तब होती है जब कुछ राष्ट्र संयुक्त हो जाते हैं और जब उनमें से प्रत्येक यह अनुभव करता है कि एक औपचारिक संगठन के क्रियाशील होने से उसको लाभ ही होगा।"[1]

चार्ल्स लर्च के शब्दों में, "कुछ सामान्य उद्देश्यों के लिए संगठित किये गये राष्ट्रों के औपचारिक समूह अन्तर्राष्ट्रीय संगठन कहे जा सकते हैं। स्वरूप की भिन्नता के बावजूद उनका उदय समान प्रेरक तत्वों से होता है और उनके दर्शन तथा संगठन में महत्वपूर्ण समानता पायी जाती है।"[2]

चीवर तथा हैवीलैण्ड (Cheever & Haviland) ने लिखा है कि "अन्तर्राष्ट्रीय-संगठन राज्यों के मध्य-स्थापित वह सहकारी-व्यवस्था है जिसकी स्थापना कुछ परस्पर लाभप्रद कार्यों को नियमित बैठकों और स्टाफ के जरिये पूरा करने के लिए, सामान्यतः एक आधारभूत समझौते द्वारा होती है"।[3]

चीवर तथा हैवीलैण्ड महोदय के अनुसार इस प्रकार के अंतर्राष्ट्रीय संगठन की भूमिका (Role) पर विचार करते समय अतिवादी दृष्टिकोणों से बचना महत्वपूर्ण है। कुछ वर्तमान यथार्थवादियों (Realists) का विचार है कि अन्तर्राष्ट्रीय अभिकरणों (International Agencies) निरे वस्तु अथवा निष्क्रिय साधन (Passive instruments) सभा भवन (Meeting Halls) होते हैं जो ऐसा कोई कार्य नहीं करते जो उनकी अनुपस्थिति में न किया जाता हो। अनेक आदर्शवादी (Idealists) अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों को ऐसे स्वतन्त्र-प्राणियों (Independent Creatures) के रूप में देखते हैं जिनकी अपनी इच्छायें होती हैं और अपना जीवन।[4]

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के अभिप्राय और प्रकृति को अधिक स्पष्ट करते हुए चीवर तथा हैवीलैण्ड ने आगे लिखा है कि यथार्थवादी तरीके के समर्थन में यह ध्यान रखना चाहिए कि ये अन्तर्राष्ट्रीय संगठन या अभिकरण आमतौर पर वह सत्ता या अधिकार (Authority) अथवा साधन (Resources) नहीं रखते जो अपेक्षाकृत अधिक शक्तिशाली राष्ट्रीय सरकारों से प्रतिस्पर्धा कर सकें और इसीलिए अधिकांशतः अधिक शक्तिशाली राज्यों के प्रभाव में और उन पर निर्भर रहते हैं। स्पष्ट है कि इस स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय-संगठन-शब्द अन्तर्राष्ट्रीय सरकार (International Government) की अपेक्षा अधिक ग्राह्य (Preferable) लगता है। दूसरी ओर यह कहना कि राष्ट्र वैसा ही व्यवहार और कार्य करेंगे जैसा कि इस प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय अभिकरणों के न होने पर करते, भ्रामक एवं गलत है। अपनी प्रकृति से ही

1. *Organski* : World Politics, p 391.
2. *Charles Lurch (Junior)* : America in World Affairs, pp. 16-17.
3. *Cheever and Haviland* : Organizing For Peace : International Organization in World Affairs, p 6.
4. Ibid. pp. 6.

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन अपने सदस्य-राष्ट्रों की इस वचनबद्धता के प्रतीक होते हैं कि वे सदस्य राष्ट्र उस तरीके से भिन्न रूप में आचरण करेंगे जैसा कि वे अन्तर्राष्ट्रीय संगठन में न होने पर करते। इस प्रकार का अन्तर्राष्ट्रीय अभिकरण कोई इमारत या भित्तिचित्र (Building or Murals) न होकर एक प्रक्रिया (Process) होते हैं—कुछ सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सहयोग करने के सहमतिपूर्ण मार्ग होते हैं। यह प्रक्रिया ही सरकारों और राष्ट्रों के मध्य कुछ सीमा तक मतैक्यता (Consensus) का प्रभाव और परिणाम दोनों (Both the effect and cause) है। चीवर तथा हैवीलैण्ड ने स्पष्ट किया है कि निःसन्देह बिना किसी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के भी अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग हो सकता था और भविष्य में होता रहेगा लेकिन उसकी प्रकृति सर्वथा भिन्न होगी। यह राष्ट्रसंघ अथवा संयुक्त राष्ट्र-संघ की तरह न होकर यूरोप की संयुक्त-व्यवस्था (The Concert of Europe) के समान होगी।

चीवर तथा हैवीलैण्ड के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का निर्माण करके राज्य सहयोग के ऐसे तरीके अथवा सूत्र में बन्ध जाते हैं जिसके अनुसार वे नियत काल में (Periodically) मिलते हैं, सूचना और धन देते हैं, सामान्य समस्याओं पर विचार-विमर्श करते हैं, संगठन अथवा उसके अंगों की सिफारिशों पर कुछ ध्यान देते हैं और बहुधा उन सिफारिशों का अनुपालन भी करते हैं। इन संगठनों को प्रभावी बनाने के लिए इनके अपने ऐसे कर्मचारी होते हैं जो किसी विशिष्ट राष्ट्रीय हित की अपेक्षा सामान्य हितों (Common interests) की दृष्टि से अधिक सोचते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के सदस्य रूप में अत्यन्त शक्तिशाली राष्ट्र को भी अपना रवैया कुछ इस प्रकार ढालना पड़ता है कि विश्व-जनमत उसके प्रतिकूल नहीं हो जाय। यह ध्यान रखना आवश्यक है कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की गतिविधियां न तो किसी सावयवी व्यक्तित्व (Organic personality) का फल होती है और न ही किसी एक राज्य की उपज। ये गतिविधियां एक सामूहिक सत्ता या समूह (Collective body) का प्रतिनिधित्व करती हैं जिसके निर्णय शक्तिशाली राष्ट्रों के पक्ष में होने वाले प्रभाव के सन्तुलन के परिणाम होते हैं। पुनश्च, यह भी ध्यान में रखना होगा कि प्रत्येक प्रकार के संगठन में सर्वाधिक शक्तिशाली से लेकर सर्वाधिक क्षीण संगठन तक का स्तर पाया जाता है। सभी राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएं कहीं न कहीं इन अतियों (Extremes) के बीच स्थित हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ जैसे व्यापक और सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय संगठन पर विश्व राजनीति की शक्तियों का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है।

अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के स्वरूप की दृष्टि से उद्देश्यों, सदस्यता आदि पर भी दो शब्द लिखना उचित होगा। उद्देश्यों पर आगे विस्तार से प्रकाश डालेंगे। यहां इतना ही लिखना पर्याप्त है कि इन संगठनों के उद्देश्य सामान्यतः व्यापक किन्तु अस्पष्ट और आदर्श तथा गोलमाल शब्दावली में लिखे होते हैं ताकि उन्हें विश्व-व्यापी

समर्थन मिल सके और सभी राष्ट्र उसकी सदस्यता प्राप्ति के लिए उत्साह दिखायें। जिन संगठनों के उद्देश्य स्पष्ट और निश्चित होते है, उनकी सदस्य संख्या प्राय. सीमित होती है। पर ऐसे संगठनों के पास शक्ति अधिक होती है और उनके सदस्यों में सहमति भी अधिक पायी जाती है। सदस्यता की दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय-संगठनों का इस रूप में सार्वभौमिक होना आवश्यक नहीं है कि विश्व के सभी राष्ट्र अनिवार्यतः उसके सदस्य हों। फिर भी इस रूप में उसका सर्वव्यापी होना अपेक्षित है कि वे सभी महाशक्तियां, जो विश्व-शान्ति बनाये रखने में समर्थ है, संगठन के क्षेत्राधिकार में आजाय।[1] यदि महाशक्तियों में एक दूसरे के मौलिक उद्देश्यो, हितों और दायित्वों के सम्बन्ध में कोई परस्पर समझौता न हो और वे शान्ति की रक्षा के लिए सहयोग करने पर सन्नद्ध न हो तो शान्ति और सुरक्षा की दृष्टि से निर्मित किये गये सभी संगठन पूरे कागजी सिद्ध होंगे। इन शक्तियों के सहयोगी रुख के बिना कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन आवश्यक शान्ति और एकता स्थापित करने की दिशा में अग्रसर नहीं हो सकता। राष्ट्रसंघ और संयुक्त राष्ट्रसंघ का इस दिशा में लेखा-जोखा हमारे सामने है।

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की प्रकृति के सम्बन्ध में इनिस क्लाडे (Inis L. Claude) महोदय के विचार उल्लेखनीय है।[2] क्लाडे के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय संगठन आधारभूत रूप से दोहरी प्रकृति (Dualistic nature) प्रदर्शित करते है क्योंकि ये यथार्थवादी राजनीतिज्ञों और आदर्शवादी स्वप्निल विचारकों दोनों की उपज होते हैं।

एक ओर तो अन्तर्राष्ट्रीय संगठन वह साधन है जिसके माध्यम से वर्तमान राज्य-व्यवस्था (Modern State System) अधिक सन्तोषजनक रूप से कार्य करने में समर्थ हो सकती है। इस दृष्टि से, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन बहुराज्यीय व्यवस्था (Multi-State System) के सन्दर्भ में स्थापित होता है। यह सम्प्रभु राज्य को विश्व-राजनीतिक जीवन की आधारभूत इकाई मानती है। यह कोई भी ऐसी सरकार (Super-government) बनाने में प्रयत्नशील नहीं होता, जिसके द्वारा राज्यों की सम्प्रभुता का विनाश हो और उनकी सरकारों के सभी कार्य इसके (अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के) हाथ में आ जाय। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन अन्तर्राज्यीय सम्बन्धो के संचालन के पुराने तरीकों की जगह नए, अधिक सुन्दर और श्रेयस्कर तरीके ईजाद करता है, राज्यो में ऐच्छिक सहयोग को अधिक सुविधाजनक और सुदृढ़ बनाने के लिए नये अभिकरणों की स्थापना करता है, राज्यों की नीतियों में समन्वय लाने का प्रयास करता है, राज्यों के मध्य आपसी विचार-विमर्श, समझौतों आदि के लिये सुधरे हुए मार्ग सुझाता है और कूटनीतिज्ञों के लिए एक अधिक समुचित रूप से संगठित और व्यवस्थित ढांचा प्रस्तुत करता है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय संगठन कोई क्रान्तिकारी कदम न होकर राष्ट्रों का ऐसा समझौता मात्र है जिसके अन्तर्गत विभिन्न राष्ट्र परस्पर विचार-विनिमय कर

1 *Hans J Morgenthau* . Politics Among Nations, p 473.
2 *Inis L. Claude* . Swords into Plow-shares, p p 9-13.

कुछ निर्णय ले सकें तथा लिये गये निर्णयों को लागू करवा सकें। यह कहना चाहिए कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन, सुधार, अनुकूलन तथा वर्तमान राष्ट्रों के मध्य मधुर सम्बन्धों को बनाये रखने की प्रेरणा देने वाला एक आन्दोलन है। दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय संगठन एक ऐसी प्रक्रिया भी माना जा सकता है जो विश्व-सरकार की स्थापना की दिशा में प्रयत्नशील हो, वर्तमान राष्ट्रीय राज्य-व्यवस्था का अतिक्रमण करके और आधारभूत रूप से नयी व्यवस्था प्रतिस्थापित करके विश्व-बन्धुत्व और भ्रातृत्व के युगों पुराने स्वप्न को साकार करना चाहती हो। इस व्यवस्था को लेने पर यह कहना होगा कि वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय अभिकरणों का प्रयास राज्यों को उनकी वर्तमान समस्याओं के समाधान में सहयोग देना उतना नहीं है जितना विश्वशान्ति के अधिक विकसित स्वरूपों के विकास की मांग बढ़ाना। इस प्रकार की विचारधारा संगठन के लिए निश्चित ही हानिकारक है। उसका कोई आधार नहीं है, किन्तु फिर भी विचार मूल रूप में विद्यमान हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के दोहरे स्वरूप अथवा प्रकृति में द्वन्द्व अथवा संघर्ष के बीज निहित हैं। यह कहना होगा कि राजनीतिज्ञ प्रायः स्वरूप के पोषक हैं। उन्होंने संयुक्त राष्ट्र संघ के जन्म के लिए प्रयास अपने राष्ट्रीय हितों को ध्यान में रखकर ही किया और यह भी अपेक्षा की कि बहुराष्ट्र-प्रणाली विश्व में सुचारू रूप से स्थापित हो सकेगी। जो व्यक्ति विश्व-सरकार को ध्यान में रखते हुए अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को महत्त्व देते हैं, उनका तर्क है कि शनैः शनैः राष्ट्रवादी प्रवृत्ति अन्तर्राष्ट्रीयता की प्रवृत्ति हो जायगी तथा विश्व-सरकार की रचना से पूर्व इसी दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को महत्त्व दिया जाना चाहिए।

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के दोहरे स्वरूप (Dualistic Nature) के कारण इसके शत्रु और मित्र दोनों ही विद्यमान हैं। दोनों के मध्य उपस्थित सन्धि या सन्तुलन असन्तोषकारी है। आज पलड़ा उन राजनीतिज्ञों का भारी है जो सम्प्रभुता-सम्पन्न राज्यों को बनाये रखने के पोषक हैं। ये राजनीतिज्ञ ही अन्तर्राष्ट्रीय अभिकरणों के अस्तित्व को नियन्त्रित किये हुए हैं। ऐसे भी व्यक्ति हैं जिनमें विश्व-समुदाय के प्रति उदार विचार हैं और जिनका विश्वास है कि अन्ततः सत्ता का राष्ट्रवादी विचारकों से अन्तर्राष्ट्रीय विचारकों के हाथ हस्तान्तरण होगा। इस सब के फलस्वरूप संयुक्त राष्ट्र संघ की क्षमता और उसके स्वरूप के विषय में सन्देहास्पद स्थिति ने जन्म लिया है और यह आज सुनिश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में क्या सम्भावित परिवर्तन हो सकते हैं। इस संस्था के स्वरूप का निर्धारण वर्तमान सदस्य राष्ट्रों की इच्छाओं, अपेक्षाओं और नीतियों पर निर्भर करेगा। यह उनके द्वारा निर्देशित होकर अपनी सीमाओं में कार्य करने को प्रेरित होगा। यह सदस्य राष्ट्रों पर ही निर्भर है कि भविष्य में वे इसको वर्तमान के अनुसार, आंशिक परिवर्तन के साथ अथवा आमूल चूल परिवर्तन के साथ स्वीकार करें या इसे अनावश्यक समझ कर समाप्त ही कर दें। इस सम्भा-

वना की भी कल्पना की जा सकती है कि अन्तर्राष्ट्रीय विचारकों ने जिन मूल उद्देश्यो से वर्तमान संगठन का निर्माण किया है, उनकी पूर्ति के लिए वे सतत प्रयत्नशील रहें और अन्ततः इतने शक्तिशाली हो जाय कि वे एक विश्व-समुदाय बनाने मे सफल हो सकें तथा एक विश्व-सरकार का निर्माण कर लें। यद्यपि वर्तमान स्थिति मे यह विचार कल्पनात्मक (Utopian) हो सकता है लेकिन केवल कल्पना के आधार पर उसे पूर्णतः त्याज्य नहीं माना जा सकता। अतः संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के अध्येताओं से यह अपेक्षित है कि वे इसमे छिपे हुए गुणो तथा उद्देश्यों के साथ वर्तमान राजनीतिक, मनोवैज्ञानिक, आर्थिक, सामाजिक और तकनीकी स्थितियो को भी ध्यान मे रखें। इसी स्थिति मे, संगठन के जीवित रहने पर वे उसकी प्रकृति का निश्चय कर सकेंगे।

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के अध्ययन की प्रणालियाँ
(Approaches to the study of International Organization)

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के क्षेत्र का अध्ययन राजनीति मे अपेक्षाकृत नवीन है। विद्वानो के अधिकांशतः अपने व्यावसायिक दृष्टिकोण को ध्यान मे रखकर ही इसे स्वरूप प्रदान करने का प्रयास किया है। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के अध्ययन की प्रणालियो मे ऐतिहासिक प्रणाली (Historical Approach) तथा सैद्धांतिक प्रणाली (Theoretical Approach) मुख्य हैं।

ऐतिहासिक प्रणाली (Historical Approach) का महत्व इस बात मे है कि अतीत मे उत्पन्न प्रवृत्तियो और निरन्तरताओ (Tendencies and Continuities) को समझे बिना हम न तो वर्तमान को भली प्रकार समझ सकते हैं और न भावी सम्भावनाओ का ही विवेकपूर्ण मूल्यांकन कर सकते हैं। तथापि इस खतरे के प्रति सदैव सतर्क रहना होगा कि कहीं इतिहास का अन्धानुकरण, इतिहास की सीख के लाभों को विनिष्ट न कर दे। अतीत का अनुभव हमारे वर्तमान का मार्गदर्शन करता है। वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय संगठन ऐतिहासिक अनुभव की उपज है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रति भूतकाल मे संगठता एक प्रवृत्ति रही है। क्लाडे (Claude) ने लिखा है, "अन्तर्राष्ट्रीय संगठन वर्तमान विश्व-राजनीति का एक विशिष्ट अंग है। यद्यपि इसका विकास निकटभूत की बात है, तथापि वर्तमान मे यह एक स्थापित प्रवृत्ति (Established Trend) बन चुकी है। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन (International Organizations) आ और जा सकते हैं किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय संगठन (International Organization as a Process) को बने रहना है।" [1] राष्ट्र संघ की असफलता ने अगले अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के स्वरूप के विषय मे विभिन्न राष्ट्रो को सोचने के लिये विवश किया और इसी प्रकार की आवश्यकता का अनुभव संयुक्त राष्ट्र संघ की असफलता पर किया जा सकता है। क्लाडे के अनुसार

1 *Inis L. Claude, JR.*, op. cit., p. 6.

ऐतिहासिक विश्लेषण अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को अनिवार्यतः बल प्रदान करता है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के हल के लिए अन्तर्राष्ट्रीय संगठन एक ऐसी आवश्यकता है जिसके लिए वर्तमान राजनीतिज्ञों के सामने सम्भवतः अन्य कोई विकल्प नहीं है।[1]

सैद्धान्तिक दृष्टिकोण (Theoretical Approach) की बहुधा इस क्षेत्र में उपेक्षा की गयी है। राष्ट्रीय सरकार और राजनीति के बारे में विभिन्न राष्ट्रों तथा विचारकों द्वारा यथेष्ट प्रकाश डाला गया है किन्तु दुर्भाग्यवश अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के संबंध में अब तक कोई विशेष प्रयास नहीं किये गये हैं। किन्तु अब अवसर आ गया है जब राजनीति के विचारकों को इस बारे में विशेष प्रयास करना चाहिए और उन सभी मान्यताओं का पुनर्मूल्यांकन करना चाहिए जिनसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को एक स्वस्थ तथा स्थायी आधार प्रदान किया जा सके। सैद्धान्तिक प्रणाली अन्तर्राष्ट्रीय संगठन और अन्य विकासों तथा सामाजिक अध्ययन का सामान्य क्षेत्र में समस्याओं के मध्य संबंध स्थापित करती है। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के लिए बहुत कुछ वे ही मूल आधार-सिद्धान्त हैं जो वर्तमान आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक विकासों को समर्थन प्रदान करते हैं। इस प्रकार, सैद्धान्तिक प्रणाली अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की प्रक्रिया और विश्व में हो रहे दैनिक कार्य-व्यापार (आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक) में इसी तरह संबंध स्थापित करती है जिस तरह ऐतिहासिक प्रणाली प्रक्रिया और अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के विकास को स्पष्ट करती है। सैद्धान्तिक प्रणाली का महत्व इस बात में है कि यह अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों को विचारात्मक एवं विवेचनात्मक आधार प्रदान करती है।

राजनीतिक चेतना के विकास के लिए विभिन्न राजनैतिक संस्थाओं का वैधानिक और संरचनात्मक विश्लेषण (Legal and Structural Analysis) आवश्यक है। यदि हम अन्तर्राष्ट्रीय संगठन तथा उसके कार्य-क्षेत्र को भी दृष्टि में रखें तो यह कार्य बहुत अधिक प्रभावकारी हो जाता है। अंतर्राष्ट्रीय संगठन की राजनीतिक शक्ति को समकालीन प्रवृत्तियों से अलग नहीं किया जा सकता। सत्ता का केन्द्रीकरण, तकनीकी विकास का प्रभाव, राजनैतिक अस्थिरता का प्रवाह, राजनीतिक स्थायित्व की तीव्र इच्छा, हितों और विचारधाराओं की टकराहट आदि ऐसी समकालीन प्रवृत्तियां हैं जिन से आँखें मोड़ कर अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के सही स्वरूप को जानना सम्भव नहीं है। क्लाडे (Claude) के शब्दों में, "अन्तर्राष्ट्रीय संगठन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की एक उपज है। इसके द्वारा ही संगठन के स्वरूप तथा विकास का निर्धारण किया जाता है।"[2] दूसरी ओर अंतर्राष्ट्रीय संगठन भी विश्व राजनीति को प्रभावित करता है। अन्तर्राष्ट्रीय अभिकरणों के संबंध में क्लाडे का मत है कि इनके संवैधानिक लेखों (Constitutional documents) और औपचारिक

1. Ibid, p. 6.
2. Ibid, p. 7.

संरचनात्मक व्यवस्थाओं (Formal Structural Arrangements) पर बहुत अधिक ध्यान केन्द्रित करने में खतरा ही है। अन्तर्राष्ट्रीय अभिकरणों के वास्तविक कार्यकलापों को तो तभी समझा जा सकता है जब उनका अध्ययन राजनैतिक विश्व के सन्दर्भ में किया जाय तथा उनके अन्तिम परिणामों का तभी समुचित मूल्यांकन हो सकता है जब विश्व में उनके प्रभाव को आँका जाय।[1]

सक्षम व प्रभावी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन बनाने की समस्या अन्ततोगत्वा एक विश्व समुदाय बनाने की समस्या है। अतः यह आवश्यक है कि उसके स्थूल रूप को महत्व न देकर उसे गुणात्मक बनाया जाय। संगठन का कार्य सामाजिक क्षेत्र में व्यापक होना चाहिए। समाज निर्माण की विधा से हम जितने अनभिज्ञ रहेंगे, विश्व-समुदाय का गठन उतना ही दुरूह कार्य होगा। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का समुचित अध्ययन और विश्लेषण हमें उन सीमाओं पर पहुँचाने में सहायता करता है जिनसे समाज-अन्वेषण या खोज का कार्य (Social Exploration) प्रारम्भ होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का विश्लेषण हमें उनके बारे में पूर्ण ज्ञान तो प्रदान नहीं कर सकता तथापि इसका अपना विशिष्ट लाभ है। हम यह जान पाते हैं कि वे कौनसी सीमायें जिनसे कि संगठन का कार्य रुक जाता है, अथवा किन सीमाओं तक उसके कार्यों की व्यापकता सम्भव है। इसे जानकर वर्तमान संगठन के सुधार तथा भविष्य के संगठन के स्वरूप की कल्पना की जा सकती है। इसके लिए आवश्यक है कि इससे सम्बन्धित विभिन्न छोटी-मोटी समस्याओं का अध्ययन किया जाय सम्बन्धित अवरोधों का ज्ञान प्राप्त किया जाय और उन सब स्वार्थों को जान लिया जाय जिनके द्वारा इसके कार्यों में अवरोध उत्पन्न होता हो। इसका यह अर्थ कदापि न लगाया जाना चाहिए कि भविष्य के संगठन के स्वरूप को विकसित न किया जाय, वरन् इसका उद्देश्य तो एक सुन्दर, शक्तिशाली, प्रभावकारी संगठन का जन्म है। भविष्य में निर्बल अस्थायी संगठन के स्थान पर वर्तमान का सुदृढ़ संगठन अधिक उपयोगी हो सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के उद्देश्य
(The Purpose of I O)

किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के आम तौर पर स्वीकार किये जाने वाले उद्देश्य निम्नलिखित हैं—

1. युद्ध की रोक-थाम, अथवा शान्ति एवं सुरक्षा बनाये रखना, तथा

2. उन विभिन्न समस्याओं का जो राज्यों के समक्ष उनके वैदेशिक सम्बन्धों के सन्दर्भ में उपस्थित होती हैं, निदान करना।

युद्ध की रोक-थाम अथवा विश्व में शान्ति और सुरक्षा की स्थापना अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का सर्वोपरि उद्देश्य होता है। राष्ट्रसंघ (League of Nations) के मसविदा

1 Ibid, p 7-8

(Covenant) की प्रस्तावना में संघ का उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की स्थापना करना, अर्थात् न्याय और सम्मान के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की स्थापना करके भावी युद्धों को टालना तथा संसार के राष्ट्रों के मध्य सहयोग को प्रोत्साहन देना था। इसी प्रकार वर्तमान संयुक्त राष्ट्रसंघ का लक्ष्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा की रक्षा करना, राष्ट्रों के मध्य मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध विकसित करना, तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करना है।

जिस प्रकार कोई भी समाज सुरक्षित और सभ्य तभी बना रह सकता है जब उसके सदस्य व्यक्ति के विरुद्ध आक्रमणात्मक कार्यवाहियां सम्पूर्ण समुदाय की शान्ति और कल्याण के लिए एक खतरा माने, ठीक उसी प्रकार राष्ट्रों के मध्य अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में शान्ति और व्यवस्था तभी सुरक्षित रह सकती है जब किसी भी एक राष्ट्र पर किया गया आक्रमण सम्पूर्ण विश्व के लिए एक संकट समझा जाय। यही भावना इस बात के लिए प्रेरित करती है कि राष्ट्रीय सरकार अपने देश में अराजकता की अवस्था को समाप्त करके नागरिकों को शान्ति और सुरक्षा प्रदान करे तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में विश्व के राष्ट्र एक ऐसे सर्वमान्य संगठन की स्थापना करें जो विभिन्न उपायों से राष्ट्रों के मध्य सहयोग और सामन्जस्य बनाये रखें ताकि आक्रमणात्मक कार्यवाहियों को प्रोत्साहन न मिल सके। 20वीं शताब्दी तक पाश्चात्य राज्य-व्यवस्था में युद्ध उन्हीं राज्यों का मामला समझा जाता था जो उसमें उलझे हुए हों लेकिन आर्थिक और सामाजिक मामलों में अन्तर्निर्भरता बढ़ने के साथ-साथ इस रूप में राष्ट्रीय एकाकीपन की धारणा में परिवर्तन आने लगा और बीसवीं शताब्दी में हुए आधुनिक युद्धों ने तो अकेलेपन तथा दूसरों के मामलों में रुचि न लेने की धारणाओं का अधिकांशतः जनाजा ही निकाल दिया। इसीलिए प्रथम महायुद्ध के बाद जब राष्ट्रसंघ की स्थापना हुई तो उसके संविधान के अनुच्छेद 11 में लिखा गया कि "कोई भी युद्ध अथवा युद्ध की धमकी, जो संघ के सदस्यों को तुरन्त प्रभावित कर रहा हो अथवा नहीं, सम्पूर्ण संघ के लिए चिन्तनीय विषय (Matter of Concern) समझा जायेगा।" इसी प्रकार संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के अनुच्छेद 2 में यह सिद्धान्त निहित किया गया है कि "संघ के सभी सदस्य संघ की किसी भी उस कार्यवाही में, जो वर्तमान चार्टर के अनुकूल हो, संघ को हर प्रकार का सहयोग देंगे..............."

दुर्भाग्यवश व्यवहार में दोनों ही अन्तर्राष्ट्रीय संगठन घोषित सिद्धान्तों के अनुकूल पूरी तरह आचरण नहीं कर पाये। उदाहरणार्थ जब इथोपिया पर इटली का आक्रमण हुआ तो राष्ट्रसंघ अपने सामूहिक उत्तरदायित्व से पिछड़ गया और प्रभावकारी प्रतिबन्ध (Effective sanctions) लागू नहीं कर सका। राष्ट्रसंघ असफल ही मुख्यतः इसलिए हुआ कि सदस्य राष्ट्रों ने संघ के प्रति खुलकर प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से दायित्वहीनता प्रदर्शित की। कुछ मामलों में इसी प्रकार का रवैया संयुक्त राष्ट्रसंघ का रहा है। उदाहरणार्थ 1950 में संघ के अधिकांश सदस्यों ने उत्तरी कोरिया के आक्रमण को रोकने में संघ के उद्देश्य के प्रति सहानुभूति प्रकट

की लेकिन कार्यवाही के लिए केवल 16 राष्ट्रों ने ही अपनी सैनिक टुकड़ियां दीं। वस्तुत. सामूहिक सुरक्षा के सम्बन्ध मे जो उत्तरदायित्व सयुक्त राष्ट्रसघ के सदस्यों को वहन करना चाहिए, उसका अभी तक भारी अभाव बहुत ही खटकने वाली बात है।

अन्तर्राष्ट्रीय सगठन का दूसरा उद्देश्य ससार के राष्ट्रों के समक्ष अपने वैदेशिक सम्बन्धो के निर्वहन के सम्बन्ध में उठने वाली विभिन्न समस्याओं का शान्तिपूर्ण ढग से यथासम्भव हल निकालने में सहयोग देना है। यह उद्देश्य बहुत विस्तृत अर्थात् बहुमुखी है जिसमे किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय सगठन को बड़ी सूझ-बूझ, निष्पक्षता, कूटनीतिक चातुर्य और प्रभावशील अनुशासनात्मक कार्यवाही का आश्रय लेना पडता है। इस उद्देश्य का क्षेत्र स्वास्थ्य से लेकर आर्थिक विकास और डाक-दरों से लेकर बाह्य अन्तरिक्ष तक व्यापक है। प्रतिवर्ष अन्तर्राष्ट्रीय सगठनो के सम्मुख नयी पुरानी विविध समस्याओं का अम्बार लगा रहता है जिन्हें नित्य बदलती हुई परिस्थितियों मे अनुकूलन करते हुए सुलझाना पड़ता है। चूंकि अन्तर्राष्ट्रीय सगठन, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के प्रसार के लिए, ससार के राष्ट्रों मे आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदान-प्रदान करवाता है, अन्तर्राष्ट्रीय कानून भग करने वाली चेष्टाओं के विरुद्ध प्रभावशाली सामूहिक कार्यवाही करने को सचेष्ट रहना है और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं तथा विवादों को अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार सुलझाना चाहता है, और विश्व के राष्ट्रों को शान्ति, समृद्धि और व्यवस्था के प्रति अपने नैतिक उत्तरदायित्व का प्रदर्शन करना पडता है, अत. सगठन को अधिकाश मामलो मे सफलता की आशा बनी रहती है। सगठन का नैतिक प्रभाव प्राय. प्रभावशाली ढंग से कार्य करने मे सक्षम होता है। आर्थिक, सामाजिक, स्वास्थ्य आदि क्षेत्र मे सयुक्त राष्ट्रसघ द्वारा की जाने वाली कार्यवाहियां इसका प्रमाण है।

सक्षेप मे, प्लानो तथा रिग्स (Plano and Riggs) के शब्दों मे, यह कहना होगा कि "अन्तर्राष्ट्रीय सगठन के उद्देश्य लगभग असीम हैं। अधिक सामान्य रूप मे इन बहुमुखी उद्देश्यों (Manifold purposes) को तीन मोटे लक्ष्यों (Broad objectives) मे प्रकट किया जा सकता है। जो ये हैं—शान्ति (Peace), समृद्धि (Prosperity), एव व्यवस्था (Order)।"[1] शान्ति (Peace) के उद्देश्यों की सफलता मुख्यतः इस बात पर निर्भर है कि हिंसात्मक कार्यवाही के प्रति प्रभावशाली प्रतिरोधक व्यवस्थाएं कहां तक लागू की जाती है और अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ो के शान्तिपूर्ण निदान का-सयन्त्र कहां तक उपयुक्त रूप से प्रभावशील होता है। समृद्धि (Prosperity) की उपलब्धि तभी सम्भव है जब प्राविधिक समस्याओं (Technical problems) मे सहयोग करके आर्थिक गतिविधियों का अधिकाधिक प्रसार सम्भव बनाया जाय, विशेषकर विश्व के विकासशील क्षेत्रो के आर्थिक विकास और

1. *Plano and Riggs* : op cit, p. 10.

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विस्तार की ओर उपयुक्त ध्यान दिया जाय। व्यवस्था (Order) का आशय है कि एक ऐसा व्यवस्थापूर्ण विश्व (An orderly world) हो जिसमें सभी परिवर्तन स्वाभाविक रूप में होते जाय और जो हिंसा तथा संघर्षों से मुक्त हो। इस उद्देश्य की पूर्ति में अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के अधिकांश प्रयास और कार्यक्रम सम्मिलित हो जाते हैं। एक प्रकार से ये ही उद्देश्य सभी आधारभूत लक्ष्यों का समन्वय या संश्लेषण (Synthesis) है और अराजकता, भूख, बीमारी, गरीबी, निरक्षरता, उग्र राष्ट्रवाद, भेदभाव, गुलामी, और उपनिवेशवाद के विरुद्ध एक सामान्य संघर्ष की माग करता है।[1] विधेयात्मक रूप में लेने पर इस उद्देश्य में कानूनी स्थायित्व (Legal stability), रहन-सहन के उच्च स्तर, श्रेष्ठतर स्वास्थ्य, श्रेष्ठतर शिक्षा, लोगों की एक दूसरे को समझने की प्रवृत्तियों में सुधार, मानव अधिकारों और आधारभूत स्वतन्त्रताओं के प्रति सम्मान तथा आत्म-निर्भरता और राजनीतिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति के प्रयास सम्मिलित है।[2]

उल्लेखनीय है कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के सभी उद्देश्य किसी न किसी रूप में एक दूसरे के पूरक हैं। अतः किसी एक उद्देश्य अथवा कुछ उद्देश्यों की उपलब्धि का प्रभाव अनिवार्य रूप से दूसरे क्षत्रों में पड़ता है। पुनश्च, यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के उद्देश्य सामान्यतः व्यापक किन्तु अस्पष्ट–से होते हैं। उद्देश्यों की शब्दावली प्रायः गोल-मोल भाषा में व्यक्त की जाती है ताकि संगठन को विश्वव्यापी समर्थन मिल सके और सभी राष्ट्र उसकी सदस्यता प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित हो। उद्देश्यों में न्याय, स्वतन्त्रता, शान्ति, सुरक्षा, सहयोग आदि ऐसे शब्द जड़ दिये जाते हैं जो विश्व जनमत के अनुकूल होते हैं और कोई भी राष्ट्र उनमें असहमति प्रकट करने का खतरा मोल नहीं लेना चाहता। इस प्रकार के उच्च आदर्शों की पूर्ति का उद्देश्य रखने वाले अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का सदस्य बनने से राष्ट्र की राजनीतिक प्रतिष्ठा में वृद्धि होती है। उद्देश्यों की अस्पष्ट भाषा का एक अन्य व्यावहारिक प्रभाव प्रायः यह देखने को मिलता है कि संगठन को सदस्य-राष्ट्रों द्वारा निर्णयात्मक अथवा व्यावहारिक शक्ति नहीं मिल पाती। राष्ट्रों की सार्वभौमिकता हर प्रकार से अक्षुण्ण बनी रहती है और अधिकाधिक राष्ट्र संगठन का सदस्य बनने के लिए उत्साह दिखाते हैं। वर्तमान संयुक्त राष्ट्रसंघ इसका ज्वलन्त उदाहरण है। इसके विपरीत जिन संगठनों के उद्देश्य स्पष्ट रूप से परिभाषित होते हैं उनकी सदस्य संख्या प्रायः सीमित होती है, यद्यपि शक्ति की दृष्टि से वे अधिक महत्वपूर्ण होते हैं। ऐसे संगठनों के सदस्यों में सहमति भी अधिक पाई जाती है। स्पष्ट उद्देश्य वाले संगठन में वे ही राष्ट्र सम्मिलित होते हैं जो उस उद्देश्य अथवा उन उद्देश्यों को अपनी नीतियों और हितों के अनुकूल पाते हैं। सामान्यतः ऐसे संगठन क्षेत्रीय, सैनिक आदि होते हैं।

---

1. Ibid, p. 10
2. Ibid, p. 10.

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का वर्गीकरण
(Classification of International Organization)

वर्तमान सन्दर्भ में अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों से हमारा आशय किन्हीं अस्थायी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों आदि से नहीं है वरन् राष्ट्रसंघ, संयुक्त राष्ट्रसंघ, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन आदि औपचारिक एवं स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से है। अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के विभिन्न स्वरूप प्रचलित रहते हैं। इनका वर्गीकरण मुख्यतः निम्नांकित आधारों पर किया जा सकता है—

1. उत्तरदायित्व के क्षेत्र के आधार पर,
2. सदस्यता के विस्तार के आधार पर,
3. कार्यों के स्वरूप के आधार पर, एवं
4. सत्ता के आधार पर।

उत्तरदायित्व का क्षेत्र

इस दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय संगठन दो वर्गों में विभाज्य है—

(क) व्यापक संगठन, एवं (ख) कार्यगत संगठन।

व्यापक संगठन के सामान्य उद्देश्य, कार्य और दायित्व बहुत व्यापक होते हैं। राष्ट्रसंघ और संयुक्त राष्ट्रसंघ इस प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के उत्तम उदाहरण हैं।

कार्यगत संगठनों का भी उत्तरदायित्व यद्यपि व्यापक होता है तथापि उनका कार्यक्षेत्र व्यापक संगठनों की तुलना में सीमित होता है। कार्यगत संगठनों के उदाहरण, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन, विश्व स्वास्थ्य संगठन, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रानिधि, विश्व डाक संघ आदि हैं। इन्हें गैर-राजनीतिक संगठन भी कहा जाता है। ये प्राविधिक संगठन होते हैं जिनका निर्माण कुछ आर्थिक, सामाजिक या सांस्कृतिक विशिष्ट समस्याओं को सुलझाने के लिए किया जाता है। राष्ट्र इन समस्याओं के समाधान में परस्पर सहयोग की आवश्यकता अनुभव करते हैं। फलस्वरूप ये संगठन अस्तित्व में आते हैं। कार्यगत संगठन स्वयम् को अन्तर्राष्ट्रीय सहानुभूति और सुरक्षा की स्थापना, राजनीतिक विवादों के समाधान आदि के झंझटों से दूर रखते हैं। ये कार्य तो व्यापक संगठनों के अधिकार-क्षेत्र में गिने जाते हैं। सबसे प्राचीन कार्यगत संगठन, "राईन का समुद्र-यात्रा आयोग" (Central Commission for the Navigation of the Rhine) गिना जाता है जिसकी स्थापना सन् 1804 में हुयी थी। संयुक्त राष्ट्रसंघ के विशिष्ट अभिकरण इसी वर्ग में आते हैं।

सदस्यता का विस्तार

इस आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों को दो वर्गों में बाँटा जाता है—

(क) सार्वभौमिक, एवं (ख) प्रादेशिक।

सार्वभौमिक संगठन की सदस्यता विश्व के सभी राष्ट्रों के लिए उन्मुक्त होती है। उन राष्ट्रों को इसका सदस्य बनने में रोका जा सकता है जो विश्वशान्ति और

सुरक्षा के लिए खतरा हो। लड़ाकू प्रवृत्ति के और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को पलीता लगाने वाले हों। उदाहरणार्थ, बहुत कुछ इन्हीं आधारों पर साम्यवादी चीन को अब तक संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता से वंचित रखा गया है, यद्यपि अब कूटनीतिक परिस्थियां तेजी से बदल रही हैं और लालचीन का संघ में प्रवेश पहले से अधिक निश्चित हो चला है। सार्वभौमिक प्रकृति के संगठन किसी विशेष स्वार्थ, सिद्धान्त अथवा विचारधारा से आबद्ध नहीं होते। आक्रामक विचारों से दूर रहते हुए वे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति सुरक्षा और सहयोग के आकांक्षी होते हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ, विश्व डाक संघ, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन आदि सार्वभौमिक प्रकृति के ही हैं।

प्रादेशिक संगठन, जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, किसी क्षेत्र विशेष के हितों की रक्षा के लिए बनाये जाते हैं। इनकी सदस्यता उन्हीं क्षेत्रों में सीमित होती है। अमेरिकी राज्य संगठन, वारसा संधि संगठन, यूरोपीय साझा बाजार, नाटो, सीटो, सैंटो आदि संगठन प्रादेशिक प्रकृति के ही हैं। इस प्रकार के संगठन यद्यपि आर्थिक, सामाजिक और सैनिक प्रवृत्ति के भी होते हैं तथापि उनका निर्णय समान हितों और विचार वाले उन राष्ट्रों द्वारा किया जाता है जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में अपने राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए परस्पर संयुक्त होना आवश्यक समझते हैं।

कार्य-सम्पादन का ढंग

इस आधार पर भी अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों को प्रायः दो वर्गों में विभाजित किया जाता है—

(क) नीति-निर्माण संबंधी कार्य करने वाले एवं,

(ख) प्रशासकीय कार्य करने वाले।

नीति निर्माण सम्बन्धी कार्य करने वाले संगठनों का अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन एक उदाहरण है। यह संगठन श्रमिकों के विषय में नीतियां बनाता है और सदस्य राष्ट्रों से सिफारिश करता है कि वे उन नीतियों को लागू करें। विश्व स्वास्थ्य संगठन का कार्य भी नीति निर्धारण का है।

प्रशासकीय कार्य करने वाले संगठनों में विश्व डाक संघ अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय आदि उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार के संगठन प्रशासकीय सेवाओं और विवादों का समाधान करते हैं, उदाहरणार्थ, विश्व डाक संघ अन्तर्राष्ट्रीय डाक असुविधाओं को दूर करने में, विकसित अथवा अविकसित देशों की डाक सेवाओं का पुनर्गठन करने में बहुत सहयोगी रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय अनेक विवादों का महत्वपूर्ण निर्णय देते हैं जिनका अनुपालन भी होता है।

कुछ संगठन ऐसे भी होते हैं जो प्रशासकीय और नीति निर्माण सम्बन्धी सभी कार्य करते हैं, जैसे संयुक्त राष्ट्र संघ।

सत्ता प्रयोग का ढंग

इस दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का वर्गीकरण वैधानिक सत्ता प्राप्त एवं राजनीतिक सत्ता प्राप्त संगठनों में किया जाता है। वैधानिक सत्ता प्राप्त संगठन के

निर्णयों को मानने के लिए सदस्य राष्ट्र कानूनी रूप से बाध्य होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय और कुछ हद तक सुरक्षा परिषद् इस प्रकार के संगठन हैं, जिनके कार्य और आदेशों का कानूनी तौर पर राज्यों और व्यक्तियों पर लागू होना आवश्यक है। जिन संगठनों को केवल राजनीतिक सत्ता प्राप्त होती है, वे अधिक से अधिक सिफारिशें कर सकते हैं, जिनको मानना या ठुकरा देना राज्यों की इच्छा पर निर्भर है। ये संगठन राजनीतिक होते हैं जो किसी कार्य को प्रोत्साहन देने वाली सुविधायें जुटाने में सहयोग देते हैं। इनके निर्णय कानूनी रूप से बाध्य नहीं होते। विश्व के अधिकांश अन्तर्राष्ट्रीय संगठन इसी वर्ग में आते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय और कुछ हद तक सुरक्षा परिषद् को छोड़ कर संयुक्त राष्ट्र संघ से सम्बन्धित अन्य सभी संगठन कानूनी न होकर राजनीतिक ही कहे जायेंगे। पश्चिमी यूरोपीय राज्यों के 6 संगठन जैसे, यूरोपीय कोयला और इस्पात संगठन, यूरोपीय अर्थ संगठन, यूरोपीय अनुसंधान संगठन आदि के पीछे कानूनी शक्ति एवं मान्यता है। इन संगठनों के निर्णयों का पालन सदस्य राष्ट्रों के लिए अनिवार्य है। उल्लंघन कर्ता राज्यों को दण्डित करने का अधिकार भी संगठन को मिला हुआ है। इसी कारण इन्हें अन्तर्राष्ट्रीय संगठन न कह कर प्रायः अधिराष्ट्रीय संगठन भी (Supranational organization) कह दिया जाता है।

सदस्यता की समस्या
(The Problem of Membership)

अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों द्वारा जिन समस्याओं का सामना किया जाता है उन्हें इनिस क्लाडे ने दो मोटे वर्गों में विभाजित किया है—

(1) संवैधानिक समस्यायें (Constitutional Problems)—इनमें संगठनों के प्रबन्ध और कार्य से सम्बन्धित आन्तरिक मसले मुख्यतः सम्मिलित होते हैं। ये वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय संगठन स्वयम् की समस्यायें (The problems of international organization) होती हैं।

(2) वास्तविक अथवा तात्विक समस्यायें (Substantial Problems)—इनमें वे बाहरी मसले सम्मिलित होते हैं जिनका समाधान किया जाना होता है। ये समस्याएं वे हैं जिनसे निपटने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय संगठन बनाये जाते हैं (The problems with which the organizations are designed to grapple)।

दोनों प्रकार की समस्याओं को स्पष्ट करते हुए इनिस क्लाडे ने लिखा है कि, "संवैधानिक समस्यायें वे हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की स्थापना द्वारा (By the establishment of international organizations) उत्पन्न होती हैं जब कि वास्तविक समस्यायें इस प्रकार के अभिकरणों की स्थापना के लिए (For the establishment of such agencies) घटनायें हैं।[1] समस्याओं के इन दोनों ही वर्गों में तार्किक रूप से चाहे कितनी ही निश्चित विभाजन रेखा खींची जाय, व्यवहार

1. *Inis L. Claude JR* - op. cit., p. 93

मे ऐसा सम्भव नहीं है। विश्व समस्याओं की प्रकृति और तीव्रता संगठनात्मक प्रयत्नों की प्रवृत्ति और स्वरूप का निर्धारण करती है और इस तरह से संवैधानिक समस्याओं को परिभाषित करती है। अन्तर्राष्ट्रीय अभिकरणों के आन्तरिक विकास से सम्बन्धित निर्णय आवश्यक रूप से बाह्य राजनीतिक बातों द्वारा प्रभावित होते हैं। इसके विपरीत वास्तविक अथवा तात्विक राजनीतिक समस्याओं का समाधान अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों द्वारा प्राप्त किये गये संवैधानिक विकास की मात्रा द्वारा प्रभावित होता है। इन दोनों ही समस्या-क्षेत्रों का परित्याग नहीं किया जा सकता।[1] आज की 20वीं शताब्दी की राजनीतिज्ञता का प्रमुख उद्देश्य इन दोनों में सन्तुलन लाना है।

सदस्यता की समस्या अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के आधारभूत संवैधानिक प्रश्नों में से एक है। इन समस्याओं का जो समाधान विकसित किया जाय उसी के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय अभिकरणों की प्रकृति, स्थिति और विश्व मामलों में उसकी सम्भावित भूमिका की प्रवृत्ति अथवा स्वरूप का बहुत कुछ निर्धारण किया जा सकता है। सदस्यता-नीति से हमें बहुत कुछ यह पता चल जाता है कि किसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के क्या उद्देश्य होंगे, उससे किस प्रकार के कार्यों की आशा की जानी चाहिए तथा इसके भावी विकास का क्या स्वरूप रहेगा।[2]

आम तौर पर अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के रचयिताओं और प्रबन्धकर्ताओं के समक्ष दो रास्ते खुले होते हैं।[3] वे विश्व-व्यापी सदस्यता, जो अपनी प्रकृति में अनुमोदक (Permissive) अथवा अनिवार्य (Compulsory) हो सकती है, का मार्ग चुन सकते हैं अथवा वे सदस्यों को चुनने की कोई कसौटी रख सकते हैं। यदि वे सदस्यों के चुनाव (Selectivity) का मार्ग अपनाते हैं तो चुनाव का मसला टेढ़ा हो जाता है। सदस्यों के चुनाव में यदि भौगोलिक तत्वों पर बल दिया जाय तो सम्भाओं का स्वरूप 'आम या सामान्य' (General) न होकर क्षेत्रीय (Regional) होगा। यह भी हो सकता है कि संगठन के अधिकार क्षेत्र में आने वाले मसलों को देखते हुए, सदस्यता के लिए राज्यों के कार्यगत अथवा वस्तुगत महत्व (Objective importance) पर कोई स्तर लागू किया जाय और इस प्रकार किसी सुरक्षा अभिकरण (Security agency) से महाशक्तियों को छोड़ कर अन्य राष्ट्रों को बाहर ही रखा जाय अथवा किसी सामुद्रिक जहाजीय संगठन से सिवाय सामुद्रिक शक्ति से सम्बन्धित राज्यों को छोड़ कर अन्य किसी को नहीं लिया जाय। अन्त में, सदस्यता सम्बन्धी नीति राज्यों के गुणात्मक पहलू से प्रभावित हो सकती है। किसी संगठन में उन्हीं सदस्यों का प्रवेश रखा जा सकता है जो किसी विशेष प्रकार की शासन-व्यवस्था अथवा अर्थ-प्रणाली को अपनाये हुए हों। उदाहरणार्थ, विल्सन ने राष्ट्रसंघ के सदस्य के रूप में केवल प्रजातान्त्रिक राज्यों का ही विचार किया था। सांस्कृतिक समरूपता, अथवा

1. Ibid, p. 93.
2. Ibid, p. 95.
3. Ibid, p. 95.

धार्मिक एकता, अथवा समान ऐतिहासिक पृष्ठभूमि आदि विभिन्न तत्व भी सदस्यता-नीति को प्रभावित कर सकते हैं। इस प्रकार के तत्वों से प्रभावित संगठनों का उत्तम उदाहरण अरब लीग अथवा ब्रिटिश राष्ट्र मण्डल है। सदस्यता के निर्णय का स्तर किसी भी राज्य के आन्तरिक गुणों से भी सम्बन्धित हो सकता है, उदाहरणार्थ, मानव-अधिकारों के सम्मान के प्रति कोई निश्चित स्तर किसी संगठन में प्रवेश की आवश्यक शर्त बनाया जा सकता है, जैसा कि 'कौंसिल आफ यूरोप' (Council of Europe) के सम्बन्ध में है। गुणात्मक कसौटी में किसी राज्य का वास्तविक अथवा सम्भावित (Actual or Prospective) अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार का मूल्यांकन भी सम्मिलित हो सकता है। इसी आधार पर संयुक्त राष्ट्र संघ उन राज्यों को अपना सदस्य नहीं बनाता जो शान्ति-प्रेमी (Peace-loving) न हों। इस प्रकार सदस्यता-वंचित राष्ट्रों को व्यंग्यपूर्वक प्रायः 'बुरे' (Bad) राज्य कहा जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की सदस्यता के प्रश्न प्रायः निरन्तर विवादग्रस्त रहे हैं। ये प्रश्न और भी जटिल इसलिए हो जाते हैं कि सदस्यता-नीति को अनुशासित करने वाले सिद्धान्तों के संवैधानिक गुणों से सम्बन्धित वास्तविक मतभेदों को राजनीतिक लाभ के अनुमान पर आधारित प्रतियोगी दावों के साथ बड़ी चतुराई से मिला दिया जाता है।[1] विशुद्ध संवैधानिक दृष्टिकोण से किसी भी सिद्धान्त को 'एकमात्र सही सिद्धान्त' नहीं माना जा सकता तथापि 'आवश्यकता के नियम' (Rule of Essentuality) के रूप में किसी सिद्धान्त के आदर्श की प्रस्थापना अवश्य की जा सकती है। इस अवधारणा के अनुसार सदस्यता-नीति का विवेकपूर्ण निर्धारण प्रत्येक विशिष्ट संस्था के प्रकार्यात्मक उद्देश्यों (Functional purposes) को दृष्टि में रखते हुए किया जाना चाहिए। संगठन में राज्यों का प्रवेश या निषेध इस निर्णय के आधार पर होना चाहिए कि क्या संगठन में उसकी भागीदारी संगठन के उद्देश्यों की पूर्ति की दृष्टि से आवश्यक है। इसी नियम के अनुसरण में, उदाहरणार्थ, सबों की सदस्यता किसी सामुद्रिक जहाजरानी अभिकरण में आवश्यक (Essential) समझी जा सकती है किन्तु किसी सामान्य स्वास्थ्य संगठन के लिए वांछित (Desirable) किन्तु अनावश्यक और किसी एशियाई क्षेत्रीय व्यवस्था के लिए अनुचित (Improper) समझी जा सकती है। इनिस क्लाड के शब्दों में, 'यह आदर्श स्तर किन्हीं विशिष्ट संगठनात्मक सिद्धान्तों के अभिभावकों की हठधर्मी के लिए भी उतनी ही चुनौती है जितनी राजनीतिक उद्देश्यों से प्रेरित राष्ट्रवादियों की स्वेच्छाचारिता के लिए।"[2]

सदस्यता की समस्या का यह सामान्य विवेचन प्रस्तुत किया गया है। राष्ट्र-संघ और संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता का विवेचन अगले अध्यायों में यथास्थान किया जायगा।

---

1. Ibid, p. 96.
2 Ibid, p 96

2

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का विकास

(THE EVOLUTION OF INTERNATIONAL ORGANIZATION)

"आज के बाद संसार मे शान्ति की स्थापना तभी सम्भव है जब हम एक नई तथा ठोस कूटनीति को अपनाएं, संसार के बड़े राष्ट्र किसी भी आपसी समझौते को मानलें, शान्ति स्थापित करने के मूलभूत आधारों के विरुद्ध जब कोई गुट द्वारा कार्यवाही करने लगे तो उस पर तुरन्त सामूहिक कार्यवाही की जा सके, तभी सभ्यता कायम रह सकेगी।"

—विल्सन

वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय संगठन इतिहास की लम्बी प्रक्रिया की उपज है। राष्ट्रों के बीच शान्ति और सुरक्षा बनाये रखना, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सन्दर्भ में एक प्रमुख विषय रहा है। पामर एवं परकिन्स ने लिखा है कि वर्तमान संगठन के मूल रूपों (Proto types) के दर्शन हमें प्राचीन और मध्य-युगीन इतिहास में होते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के वर्तमान नमूने का विकास उस राष्ट्रीय-राज्य-व्यवस्था के समय से होता रहा है जिसका उदय अनेक शताब्दियों पूर्व हुआ था। विशेषकर यह विकास 1648 की वेस्टफेलिया कांग्रेस (The Congress of Westphalia) के समय से अधिक स्पष्ट और महत्वपूर्ण है।[1]

प्रो० पिटमैन बी० पोटर ने अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के 6 विशेष रूप अथवा प्रकार बतलाये हैं—कूटनीति (Diplomacy), सन्धि-समझौते (Treaty Negotiation), अन्तर्राष्ट्रीय कानून (International Law), सम्मेलन (Conference), प्रशासन (Administration), एवं न्यायीकरण (Adjudication)। इसके अतिरिक्त एक सामान्य रूप अन्तर्राष्ट्रीय संघ (International Federation) का है।

पामर और परकिन्स के अनुसार प्रो० पोटर का वर्गीकरण वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का नहीं बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार (International

1. *Palmer & Perkins* : International Relations, p. 298.

Intercourse) की प्रणालियों से सम्बन्धित है।[1] पामर और परकिन्स का यह दृष्टिकोण वास्तव मे सही है क्योकि "अन्तर्राष्ट्रीय सगठन राज्यो के मध्य स्थापित वह सहकारी व्यवस्था है जिसकी स्थापना कुछ पारस्परिक लाभप्रद कार्यों को नियमित बैठको एव स्टाफ के जरिये पूरी करने के लिए सामान्यत एक आधारभूत समझौते द्वारा होती है।"[2] यदि अन्तर्राष्ट्रीय सगठन की इस सुविकसित परिभाषा को मान्य ठहराया जाय तो वर्तमान युग मे अन्तर्राष्ट्रीय सगठनो के कुछ ही उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकेंगे जब कि प्रो० पोटर की धारणा के अनुसार तो अन्तर्राष्ट्रीय सगठन के लिखित इतिहास का अधिकाश युग मे कम से कम आदिम रूप (Primitive Form) मे अस्तित्व रहा है।[3]

अन्तर्राष्ट्रीय सगठन के विकास को सुविधा एव स्पष्टता की दृष्टि मे दो भागो में विभाजित किया जा सकता है—

(क) राष्ट्रसघ से पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय सगठन का विकास, एव

(ख) राष्ट्रसघ की स्थापना से वर्तमान तक अन्तर्राष्ट्रीय सगठन का विकास।

राष्ट्रसघ से पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का विकास
(The Evolution of International Organization before the League of Nations)

यूनानी नगर राज्यो के समय

प्राचीन यूनान के स्वर्णिम युग से बहुत पहले ही चीन, भारत, मेसोपोटामिया एव मिस्र सहित विश्व के अनेक ज्ञात भागो मे एक प्रकार के अन्तर-राज्य-सम्बन्धो (Inter-state Relations) का अस्तित्व था। शासको और राज्यों के बीच सम्बन्ध असामान्य (Uncommon) नही थे, वरन् कूटनीतिक व्यवहारो, व्यापारिक सम्बन्धो मैत्री-सन्धियो, यौद्धिक संहिताओ और शान्ति की शर्तों आदि के सम्बन्ध मे समझौते अथवा सहमति का पर्याप्त क्षेत्र विद्यमान था। गेरार्ड मेनगेनो (Gerard J. Mangone) के शब्दो मे "अतीत की सन्धियां अन्तर्राष्ट्रीय सगठन की दिशा मे प्रथम चरण (First steps) थी।"[4]

यद्यपि यूनान के निवासी अपने देश की सीमाओ से बाहर की समस्याओ के प्रति उदासीन थे और उनकी स्थानीय भक्ति उन्हे वास्तविक राष्ट्रीय एकता प्राप्त करने से रोके हुए थी, तथापि ऐम्फिक ट्यूनिक परिषद् जैसी सघीय सस्था और यूनानी नगर-राज्यो के विभिन्न मण्डलो द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सगठनो के कुछ ऐसे अल्पविकसित प्रकारो का विकास हो गया था जो किन्ही दृष्टियो से आधुनिक कहे

1. Ibid, p. 299.
2. *Cheever & Havlland* : op. cit , p. 8.
3. *Palmer & Perkins* : op. cit , p 299.
4. *Gerard J. Mangone* : A Short History of International Organization, p. 14.

जा सकते हैं। पामर एवं परकिन्स के शब्दों में, 'सन्धियाँ, संगठन, कूटनीतिक व्यवहार और सेवायें, पंच निर्णय तथा झगड़ों के शान्तिपूर्ण निर्णय के उपाय, युद्ध और शांति के नियम, संघ (Leagues) और परिसंघ (Confederation) तथा अन्तर-राज्यीय सम्बन्धों के नियमन के अन्य साधन उस समय अज्ञात नहीं थे। उनका पर्याप्त प्रयोग होता था।"[1] राज्यों के बीच सहयोग और सामन्जस्य स्थापित करने की भावना जन्म ले चुकी थी।

अभिप्राय: यह है कि यद्यपि विधि अथवा संगठन का कुछ समान या एक मापदण्ड नहीं था तथापि कुछ सामान्य प्रथाएं और व्यवहार इस बात के प्रमाण हैं कि कुछ सीमित क्षेत्रों में सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के आरम्भिक विचार विद्यमान थे। यूनानी राज्यों में शान्ति (Peace) को सामान्य सबंध (A normal relationship) के रूप में सोचा जाने लगा था। राजदूत यद्यपि नियमित रूप से नहीं रखे जाते थे, तथापि उनका आदान-प्रदान होता रहता था। राज्यों को 'मान्यता' देने के ढंग स्थापित हो चुके थे। वाणिज्यिक सेवाओं (Consular services) का विकास हो चला था और वाणिज्यिक तथा कूटनीतिक अधिकारियों (Consular and Diplomatic Officers) को विशेष सुविधाएं प्रदान की जाती थी। कुछ ऐसी प्रथाओं या रिवाजों का समूह था जो आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून से मिलता-जुलता था और जिनसे युद्ध एवं शान्ति की व्यवस्थाएं अनुशासित होती थीं। तृतीय पक्ष के न्याय (Third party-judgement) की प्रथा का विकास सम्भवतः सर्वाधिक महत्वपूर्ण था और अन्तर्राज्यीय विवादों (Inter-state disputes) के 'शान्तिपूर्ण समाधान' (Peaceful settlement) के स्थायी अभिकरण (Permanent agencies) भी थे। पंचनिर्णय या विवाचन (Arbitration) सामान्य था।"[2]

रोम के सार्वभौमिक साम्राज्य से वेस्टफेलिया तक

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की दिशा में रोमनों का योगदान कुछ निम्न प्रकार का था। जब रोम ने एक प्रकार का लगभग सार्वभौमिक साम्राज्य (Universal Empire) स्थापित कर लिया, तब भी इस साम्राज्य के केन्द्रित स्वरूप और चीन तथा भारत जैसे शक्ति केन्द्रों से इसकी दूरी के कारण अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों का मार्ग अवरुद्ध ही रहा। उस समय रोमनों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का विचार अपरिचित या विदेशी (Foreign) ही था। तथापि उन्होंने वैधानिक, सैनिक और प्रशासनिक तरीकों की दिशा में योगदान किया और 'जस-जेन्शियम' (Jusgentium) का वह आधार स्थापित किया जो आने वाली शताब्दियों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून का एक उपजाऊ स्रोत बन गया।[3]

1. *Palmer & Perkins* : op. cit., p. 299.
2. *Cheever & Haviland* : op. cit., p. 19.
3. Ibid, p. 299.

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की दिशा में सन् 1414 में 'कौन्सटेन्स की परिषद्' (The Council of Constance) एक महत्वपूर्ण पग थी। वह उस समय तक के इतिहास में एक बहुत ही दर्शनीय अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस थी जो पोपशाही के विरोधी दावों का समाधान करने के लिए और इस प्रकार यूरोप के राजनैतिक एवं आध्यात्मिक भाग्य की रूप-रेखा निर्धारित करने के लिए समवेत हुई थी। उस समय रोमन चर्च भौतिक और आध्यात्मिक सभी क्षेत्रों में अपनी पूर्ण प्रभुता का उपासक था। यद्यपि भौतिक शक्ति की आकांक्षाओं की पूर्ति में भी वह असफल रहा और साथ ही सभ्य विश्व के अधिकांश भाग की पूर्ण आध्यात्मिक भक्ति भी अर्जित नहीं कर सका तथापि यह निर्विवाद है कि आज तक के गैर-राजनीतिक संगठनों में रोमन चर्च सर्वाधिक शक्तिशाली रहा है।[1]

पामर एवं परकिन्स के अनुसार सम्पूर्ण मध्ययुग में राजनीतिक, व्यापारिक और धार्मिक क्षेत्रों में सन्धियों और संघों तथा समूहों का निर्माण होता रहा। उनमें 'हसेटिक संघ' (The Hanseatic League) बहुत ही महत्वपूर्ण था जिसका निर्माण मुख्यतः व्यापार-विस्तार के लिए हुआ था लेकिन जो एक प्रकार का राजनीतिक संगठन भी बन गया। मध्ययुग में सम्भवतः सब से अधिक महत्वपूर्ण और विख्यात संघ (Confederation) वह था जो तीन स्विस कैण्टनों, (उरी, श्वेज तथा अण्टर-वाल्डेन) के मध्य 1315 में हुई एक सन्धि से विकसित हुआ था और जिसमें 14वीं शताब्दी की समाप्ति से पूर्व 5 अन्य कैण्टन और मिल गये।

अन्तर्राज्यीय पद्धति और इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के विकास की दिशा में राजनीतिक दार्शनिकों ने भी इस काल में महत्वपूर्ण योग दिया। उन्होंने अपने मस्तिष्क और लेखों में यह कल्पना की कि एक विश्व समाज अथवा विश्व-प्राधिकारी ही आक्रमणकारी राष्ट्रों को उचित नियन्त्रण में रखकर शान्ति और सुरक्षा में अभिवृद्धि कर सकता है। स्टीफन पसीमी के अनुसार, "सन् 1000 में पोटियर्स की परिषद् ने एक प्रस्ताव से स्वीकार किया जिसके अनुसार कैथोलिक धर्म के शासकों का यह कर्त्तव्य माना गया कि वे बलपूर्वक अपने साधनों से युद्ध का विरोध करें।"[2] बोर्जेस के आर्चबिशप, एमन के दण्डात्मक अभियानों का आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय सेना का पूर्वगामी समझा जा सकता है। विश्व-समाज का स्पष्ट चित्रण हमें 14वीं शताब्दी के दो दार्शनिकों, पियरे दुबिश और दांते की रचनाओं में मिलता है।

पियरे दुबिश (Pierre Dubois) ने अपनी पुस्तक (The Recovery of the Holy Land) में अन्तर्राष्ट्रीय पंच निर्णय की व्यवस्था और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना का विचार प्रकट किया। उसने इस बात पर बल दिया कि फ्रेंच सम्राट के नेतृत्व में सम्पूर्ण ईसाई जगत का एकीकरण किया जाय। दुबिश ने अपनी योजना में सैनिक शक्ति की भी व्यवस्था की। यह विचार प्रकट किया गया कि यदि

1. Ibid, P. 299.
2. L. *Larry Leonard* : International Organization, pp. 23-24.

कोई शासक पंच-निर्णय अथवा शासकों की परिषद् की अवहेलना करे तो आक्रमण को रोकने के लिए सैनिक-शक्ति का प्रयोग किया जाय। यह भी कहा गया कि आक्रमणकारी राज्य के विरुद्ध आर्थिक अवरोध भी लागू किया जा सकता है। यद्यपि क्लाइड ईगिल्टन के अनुसार उस समय दुबिश की योजना अव्यवहारिक थी तथापि इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि वह अपने प्रकार की प्रथम सुव्यवस्थित योजना थी।

इटली के दार्शनिक दाँते (Dante) ने अपने ग्रन्थ 'मोनार्किया' में यह विचार व्यक्त किया कि इटली और विश्व को अशांति से छुटकारा तभी मिल सकता है जब पोपशाही को लौकिक क्षेत्र से बिल्कुल हटाकर एक सर्व-शक्ति-सम्पन्न सम्राट की अधीनता में एक सर्वव्यापी साम्राज्य की स्थापना की जाय। उसने कहा कि शान्ति और समृद्धि तभी सम्भव है जब सम्पूर्ण मानव-जाति एक राजनीतिक इकाई में बंधकर एक सम्राट की छत्रछाया में सुख भोगे। एक विश्व-साम्राज्य के विभिन्न छोटे राज्य अर्धस्वतन्त्र सदस्यों के रूप में संगठित होकर, सम्पूर्ण मानव-जाति के कल्याण में लगे रह सकते हैं। दाँते का स्पष्ट विचार था कि बाहुबलीशाही शक्ति ही समान शक्ति वाले शासकों पर नियन्त्रण रख सकती है।

बोहेमिया के सम्राट पोडिब्रेड ने भी एक वास्तविक विश्व-राज्य का विचार प्रस्तुत किया जिसके अन्तर्गत सभी सदस्य राज्यों का यह कर्तव्य था कि वे एक-दूसरे की पारस्परिक सहायता करें और आपसी झगड़ों को विवाचन या पंच-निर्णय के लिए रखें। संगठन के आदेशों को लागू करने के लिए सैनिक शक्ति का प्रयोग भी वर्जित नहीं था। सन् 1461 में पोडिब्रेड ने सुझाव दिया कि टर्की साम्राज्य के विरुद्ध फ्रांस, बोहिमिया और वेनिस को मिलकर गठबन्धन करना चाहिए। योजना के अन्तर्गत बेसिल में एक सभा की व्यवस्था की गयी। योजना का ध्येय यह भी था कि तीनों राज्य विश्व को अपने प्रभाव में रखते हुए उस पर शासन करें।

कुछ समय बाद ऐसे लेखक भी हुए जिन्होंने गैर-इसाई धर्मावलम्बी राज्यों को भी विश्व-समाज में स्थान देना उपयुक्त समझा। विक्टोरिया, सुरेज, जेन्टिली आदि लेखकों ने मानव जाति और विश्व-समाज की एकता का विचार प्रस्तुत किया। ग्रोशियस (Grotius) आदि ने कहा कि धर्म के आधार पर किसी भी देश का विरोध अनुचित है।[1]

सन् 1623 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'ले नुवो साइनी' में एमरिक क्रूसे (Emric Cruce) ने एक ऐसे विश्व-संघ के निर्माण का विचार रखा जिसमें चीन, फारस, इंडीज आदि भी सम्मिलित थे। यह प्रस्तावित किया गया कि संघ में एक विश्व-सभा और एक विश्व-न्यायालय भी हो जो समझौतों तथा पंचायत द्वारा अन्तर्राज्यीय व्यापार, कलाओं, विज्ञानों और शान्ति को प्रोत्साहन दे। क्रूसे ने

1. *Clyde Eagleton* : International Government, p 240

राजदूतों के स्थायी सम्मेलन की स्थापना का भी समर्थन किया जिसका उद्देश्य विभिन्न राज्यों के बीच मतभेदों को दूर करना हो। यह कहा गया कि कोई शासक सम्मेलन के निर्णयों के विरुद्ध न जाय अन्यथा उसके विरुद्ध शक्ति का प्रयोग किया जायगा। क्रूसे ने घोषणा की कि "यदि वे (शासक) इस सम्मेलन के सदस्य होने के नाते एकतापूर्वक काम करेंगे तो स्थायी शान्ति को कोई भी शक्ति भंग नहीं कर सकती।" क्रूसे की योजना वस्तुतः अपने सभी पूर्व-गामियों की अपेक्षा अधिक उत्तम थी। वह 20वीं शताब्दी में भी उतनी ही मान्य है जितनी कि 1620 में थी। क्लाइड ईगिल्टन ने क्रूसे की योजना को 'राष्ट्र-संघ का उल्लेखनीय पूर्वगामी' (A remarkable fore-runner of the League of Nations) माना है।

उसी समय के लगभग फ्रेंच सम्राट हेनरी चतुर्थ की ग्रैण्ड डिजाइन (Grand Design) नामक योजना प्रकाश में आयी जिसे वास्तव में ड्यूक-डि-सली (Duc-de-Sully) ने प्रस्तुत किया किन्तु संस्मरण में इसका श्रेय फ्रेंच सम्राट को दिया। योजना के अन्तर्गत एक पन्द्रह सदस्यीय यूरोपीय संघ-शासन की व्यवस्था की गयी जिसकी संघ-सीनेट का कर्तव्य था कि वह इस बात का निश्चय करे कि प्रत्येक सदस्य-राज्य कितनी सशस्त्र सेना संघ-शासन के अधीन रखे। यह प्रस्तावित किया गया कि सीनेट संघ-शासन के लिए एक प्रबन्ध-निकाय का कार्य और सदस्यों के बीच उत्पन्न होने वाले झगड़ों का निपटारा करेगी। सीनेट का यह भी कर्तव्य रखा गया कि वह अपने 6 क्षेत्रीय परिषदों की सहायता से विभिन्न समस्याओं पर विचार करे और राष्ट्रों के आपसी झगड़ों को सुलझाये। योजना के अन्तर्गत एक यूरोपीय सेना की भी व्यवस्था की गयी जो सीनेट के निर्णयों के विरुद्ध कार्य करने वाले सदस्य राज्य का शक्ति द्वारा सामना कर सकती थी।[1] सीनेट के निर्णयों को लागू करना इस सेना का ही दायित्व था। सीनेट को अधिकार था कि वह अपने निर्णय को कार्यान्वित कराने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सेना और नौसेना की व्यवस्था करेगी। उल्लेखनीय है कि सन् 1932 में फ्रांस के भूतपूर्व प्रधानमंत्री टार्ड्यू तथा हेरियट ने भी राष्ट्रसंघ के निःशस्त्रीकरण सम्मेलन में कुछ इसी प्रकार का सुझाव रखा था।

वेस्ट-फेलिया से वियना तक

पामर एवं परकिन्स के अनुसार, मध्ययुगीन व्यवस्था के समाप्त होने तथा 15वीं, 16वीं और 17वीं शताब्दी में शनैः शनैः प्रोटेस्टेन्ट सुधार आन्दोलन, कैथोलिक पुनर्जागरण, खोजों और अन्वेषणों के युग में व्यापार और वाणिज्य के विस्तार तथा वर्तमान राज्य-व्यवस्था के उदय के साथ अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों ने एक नया अर्थ और चरित्र अथवा स्वरूप ग्रहण किया। वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय समाज के सिद्धान्त और व्यवहार आकार ग्रहण करने लगे तथा संस्थायें पनपने लगीं। यद्यपि इन सिद्धान्तों, व्यवहारों और संस्थाओं का 19वीं एवं 20वीं शताब्दी से पूर्व पूर्ण विकास नहीं हो

1 *Frederick L. Schuman* : The Commonwealth of Man, p. 347.

सका तथापि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के भावी समृद्ध स्वरूप के ये प्रभावी आधार स्तम्भ थे। मेकियावली ने उन व्यवहारो का जो उत्तरी इटली के नगर राज्यो के आपसी सम्बन्धो मे प्रचलित थे। 15वी शताब्दी के अन्तिम और 16वी शताब्दी के प्रारम्भिक भाग मे वर्णन किया और अन्तर्राज्यीय सम्बन्धो (Inter-state Relations) के अध्ययन को एक नयी वास्तविकता प्रदान की। फ्रेंच विद्वान बोदाँ (Bodin) ने 16वीं शताब्दी मे सम्प्रभुता की वैज्ञानिक धारणा का निर्माण किया जिसे आमतौर पर राष्ट्रीय राज्य की विशेषताओ मे सर्वाधिक आधारभूत समझा जाता है। ग्रोशियस ने अपनी रचनाओ द्वारा 'राष्ट्रो के कानून' (Law of Nations) के विकास की आधारशिला रखी। उसने इस मान्यता को अस्वीकार किया कि सम्प्रभुता अथवा सम्प्रभु निरकुश और निरपेक्ष है। उसने कहा कि "समुदाय अथवा समाज (Community) के लिए नियम होते हैं जो युद्ध के सम्बन्ध मे और युद्ध की अवधि मे दोनो ही सन्दर्भ मे वैध (Valid) हैं।"

सन् 1648 मे आयोजित होने वाली वेस्टफेलिया-कांग्रेस (The Congress of Westphalia) अन्तर्राष्ट्रीय संगठनो के विकास की दिशा मे बहुत ही महत्वपूर्ण कदम थी। यद्यपि इसने किसी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को जन्म नहीं दिया तथापि यह इस दृष्टि से महत्वपूर्ण थी कि इसमे विभिन्न देशो के सैकडो कूटनीतिज्ञ आये थे जो यूरोप के प्रत्येक राजनीतिक हित का प्रतिनिधित्व करते थे। इस कांग्रेस मे जो निर्णय लिये गये वे परस्पर विचार-विमर्श के बाद सामने आये। किसी शक्तिशाली राष्ट्र द्वारा दूसरे कमजोर राष्ट्रो पर इनको लादा नही गया। वेस्टफेलिया कांग्रेस ने "स्वतन्त्र वार्ता द्वारा दो महान् बहुपक्षीय सन्धियां बनाईं जिन्होंने यूरोपीय अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो की नयी व्यवस्था को वैधानिक मान्यता दी।" 18वी शताब्दी मे उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवाद के विस्तार के साथ-साथ विश्व के राज्यो की दूरी कम होने लगी तथा उनके बीच इन सम्बन्धों पर नियमन करने के लिए सन्धि-समझौते; सम्मेलन आदि का व्यवहार सामान्य बन गया। सम्मेलन-व्यवस्था, जो कि वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का सम्भवतः बहुत ही विशिष्ट और लोकप्रिय लक्षण रहा है, इस अवधि मे पर्याप्त विकसित हुई।

17वीं, 18वी शताब्दी मे अन्तर्राष्ट्रीय संगठनो के निर्माण और शांतिपूर्ण सम्बन्धो के विकास के लिए अनेक योजनायें प्रकाश मे आयी। विलियम पेन, बेन्थम, काण्ट आदि विचारको ने इस दिशा मे महत्वपूर्ण सुझाव दिये। विलियम पेन ने 1693 मे अपने निबन्ध (Essay towards the Present and Future Peace of Europe) मे लिखा कि शासको की एक सामान्य ससद हो जो कानून के नियमो की स्थापना तथा आपसी विवादों के समाधान के लिए समय-समय पर अधिवेशन करे। योजना मे स्पष्ट किया गया कि "यदि शाही राज्यों मे सम्मिलित कोई भी सत्ता उसके (ससद के) सामने अपने दावो अथवा मिथ्या बहानो को रखना अस्वीकार करेगी अथवा उसके निर्णय को नहीं मानेगी तथा शस्त्रों के माध्यम से अपनी हानि

की पूर्ति की चेष्टा करेगी तो अन्य सभी सत्ताएं एक शक्ति के रूप में संयुक्त हो कर उसे (विरोधी सत्ता को) अधीनता स्वीकार करने तथा संसद के फैसले के अनुसार कार्य करने पर बाध्य करेंगी और हानि सहन करने वाले दलों को हरजाना देंगी तथा उन सत्ताओं को आवश्यक व्यय प्रदान करेंगी जिन्होंने उसे अधीनता के लिए बाध्य किया था।" स्पष्ट है कि विलियम पेन ने संसद के निर्णयों को कार्यान्वित कराने के लिए सैनिक शक्ति के प्रयोग पर बल दिया। पेन ने किसी भी देश पर विजय करने के सिद्धान्त का खण्डन करते हुए सुझाव दिया कि संसद के विभिन्न राज्यों का प्रतिनिधित्व समानता के आधार पर न हो कर जनसंख्या एवं सम्पत्ति के आधार पर हो।

सन् 1713 के यूट्रैक्ट सम्मेलन के बाद सन्त पीयर (St. Pierre) ने "Project of Perpetual Peace" नामक योजना प्रस्तुत की जिसका अनेक दार्शनिकों ने समर्थन किया। योजना का आधार यह था कि "सम्पूर्ण यूरोप एक समाज है और किसी भी राज्य को इतना शक्ति-सम्पन्न नहीं होना चाहिए कि वह शेष यूरोप पर हावी हो जाय। यूरोप के सभी राज्य एक ऐसे संविदा में सम्मिलित हों जिसके अनुसार वे प्रतिज्ञा करें कि वे एक दूसरे की क्षेत्रीय अखण्डता को कायम रखेंगे, राज्य विरोधी क्रान्तियों को कुचलेंगे और राजाओं को उनके सिंहासनों पर बनाये रखेंगे।" योजना में यह भी कहा गया कि यदि कोई इस संविदा अथवा करार को तोड़ेगा तो उसके विरुद्ध शक्ति का प्रयोग किया जायगा। सन्त पीयर ने प्रस्ताव किया कि राज्यों के बीच होने वाले मतभेदों को पंचायत द्वारा सुलझाया जाय। व्यवस्था के अन्तर्गत राजदूतों की कांग्रेस का भी सुझाव रखा गया जिसे विधायी और न्यायिक अधिकार प्रदान की गयी। मौलिक परिवर्तन सर्वसम्मति से ही सम्भव था। योजना में नि:शस्त्रीकरण की भी व्यवस्था की गयी।

सन्त पीयर की योजना के आधार पर बाद में विख्यात दार्शनिक रूसो (Rousseau) ने सन् 1761 में सम्पूर्ण यूरोप के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की योजना प्रस्तुत की जिसका प्रशासन कुछ निश्चित नियमों के आधार पर चलाया जाना था। प्रस्तावित संगठन अथवा राज्य मण्डल के लिए उसने दण्ड-शक्ति की व्यवस्था की ताकि वह अपने निर्णयों को लागू कर सके और सदस्य राज्यों को संगठन के परित्याग से रोक सके। ऐसी स्थायी सन्धि की भी व्यवस्था की गयी जो एक स्थायी कांग्रेस पर आधारित हो और वह कांग्रेस पंच निर्णय या विवाचन अथवा न्यायिक प्रक्रिया द्वारा राज्यों के आपसी झगड़ों को सुलझाये। कांग्रेस का यह कर्तव्य बतलाया गया कि वह सदस्य राज्यों की क्षेत्रीय अखण्डता और विभिन्न राज्यों की सरकारों के प्रकार अथवा स्वरूप को सुरक्षित रखे। रूसो का विश्वास था कि तत्कालीन वातावरण में उसकी योजना व्यावहारिक रूप में अमल में नहीं आ सकेगी।

रूसो के उपरान्त अंग्रेज विचारक जर्मी बेंथम ने अपनी पुस्तक "Principles

of International Law" में लिखा है कि युद्धों को रक्षात्मक समझौतों, उपनिवेशवाद की समाप्ति तथा निःशस्त्रीकरण द्वारा रोका जा सकता है। उसने सुझाव दिया कि शान्ति बनाये रखने के लिए आपसी समझौतों द्वारा यूरोपीय राज्यों की सैनिक-शक्ति कम कर दी जाय और एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायाधिकरण की स्थापना की जाय जो अपने निर्णय लागू कराने की दृष्टि से पर्याप्त सैनिक-शक्ति-सम्पन्न हो।

विख्यात दार्शनिक काण्ट (Kant) ने 1795 में प्रकाशित अपनी पुस्तक "Towards External Peace" में विश्व-शान्ति की स्थापना के लिए एक सघात्मक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की कल्पना की। उसने चाहा कि समस्त मानव जाति इस संयुक्त विश्व-राज्य के अन्तर्गत सुख और शान्ति में रहे। अनियन्त्रित स्वतंत्रता से जिस प्रकार व्यक्तिगत जीवन में बुराइयां आ जाती हैं उसी प्रकार राज्यों के लिए भी अनियन्त्रित स्वतन्त्रता बुरी है। किसी राज्य के नागरिकों का भाग्य उसके आन्तरिक संगठन पर ही निर्भर नहीं रहता वरन् दूसरे राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों पर भी निर्भर करता है। काण्ट ने कहा कि राज्य कोई अलग सावयव नहीं है अपितु उसका सम्बन्ध अन्य राज्यों के साथ भी है जो उसकी आन्तरिक और बाह्य नीति पर प्रभाव डालते हैं। काण्ट ने लिखा कि विश्व-शान्ति की स्थापना के लिए ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि किसी स्वतन्त्र राज्य को अन्य राज्य दाय भाग, विनिमय अथवा दान के रूप में प्राप्त नहीं कर सके क्योंकि ऐसा होने से अन्य राज्यों की स्वतन्त्रता खतरे में पड़ जायगी। विश्व-शान्ति को स्थायी बनाने की दिशा में यह आवश्यक होगा कि स्थिर सेना को हटा दिया जाय। राज्यों के बाह्य सम्बन्धों (External Relations) के सम्बन्ध में राष्ट्रीय ऋण लेना भी चिरस्थायी शान्ति के लिए खतरा है। संसार की सुख और शान्ति के लिए आवश्यक है कि कोई भी राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के मामलों में हस्तक्षेप न करे और प्रत्येक राष्ट्र के संविधान एवं शासन में हिंसात्मक हस्तक्षेप सर्वथा वर्जित कर दिया जाय। युद्धकाल में बधिकों का और विश्वासघात का प्रयोग न हो। प्रत्येक देश का संविधान गणतन्त्रात्मक हो और स्वतन्त्र राज्यों का एक विशाल संघ बने जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय कानून का प्रयोग प्रचलित हो। काण्ट ने विश्वास प्रकट किया कि उसकी योजना पर अमल से विश्व-शान्ति और सुरक्षा की स्थापना में सुनिश्चित योग मिल सकेगा।

जैसा कि कहा जा चुका है, 18वीं शताब्दी में उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवाद के प्रसार के फलस्वरूप विश्व के राज्यों के मध्य सम्बन्धों के नियमन के लिए सन्धि, समझौते-सम्मेलनों आदि का व्यवहार सामान्य बन गया। नेपोलियन के युद्धों के भीषण कष्टों से यूरोप के शासकों की आँखें खुलीं और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की अनेक संस्थाओं का विकास हुआ। नेपोलियन की पराजय के बाद यूरोप की राजनीतिक समस्याओं को सुलझाने के लिए वियना-कांग्रेस (1814–1815) द्वारा प्रयास किये गये।

वियना से वर्साय तक

वियना की काग्रेस (The Congress of Vienna), नेपोलियन के पराभव के बाद, युद्धों को रोकने और यूरोप की राजनीतिक समस्याओं के समाधान के लिए आयोजित की गयी। यूरोप के शासक पुरातन व्यवस्था (The old order) को पुनर्स्थापित करने के, प्रयत्नों में आंशिक और अस्थायी रूप से ही सफल हुए तथापि अपने कार्यों से जाने-अनजाने उन्होंने एक ऐसी राजनीतिक और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की आधारशिला रख दी जो लगभग एक शताब्दी तक विश्व-मामलों का मार्ग निर्धारण करती रही। काग्रेस ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि (International Law) के सम्बन्ध में भी अनेक सुझाव दिये। अन्तर्राष्ट्रीय विधि में सभ्य राज्यों में परस्पर लागू होने वाले नियमों और रीति-रिवाजों का सकलन किया गया। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय नदियों में विभिन्न राज्यों के जहाजों के आवागमन, समुद्रों के उपयोग राष्ट्रों के बीच पारस्परिक व्यवहार आदि का नियमन करने का प्रयत्न किया गया। अन्त में काग्रेस ने भावी यूरोपीय शान्ति को कायम रखने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय सस्था की स्थापना की जिसे यूरोपीय व्यवस्था कहते हैं। वियना-काग्रेस के महत्व को इंगित करते हुए एलिसन फिलिप्स ने लिखा है कि "इसके निर्णयों से सन् 1815 से 19वीं शताब्दी का राजनीतिक प्रभाव प्रारम्भ हुआ और सम्पूर्ण यूरोप के प्रमुख शासकों का नवीन समाज के निर्माण के लिए एकत्रित होना नवीन परम्परा का द्योतक था।"

वियना-काग्रेस द्वारा स्थापित यूरोपीय व्यवस्था (The Concert of Europe) को यथार्थत प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय सगठन कहा जा सकता है जिसकी आधारशिला पर ही आगे चलकर राष्ट्र-सघ और सयुक्त-राष्ट्र-सघ का निर्माण हुआ। इस सगठन के कारण यूरोपीय राज्यों में सहयोग की उस भावना का विकास हुआ जो बहुत समय तक चलती रही। यूरोपीय व्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की एक ऐसी योजना थी जिसे हम तत्कालीन यूरोप में एकीकरण की धुंधली झलक कह सकते हैं। यह योजना निश्चित रूप से अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की दिशा में प्रथम महत्वपूर्ण पग थी जिसकी स्थापना आस्ट्रिया, प्रशा, रूस और इगलैण्ड ने परस्पर मिलकर की थी।

संयुक्त व्यवस्था स्थापित करने की दिशा में प्रथम योजना पवित्र मैत्री (Holy Alliance) थी जिसे बनाने का श्रेय रूस के जार अलेक्जेण्डर को प्राप्त हुआ। यद्यपि पवित्र मैत्री भावी-क्रान्तियों को कुचलने का गुट था पर वह साथ ही भावी युद्धों को रोकने का मच भी था। पवित्र मैत्री उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकी लेकिन भविष्य में उसकी विचारधाराओं से अनेक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों को प्रेरणा मिली। हेग के सम्मेलन के साथ-साथ जो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति-आन्दोलन प्रारम्भ हुआ उसमें पवित्र मैत्री के शुभ परिणाम दिखाई पड़े। पवित्र मैत्री में राष्ट्र-सघ की योजना के चिन्ह देखने को मिले।

पवित्र मैत्री आरम्भ से ही प्रभावहीन रही और इसके लगभग दो माह बाद नवम्बर 1815 में रूस, प्रशा, आस्ट्रिया और ब्रिटेन ने एक चतुर्मुख मित्र-मण्डल (The Quadruple Alliance) का निर्माण किया जो यूरोप की संयुक्त व्यवस्था का आधार बना। वस्तुतः यदि पवित्र मित्र-मण्डल (The Holy Alliance) यूरोपीय व्यवस्था का नैतिक और धार्मिक स्वरूप था तो चतुर्मुख मित्र-मण्डल उसका राजनीतिक और व्यवहारिक रूप बना जो काफी समय तक यूरोप के राजनीतिक मामलों का सञ्चालन करता रहा। इसमें आगे चलकर 1818 में फ्रांस भी सम्मिलित हो गया। इस तरह यह पंचमुख मित्र-मण्डल (A Quintuple Alliance) बन गया।[1] चीवर तथा हैवीलैंड ने लिखा है कि यह विकास अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के इतिहास में अनेक कारणों से महत्वपूर्ण था। प्रथम, शत्रुता और विरोध के वातावरण के बावजूद यह मित्र-मण्डल शान्ति बनाये रखने के लिए प्रयत्नशील रहा। द्वितीय, जब महाशक्तियां नियमित अवधि में अपनी बैठकें करने को सहमत हो गयीं तो नियतकालीन सम्मेलन (Periodic Conferences) होने लगे। तृतीय, छोटे और कम शक्तिशाली राष्ट्रों के सन्देहों के बावजूद आम तौर पर यह माना जाने लगा कि शांति बनाये रखना महाशक्तियों के इस प्रकार के सहयोग पर ही निर्भर था।[2] यूरोप की समस्याओं के विचार के लिए महाशक्तियों ने समय-समय पर सम्मेलन करने का जो निर्णय किया उससे वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों की व्यवस्था का मार्ग मजबूती से प्रशस्त हुआ। इसीलिए मित्र-मण्डल को "सम्मेलनों द्वारा कूटनीति (Diplomacy by Conferences) भी कहा जाता है। इस मित्र-मण्डल ने सम्मेलनों की जिस प्रणाली और सहयोग की जिन धारणाओं को जन्म दिया वह आगे चल कर हमारे युग में राष्ट्र-संघ और संयुक्त-राष्ट्र-संघ का आधार बनी। मित्र-मण्डल विभिन्न समस्याओं और कठिनाइयों का सामना करते हुए प्रभावशाली ढंग से काम करता रहा। अन्ततः सन् 1848 की राज्य-क्रांति द्वारा इसका अन्त हो गया।

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के इतिहास में एक अत्यधिक महत्वपूर्ण विकास यह हुआ कि 19वीं शताब्दी के अन्त तथा 20वीं शताब्दी के आरम्भ में अनेक अन्तर्राष्ट्रीय प्रशासकीय अभिकरणों अथवा सार्वजनिक अन्तर्राष्ट्रीय संघों (International administrative or Public International Unions) का उदय हुआ। आर्थिक और सामाजिक समस्याओं के संदर्भ में राष्ट्रों के मध्य अनिवार्य सहयोग की मांग इन संगठनों के उदय का प्रमुख कारण रही।[3] इस प्रकार के संगठन अस्तित्व में आये उनमें कुछ उल्लेखनीय थे।[4] The European Commission for the Danube (1856); The Innternational Geodetic Association

1. *Palmer & Perkins*: op. tcit., P. 301.
2. *Cheever & Haviland*: opt. cit., p. 35
3. *Palmer & Perkins*: opt. cit., p. 301
4. *James A. Joyce*: World in the Making : The story of International co-operation, p. 92.

(1864); the International Bureau of Telegraphic Administration (1868); The Universal Postal Unions (1875), The International Bureau of Weights and Measures (1875); The International Copyright Union (1886), The International office of Public Health (1903) तथा The International Institute of Agriculture (1905) इनमें से कुछ संगठन आज भी अस्तित्व में हैं और अनेक अपने दायित्वों और कार्यों को संयुक्त-राष्ट्र-संघीय अभिकरणों को सौंप चुके हैं। संयुक्त-राष्ट्र-संघ से सम्बद्ध ऐसी ही एक संस्था 'The Universal Postal Union" है जिसे मेनगोने महोदय ने 'राष्ट्रों के इतिहास में सर्वाधिक महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में से एक' कह कर पुकारा है।[1]

प्रथम महायुद्ध से पहले जो प्रमुख सम्मेलन हुए उनमें 1899 तथा 1907 के हेग-सम्मेलन विशेष महत्वपूर्ण हैं। यद्यपि इन सम्मेलनों का इतिहास मुख्यतः अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास से सम्बन्धित है तथापि यह अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के विकास की दृष्टि से भी कम महत्व नहीं रखता। प्रथम हेग सम्मेलन (1899) के राज्यों ने अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान के लिए पंच-निर्णय पद्धति (Arbitration Procedure) पर अधिक बल दिया और उसे सामान्य सहमति का आधार बनाना चाहा। फलस्वरूप हेग में विवाचन के स्थायी न्यायालय (Permanent Court of Arbitration) की स्थापना हुई। अनेक महत्वपूर्ण विवाद इस न्यायालय के सम्मुख प्रस्तुत किये गये। प्रशासकीय परिषद् और एक अन्तर्राष्ट्रीय ब्यूरो इसके अंग थे। द्वितीय हेग-सम्मेलन (1907) में युद्ध के नियमों के निर्धारण पर गम्भीर विचार-विमर्श किया गया और राज्यों से यह अपेक्षा की गयी कि वे युद्ध से बचने के लिए तीसरे पक्ष की मध्यस्थता स्वीकार करें।

दोनों ही सम्मेलनों में यद्यपि अनेक घोषणाएं की गयीं और युद्ध एवं शांति के सन्दर्भ में नियम भी निर्धारित किये गये, तथापि राज्यों के बीच सम्बन्धों को विनियमित करने के लिए कोई व्यवस्थित, नियमित तथा स्थायी संस्था स्थापित नहीं हो सकी। 19वीं शताब्दी के सम्मेलनों अथवा संगठनों के झगड़ों के शान्तिपूर्ण समाधान के लिए कोई नियमित कार्यपालक अथवा विधायी प्राधिकारी निश्चित नहीं किया अतः उनका प्रभाव अपेक्षाकृत क्षीण रहा। लियोनार्ड के मतानुसार, "19वीं शताब्दी का सम्मेलन 20वीं शताब्दी के सम्मेलनों के उपायों की दृष्टि से हीन था और इसीलिए वह कम प्रभावशाली रहा। उस समय में सम्मेलन कुछ या अधिकांश सारभूत बातों की कमी थी, जैसे-सावधानी पूर्वक निर्मित कार्यावलि, कार्य-विधि के नियमन, अनुवाद एवं नयी विधियों की उपलब्धि के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सचिवालय आदि।" 1907 के द्वितीय हेग-सम्मेलन की पद्धति भी पर्याप्त मात्रा में भ्रामक और विलम्बकारी सिद्ध हुयी।

---

1. *Mangone :* A Short History, PP. 67–90.

विभिन्न कमियों के बावजूद हेग-व्यवस्था (The Heague-System) भावी अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के विकास की दृष्टि से, क्लाडे के अनुसार, निम्नलिखित दृष्टियों से महत्वपूर्ण थी।[1]

(1) हेग-व्यवस्था सर्वव्यापकता (Universality) की प्रवृत्ति लिए हुए थी। जहां प्रथम सम्मेलन मे 26 राष्ट्र ही शामिल हुए थे और वह मुख्यतः यूरोपीय राष्ट्रों का ही संगठन था, वहां द्वितीय सम्मेलन मे 44 राष्ट्रों के प्रतिनिधि शामिल हुए जिनमे लेटिन, अमेरिकन गणराज्यों के प्रतिनिधि भी थे। इस प्रकार 1907 मे विश्व को एक प्रकार से प्रथम महासभा (First General Assembly) मिल गयी। अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीति के प्रसार की दिशा में यह एक महत्वपूर्ण कदम था।

(2) हेग-सम्मेलन मे छोटे और बड़े सभी राष्ट्र सम्मिलित हुए, इस प्रकार यह व्यवस्था बलशाली बनी कि प्रमुख कूटनीतिक समाओं मे छोटे-राज्यो और बड़ी शक्तियों का समान स्तर पर सम्मिलित होना न केवल आवश्यक वरन विशेष उपयोगी भी है। यदि यूरोप मे संयुक्त व्यवस्था केवल यूरोपीय कारपोरेशन की बोर्ड आफ डायरेक्टर्स थी तो हेग-व्यवस्था-विशेषकर 1907 की व्यवस्था-एक अधिक विस्तृत कारपोरेशन के स्टाक-होल्डरो की मीटिंग थी। इस सम्मेलन म छोटे राज्यों ने स्वतंत्र और समान स्तर का विशिष्ट स्वाद चखा। यद्यपि इसके तात्कालिक परिणाम संतोषजनक नही निकले, तथापि यह एक भावी व्यवस्था की पूर्व सूचना थी। किसी भी अतर्राष्ट्रीय संगठन को पहली बार खास तौर से यह अनुभव हुआ कि छोटे और बड़े राज्यो के सापेक्षिक स्तर (Relative Status) के विवाद के समाधान मे क्या कठिनाइयां आती हैं।

(3) हेग-सम्मेलनो ने अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की व्यवस्था मे स्थायी सामान्य सुधार के उद्देश्य से सामूहिक कार्य एव दायित्व (Collective activity) के विकास की दिशा मे उल्लेखनीय योग दिया। हेग-व्यवस्था यूरोप की संयुक्त व्यवस्था से कहीं पर्याप्त अधिक मात्रा मे परोक्ष रूप से अतर्राष्ट्रीय समस्याओं से सम्बन्धित थी। अनेक मतभेदों के बावजूद हेग सम्मेलन का अतर्राष्ट्रीय कानून के महत्वपूर्ण विकास तथा संहिताकरण, विवादो के शांतिपूर्ण समाधान के लिए स्थायी प्रणाली के निर्माण तथा विवादग्रस्त या संघर्षरत राष्ट्रो द्वारा अपने झगड़ो के शांतिपूर्ण समाधान मे सिद्धांत के विकास की दिशा मे महत्वपूर्ण योग रहा।

(4) हेग-व्यवस्था ने युद्ध के परित्याग की आवश्यकता की ओर तथा बहुराज्यीय व्यवस्था के भीतर अतर्राष्ट्रीय जीवन की सहनीय दशाओं के विकास की ओर संकेत किया।

(5) हेग-सम्मेलनो की प्रवृत्ति व्यवस्थीकरण (Systematization) की ओर रही। चेयरमेन, कमेटियों, रोलकाल (Roll calls) आदि का प्रयोगात्मक उपयोग

1. *Inis L. Claude JR : op. cit., pp. 28-34.*

हुआ। 1907 में हेग-सम्मेलनों का यह, प्रस्ताव भी महत्वपूर्ण था कि एक (Preparatory Committee) की स्थापना की जाय जो भावी सम्मेलन के लिए सूचनाएं एकत्र करे और कार्यक्रम तैयार करने के लिए विभिन्न बातों का अध्ययन करे तथा तृतीय हेग-सम्मेलन की स्वीकृति के लिए संगठन और प्रणाली की एक व्यवस्था सुझाए।

उपर्युक्त बातें यह स्पष्ट करने के लिए काफी हैं कि हेग-व्यवस्था भावी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के विकास की दिशा में आधारभूमि के रूप में कितनी महत्वपूर्ण थी। यद्यपि हेग-सम्मेलनों के प्रभावकारी परिणाम नहीं निकले और प्रथम महायुद्ध का विस्फोट हो जाने से तृतीय हेग-सम्मेलन नहीं हो सका तथापि जिन व्यवस्थाओं और कार्य-प्रणालियों की ओर हेग-व्यवस्था ने संकेत दिया वे भावी मार्ग की सूचक थी। वास्तव में 19वीं और 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में सभी सम्मेलन अधिकांशतः इसीलिए कम प्रभावकारी रहे कि महाशक्तियों ने जो परामर्शात्मक पद्धति अपनायी वे बड़ी विलम्बकारी थी। उदाहरणार्थ, बर्लिन-कांग्रेस के निर्णय के अनुसार यूरोप की महाशक्तियों को यूनान एवं टर्की के बीच क्रीट सम्बन्धित विवाद की मध्यस्थता करनी थी लेकिन स्थिति बड़ी गम्भीर हो जाने पर ही महाशक्तियों ने हस्तक्षेप करना उचित समझा। यूनान द्वारा टर्की के विरुद्ध युद्ध घोषित कर देने और पराजित होने पर ही महान् राष्ट्रों ने सघर्षरत राज्यों के बीच शान्ति स्थापित करने का विचार किया। इस सम्बन्ध में टिप्पणी करते हुए मेनगोने (Mangone) ने लिखा है कि "परामर्शात्मक पद्धति की मौलिक दुर्बलता उसके झगड़ों का बुद्धिहीनता के साथ सामना करती थी। किसी नियमित संगठन के अभाव में महान शक्तियों की बैठकें यदा-कदा होती थी और उन्हें सर्वसम्मति से ही कार्य करना पड़ता था। 19वीं शताब्दी में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक झगड़ों के समाधान के लिए छोटे राज्यों के मतों पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था। यूरोपीय संयुक्त व्यवस्था की छः शक्तियों ने यूरोप, एशिया और अफ्रीका पर अपना नियन्त्रण जमा रखा था, अतः 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में विभिन्न शक्तियों के दो महान गुट उत्पन्न हो गये। एक गुट में ब्रिटेन, फ्रांस और रूस थे तथा दूसरे गुट में जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली। यूरोपीय संयुक्त व्यवस्था के अन्तर्गत स्थापित परामर्शात्मक पद्धति कुछ ही राज्यों तक सीमित थी। सदस्य-राज्यों के आपसी सम्बन्ध विशेष अवस्थाओं में केवल द्वि-पक्षीय समझौतों अथवा संयुक्त घोषणाओं पर आधारित थे। यूरोपीय संयुक्त व्यवस्था (The Concert of Europe) ने झगड़ों की समाप्ति के लिए नियमित परामर्श तथा नियमित संगठन की कोई व्यवस्था नहीं की, फलस्वरूप यह पद्धति अन्तर्राष्ट्रीय समाज की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असफल रही।"[1]

---

1. *Mangone : op cit., p. 58.*

प्रथम महायुद्ध से पूर्व अथवा दूसरे शब्दों में राष्ट्रसंघ की स्थापना से पहले सरकारी तथा गैर-सरकारी रूप से या राजनीतिक तथा गैर-राजनीतिक स्तर पर अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और संगठन की दिशा में जो विभिन्न प्रयत्न और विकास हुए, उन्हें निष्कर्ष रूप में लियोनार्ड (Leonard) महोदय ने निम्नांकित रूप में प्रस्तुत किया है।[1]—

(1) विभिन्न समस्याओं के समाधान के लिए आपसी सहयोग को अधिक स्थायी और उपयुक्त तरीकों की आवश्यकता सम्प्रभु राज्यों ने महसूस कर ली।

(2) राज्यों ने इन विशिष्ट आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की स्थापना की। फिर भी किसी विश्व-व्यापी कल्पनात्मक योजना के अनुसार राज्य-कार्यवाही के लिए कोई स्थापित तरीका अथवा नियम नहीं था। सरकारों ने एकता और विश्व-शांति के पुल के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के प्रति विशेष रुचि नहीं दिखायी, बल्कि किसी विशिष्ट समस्या की कार्यवाही को कुछ सुविधाजनक बनाने के एक साधन के रूप में ही अन्तर्राष्ट्रीय संगठन या सम्मेलन में उनकी रुचि रही।

(3) गैर-राजनीतिक क्षेत्रों में संगठन बने, वे अधिक सारपूर्ण और सरचनात्मक दृष्टि से अधिक निखरे हुए थे। जब कि राजनीतिक क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के किसी उपयुक्त ढांचे का तो विकास नहीं हुआ लेकिन ऐसी प्रक्रिया अवश्य विकसित हुई जिन्हें भावी अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों द्वारा अपनाया जाना था।

(4) अनेक क्षेत्रीय अन्तर्राष्ट्रीय संगठन पनपने लगे।

(5) अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के ढांचे में एक से तत्व (Uniform elements) उभरने लगे। उदाहरणार्थ आधारभूत चार्टर या संविधान (Basic Charter or Constitution), नीति-निर्माता अंग (Policy-making organ), स्थायी स्टाफ अथवा सचिवालय (Permanent Staff or Secretariat), सदस्यों के दायित्व (Obligations for Members), संगठन के लिए विशिष्ट रूप से परिभाषित कार्य (Specifically defind functions for the Organization) तथा कार्य संचालन के लिए वित्तीय प्रबन्ध (Arrangement for financing the work) आदि तत्व बहुत प्रकाश में आ गये।

राष्ट्र संघ से वर्तमान तक अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का विकास
(Development of International Organization from the League to the Present Day)

प्रथम महायुद्ध की भयंकरता ने विश्व के राजनीतिज्ञों और विश्व जनमत को महसूस करा दिया कि स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन द्वारा ही संसार में शान्ति स्थापित हो सकती है। इस गहन अनुभूति ने शीघ्र ही उस राष्ट्र संघ (The League of

1. *Leonard :* International Organization, p. 38.

Nations) को जन्म दिया जिसका चार्टर वर्साय की सन्धि की प्रथम 26 धाराओं में समाविष्ट था और जिसका जीवन-काल द्वितीय महायुद्ध के साथ ही व्यवहारतः समाप्त हो गया तथा अप्रेल 1946 में जिसकी अंतिम बैठक हुई। 19 अप्रेल, 1946 का दिन राष्ट्रसंघ को दफनाने का दिन था क्योंकि इस दिन उसके समस्त अधिकारों, कार्यों और सम्पत्ति को संयुक्त राष्ट्रसंघ में हस्तान्तरित करने का निश्चय किया गया। 1945 में स्थापित संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता लगभग विश्व-व्यापी है। विश्व में केवल नौ स्वतन्त्र राज्य ऐसे हैं जो अभी तक इस संघ के सदस्य नहीं बने हैं।

राष्ट्रसंघ और संयुक्त राष्ट्रसंघ के जन्म, विकास, कार्यकलाप आदि पर प्रथम अध्यायों में विस्तार से प्रकाश डाला गया है। अतः यहां पुनरावृत्ति अनावश्यक है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के अलावा आज लगभग 40 से भी अधिक अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संगठन हैं जो विविध प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय सेवाओं के मध्य सम्बन्ध एवं सहयोग बनाये रखने को प्रयत्नशील हैं, जैसे, अन्तर्राष्ट्रीय रेडक्रॉस, विश्व-डाक संघ, अन्तर्राष्ट्रीय मीट्रिक संघ, अन्तर्राष्ट्रीय तार सञ्चार संघ, अन्तर्राष्ट्रीय चेम्बर आफ कामर्स आदि। इसके अलावा राष्ट्र-संघ और संयुक्त राष्ट्रसंघ के तत्वावधान में संगठित कुछ ऐसी समितियां भी हैं जो विविध सामाजिक सेवाओं की उपलब्धि कराती हैं तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और मानव-कल्याण के विभिन्न क्षेत्रों में कार्यरत हैं। विश्व-स्वास्थ्य संगठन, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन, यूनेस्को आदि अपने-अपने क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय जगत की बहुमूल्य सेवा कर रहे हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की विशेषताएं एवं विकास प्रवृत्तियां

19वीं शताब्दी में और द्वितीय महायुद्ध से पूर्व तक 20वीं शताब्दी में विकसित व्यवस्था और प्रवृत्तियों ने अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को जो स्वरूप प्रदान किया है उसकी आधारभूत विशेषताएं निकोलाई महोदय ने निम्नांकित रूप में स्पष्ट की हैं :—

(1) मूलभूत चार्टरों अथवा संविधानों ने, जो सामान्यतः बहुपक्षीय समझौते के रूप में थे, सदस्य राज्यों और दायित्वों का निर्धारण किया, संगठन के प्रमुख या प्रविकारों और शक्तियों को सीमित बनाया। संगठन के ढांचे का निर्माण किया और उन कार्य-प्रणालियों को प्रस्तुत किया जिनके अनुसार संगठन को कार्य करना था।

(2) संगठन की सदस्यता केवल हस्ताक्षरकर्ता राज्यों (Signatory States) तक सीमित थी जो अपनी सरकारों द्वारा नियन्त्रित प्रतिनिधियों के माध्यम से संगठन की कार्यवाही में भाग लेते थे।

(3) संगठन के ढांचे में एक नीति निर्माणकारी अंग (Policy-making organ) की व्यवस्था थी जिसमें सभी सदस्य सरकारों के प्रतिनिधि रहते थे और जो एक से लेकर पांच वर्ष तक की नियमित अवधि में (At regular intervals of one to five-years) मिलते थे।

(4) कभी-कभी एक ग्रोर नीति निर्माणकारी तथा प्रशासकीय ग्रंग की व्यवस्था भी की जाती थी जिसकी सदस्यता सीमित थी, जिसके ग्रधिकार स्पष्टतया परिभाषित होते थे ग्रौर जिसकी बैठक प्रथम नीति निर्माणकारी ग्रंग की ग्रपेक्षा ग्रधिक हुग्रा करती थीं।

(5) मतदान के लिए ग्राम तौर पर प्रत्येक सदस्य राज्य को एक मत देने का ग्रधिकार था ग्रौर महत्वपूर्ण निर्णय सर्वसम्मति से लिये जाते थे।

(6) संगठन की संरचना मे एक सचिवालय की व्यवस्था होती थी जो एक महासचिव ग्रथवा निदेशक (Secretary-General or Director) के ग्रधीन होता था। सचिवालय मे दैनिक कार्य सम्पादन के लिए ग्रन्तर्राष्ट्रीय ग्रसैनिक कर्मचारियो की व्यवस्था होती थी।

(7) सगठन का व्यय-भार उठाने के लिए सदस्य राज्यो को ग्रपना योगदान देना पड़ता था।

सदस्यता की दृष्टि से देखा जाय तो कुछ ही सगठनों की सदस्यता इस दृष्टि मे सार्वभौमिक ग्रथवा विश्वव्यापी (Universal) थी कि सगठन के मूल सिद्धान्तों तथा स्वरूप मे विश्वास रखने वाले सभी राष्ट्र चाहे वे किसी भी राजनीतिक विचार-धारा को मानने वाले हो, इसके सदस्य बन सकते थे। कुछ सगठनों की सदस्यता भौगोलिक ग्राधार पर सीमित थी। यद्यपि सामान्यतः सम्प्रभु राज्य (Sovereign States) ही उन संगठनो के सदस्य बन सकते थे तथापि ग्रन्य राजनीतिक सत्ताग्रो (Other Political Entitie) के भाग लेने के लिए भी सामयिक-प्रावधान (Occasional Provisions) होते थे। उदाहरणार्थ, राष्ट्रसंघ के प्रसविदा मे पूर्णतः स्वशासित (Fully Self-Governing) ग्रधिराज्यों ग्रथवा उपनिवेशो के प्रवेश का प्रावधान था, ग्रौर इसीलिए भारत स्वाधीन होने से बहुत पहले ही राष्ट्रसंघ का सदस्य बन गया था।

उत्तरदायित्व के क्षेत्र की दृष्टि से लियोनार्ड महोदय के ग्रनुसार, द्वितीय महायुद्ध से पूर्व तक स्थिति यह थी कि वह संगठन जो सभी ग्रार्थिक, सामाजिक ग्रौर राजनीतिक ग्रन्तर्राष्ट्रीय समस्याग्रों को सुलझाने ग्रथवा उन पर प्रभावी विचार-विमर्श मे सक्षम था, उसे सामान्य ग्रन्तर्राष्ट्रीय संगठन (General International Organization) समझा जाता था। यदि संगठन की क्षमता किसी भौगोलिक क्षेत्र से निर्धारित होती थी, तो ग्रपने स्वरूप ग्रथवा चरित्र मे सामान्य होते हुए भी उसे एक क्षेत्रीय सगठन (Regional Organization) माना जाता था। यदि किसी ग्रन्तर्राष्ट्रीय संगठन के कार्य करने का क्षेत्र-विशेष रहा हो, उदाहरणार्थ, कृषि या सामाजिक क्षेत्र या श्रम ग्रादि से सम्बन्धित विशेष दायित्व उसके जिम्मे हो तो उसे प्रकार्यात्मक ग्रथवा विशिष्ट ग्रन्तर्राष्ट्रीय संगठन (Functional or Specialized International Organization) कहा जाता था।

अधिकार अथवा सत्ता (Authority) की दृष्टि से संगठन की गतिविधियाँ बहुपक्षीय सन्धियो से अथवा सदस्य सरकारो को सुझाव रूप में प्रस्तुत किये गये प्रस्तावो के माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय नीतियो को विकसित करने तक पूर्णतः सीमित की जा सकती थी। ये नीति निर्माण-कारी (Policy-making) संगठन अपनी नीतियो के क्रियान्वयन के लिए पूरी तरह से अपनी सरकारो पर निर्भर थे। कुछ संगठनो मे अपनी जन्मदाता सरकारो के अधिकार से परे स्वतन्त्र रूप मे प्रशासकीय व्यवस्था और व्यवहार की शक्ति भी निहित थी। यद्यपि सरकारी प्रतिनिधि नीतियो का निर्धारण कर देते थे, तथापि संगठन के पास अपने कोष और शक्ति साधन थे, जिनके बल पर वह बिना अपनी सरकारो पर निर्भर किये इन नीतियो को क्रियान्वित करने मे सक्षम थे।

लियोनार्ड महोदय के अनुसार, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के उपरोक्त सभी आधारभूत तत्व और उनके विशिष्ट लक्षण द्वितीय महायुद्ध के बाद भी समान रूप से लागू किये गये। वर्तमान संयुक्त राष्ट्रसंघ तथा अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संगठनो मे ये सभी लक्षण पाये जाते हैं। पिछले कुछ वर्षों मे अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के क्षेत्र मे कुछ नवीन प्रवृत्तियां विकसित हुई हैं। इनमे प्रथम सर्वाधिक महत्वपूर्ण सदस्य-संख्या मे वृद्धि की है। नये-नये राज्यो के निर्माण अथवा उदय के साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय संगठनो की सदस्य-संख्या भी बढती जाती है। आज जितने भी महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय संगठन हैं उनकी सदस्य-संख्या औसतन सौ से अधिक ही है। दूसरी महत्वपूर्ण प्रवृत्ति यह है कि राज्यो द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय संगठनो की सदस्यता त्याग देने की घटनाओ मे उल्लेखनीय कमी हुई है। तीसरे, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की शक्तियाँ और अधिकार क्षेत्र मे पर्याप्त वृद्धि हो रही है। पहले उन विषयो पर अन्तर्राष्ट्रीय संगठन कुछ भी नही कर पाते थे जिनको सदस्य राष्ट्र, अपने 'घरेलू मामले' की संज्ञा दे देते थे। यद्यपि अभी तक 'घरेलू मामलो' के क्षेत्राधिकार की स्पष्ट व्याख्या नही हो पायी है तथापि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन विश्व-शांति और सुरक्षा के लिए खतरा घोषित करके किसी भी विवादग्रस्त मामले को अपने हाथ मे ले लेता है और प्रायः इस बात की उपेक्षा कर देता है कि सम्बन्धित राष्ट्र उस मामले को 'घरेलू' बना रहा है। चौथे, सर्वसम्मति से निर्णय लेने का कठोर सिद्धान्त पूर्वापेक्षा अधिक शिथिल हो गया है। राष्ट्रसंघ मे परिषद् के निर्णय उपस्थित सदस्यो की सर्वसम्मति से होते थे जब कि संयुक्त राष्ट्रसंघ मे केवल पाच स्थायी सदस्यो की सहमति अनिवार्य रखी गयी है। सुरक्षा परिषद् का इतिहास बतलाता है कि मतदान के अवसर प्राय कम आते हैं और बहुमत की स्वीकृति एक परम्परा सी बन गयी है। अन्तिम पांचवीं प्रवृत्ति यह है कि संगठनो की प्राविधिक क्षमता बढ़ रही है। संगठन के अधिकार पूर्वापेक्षा अधिक निष्पक्ष और उत्तरदायित्वपूर्ण बने हैं।

3

अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में परिवर्तन की प्रक्रिया

(THE PROCESS OF CHANGE IN INTERNATIONAL ORGANIZATION)



"राजनीतिक वैज्ञानिकों ने वर्षों से राज्यों में राजनीतिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं का गहन अध्ययन किया है, लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में परिवर्तन की प्रक्रियाओं की अपेक्षाकृत बहुत कम जाँच की गयी है।"

—इवान ल्यूआर्ड

आज की सर्वाधिक और महत्वपूर्ण राजनीतिक समस्याएं संभवतः संस्थात्मक विकास (Institutional evolution) से संबंधित हैं। संस्थात्मक परिवर्तन संवैधानिक प्रक्रियाओं से भी हो सकते हैं और क्रान्ति के माध्यम से भी। पर न तो निर्धारित संवैधानिक प्रक्रियाओं मात्र से ही इस प्रकार के पूर्ण और सफल संस्थात्मक परिवर्तन संभव हैं जो आवश्यकताओं और परिस्थितियों के अनुकूल हों और न ही राजनीतिक परिवर्तन में सर्वाधिक हिंसात्मक और सशक्त साधन 'क्रान्ति' द्वारा ही संस्थात्मक परिवर्तन सदैव के लिए प्रभावशील हो सकते हैं। संस्थात्मक विकास और परिवर्तनों की सफलता और उपयोगिता का मार्ग बड़ा लम्बा होता है तथा अनेक कठिनाइयों को पार करने के उपरान्त ही इस प्रकार के परिवर्तन, चाहे वे राजनीतिक, सामाजिक या आर्थिक किसी भी क्षेत्र में हों, शासन, समाज और समय तथा परिस्थितियों के अनुकूल ढल पाते हैं। एक राष्ट्रीय राज्य में जनता की रूढ़िवादिता नौकरशाही, पुरातन संस्थाओं और परम्पराओं से प्रेम यथासम्भव परिवर्तन से बचने की लालसा आदि अनेक ऐसे तत्व हैं जो संस्थात्मक विकास एवं परिवर्तनों को एकाएक नहीं होने देते।

अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में परिवर्तन की बात तो तुलनात्मक रूप से और भी अधिक कठिन एवं जटिल है। राष्ट्रीय राज्य में परिवर्तनों की तुलना में अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में परिवर्तन अपने प्रभाव में अधिक गंभीर और व्यापक होते हैं तथा साथ ही अधिक कठिन एवं पेचीदा भी। इवान ल्युआर्ड ने लिखा भी है कि आज की सर्वाधिक विषम और महत्वपूर्ण राजनीतिक समस्याओं में अनेक वे हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों

तथा राष्ट्रीय सत्ताओं (National Authorities) से उनके (सगठनो) के सबध से सबधित होती हैं। ये समस्याएं अपने सर्वाधिक विषम एवं जटिल रूप मे यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा के क्षेत्र मे दिखाई देती हैं, तथापि सगठनो के अन्य क्षेत्रो मे भी ये समान रूप से प्रभावशील होती हैं। चूंकि आधुनिक विश्व अतिशय तीव्रगामी यातायात एव सन्देश वहन के साधनो के विकास से निरन्तर सिकुडता जा रहा है, अत. वे कार्य जो कभी मुख्यत राष्ट्रीय अथवा निम्नतर स्तर पर (At national level or below) किये जाते थे, आज एक अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर उपयुक्त ढग से सचालित अथवा कम से कम नियन्त्रित किये जा सकते हैं। फिर भी वे अवरोध (Resistances) जो राष्ट्रीय राज्यो से एक उच्चतर स्तर पर सत्ता या प्रभुत्व के स्थानान्तरण सबधी परिवर्तनो के मार्ग मे उपस्थित होते हैं, सभवतः किसी अन्य स्तर पर होने वाले दूसरे किन्ही भी अवरोधो की अपेक्षा अधिक गहन और विषम होते हैं।[1]

राज्यो मे राजनीतिक परिवर्तन की जो प्रक्रियाएं हैं, उनका गहन अध्ययन राजनीतिक वैज्ञानिकों द्वारा पर्याप्त समय से किया जा रहा है लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय सगठनो मे परिवर्तनो की जाँच अपेक्षाकृत बहुत कम की गयी है जबकि इन प्रक्रियाओ का मानव-कल्याण पर अनुकूल अथवा प्रतिकूल रूप से विशेष प्रभाव पडता है। इवान ल्युआर्ड की मान्यता है कि अन्तर्राष्ट्रीय सगठनो के परिवर्तनों को प्रोत्साहित अथवा अवरुद्ध करने वाले तत्वों का प्रभावशील अध्ययन मुख्यतः अनुभवजन्य ही होना चाहिए। अत इस बात का भली प्रकार अध्ययन किया जाना चाहिए कि अन्तर्राष्ट्रीय *संगठनो मे अब तक मुख्यतः परिवर्तन किस प्रकार हुए हैं।* सभावित परिवर्तनों के प्रकारो, परिवर्तन को प्रोत्साहित करने वाले तत्वो अथवा कारकों, परिवर्तन प्रस्थापित किये जाने की कार्यविधियो, परिवर्तनो के मार्ग मे आने वाली बाधक शक्तियो आदि का विस्तार से गहन अध्ययन हमारी विषय-सामग्री के लिए अनिवार्य है। अन्तर्राष्ट्रीय संगठनो मे परिवर्तनो की प्रक्रियाओं का अध्ययन करते समय यह उपयोगी होगा कि हम संस्थात्मक परिवर्तनो के मुख्य रूपों पर सक्षेप मे विचार करें और साथ ही यह देखें कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कोई सस्थात्मक विकास अथवा परिवर्तन करने मे किन विशिष्ट समस्याओ का सामना कर पाता है।

इवान ल्युआर्ड ने लिखा है कि संस्थात्मक परिवर्तन का ढंग सर्वप्रथम सबधित सस्थाओ की प्रारंभिक संरचना (Initial Structure of the institutions) पर निर्भर करता है। यह इस बात पर भी निर्भर है कि परिवर्तनकारी कार्यों (The change-making functions) का सगठनो और सम्पूर्ण रूप मे समाज के मध्य किस प्रकार विभाजन या वितरण होता है। इस प्रकार के सर्वाधिक महत्वपूर्ण वितरण या विभाजन चार हैं—(1) केन्द्रीकृत सत्ता (Centralized Authority) जहाँ सभी महत्वपूर्ण निर्णय लिये जाते हैं, (2) उच्चोच्च परम्परापूर्ण सत्ता (Hierarchical

---

1. *Evan Luard:* The Evolution of International Organizations, p. 11.

Authority)–जहाँ निम्नतर स्तरों पर शक्तियों का वितरण होता है, यद्यपि अन्तिम शक्ति केन्द्र में ही निहित रहती है, (3) संघीय व्यवस्था (A Federal System)—जिसमें केन्द्र और क्षेत्रों में शक्तियों का कठोर विभाजन होता है और केन्द्र के पास स्वयं अकेले इस विभाजन को बदलने की श्रेष्ठतर सत्ता नहीं होती, तथा (4) शक्तियों का प्रकार्यात्मक विभाजन (A Functional Division of Powers)–जिसके द्वारा शक्ति का विभाजन कार्यों के अनुरूप किया जाता है। प्रशासित किये जाने वाले भौगोलिक क्षेत्रों के अनुरूप कई राज्यों में उपर्युक्त व्यवस्थाओं में से अनेक का सम्मिश्रण होता है।[1]

इवान ल्युआर्ड की मान्यता है कि अन्तर्राष्ट्रीय सगठनों का राष्ट्रीय सत्ताओं (National Authorities) से सबंध उपर्युक्त अन्तिम दो सबंधों से कुछ मिलता-जुलता है। एक तो यह कुछ सघीय व्यवस्था के समान है जिसमें क्षेत्रों की तुलना में केन्द्र के पास दुर्बल शक्ति होती है। दूसरी दृष्टियों से राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय निकायों के मध्य और साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय सगठनों के स्वयम् के मध्य भी कार्यात्मक विभाजन होता है। जहाँ विश्व स्वास्थ्य सगठन और यूनेस्को पृथक् रूप से अपने क्षेत्रों में अपेक्षाकृत कुछ कम कार्य नहीं कर सकते हैं वहां स्वास्थ्य और शिक्षा के राष्ट्रीय मन्त्रालय तथा अन्तर्राष्ट्रीय निकाय मिलकर स्वास्थ्य और शिक्षा के क्षेत्र में कुछ अधिक कार्यों में सुन्दर सहयोग कर सकते हैं। लेकिन, प्रथम दो व्यवस्थाओं (केन्द्रीकृत सत्ता एवं उच्चोच्च परम्परापूर्ण सत्ता) के अनुसार, सत्ता की किसी प्रकार की प्रत्यक्ष अधीनता (Direct subordination of authority) नहीं होती जिसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सगठनों के निर्णय, राष्ट्रीय राज्यों अथवा मत्रालयों पर स्वतः प्रभावी हो सकें। अपने स्वयं के क्षेत्र में भी अन्तर्राष्ट्रीय सगठनों की सत्ता केवल मुख्यतः परामर्शात्मक होती है। इन्हीं सब कारणों से अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय सगठनों में परिवर्तन की प्रक्रिया बड़ी सीमा तक प्रायः स्वतन्त्र रूप से सम्पन्न होती रहती है।[2]

परिवर्तन की प्रणालियाँ (Procedures of Change)

उपर्युक्त विभिन्न प्रकार के संस्थात्मक ढाँचों (Institutional structures) में मुख्यतः निम्नांकित प्रणालियों अथवा साधनों द्वारा परिवर्तन लाये जा सकते हैं।[3]

(1) प्रत्यक्ष निर्णयकारी साधन (Direct Decision-making) द्वारा,

(2) नौकरशाही के निर्णयकारी साधन (Bureaucratic Decision-making) द्वारा,

(3) अप्रत्यक्ष निर्णयकारी साधन (Indirect Decision-making) द्वारा, एवं

(4) प्रभाव (Influence) के क्रमिक विकास द्वारा।

---

1. *Evan Luard* : opt. cit , p. 12.
2. Ibid, p. 12.
3. Ibid, p. 13-19.

(1) प्रत्यक्ष निर्णयकारी साधन द्वारा परिवर्तन—संस्थात्मक ढांचे में ... का सब से सरल और सामान्य साधन (Most Common Instrument of Change) "प्रत्यक्ष निर्णय करना" (Direct decision-making) है। राष्ट्रीय राज्यों व अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों दोनों में समान रूप से कुछ राजनीतिक संस्थाएं के परिवर्तन की प्रक्रिया (Process of Change) से प्रत्यक्षतः सम्बन्धित होते हैं। उदाहरणार्थ, राष्ट्रीय राज्यों में कैबिनेट और सरकार जैसी संस्थाओं का मुख्य कार्य परिवर्तनों को प्रस्तावित करना (To Propose Change), प्रेस तथा जनमत एवं दबाव-समूह जैसी संस्थाओं का कार्य परिवर्तन को प्रभावित करना (To influence Change), संसद जैसी संस्थाओं का इन परिवर्तनों पर विचार करना (To discuss it) तथा सैद्धान्तिक रूप से सुधार करना (In theory to amend), नौकरशाही जैसी संस्था का कार्य इस परिवर्तन को लागू करना (To execute it) तथा कानूनी न्यायालयों जैसी संस्थाओं का कार्य उन परिवर्तनों को प्रयोग में लाना (To apply it) होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में भी कार्यों का कुछ इस प्रकार का विभाजन पाया जाता है। आज जो भी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन अस्तित्व में हैं, उनमें से अधिकांश के अपने पृथक् अंग या अभिकरण हैं जो विभिन्न कार्यों का सम्पादन करते हैं। उदाहरणार्थ, वादविवाद (Discussion) का कार्य सभाओं (Assemblies) द्वारा, क्रियान्वयन (Execution) का कार्य अन्तर्राष्ट्रीय कर्मचारियों एवं अधिकारियों (International officials) द्वारा तथा निर्णयों के प्रयोग (Applications of decision) का कार्य अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय एवं अन्य कानूनी निकायों (The International Court of justice and other legal bodies) द्वारा सम्पन्न किया जाता है। जिस प्रकार राष्ट्रीय राज्यों में संस्थात्मक परिवर्तनों पर प्रेस, जनमत आदि का प्रभाव पड़ता है, वही स्थिति अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में भी है। प्रेस तथा जनमत के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय अथवा अन्य दबाव-समूह भी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं में परिवर्तन की प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं। लेकिन मुख्य अन्तर यही है कि राष्ट्रीय राज्यों की तुलना में अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में ये विभिन्न साधन (प्रेस, जनमत, दबाव-समूह आदि) कम शक्ति-सम्पन्न होते हैं। ये साधन राष्ट्रीय राज्यों में संस्थात्मक विकास अथवा परिवर्तनों को जितना प्रभावित करते हैं, उतना अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों को नहीं कर पाते। इसका एक स्पष्ट और मौलिक कारण यह है कि जहां राष्ट्रीय राज्यों में कैबिनेट तथा सरकार जैसे पृथक् और निश्चित् निकाय होते हैं जिनकी एक महत्वपूर्ण भूमिका परिवर्तनों के लिए व्यवस्थापिका के सम्मुख पेश करना होती है, वहां अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में ऐसी कोई संस्था नहीं होती जिसका कार्य इस प्रकार का हो। अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में प्रस्ताव अधिकांशतः सभा या व्यवस्थापिका (Assembly or Legislature) के किसी सदस्य द्वारा व्यक्तिगत प्रस्ताव (An individual proposal) के माध्यम से पेश किये जाते हैं (जैसा कि कभी अनेक राष्ट्रीय राज्यों में होता था)। अनेक

मामलों मे सचिवालय भी महत्वपूर्ण भाग अदा कर सकता है (जैसा कि राष्ट्रीय राज्यो में कभी प्रायः नौकरशाही द्वारा किया जाता था)। सचिवालय प्रस्ताव को प्रारंभ करने अथवा प्रभावित करने मे कभी-कभी अग्रणी भूमिका निभाता है। लेकिन सभा के सदस्य अथवा सचिवालय का अन्तर्राष्ट्रीय सगठन मे परिवर्तन की प्रक्रिया पर उतना प्रभाव नही पडता जितना राष्ट्रीय व्यवस्थापिका पर राष्ट्रीय कैबिनेट का पडता है।

प्रत्यक्ष निर्णय (Direct decision-making) अन्तर्राष्ट्रीय सगठनो मे यद्यपि उतना कार्यशील और प्रभावी नहीं होता तथापि कभी-कभी परिवर्तन उपस्थित कर ही देता है। कुछ ही वर्षों पूर्व चार्टर मे सुरक्षा परिषद् और आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् के विस्तार के लिए जिस प्रक्रिया द्वारा सशोधन किये गये थे, वह प्रत्यक्ष निर्णयकारी साधन द्वारा परिवर्तन का अच्छा उदाहरण है। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष (I.M.F.) द्वारा मुद्रा का कोटा (*Currency quotas*) को बढाने के जो निर्णय लिये गये वे प्रत्यक्ष निर्णयकारी-साधन द्वारा लिये जाने वाले परिवर्तनो का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। पर, इन उदाहरणो के बावजूद कुल मिलाकर स्थिति यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों मे परिवर्तन के विभिन्न साधनो मे यह (*Direct decision-making*) सब से कम प्रचलित है। इसका कारण भी पर्याप्त स्पष्ट है। यहां परिवर्तन के जिस रूप से हमारा सम्बन्ध है वह या तो सम्बन्धित अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ के सगठनात्मक परिवर्तनो (Organizational Change within International Institutions) अथवा अन्तर्राष्ट्रीय सगठन और राष्ट्रीय राज्यों के बीच के सम्बन्ध को प्रभावित करने वाला परिवर्तन होना है। परिवर्तनों के ये दोनो ही प्रकार प्रत्यक्ष निर्णयकारी प्रणाली के माध्यम से राष्ट्रीय राज्यो मे जितने प्रभावकारी होते हैं उतने अन्तर्राष्ट्रीय सगठनो के क्षेत्र मे नही होते।

अन्तर्राष्ट्रीय संगठनो मे परिवर्तन का प्रत्यक्ष निर्णयकारी साधन केवल इसीलिए प्रभावी नही होता, क्योंकि वहां परिवर्तन के प्रस्ताव पास करने के लिए पृथक् अभिकरण या निकाय नही पाया जाता, बल्कि एक दूसरी कठिनाई यह भी है कि जहां राष्ट्रीय राज्य मे निर्णय करने और साथ ही प्रस्तावित करने मे अन्तिम सत्ता (Ultimate authority) केन्द्र में निहित होती है वहां अन्तर्राष्ट्रीय सगठन मे यह सत्ता एक अनियत-रूप अर्थात् अनिश्चित आकार के निकाय (Amorphous body) मे निहित होती है। इस निकाय अर्थात् सभा (The Assembly) मे विभिन्न और परस्पर अतिशय विरोधी दृष्टिकोणो का प्रतिनिधित्व होता है। अत. यहाँ प्रत्यक्ष निर्णयकारी साधनो द्वारा कोई परिवर्तन लेने का अर्थ यह है कि परस्पर अत्यधिक विभिन्न दृष्टिकोणो वाली बहुसख्यक सरकारें प्रस्तावित परिवर्तन पर अपनी सहमति प्रदान करें। स्पष्ट ही इस प्रकार की सहमति पाना अत्यत दुष्कर है क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय सगठनो मे राष्ट्रीय राज्यो की भांति कोई भी

विकसित दलीय व्यवस्था नहीं होती अथवा तुलनात्मक रूप से कोई अन्य श्रेष्ठ साधन नहीं होता जिसके माध्यम से प्रस्तावित परिवर्तन पर सम्पूर्ण सभा की सहमति के प्राप्त करने के प्रति आश्वस्त हुआ जा सके। सभा में विश्व भर के अलग-अलग राष्ट्रों के अपने अलग-अलग हित और दृष्टिकोण होते हैं। वे अपने राजनीतिक लाभ के ध्यान की दृष्टि से कार्य करते हैं और इस या उस गुट के साथ बंधे होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय संस्था में अपनी राजनीतिक प्रतिष्ठा की बाजी के लिए चौंचें भिड़ाते हैं। अतः, इन परिस्थितियों में, प्रत्यक्ष निर्णयकारी साधनों द्वारा कोई परिवर्तन लाना बड़ा ही कठिन और राजनीतिक जटिलताओं से परिपूर्ण होता है। यदि किसी प्रश्न पर सदस्य राष्ट्रों में बहुत अधिक आम-सहमति पायी जाती है, (जैसी कि हाल ही में सुरक्षा परिषद् और आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् की सदस्यता के विस्तार के सम्बन्ध में देखने को मिली थी) तभी प्रत्यक्ष निर्णयकारी उपाय फलदायक हो सकते हैं। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि संयुक्त राष्ट्रसंघ बिना किसी "रिव्यू-कान्फ्रेन्स" (A review conference) को आमन्त्रित किये चार्टर में व्यक्तिगत संशोधन करने में समर्थ है और यद्यपि इस बात पर भी पर्याप्त सहमति है कि चार्टर के अनेक भागों में संशोधन आवश्यक है तथापि उपर्युक्त संशोधनों के अलावा अन्य कोई संशोधन अभी तक प्रत्यक्ष निर्णयकारी साधनों द्वारा नहीं किये गये हैं।

एक तीसरा महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में सत्ता की ऐसी कोई साधारण उच्चोच्च परम्परा (Hiearchy of Authority) नहीं होती जैसी सामान्यतया राष्ट्रीय राज्यों में पायी जाती है। यदि किसी समझौते पर पहुँचा भी जा सके, तो भी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के पास अपने निर्णयों को लागू करने की शक्ति बड़ी दुर्बल होती है। राष्ट्रीय राज्य में स्थिति इसके सर्वथा विपरीत पायी जाती है। उदाहरण के लिये हम एक संघीय सरकार को ही लें। चाहे उसके पास अपनी शक्ति का सीमित दायरा हो, लेकिन अपने अधिकार-क्षेत्र में सभी निम्नतर सत्ताओं (Lower Authorities) पर अपने निर्णय लादने अथवा उनसे अपनी सत्ता मनवाने की उसमें पूर्ण सामर्थ्य होती है। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन इस दृष्टि से इतने साधन सम्पन्न नहीं होते। यद्यपि उनके पास कुछ प्रतिबन्धों (Sanctions) की शक्ति होती है (संयुक्त राष्ट्रसंघीय सहायता को रोक देना, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष अथवा अन्य संस्थाओं द्वारा वित्तीय समर्थन बन्द कर देना, अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं द्वारा दी जाने वाली सुविधायें लौटा देना, सार्वभौमिक सदस्यता वाले संगठन से निष्कासन आदि) तथापि वे राष्ट्रीय राज्यों के समान ऐसे कोई प्रभावकारी साधन नहीं रखते जिनके द्वारा इस बात के प्रति आश्वस्त हुआ जा सके कि उनके निर्णयों का पालन होकर रहेगा। यही कारण है कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन प्रत्यक्ष निर्णयों द्वारा महत्वपूर्ण परिवर्तन लाने के प्रयासों के प्रति प्रायः उदासीन रहते हैं।

अन्त में, प्रत्यक्ष निर्णयकारी प्रणाली के सबंध में, राष्ट्रीय राज्यों और अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में चौथा महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं

प्रभाव की प्रक्रिया (The process of influence) अपेक्षाकृत बहुत अधिक दुर्बल एवं शिथिल रूप में प्रकट होती है । प्रस्तावों में परिवर्तन के जो सुझाव पेश किये जाते हैं उनके बारे में प्रेस और जनमत को पूर्ण पता नहीं रहता, अथवा वे इनसे बहुत कम सम्बन्धित रहते हैं । फलस्वरूप प्रेस और जनमत के द्वारा प्रस्तावित परिवर्तनों के पक्ष में प्रभावी वातावरण तैयार नहीं हो पाता । इसके विपरीत राष्ट्रीय व्यवस्थापिका के लिए परिवर्तन के जो प्रस्ताव या सुझाव उपस्थित किये जाते हैं, इनसे प्रेस और जनमत प्रायः पूर्णतः भिज्ञ रहते हैं, अतः उपयुक्त एवं न्यायसंगत परिवर्तनों के पक्ष में वातावरण तैयार करने में वे महत्वपूर्ण भाग अदा करते हैं। दूसरे शब्दों में, अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की तुलना में राष्ट्रीय राज्यों में प्रभाव की प्रक्रिया विशेष और सबल रूप से क्रियाशील रहती है । अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में सदस्य राज्यों में परामर्श की प्रक्रिया (The Process of Consultation) दो या तीन सप्ताह मात्र की छोटी सी अवधि तक चलती है और वह भी अधिकांशतः बड़े गोपनीय ढंग से । प्रत्येक राज्य के निर्णय भी गुप्त रूप से उनकी सरकारों द्वारा लिए जाते हैं और इसी आधार पर राज्य के प्रतिनिधि अन्तर्राष्ट्रीय संस्था में परिवर्तन के व्यक्तिगत प्रस्ताव का समर्थन या विरोध करते हैं । B.R 243/469

उपर्युक्त सभी कठिनाइयों के कारण आमतौर पर यह आवश्यक समझा गया है कि परिवर्तन की अन्य प्रक्रियाओं (Other Processes of Change) को अपनाया जाय ।

(2) नौकरशाही के निर्णय-कारी साधन द्वारा परिवर्तन—परिवर्तन का दूसरा साधन नौकरशाही के निर्णय (Bureaucratic Decision-making) का है । राष्ट्रीय राज्यों में नौकरशाही के निर्णय द्वारा संस्थात्मक परिवर्तन अथवा विकास के उदाहरण पाये जाना आम बात है । बिना किसी वैधानिक अधिनियम अथवा किसी प्रतिनिध्यात्मक संस्था के निर्णय के ही, केवल विभागीय या व्यक्तिगत नागरिक-कर्मचारियों के निर्णयों के माध्यम से ही, बहुधा परिवर्तन हो जाते हैं । उदाहरणार्थ, मन्त्रि-गण इस प्रकार के परिवर्तनों के लिए नियम (Regulations) जारी कर सकते हैं, नौकरशाही-यन्त्र पूर्व नियमों या विधानों (Previous legislation) को नय तरीकों से लागू कर सकता है, अन्य सरकारी अभिकरण नये व्यवहार अपना सकते हैं तथा नागरिकों के दैनिक-जीवन को प्रभावित कर सकते हैं । ये सब कार्य संसद के किसी औपचारिक अधिनियम के अभाव में ही केवल नौकरशाही के निर्णय के साधन द्वारा प्रत्यक्ष रूप से सम्पन्न कर लिए जाते हैं ।

यह एक ऐसी प्रक्रिया है जो अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों एवं संस्थाओं में प्रायः हर समय जारी रहती है । उदाहरण के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ के सचिवालय द्वारा किसी विषय-विशेष के अध्ययन के लिए किसी समिति के नियुक्त किए जाने, किसी विशेष घटना या विषय पर हुई घोषणा जारी किए जाने (जैसी वियतनाम पर), विश्व के किसी भाग में (जैसे 1959 में लाओस में) व्यक्तिगत परामर्शदाता की नियुक्ति करने, अथवा किसी खास विषय पर सलाहकार की नियुक्ति (जैसे

न्यूयार्क में संयुक्त राष्ट्रसंघीय सैनिक परामर्शदाता) करने आदि के निर्णय लिए जाने से संगठन की संरचना और क्षमताओं पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। स्पष्ट है कि यह प्रभाव नौकरशाही-तन्त्र के निर्णय द्वारा ही हो जाता है, इसमें संगठन के किसी प्रतिनिध्यात्मक अंग के निर्णय की आवश्यकता नहीं पड़ती। पुनश्च, यह बात भी है कि अन्तर्राष्ट्रीय सचिवालय के सदस्य राष्ट्रीय राज्यों के प्रस्तावों आदि पर सबल प्रभाव डालते हैं। इवान ल्युआर्ड ने लिखा है कि जिस प्रकार राष्ट्रीय मन्त्रालयों में नागरिक-कर्मचारी (Civil servants) अपने राज्यों में प्रस्तावित विधान के स्वरूप (Form of legislation) पर अन्तिम प्रभाव (Ultimate influence) डाल सकते हैं, इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक कर्मचारियों का प्रभाव भी अन्तर्राष्ट्रीय निकायों में प्रस्तुत प्रस्तावों और सुझावों की प्रकृति के निर्धारण में बड़ा हाथ बँटाता है। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों ही संगठनों में नौकरशाही निर्णय का प्रभाव बहुधा विवाद, प्रभाव तथा सहमति की उन प्रक्रियाओं को साथ लाता है जो प्रत्यक्ष निर्णयों में अथवा अस्तित्व बनाये रखती हैं। यद्यपि नौकरशाही-निर्णय की यह प्रक्रिया कम प्रजातांत्रिक होती है, तथापि प्रत्यक्ष निर्णयकारी साधन से कहीं अधिक प्रभावशाली ढंग से यह विवाद-ग्रस्त परिवर्तनों को सम्पन्न करने में समर्थ हो जाती है। संयुक्त राष्ट्रसंघ की अपेक्षा अन्य विशिष्ट अभिकरणों में यह प्रक्रिया परिवर्तन के साधन के रूप में कहीं अधिक महत्वपूर्ण और प्रभावशाली सिद्ध हुयी है।

(3) अप्रत्यक्ष निर्णयकारी साधन द्वारा परिवर्तन—संस्थाओं की संरचना और शक्तियों में परिवर्तन का तीसरा साधन अप्रत्यक्ष निर्णय (Indirect decision-making) है। अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में परिवर्तन के इस साधन का काफी प्रयोग होता रहा है। जब कोई विशेष संकट उत्पन्न होते हैं तो उन पर तुरन्त कार्यवाही की आवश्यकता पड़ती है और समय के साथ यह कार्यवाही संगठन की भूमिका में एक स्थायी सामंजस्य (A permanent adjustment) ले आती है (जिस प्रकार कि विभिन्न संकटों के फलस्वरूप संयुक्त राष्ट्रसंघीय शान्ति-रक्षक सेनाओं की स्थापना का मार्ग प्रशस्त हुआ)। महत्वपूर्ण नयी आवश्यकताओं के क्रमिक उदय से किसी संगठन के कार्यों के कुल संतुलन में एक क्रमिक परिवर्तन (A gradual shift) आ सकता है (जिस प्रकार कि अनेक निर्णयों से संयुक्त राष्ट्रसंघ में सहायता-प्रशासन और अन्य आर्थिक अभिकरणों का विस्तार हुआ)। इसी प्रकार कुछ निर्णयों से इस प्रकार के पूर्व उदाहरण पैदा हो जाते हैं जिनका अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के भावी कार्यों पर स्थायी प्रभाव पड़ता है (उदाहरणार्थ, 1947 में इण्डोनेशिया-विवाद पर बहस करने में संयुक्त राष्ट्रसंघ की सक्षमता स्वीकार करने के निर्णय से विश्व-संस्था के इस रूप में भावी कार्यों का मार्ग प्रशस्त हुआ कि वह औपनिवेशिक समस्या पर विचार कर सका)। विभिन्न प्रकार के अनेक निर्णय मिल कर (चाहे वे निर्णय अपने आप में कम महत्वपूर्ण ही क्यों न हों) संगठन के व्यवहार में सारपूर्ण-परिवर्तन कर सकते हैं (उदाहरणार्थ, महासभा में रंगभेद और सुरक्षा परिषद् में अनुच्छेद 2 (7) की व्याख्या पर विचार करने के बारे में अनेक निर्णयों का प्रभाव)। कभी

कोई नया अभिकरण (Agency) गठित किया जा सकता है जो धीरे-धीरे अपने कार्यों से इतना अधिकार और प्रभाव प्राप्त कर लेता है जिसकी प्रारम्भ में कल्पना भी न की गयी हो (उदाहरणार्थ, Committee on information from Non-self-governing Territories)। इसी प्रकार किसी समस्या के अध्ययन के लिए विशेषज्ञों की समितियां नियुक्त की जा सकती हैं जिनकी रिपोर्टों से किसी ऐसी कार्यवाही के पक्ष में समर्थन प्राप्त कर लिया जाता है जो अन्यथा सम्भव नहीं होती (उदाहरणार्थ GATT के उद्देश्य और संरचना में परिवर्तन पर विचार करने के लिए नियुक्त की गई समिति)। इन सभी उदाहरणों से प्रकट होता है कि अप्रत्यक्ष निर्णयकारी साधन के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में परिवर्तन की प्रक्रिया अधिकांशतः चलती रहती है।

(4) प्रभाव के क्रमिक विकास द्वारा परिवर्तन—इवान ल्युआर्ड के अनुसार संस्थात्मक विकास एवं परिवर्तन का चौथा महत्वपूर्ण कारक या साधन प्रभाव (Influence) में क्रमिक विकास है। अनेक बार किसी संस्था की शक्ति या संरचना में बिना किसी औपचारिक निर्णय को लिए ही प्रभाव के माध्यम से परिवर्तन आ जाता है। कोई विशेष संगठन दूसरे के साथ अपने सम्बन्धों की दृष्टि से क्रमिक रूप से अपने प्रभाव में जो वृद्धि कर लेता है, उसके फलस्वरूप कुछ न कुछ परिवर्तन उपस्थित हो जाता है। राज्यों में,लोक सेवक अथवा विशिष्ट तकनीकी विशेषज्ञ धीरे-धीरे अपने प्रभाव में इतनी वृद्धि कर लेते हैं कि नीति-निर्माण के क्षेत्र में राजनीतिज्ञों के दृष्टिकोण को बदल देते हैं अथवा काफी हद तक प्रभावित करने लगते हैं। इसी प्रकार सरकार के कार्यों की आलोचना करने में संसद की अपेक्षा प्रेस कहीं अधिक प्रभावशाली सिद्ध हो सकता है और एक ऐसा प्रचण्ड जनमत तैयार कर सकता है सरकार अपनी नीतियों व कार्यों पर पुनर्विचार के लिए बाध्य हो जाय। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा सुरक्षा परिषद् पर अपना प्रभाव जमा सकती है अथवा उससे प्रभावित भी हो सकती है। सदस्य राज्यों की सरकारों में परिवर्तन के माध्यम से भी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रभाव में परिवर्तन (Changes in influence) आ सकते हैं। यह सम्भव है कि नये राजनीतिक दल, जो अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की भूमिका के प्रति अधिक सहानुभूतिपूर्ण हों, राज्यों में शक्ति ग्रहण कर लें। इसी प्रकार यह भी सम्भव है कि किसी देश का जनमत अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के साथ सहयोग करने के अधिक पक्ष या विपक्ष में हो जाय।

अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में कभी-कभी इस प्रकार का परिवर्तन आन्तरिक परिवर्तनों के माध्यम से भी आ सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय संस्था इस प्रकार की नीतियां अंगीकार कर सकती है जिससे सरकारों में सहयोग की संभावना अधिक बढ़ जाय। वह (अन्तर्राष्ट्रीय संगठन) अपनी नीतियों या संभावित कार्यवाहियों के प्रचार के लिए अधिक प्रभावकारी साधन अपना सकती है और सदस्य राज्यों की अधिक सहानुभूति प्राप्त कर सकती है। वह व्यक्तिगत सरकारों के साथ अधिक

उन्नत सपर्क कायम कर सकती है। इसी प्रकार यह भी सभव है कि कुछ अतिवादी मामलो मे (In extreme cases) सरकारो पर अपनी इच्छा लादने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय संगठन अधिक प्रभावशाली प्रतिबन्धो का मार्ग है। इवान ल्युआर्ड की मान्यता है कि इस प्रकार के सामान्य परिवर्तन वास्तव मे कुल मिलाकर अन्तर्राष्ट्रीय जनमत के वातावरण मे क्रमश: अनुकूल परिवर्तन द्वारा ही हो पाते हैं। कुछ राष्ट्रो की सहमति मे वृद्धि दूसरे राष्ट्रो को प्रोत्साहित करती है, संगठन द्वारा प्रदान की जाने वाली सेवाओ के बारे मे अधिक आम जागरूकता पैदा हो सकती है, सम्पर्क-साधनो मे सुधार किये जा सकते हैं, परस्पर अन्तर्निर्भरता के विचारो को अधिक उभारा जा सकता है और इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के लाभो को अधिक स्पष्ट बनाया जा सकता है। इन सब बातो के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय संगठन या अभिकरणो मे परिवर्तन की प्रक्रिया प्रभावित होती है।

इवान ल्युआर्ड की मान्यता है कि प्रभाव मे क्रमिक विकास के माध्यम से आने वाले परिवर्तन लगभग अन्य किसी भी कारक या तत्व की अपेक्षा आधारभूत रूप मे अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हो सकते हैं। यदि अन्तर्राष्ट्रीय संगठनो के वास्तविक प्रभाव मे वृद्धि न हो तो प्रस्तावो अथवा नियमो द्वारा लाये गये परिवर्तन अपने वाछित प्रभाव मे असफल हो सकते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय संगठनो द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय जनमत को प्रभावित किए बिना केवल प्रस्तावो या नियमों के माध्यम से लाये गए परिवर्तन बाहर से थोपे गए प्रतीत होंगे और इसीलिए राष्ट्रीय राज्यो के विरोध के सरलता से शिकार हो जायगे। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के अधिकारी लगातार समझाने-बुझाने और मैत्रीपूर्ण व्यवहार के माध्यम से मौद्रिक-अनुशासन स्थापित करने मे अधिक सुगमता से सफल हो सकते हैं बनिस्पत इसके कि वे संगठन द्वारा विनिमय दरो की स्वीकृति पर प्रतिबन्ध लगाने की धमकी दें। अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों मे होने वाले कोई भी परिवर्तन स्थायी रूप से प्रभावकारी तब तक नही हो सकते जब तक कि वे उन सदस्य राज्यो को स्वीकार्य न हो जिन पर उन परिवर्तनों का मुख्यतः प्रभाव पड़ेगा।

संस्थात्मक परिवर्तनों के मार्ग मे मुख्य बाधायें
(Principal Hinds of Obstacles to Institutional Change)

संस्थात्मक परिवर्तनो अथवा अन्तर्राष्ट्रीय संगठनो मे परिवर्तनो के मार्ग मे जो मुख्य प्रकार की बाधायें उपस्थित हो सकती हैं, उन्हे इवान ल्युआर्ड ने इस प्रकार गिनाया है[1]—

(1) पहले प्रकार की बाधायें प्राय. उन संस्थाओ द्वारा उत्पन्न की जाती है जो पहले ही से अस्तित्व मे हैं। ये बाधाए संस्थाओ के उन व्यक्तियों की ओर से खड़ी की जाती हैं जिनकी शक्ति और प्रभाव को अथवा वर्तमान शक्ति-संरचना मे जिनके हितो को प्रस्तावित परिवर्तनो से ठेस पहुचने की सभावना हो। उदाहरणार्थ, राष्ट्रीय राज्यो मे व्यक्तिगत नेता (Individual Leaders), नौकरशाही

1 *Evan Luard : opt. cit., pp. 19-24*

(Bureaucracy) अथवा स्थानीय परिषद् (Local Councillors) प्रशासन या सरकार की संरचना में किसी भी ऐसे परिवर्तन का विरोध कर सकते हैं जिससे उनके अधिकारों और प्रभाव को हानि पहुंचने की आशंका हो। यदि काउन्टी-परिषदों या स्थानीय पुलिस को अपने अधिकार में हानि पहुंचने की संभावना हो अथवा उन्हें यह भय हो कि प्रस्तावित परिवर्तन से उनकी कुछ या अधिक शक्ति दूसरे अधिकारियों के हाथों में चली जायगी तो वे सम्पूर्ण रूप में उन संभावित या प्रस्तावित परिवर्तनों के विरोध पर कमर कस सकते हैं। इस प्रकार की प्रक्रिया अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में भी समान रूप से प्रभावशाली होती है। यदि अन्तर्राष्ट्रीय संस्था में परिवर्तन के ऐसे प्रस्ताव उपस्थित किये जाय जिनमें सचिवालय के अधिकारियों अथवा संस्था के किसी अंग की शक्ति के क्षय की संभावना हो तो अधिकारियों अथवा अंग के द्वारा विरोध किया जाता है। उदाहरण के लिए स्व० भूतपूर्व महासचिव डाग हैमर शोल्ड ने अधिकांश ऐसे प्रस्तावों को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया था जिनके द्वारा संयुक्त राष्ट्रसंघ की सूचना सम्बन्धी गतिविधियों (Information Activities of the U.N.) की जाँच-पड़ताल के लिए विशेषज्ञों की समिति नियमित की जानी थी।

दूसरे प्रकार की बाधायें वे हैं जो व्यक्तिगत सत्ता की सुरक्षा की दृष्टि से नहीं बल्कि वर्तमान संस्थाओं के प्रति श्रद्धा अथवा लगाव के कारण प्रस्तुत की जाती हैं। उदाहरण के लिए राज्यों में स्थानीय शासन में सुधार के प्रस्ताव का विरोध स्थानीय भक्ति (Local Loyalty) अथवा वर्तमान स्थानीय शासन की संरचना के प्रति मोह के कारण भी उतना ही हो सकता है जितना कि व्यक्तिगत अथवा सामूहिक अधिकार में हानि पहुंचने की आशंका से। अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में इस प्रकार का विरोध और भी शक्तिशाली रूप में प्रकट होता है। इवान ल्यूआर्ड के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं में प्रस्तावित परिवर्तनों के मार्ग में यह तत्व सम्भवतः सर्वाधिक महत्वपूर्ण एकमात्र अवरोध है। शताब्दियों के दौरान राष्ट्रीय राज्यों में जिन परम्पराओं और व्यवस्थाओं के प्रति भक्ति या श्रद्धा अथवा लगन (Loyalty) उत्पन्न हो जाती है, उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन प्रायः उन्हें स्वीकार्य नहीं होता। उदाहरण के लिए राष्ट्रीय राज्यों को प्रभुता-सिद्धान्त से इतना लगाव है कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में भी वे इस सिद्धान्त को अक्षुण्ण रखे हुए ही परिवर्तन करते हैं और संगठन की शक्ति या संरचना में किसी भी प्रकार के ऐसे परिवर्तन को स्वीकार नहीं करते जिससे उनकी प्रभुता-सम्बन्धी धारणा को आँच आने की संभावना हो।

(3) तीसरे प्रकार की बाधायें वर्तमान संगठनों की स्वयं की निष्क्रियता अथवा जड़ता से उत्पन्न हो सकती है। स्वयं संगठन या संस्था ही परिवर्तन के मार्ग में रुकावट बन सकती है और साथ ही परिवर्तन के अवांछित परिणामों की आशंका से भी संस्थायें विकास की दिशा में बढ़ने से हिचकिचा सकती हैं। यह संभव है कि वर्तमान व्यवस्था इतनी दृढ़ता से स्थापित हो गयी हो

कि किसी प्रकार का परिवर्तन अवांछित लगने लगा हो अथवा अनावश्यक भार-स्वरूप प्रतीत हो। इस प्रकार की प्रवृत्ति के विकसित होने पर यह अस्वाभाविक नहीं होगा कि कोई भी नये परिवर्तन, यदि किसी प्रकार कर भी दिये जाय तो अपने पैर जमा सकेंगे। इसी प्रकार यदि नये अंगो या अभिकरणों की स्थापना हो तो वे पहले से स्थापित सत्ता के मुकाबले नहीं टिक सकेंगे क्योंकि अपने विकास के लिए आवश्यक आर्थिक स्वतन्त्रता उन्हे सुलभ नहीं हो सकेगी। इस प्रकार के तत्व अथवा कारक अन्तर्राष्ट्रीय संगठनो मे परिवर्तन के मार्ग मे बाधक या अवरोध सिद्ध होते हैं। एक ओर तो राष्ट्रीय सरकारें पहले से स्थापित व्यवस्थाओ और व्यवहारों में परिवर्तन के प्रति प्राय: उदासीन होती हैं और दूसरी ओर स्वयं संगठन गतिशील रुख नहीं अपनाता। दोनों के संयोग से संगठनो की शक्ति और सरचना में विकासशील परिवर्तन, सरलता से स्थान नहीं पाते। जिस प्रकार राष्ट्रीय संसदें (जिन्हें बहुत पहले से धन की थैली को नियन्त्रित करने का अधिकार मिल चुका है) अब इस बात के प्रति सर्वथा उदासीन है कि वे अपनी वित्तीय शक्तियो को किन्ही दूसरी सत्ताओ या सरकार के अन्य अंगो या अभिकरणो को हस्तान्तरित करें, उसी प्रकार वे यह भी कभी नहीं चाहेगी कि अपने नागरिकों पर प्रत्यक्ष करारोपण का अधिकार अन्तर्राष्ट्रीय संगठनो को सौंपे या इस दृष्टि से उन संगठनो का हस्तक्षेप स्वीकार करें। अन्तर्राष्ट्रीय नौकरशाही की प्रणालियां (Procedures of International Bureaucracy) भी इतनी दृढ़ता से सरचागत हो चुकी होती हैं कि परिवर्तन के प्रस्ताव स्वागत योग्य नहीं समझे जाते।

(4) चौथे प्रकार की बाधायें विवादग्रस्त परिवर्तन (Controversial Changes) लाने मे राजनीतिक कठिनाइयो के माध्यम से उपस्थित होती हैं। राज्यो मे अनेक बार कुछ ऐसे प्रस्ताव सम्मुख आते हैं जिस पर गम्भीर राजनीतिक वाद-विवाद और मतभेद उत्पन्न हो जाते हैं जिनके फलस्वरूप अन्ततोगत्वा सरचात्मक परिवर्तनों का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। फिर भी राज्यो मे यह प्रजातान्त्रिक परम्परा प्रभावशील रहती है कि बहुमत की विजय होगी तथा अल्पमत, अन्तिम रूप मे, बहुमत की बात स्वीकार कर लेगा, बशर्ते कि मामला अत्यधिक विवादग्रस्त न हो या अल्पसंख्यकों के हितों को अप्रजातान्त्रिक ढंग से क्षति पहुंचाने वाला न हो। पर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे बहुमत के नियम की परम्परा (Tradition of Majority Rule) दृढ़तापूर्वक स्थापित नहीं हो सकी है और आज भी सम्प्रभुता सिद्धान्त अपने प्रभाव मे इतना शक्तिशाली है कि अल्पमत सदस्यों या किसी सदस्य राष्ट्र का बहुसंख्यक सदस्य राष्ट्रो के सामने इस प्रकार झुक जाना प्राय: सम्भव नहीं होता। अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का सदस्य छोटे-से-छोटा राज्य भी बहुमत के ऐसे किसी भी निर्णय को ठुकरा देता है जिसमें उसकी सार्वभौमिकता पर आंच आती हो। विश्व संस्था में अथवा अन्य किसी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन या अभिकरण मे प्रत्येक सदस्य राज्य अपने राष्ट्रीय हितों को सर्वोपरि मानते हुए अपना मत निर्धारित करता है। संयुक्त राष्ट्रसंघ

के शान्ति रक्षक कार्यों को वित्तीय-व्यवस्था के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के बहुमत के निर्णय को कुछ शक्तियों द्वारा उस हालत में भी अस्वीकार कर देना जबकि महासभा के प्रचण्ड बहुमत से न्यायालय के निर्णय पर सहमति प्रकट कर दी गयी हो, इस प्रकार के दुराग्रह का ज्वलन्त उदाहरण है। अभी तक संयुक्त राष्ट्रसंघ और अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं में अधिकांश यही देखा गया है कि शक्तिशाली राष्ट्र तथा बहुमत और विश्व-जनमत के दबाव से ही कुछ देशों के दुराग्रह पर थोड़ा-बहुत अंकुश लगा सका है। उपनिवेशवाद और रंगभेद के विरुद्ध महासभा में जिस प्रकार का मतैक्य अब प्रदर्शित किया जाने लगा है, वह उपर्युक्त प्रवृत्ति का एक सुन्दर उदाहरण है। परिवर्तनों का विरोध प्रायः बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि वे किस प्रकार के हैं, उनसे किन हितों को हानि पहुंचती है और वे कहां तक विश्व-संस्था के रंगमंच पर किस पक्ष की राजनीतिक जय-पराजय से सम्बन्धित हैं।

(5) अन्त में, किसी संगठन की विशिष्ट संरचना भी परिवर्तन के मार्ग में अवरोध या रुकावट सिद्ध हो सकती है। राज्यों में लिखित संविधान अथवा एक अत्यधिक शक्तिशाली नौकरशाही इस प्रकार के परिवर्तन के मार्ग में अवरोध का कार्य कर सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की परिवर्तन क्षमता को अवरुद्ध करने वाले भी इसी प्रकार के अनेक तत्व होते हैं। उदाहरण के लिए औपचारिक संवैधानिक संशोधनों की प्रणालियां कभी-कभी ऐसी होती हैं कि परिवर्तन की प्रक्रिया व्यवहारतः बहुत जटिल और कठिन हो जाती है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में प्रत्येक संशोधन के लिए प्रत्येक स्थायी सदस्य की सहमति के साथ ही सब सदस्यों के दो तिहाई बहुमत की स्वीकृति का स्पष्ट अभिप्राय है कि इस प्रकार का कोई भी परिवर्तन सुगमता से प्राप्त नहीं किया जा सकता। वास्तव में विश्व-संस्था के विभिन्न अंगों के रंग-मंच वे युद्धस्थल हैं, जहां सदस्य राष्ट्र राजनीतिक जय-पराजय की लड़ाई लड़ते हैं और ऐसे वातावरण में किसी प्रकार के संस्थात्मक परिवर्तन सुगम नहीं होते। केवल कुछ प्रकार्यात्मक संगठनों (Functional organisations) में जो सामान्यतः बड़ी सीमा तक अविवादास्पद सेवायें प्रदान करते हैं, उत्साहवर्धक सामूहिक सहयोग देखने को मिलता है।

अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में वांछित परिवर्तनों के मार्ग में जो बाधायें हैं वे ऐसी नहीं हैं कि जिनका निराकरण सम्भव न हो। यदि राजनीतिक सद्भावना का दृष्टिकोण रखा जाय, राष्ट्रीय हितों की न्याय-संगत रक्षा करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अनावश्यक दुराग्रह परिवर्तन नहीं अपनाया जाय, सदस्य राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के प्रति अपने दायित्वों के परिपालन में जागरूक हों तो परिवर्तन की प्रक्रिया उत्साहवर्धक ढंग से कार्यशील हो सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के सदस्यों को उदारतापूर्वक इस बात पर विचार करना चाहिए कि नवीन आवश्यकताओं और परिस्थितियों से निबटने के लिए और प्रभावशाली संस्थात्मक विकास के लिए क्या

कदम उठाया जाय। अनावश्यक दुराग्रह और राजनीतिक कुटिलता को त्याग देने पर ही विश्व संस्थायें अपने उद्देश्यों में वांछित सफलता प्राप्त कर सकती हैं।

राष्ट्रसंघ के प्रसंविदा में संशोधन
(Amendment in the Covenant of the League)

राष्ट्रसंघ के प्रसंविदा के अन्तिम अनुच्छेद 26 में संशोधन की व्यवस्था थी। प्रसंविदा का संशोधन तभी सम्भव था जब उसे संघ के वे सब सदस्य स्वीकार कर लें जो परिषद् के सदस्य हैं और संघ के अन्य सदस्यों के बहुमत की स्वीकृति भी प्राप्त हो जाय। ऐसा अनुसमर्थन मिलने पर ही संशोधन स्वीकार किया जाता था। संशोधन किसी सदस्य राष्ट्र पर उसकी इच्छा के विरुद्ध लादा नहीं जा सकता था। सदस्य राष्ट्र संशोधन को स्वीकार अथवा अस्वीकार कर सकता था, लेकिन अस्वीकृति की अवस्था में उस संघ की सदस्यता का परित्याग करना पड़ता था। संशोधन सम्बन्धी अनुच्छेद की भाषा अस्पष्ट थी, जिसके अनेक अर्थ लगाए जा सकते थे। सभा (Assembly) द्वारा भाषा सम्बन्धी सुधार के प्रयत्नों में सफलता प्राप्त नहीं हुई। संघ के जीवन काल में प्रसंविदा के अनुच्छेद 4,6,12,13 और 15 में ही कुछ संशोधन किये जा सके। अनुच्छेद 16 के पैरा एक तथा अनुच्छेद 26 में सुधार के लिए प्रस्तावित किये गये संशोधनों को अनुसमर्थन कभी प्राप्त नहीं हुआ।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में संशोधन
(Amendment in the Charter of the U. N)

संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के पुनरावलोकन और संशोधन के लिए आवश्यक निर्देशों का समावेश इसके अनुच्छेद 108–109 में है। ये अनुच्छेद इस प्रकार हैं–

अनुच्छेद 108 के अनुसार "वर्तमान चार्टर में जो भी संशोधन होंगे वे संघ के सब सदस्यों पर तभी लागू हो सकेंगे जब उनको महासभा दो तिहाई बहुमत से मान ले और सुरक्षा परिषद् के सभी स्थायी सदस्यों सहित संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य अपनी-अपनी वैधानिक प्रक्रियाओं के अनुसार दो तिहाई बहुमत से उनका अनुसमर्थन कर दें।"

अनुच्छेद 109 में व्यवस्था है कि—

(1) "जब कभी वर्तमान चार्टर के पुनरावलोकन की बात हो तो उसके लिए संघ के सदस्यों का एक सामान्य सम्मेलन (General Conferen.e) किया जा सकता है जिसकी तारीख और जिसके समय व स्थान का निश्चय महासभा में दो-तिहाई बहुमत और सुरक्षा परिषद् के किन्हीं 7 सदस्यों (अब 15 में से 9) के वोट से होगा। इस सम्मेलन में संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रत्येक सदस्य का मत एक गिना जायगा।"

(2) "यदि सम्मेलन में वर्तमान चार्टर पर कोई परिवर्तन दो-तिहाई बहुमत से माना जाता है तो वह लागू तभी हो सकेगा जब सुरक्षा परिषद् के

सभी स्थायी सदस्यों सहित संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य अपनी वैधानिक प्रक्रियाओं के अनुसार दो-तिहाई बहुमत से उसका अनुसमर्थन (Ratification) कर दें।"

(3) "चार्टर के अमल में आने के बाद महासभा के दसवें वार्षिक अधिवेशन के पूर्व यदि ऐसा सम्मेलन नहीं होता तो ऐसा सम्मेलन करने का प्रस्ताव महासभा में इसी अधिवेशन के एजेण्डा पर रखा जायगा और यदि महासभा में बहुमत से तथा सुरक्षा परिषद् में किन्हीं 7 (अब 9) सदस्यों के मत से यह स्वीकार कर लिया जाता है तो वैसा ही सम्मेलन किया जायगा।"

संघ के चार्टर में उपर्युक्त संशोधनों के लिए समय-समय पर अनेक प्रस्ताव रखे गये। 1953 में महासभा के दसवें अधिवेशन में महासभा के सभी सदस्यों की एक समिति नियुक्त की गयी जिसे उचित अवसर पर चार्टर में संशोधन करने के लिए सम्मेलन बुलाने का कार्य सौंपा गया। समिति ने जून, 1957 में प्रस्तावित सम्मेलन को सितम्बर 1957 तक के लिए स्थगित करने का प्रस्ताव पास किया। 1959 के सम्मेलन का बुलाया जाना पुनःस्थगित कर दिया गया और तब से अभी तक चार्टर में संशोधन का प्रश्न लगभग निष्क्रिय सा पड़ा है। केवल दिसम्बर, 1963 में महासभा द्वारा दो प्रस्ताव पारित करके निम्नलिखित संशोधन प्रस्तावित किये गये जिन्हें 1965 में महासभा के सदस्य राज्यों का अनुसमर्थन मिल गया और एक जनवरी, 1966 से जो लागू भी हो गया—

1. सुरक्षा परिषद् के अस्थायी सदस्यों की संख्या बढ़ा कर 10 कर दी गयी तथा प्रस्तावों को पास करने के लिए 9 सदस्यों के स्वीकारात्मक मत आवश्यक हैं। यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि सुरक्षा परिषद् की 10 अस्थायी सीटों में 5 सीटें एशिया और अफ्रीका के देशों को प्राप्त होंगी।

2. आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् के सदस्यों की संख्या बढ़कर 18 के स्थान पर 27 करदी जाय।

उपर्युक्त संशोधन के बाद चार्टर में अन्य संशोधन की आशा सदैव निराशा में ही बदलती रही है। वास्तव में जब तक सुरक्षा परिषद् में महाशक्तियों का शीतयुद्ध (Cold war) उग्र है, तब तक यह पूरा भय है कि चार्टर में संशोधन का कोई भी प्रस्ताव किसी न किसी पक्ष की ओर से वीटो (Veto) कर दिया जायगा।

इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि औपचारिक रूप से चार्टर में संशोधन नहीं हो पाये हैं, तथापि अनौपचारिक रूप से कुछ उपबन्धों में परिवर्तन लाये गये हैं। उदाहरणार्थ, 3 नवम्बर, 1950 के "शान्ति के लिए एकता" के प्रस्ताव में निषेधाधिकार को ठेस पहुँचाते हुए महासभा को सुरक्षा परिषद् से अधिक शक्तिशाली बना दिया गया है। होता यह है कि सुधार के सुझावों के सम्बन्ध महाशक्तियाँ एकमत हो सकती हैं, चाहे वे चार्टर के वास्तविक रूप में परिवर्तन करने पर राजी हों या नहीं-भी। पामर एवं पर्किन्स ने इसे अनौपचारिक संशोधन

की प्रक्रिया (The Process of Amendment) कहा है। इस तरीके से अनेक परिवर्तन किये जा चुके हैं तथा निश्चय ही आज का संयुक्त राष्ट्रसंघ ठीक वही नहीं है जो वह सन् 1945 में था। 1967 में अरब-इजराइल युद्ध के सन्दर्भ में चार्टर का एक महत्वपूर्ण अनौपचारिक संशोधन उल्लेखनीय है। युद्ध के सम्बन्ध में सुरक्षा परिषद् की कार्यवाही से असन्तुष्ट होने पर सोवियत संघ ने "शान्ति के लिए एकता" के प्रस्ताव के अन्तर्गत महासभा की बैठक की माग की। चार्टर में व्यवस्था यह है कि यदि कोई समस्या सुरक्षा परिषद् में प्रस्तुत हो तो परिषद् की राय के बिना महासभा में उस पर विवाद नहीं हो सकता। "शान्ति के लिए एकता" प्रस्ताव के अन्तर्गत प्रश्न महासभा में तभी जा सकता है जब 'वीटो' के प्रयोग के कारण सुरक्षा परिषद् कुछ भी करने में असमर्थ हो जाय। अरब-इजराइल युद्ध के समय न तो सुरक्षा परिषद् में कोई गतिरोध ही उत्पन्न हुआ और न कभी 'वीटो' का प्रयोग ही किया गया। अतः चार्टर की व्यवस्था के अनुसार, सोवियत संघ की माग पर महासभा की बैठक नहीं होनी चाहिए थी, लेकिन अमेरिका द्वारा विरोध न किये जाने से 18 जून, 1967 में महासभा का अधिवेशन बुलाकर एक नयी परम्परा कायम कर दी गयी। इस परम्परा के आधार पर अब उपर्युक्त परिस्थिति में महासभा की बैठक भविष्य में भी आमन्त्रित की जा सकती है। फ्रान्सिस विलकोक्स (Francis O. Wilcox) के मतानुसार अभी तक चार्टर निम्न प्रकार से संशोधित किया गया है—

(1) चार्टर के कुछ उपबन्धों को क्रियान्वित न करके,

(2) संघ के विभिन्न अंगों तथा सदस्यों द्वारा चार्टर की व्याख्या करके,

(3) सहायक सन्धियों एवं समझौतों के निर्णयों द्वारा, एव

(4) विशेष अंगों तथा अभिकरण की रचना करके।

क्लाइड इगिल्टिन आदि विचारकों के मतानुसार वे बहुत सी बातें जिन पर सम्मेलन में विचार करने की बात कही जाती है उनको सामान्य स्वीकृति द्वारा वैसे ही पूरा किया जा सकता है किन्तु यह तभी सभव है जब इस प्रकार की स्वीकृति पहले से प्राप्त की जा सके। चार्टर में संशोधनार्थ सम्मेलन नहीं बुलाये जाने पर कुछ लोगों को असन्तोष हो सकता है किन्तु असन्तोष तब और भी अधिक बढ़ जायगा जबकि ऐसा सम्मेलन बुलाये जाने के बाद भी किसी निर्णय पर न हो पायें।

4

राष्ट्रसंघ

(THE LEAGUE OF NATIONS)



"लीग शान्ति सम्मेलन की एक महान रचना थी। उसकी धारणा पूर्णतया अन्तर्राष्ट्रीय थी और यदि उसके सदस्य दृढ़तापूर्वक निष्पक्ष रूप से उसका उपयोग करते तो वह शान्ति का एक महान साधन सिद्ध हुई होती।"

—गैथार्न हार्डी

राष्ट्रसंघ "एक विश्वव्यापी राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था के संगठन की दिशा में प्रथम प्रभावशाली पग था जिसमें मानव-समाज के सामान्य हितों के दर्शन होते थे और जिसने परम्परा, जातिभेद अथवा भौगोलिक पार्थक्य की बाधाओं से ऊपर उठ कर कार्य किया।" यद्यपि राष्ट्रसंघ उन उद्देश्यों में सफल नहीं हो सका जिनके लिए उसकी स्थापना की गई थी, तथापि अपनी असफलताओं में भी यह एक महान् प्रयोग था जिसने संयुक्त राष्ट्रसंघ के संस्थापकों को अमूल्य शिक्षा प्रदान की। इसकी असफलताएं भावी पीढ़ी के लिए शिक्षक बन गयीं, इसने जो आंशिक सफलताएं प्राप्त कीं वे संयुक्त राष्ट्रसंघीय व्यवस्था के लिए बहुमूल्य सिद्ध हुईं।

राष्ट्रसंघ का जन्म
(Origin of the League)

प्रथम महायुद्ध के प्रारम्भ होते ही विश्व के राजनीतिज्ञों और दार्शनिकों ने शान्ति के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन स्थापित करने की मांग संसार के सामने रखी। स्विट्जरलैण्ड, हॉलैण्ड, फ्रान्स, जर्मनी, ब्रिटेन आदि की अनेक समितियों और समूहों ने प्रभावशाली अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति संगठन की स्थापना पर बल दिया। संयुक्त राज्य अमेरिका में एक राष्ट्रसंघ की स्थापना के विषय में आम चर्चा चल पड़ी। 1915 के प्रारम्भ में कुछ विख्यात अमेरिकनों ने न्यूयार्क में "शांति स्थापित करने वाला संघ" (League to enforce the peace) की स्थापना की। यह कार्य भूतपूर्व राष्ट्रपति टैफ्ट के नेतृत्व में हुआ। उसी वर्ष जून में इस संघ के तत्वावधान

में फिलाडेल्फिया में एक सम्मेलन आयोजित हुआ जिसमें निम्नलिखित चार सूत्र कार्यक्रम निर्धारित किया गया[1]—

(1) वैधानिक झगड़ों के समाधान के लिए एक न्यायालय की स्थापना की जाय।

(2) एक परिषद् का निर्माण किया गया जो राजनीतिक विवादों को जांच और सिफारिश के माध्यम से निपटाये।

(3) शान्तिपूर्ण हल को स्वीकार नहीं करने वाले पक्ष के विरुद्ध विश्व-समुदाय द्वारा आर्थिक एवं सैनिक कार्यवाही की जाय।

(4) अन्तर्राष्ट्रीय विधि के संहिताकरण के लिए समय-समय पर सम्मेलनों का आयोजन हुआ करे।

विटमैन डी. पोटर की दृष्टि में उपर्युक्त संस्था राष्ट्रसंघ की स्थापना की दिशा में सब से शक्तिशाली प्रयत्न था। इस संस्था के सदस्यों का विचार था कि विश्व में अन्तर्राष्ट्रीय विधि और न्याय-निर्णयन का विकास तो काफी हो चुका था लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय विधि को लागू करने की दिशा में कोई ठोस कदम नहीं उठाया जा सका था। अतएव संस्था ने अपने ध्येय की पूर्ति के लिए प्रबल प्रयास शुरू किया। मई 1916 में उपर्युक्त चारों निर्णयों को क्रियान्वित करने के लिए वाशिंगटन में एक सम्मेलन बुलाया गया जिसमें भाषण देते हुए राष्ट्रपति विल्सन ने एक ऐसे संगठन की स्थापना का समर्थन किया जिसके द्वारा समुद्रों को स्वतन्त्र रखा जाय और सदस्य राज्यों की क्षेत्रीय अखण्डता तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता की सुरक्षा की जाय। दिसम्बर, 1916 में राष्ट्रपति विल्सन ने सम्पूर्ण विश्व की शान्ति एवं न्याय की सुरक्षा के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय-संघ की स्थापना का सुझाव रखा। जैसे-जैसे महायुद्ध भयंकर होता गया, सरकारी अधिकारियों और राजनीतिज्ञों की इस बात में सहमति बढ़ती गयी कि एक स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन द्वारा ही विश्व-शान्ति बनायी रखी जा सकती है। इस बात पर भी वे सहमत हो गये कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन में सभी राज्यों को प्रवेश का समान अधिकार होना चाहिए।

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना के लिए विभिन्न सरकारों की ओर से विभिन्न योजनाएं प्रस्तुत की गयीं। अधिकांश योजनाओं में संगठन के ढांचे में एक प्रतिनिधि सभा, न्यायालय, परिषद् और सचिवालय की व्यवस्था प्रस्तावित की गयी। एकाधिक योजना में सैनिक-शक्ति के प्रयोग तथा अन्तर्राष्ट्रीय सेना की व्यवस्था का भी उल्लेख किया गया।

राष्ट्रसंघ की स्थापना में सर्वाधिक प्रभावशाली योगदान राष्ट्रपति विल्सन का रहा। वे इस बात से पूर्ण सहमत थे कि विश्व-शान्ति की दृष्टि से राष्ट्रसंघ जैसा एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन स्थापित होना चाहिए, तथापि उन्होंने कभी भी इसकी स्पष्ट रूपरेखा नहीं खींची। उन्होंने यह नहीं बतलाया कि राष्ट्रसंघ के संगठन का ढांचा कैसा हो। आर. एस. बेकर के अनुसार राष्ट्रसंघ के प्रसंविदा का कोई भी लक्षण

1. *Clyde Eagleton* : International Government, p. 247.

राष्ट्रपति विल्सन का स्वयम् का विचार नहीं था। उन्होंने तो मुख्यतः दूसरों के विचारों और सुझावों का चातुर्यपूर्ण सम्पादन और उसे व्यावहारिक जामा पहनाने का भरपूर प्रयत्न किया। 8 जनवरी 1918 को विल्सन ने अपना प्रसिद्ध चौदहसूत्री शान्ति-कार्यक्रम प्रकाशित किया, जिसके अन्तिम सूत्र में घोषित किया गया कि, "छोटे और बड़े राज्यों को समान रूप से राजनीतिक स्वतन्त्रता और प्रादेशिक अखण्डता का पारस्परिक आश्वासन देने के लिए निश्चित संविदाओं के अन्तर्गत राष्ट्रों का एक सामान्य संघ बनाया जाना चाहिए।"

1918 में विल्सन के सम्मुख अनेक योजनाओं को प्रस्तावित किया गया। प्रथम, फिलिमोर रिपोर्ट थी जिसमें सिफारिश की गयी कि किसी राष्ट्र को यह अधिकार नहीं होना चाहिए कि वह अपने वादों के विवाचन या पंच-निर्णय और सराधन के समक्ष भेजे बिना युद्ध आरम्भ कर दे। बाद में यह सिफारिश ही राष्ट्रसंघ के प्रसंविदा का बारहवां अनुच्छेद बनी। फिलिमोर रिपोर्ट का दूसरा सुझाव यह था कि समझौते के सभी राष्ट्र इस बात पर सहमत हों कि यदि कोई राष्ट्र उपर्युक्त उपायों द्वारा अपने विवादों का समाधान नहीं करें और युद्ध छेड़ दें तो सभी राष्ट्र संयुक्त रूप से उसे दण्डित करने की दिशा में कदम उठायेंगे। यह सिफारिश बाद में राष्ट्रसंघ के प्रसंविदा का 16वां अनुच्छेद बनी। फिलिमोर रिपोर्ट का तीसरा सुझाव यह था कि सदस्य राज्यों के झगड़ों को सराधन द्वारा सुलझाने के लिए मित्र राष्ट्रों का सम्मेलन हो जो आवश्यकता पड़ने पर बैठक आयोजित करे। यह भी कहा गया कि उसके निर्णय सर्वसम्मति से हों। फिलिमोर रिपोर्ट पर राष्ट्रपति विल्सन ने कर्नल हाउस के विचार आमन्त्रित किये। जुलाई 1918 में कर्नल हाउस ने राष्ट्रपति के सम्मुख अपनी योजना प्रस्तुत की, जिसके अनेक अनुच्छेद फिलिमोर रिपोर्ट के उपबन्धों पर आधारित थे। हाउस-योजना में एक स्थायी सचिवालय और एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की भी व्यवस्था की गयी। यह भी कहा गया कि आक्रान्ता सदस्य राज्य की पूर्णरूप से नाकाबन्दी की जाय। योजना में सशस्त्र सेना के प्रयोग पर असहमति व्यक्त की गयी और निःशस्त्रीकरण की व्यवस्था करते हुए यह सुझाव दिया गया कि युद्ध-सामग्री के निर्माण का राष्ट्रीयकरण होना चाहिए। यह भी कहा गया कि राष्ट्रसंघ के सदस्यों को क्षेत्रीय अखण्डता तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता का समुचित आश्वासन मिलेगा। कर्नल हाउस की योजना की यह व्यवस्था राष्ट्रसंघ के प्रसंविदा का 10वां अनुच्छेद बनी। राष्ट्रपति विल्सन ने अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के विचार में असहमति प्रकट की तथा सशस्त्र सेना के प्रयोग को स्थान दिया। निःशस्त्रीकरण का मापदण्ड घरेलू सुरक्षा के आधार पर लिया गया जिसे आगे चलकर राष्ट्रीय सुरक्षा में परिणत कर दिया गया।

विश्व-शान्ति के लिए राष्ट्रसंघ जैसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना का विचार अधिकाधिक स्पष्ट होता गया और सितम्बर 1918 में राष्ट्रपति विल्सन ने घोषणा की कि प्रस्तावित राष्ट्रसंघ शान्ति समझौते का ही एक अंग होना चाहिए।

नवम्बर 1918 में युद्ध विराम हुआ और जनवरी 1919 में पेरिस में शान्ति सम्मेलन बुलाया गया जिसमें वे विभिन्न सरकारी और गैर-सरकारी योजनाएँ प्रस्तुत की गयी जो संघ-स्थापना के लिए अब तक बनायी गयी थी। 14 फरवरी, 1919 को 'राष्ट्रसंघ आयोग' ने राष्ट्रसंघ का अन्तिम प्रारूप तैयार किया जिसे 28 अप्रैल 1919 को शान्ति सम्मेलन के पूर्ण अधिवेशन में स्वीकार कर लिया गया। 28 जून 1919 को वर्साय-सन्धि के प्रथम भाग के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय संघ के प्रसंविदा पर हस्ताक्षर किये गये। यह वर्साय-सन्धि की प्रथम 26 धाराओं में समाविष्ट था। इस प्रसंविदा को 1919–21 की अन्य शान्ति-सन्धियों का भी प्रथम भाग बना दिया गया। राष्ट्रसंघ के संविधान को जानबूझ कर प्रसंविदा अथवा समझौता या प्रतिज्ञा-पत्र (Covenant) का नाम दिया गया ताकि विभिन्न राष्ट्र उसे अपने से ऊँचा अन्तर्राष्ट्रीय संगठन समझने की भ्रान्ति में न पड़ें। 10 जनवरी 1920 से इसे क्रियान्वित किया गया।

राष्ट्र संघ के उदय में सहायक प्रमुख एवं विशिष्ट तत्व

इनिस क्लाडे महोदय ने राष्ट्रसंघ के कुछ विशिष्ट स्रोत (Sources) अथवा उनके उदय में सहायक प्रमुख एवं विशिष्ट तत्वों का उल्लेख किया है।[1]

(1) युद्धकाल में जर्मनी, के विरुद्ध आर्थिक शस्त्र के संयुक्त प्रयोग ने मित्र राष्ट्रीय राजनीतिज्ञों के मस्तिष्क में आर्थिक दबाव (Economic squeeze) जैसे उन असैनिक प्रतिबन्धों की एक नयी धारणा उत्पन्न कर दी जिनका उपयोग अन्तर्राष्ट्रीय संगठन द्वारा विश्व-शान्ति को बनाये रखने के लिए किया जा सके। इस प्रकार की विचारधारा, जो राष्ट्रसंघ की एक आधारशिला बनी, प्रथम महायुद्ध की प्रमुख देन थी।

(2) राष्ट्रसंघ के प्रसंविदा के निर्माण में प्रभावकारी दूसरा तत्व-समूह (Cluster of factors) उस आम राजनीतिक स्थिति में निहित था जो 1919 में वर्तमान थी। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन केवल रचनात्मक योजनाओं और संस्थात्मक विकास की उपज नहीं होते, उनके स्रोत अन्तर्राष्ट्रीय हितों तथा अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच के शक्ति-सकेन्द्रों में छिपे होते हैं और उन्हीं स्रोतों से उनका उदय होता है। राष्ट्र-संघ के सम्बन्ध में भी यही बात थी। प्रथम तो पेरिस शान्ति सम्मेलन में विजेता सैनिक शक्तियाँ संयुक्त रूप में विद्यमान थीं। विजेता मित्र राष्ट्र जीत की फसल काटने को उत्सुक थे। वे सैनिक घटनाओं द्वारा उत्पन्न शक्ति-सम्बन्धों के परिवर्तन का पूरा लाभ उठाते हुए अपने-अपने पक्ष में एक नयी स्थिति खड़ी करना चाहते थे ताकि जर्मनी पराजय की दशा में ही बना रहे। इन सब बातों के प्रकाश में राष्ट्रसंघ पर जो दायित्व आया वह शांति की स्थापना करना उतना नहीं था जितना की विशिष्ट शान्ति बनाये रखना, अर्थात् विजय पर आधारित एक विशेष विश्व व्यवस्था को

1 *Inis L. Claude, JR* · opt cit, p p 52-59.

स्थायित्व देना और उसका औचित्य सिद्ध करना था। राष्ट्रपति विल्सन को छोड़कर अन्य मित्र-राष्ट्रीय राजनीतिज्ञ चाहते थे कि राष्ट्रसंघ विजेताओं द्वारा विजितों पर थोपे गये समझौतों का संरक्षक बने। इसके अतिरिक्त प्रमुख मित्र और साथी राष्ट्रों की शान्ति-सम्मेलन में प्रभुत्वकारी स्थिति थी। आधारभूत वास्तविकता केवल यही नहीं थी कि जर्मनी पराजित हो गया था बल्कि यह भी थी कि महाशक्तियों ने जर्मनी को पराजित करने का कार्य किया था। अतः अब युद्ध जीतने के बाद नये मानचित्र को अपनी इच्छानुसार निर्धारित करने की उनमें शक्ति, सामर्थ्य और इच्छा थी। कुछ शक्तिशाली राष्ट्रों के रवैये ने राष्ट्रसंघ की प्रारम्भिक योजना को महत्त्वपूर्ण रूप से प्रभावित किया। 1919 में शान्ति सम्मेलन का उन्होंने नाटक दिखाया। संघ के प्रसंविदा में नौ सदस्यीय परिषद् में पांच महाशक्तियों के लिए स्थायी सदस्यता का प्रावधान रखा गया और स्पष्ट रूप से यह माशा की गयी कि सभा चार-चार वर्षों के अन्तर से सम्मिलित हुआ करेगी तो परिषद् के कार्यों पर सारणी बना देगी। प्रमुख मित्र राष्ट्रों ने समझौता करने के अपने अधिकार पर बल दिया तथा घटनाओं के भावी मार्ग निर्धारण का दायित्व ग्रहण किया।

(3) छोटे राष्ट्रों को यद्यपि राष्ट्रपति विल्सन की सहानुभूति प्राप्त थी तथापि पेरिस सम्मेलन में उनकी कोई निर्णयकारी स्थिति नहीं थी। फिर भी विश्व राजनीतिक व्यवस्था के सामान्य हितों के लिए जूझते हुए राष्ट्रसंघ के प्रावधानों पर अपना प्रभाव डालने में वे आंशिक रूप से सफल हो गये।

(4) राष्ट्रसंघ तत्कालीन वैचारिक जलवायु (The ideological Climate) की उपज थी। केवल भूतकालीन संस्थात्मक आविष्कार और वर्तमान राजनीतिक वास्तविकतायें ही इसके स्रोत नहीं थे वरन् भविष्य की उत्सुकताएं और आशाएं भी इसके उदय का कारण बनीं। यह कहना चाहिए कि राष्ट्र संघ की स्थापना में सम्बों और विचारों, परिस्थितियों और उद्देश्यों, वस्तुगत बनावट और आत्मगत धारणाओं सभी का संयुक्त रूप से सहयोग रहा। नयी व्यवस्था पर उन सभी दार्शनिक विचारों और आदर्शों की छाप पड़ी जो तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को प्रभावित किये हुए थी। ये तथ्य यद्यपि सर्वप्रमुख नहीं थे तथापि महत्त्वपूर्ण अवश्य थे। राष्ट्रपति वुड्रो विल्सन सम्पूर्ण आदर्शात्मक चलचित्र पर छाये रहे। वे हर समय इस विचार के प्रतीक बने रहे कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में उच्चतम मूल्यों के विकास द्वारा संगठित राजनीति की अराजकता समाप्त कर दी जाय।

(5) राष्ट्रसंघ की योजना जो पेरिस में स्वीकार की गयी, विचारधारा की दृष्टि से, अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर 19वीं शताब्दी के उदारवाद (Liberalism) की अभिव्यक्ति थी। यह नये विचारों का उतना प्रतिनिधित्व नहीं करती थी जितना पुराने विचारों की अभिव्यक्ति के एक नये क्षेत्र का (It represented not so much a new set of ideas as a new area of expression for old ideas)। यद्यपि

राष्ट्रसंघ का प्रसंविदा विशुद्ध विचारधारात्मक उपज ('Pure' ideological product) नहीं था तथापि निश्चित रूप से अपने स्वर में उदार (Liberal in tone) था। इसका अभिप्राय यह था कि राष्ट्रसंघ प्रजातान्त्रिक सिद्धान्तों की अवधारणाओं के मूल्यों से घनिष्ट रूप से सम्बन्धित अथवा प्रभावित था। विल्सन को इमेनुअल काण्ट की भांति विश्वास था कि लोकतान्त्रिक ढंग से स्वशासित राष्ट्रों के बीच समझौते या सम्बन्ध द्वारा ही विश्वशान्ति की स्थापना की जा सकती है। यह काण्टवादी विल्सनवादी स्थिति (The Kantian-Wilsonian position) इस धारणा पर आधारित थी कि निरंकुश अथवा स्वेच्छाचारी तन्त्रों की तुलना में लोकतान्त्रिक-राज्य, परम्परा से शान्तिपूर्ण होते हैं अथवा दूसरे शब्दों में, "केवल उसी राष्ट्र पर जिसकी सरकार उसकी मालिक न होकर नौकर हो विश्वशांति बनाये रखने का भार सौंपा जा सकता है।[1] इस राजनीतिक उदारवाद के लिए बाह्य और आन्तरिक लोकतन्त्र की आवश्यकता थी। विल्सन ने राष्ट्रसंघ को 'जनमत के दरबार' (Court of Public Opinion) के रूप में प्रस्तुत किया।

इनिस क्लाड के अनुसार इस प्रकार, राष्ट्रसंघ दो अवधारणाओं पर आधारित था—प्रथम यह कि लोकतन्त्र का युग आ पहुंचा है और पर्याप्त संख्या में लोकतान्त्रिक राज्य मौजूद हैं जिनको विश्व-शान्ति बनाये रखने के लिए एक संगठन के रूप में संयुक्त होना चाहिए, तथा द्वितीय यह है कि प्रजातान्त्रिक राज्यों और साथ ही व्यक्तियों के आपसी सम्बन्धों के क्षेत्र में बलपूर्वक कोई बात लादने की अपेक्षा सभ्य विचार-विमर्श द्वारा समझौते पर पहुंचने में लोकतान्त्रिक उपायों को स्वीकार किया जाना चाहिए। विल्सन ने विश्व में लोकतन्त्र को सुरक्षित बनाने के लिए अपना युद्ध लड़ा, उसने विश्व में लोकतन्त्र को सुरक्षित बनाने के लिए ही राष्ट्रसंघ का निर्माण किया।

19वीं शताब्दी में उदारवाद का प्रभाव राष्ट्रीय आत्म निर्णय के आग्रह के रूप में भी स्पष्ट था। सारांशतः राष्ट्रसंघ के दर्शन में लोकतन्त्र और आत्मनिर्णय के सैद्धान्तिक हितों की स्वाभाविक एक-रूपता की अवधारणा के लिए आधारशिला थी। इनिस क्लाड के शब्दों में कुल मिलाकर "19वीं शताब्दी में उदारवाद की सभी आधारभूत धारणाओं—लोकतन्त्र, राष्ट्रवाद, स्वाभाविक एक रूपता, विधि, सीमित सरकार, विवेकवाद, विवाद सहमति ने राष्ट्रसंघ के संविदा पर अपनी छाप छोड़ी।"

राष्ट्रसंघ की प्रकृति
(Nature of the League)

राष्ट्रसंघ का प्रसंविदा वर्तमान संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर से बहुत छोटा, लगभग चार हजार शब्दों का था जिसमें एक प्रस्तावना और 26 धाराएं थीं। प्रसंविदा में संघ के उद्देश्य, सदस्यता की शर्तें, संघ के सामान्य ढांचे, दायित्वों आदि का उल्लेख था। प्रस्तावना के अनुसार संघ के प्रमुख उद्देश्य तीन थे—

1. *Hamilton Foley* : Woodrow Wilson's case for the League of Nations, p

(1) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की स्थापना, अर्थात् न्याय तथा सम्मान के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का विकास करके भावी युद्धों को टालना, (2) विश्व के राष्ट्रों के मध्य भौतिक तथा मानसिक सहयोग को प्रोत्साहन देना ताकि मानव-जीवन सुखी और समृद्ध बन सके, एवं (3) पेरिस शान्ति सम्मेलन द्वारा स्थापित व्यवस्था को बनाये रखना।

प्रसंविदा की प्रथम सात धाराएं संघ की सदस्यता के नियमों और संघ के अंगों से 8वीं तथा 9वीं निःशस्त्रीकरण से तथा 10वीं से 17वीं धाराएं विभिन्न विवादों के शान्तिपूर्ण निर्णय, आक्रमण को रोकने एवं सामूहिक सुरक्षा बनाये रखने के उपायों से सम्बद्ध थीं। 18 से 21 तक की धाराओं में सन्धियों की रजिस्ट्री, प्रकाशन, संशोधन और वैधता का उल्लेख था। धारा 21 में मुनरो-सिद्धान्त की स्वीकृति और धारा 22 में मैण्डेट या आज्ञापत्र प्रथा (Mandate-system) का उल्लेख था। धारा 23 में सदस्य राज्यों द्वारा श्रम कल्याण, बाल-कल्याण, रोग-नियन्त्रण, नारी-व्यापार-निषेध आदि के सम्बन्ध में किये जाने वाले कार्यों पर बल दिया गया। धारा 24 में विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं का राष्ट्रसंघ के साथ सम्बन्धों पर वर्णन था। धारा 25 रेड-क्रॉस को प्रोत्साहन देती थी।

राष्ट्रसंघ की प्रकृति (Nature of the League)

राष्ट्रसंघ एक संघ अथवा शिथिल संगठन (Loose confederation) था जिसके प्रतिनिध्यात्मक और प्रशासकीय अवयव (Representative and administrative organs) सीमित शक्तियों से युक्त थे। ये अवयव उन सदस्य राज्यों से निर्देशित अथवा अनुदेशित होते थे जिनके द्वारा उन्हें सत्ता प्राप्त होती थी। राष्ट्रसंघ किसी प्रकार का सर्वोपरि राज्य नहीं था। इसके सदस्य राज्यों की स्वतन्त्रता ▒ बहुत ही कम प्रतिबंध थे। अलफ्रेड इमिरन के अनुसार यह स्वतन्त्र राज्यों का एक ऐच्छिक संघ था जिसके सदस्यों ने कुछ सामान्य उत्तरदायित्व स्वीकार किये थे। संघ के उद्देश्यों की पूर्ति के लिये कुछ सामान्य नियम निर्धारित किये गये थे तथा किसी सदस्य राज्य की अनुमति के बिना नया नियम नहीं बन सकता था और न ही कोई नया उत्तरदायित्व डाला अथवा ग्रहण किया जा सकता था। राष्ट्रसंघ एक अविकासशील संघ था क्योंकि प्रथम तो प्रसंविदा का संशोधन करना राष्ट्रों के अपने हाथ में नहीं था और द्वितीय यह इतना कठोर था कि परिवर्तित परिस्थितियों के अनुरूप ढाला नहीं जा सकता था।

राष्ट्रसंघ में एक संयुक्त उत्तरदायित्व निहित था लेकिन साथ ही सदस्य राज्यों की प्रभुसत्ता की मान्यता ▒ रखी थी। "राष्ट्रसंघ का संगठन राज्य संप्रभुसत्ता की ठोस शिला पर आधारित था और इसीलिए कानून की दृष्टि से राष्ट्रसंघ सदस्य राज्यों के सहयोग पर आश्रित था। दूसरे शब्दों में राष्ट्रसंघ का जीवन स्वाश्रित न होकर पराश्रित था अतः सदस्यों के ऐच्छिक सहयोग के अन्त के साथ ही राष्ट्रसंघ ▒ भी अन्त हो गया। वस्तुतः सदस्य राज्य अपनी प्रभुसत्ता बचाने के लिए किसी

ऐसी संस्था में जाने के अनिच्छुक थे जहाँ उन पर निर्णय लादे जाने का भय हो।[1] प्रसंविदा में किसी आक्रान्ता राज्य के विरुद्ध संयुक्त कार्यवाही की व्यवस्था थी किन्तु इस कार्यवाही का निश्चय हर स्थिति में सदस्य राज्य स्वयम् ही करते थे। राष्ट्रसंघ द्वारा सशस्त्र शक्ति अथवा सेना का प्रयोग सदस्य राज्यों की अनुमति पर ही निर्भर था। सदस्य राज्यों से ऊपर कोई भी ऐसी शक्ति राष्ट्रसंघ में निहित नहीं थी जो सदस्य राज्यों को इच्छा के विरुद्ध कार्य करने में सक्षम हो। संघ के पास कोई अपनी स्वतन्त्र शक्ति नहीं थी तथा नियम भंग करने वाले सदस्य राष्ट्र के विरुद्ध संघ द्वारा स्वतः कोई कार्यवाही की जाना संभव नहीं था। इनिस क्लाडे ने ठीक ही लिखा है कि "राष्ट्रसंघ के संस्थापकों ने परम्परागत बहुराज्यीय व्यवस्था के आधारभूत सिद्धान्तों को पसन्द किया। उन्हें स्वतन्त्र सम्प्रभु राज्यों की आधारभूत सत्ता के रूप में स्वीकार किया, महाशक्तियों को प्रमुख भागीदार माना तथा यूरोप की विश्व राजनीतिक व्यवस्था को केन्द्र बिन्दु के रूप में ग्रहण किया।"[2]

राष्ट्रसंघ एक दृष्टि में प्राचीनता और नवीनता का सम्मिश्रण (A combination of the old and the new) था। यह नवीन इस दृष्टि से था कि इसके निर्माताओं ने यह बात ध्यान में रखी थी कि शान्ति के लिए नकारात्मक दृष्टिकोण को तिलाञ्जलि देकर ठोस और विधेयात्मक (Positive) रुख अपनाते हुए अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण को शनैः शनैः अनुकूल दिशा में ले जाना चाहिए। यह प्राचीनता का द्योतक इसलिए था कि इसमें अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध-निर्धारण की वही प्रणाली अपनायी जाती रही जो 16वीं से 19वीं शताब्दी तक प्रचलित रही थी।

वास्तव में यह कहना चाहिए कि राष्ट्रसंघ में गतिशीलता नहीं थी और न इसका संगठन ही क्रान्तिकारी था। यह तो विजेता राष्ट्रों का विजित राष्ट्रों और सोवियत संघ के विरुद्ध एक संघ था जिसमें अमेरिका जैसा महान् शक्ति-सम्पन्न विजेता राष्ट्र अन्त तक अनुपस्थित रहा। पश्चिमी राष्ट्रों की इस विरोधी नीति के फलस्वरूप राष्ट्रसंघ ने भी पर्याप्त अंशों में एक ऐसी नीति का अनुसरण किया जिसमें फॉसिस्ट शक्तियों को बल मिला और विश्व-शान्ति की शक्तियों को आघात पहुँचा। राष्ट्रसंघ इस दृष्टि से भी क्रान्तिकारी संगठन नहीं था कि इसने विश्व के अन्य राष्ट्रों को उनके तात्कालिक रूप में स्वीकार कर लिया और केवल उनके पारस्परिक व्यावहारिक सम्बन्धों को सरलता और स्वतन्त्रता पूर्वक चलाने के लिए 'एक अधिक सन्तोषजनक उपाय' प्रदान करने की चेष्टा की। इसने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के निर्धारण की कार्य-प्रणाली को क्रान्तिकारी बनाने का प्रयास नहीं किया। इसने केवल पुराने कूटनीतिक उपायों को नवीनता का जामा पहनाया, अर्थात् नयी बोतल में पुरानी शराब भरने की कहावत चरितार्थ की। इनिस क्लाडे के अनुसार, "संघ एक सुधार आन्दोलन की अभिव्यक्ति था, एक ऐसा प्रयास था

1. *H. W. Harris*: What the League of Nations Is ?
2. *Inis L. Claude, JR.*: opt. cit., p. 59.

जो विश्व राजनीतिक व्यवस्था के संचालन में सहयोग दे और इसकी प्रणाली में सुधार करे।"[1] संघ के निर्माताओं का मुख्य उद्देश्य ऐसा सुरक्षात्मक उपाय करना था कि उस प्रकार के विस्फोट की पुनरावृत्ति न हो पाये जैसा 1914 में हुआ था।

निष्कर्ष रूप में यह कहना होगा कि पुरातन और नूतन के संयोग द्वारा उत्पन्न राष्ट्रसंघ ने, अपनी शिथिल प्रवृत्ति के बावजूद, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक जीवन को एक नया स्वरूप दिया और क्रियात्मक राजनीति को सूत्र-बद्ध करने का प्रयास किया। इसकी सब से बड़ी कमजोरी यही रही कि इसके पास सामूहिक इच्छा-शक्ति का अभाव था, यह केवल सामान्य सहमति प्राप्त करने के लिए अवसर ही रहता था। एक ओर तो इसको अन्तर्राष्ट्रीय विचारों को मोड़ देने का कार्य निभाना था और दूसरी ओर इसको उन सरकारों की इच्छाओं का भी ध्यान रखना था जिनके लिए इसका निर्माण किया गया था। राजनीतिक दृष्टि से यह कहना उपयुक्त है कि राष्ट्रसंघ राष्ट्रीय विदेशनीति का एक उत्तम साधन था। यह सरकारों पर थोपी गयी शान्ति-सन्धियों का ही एक अभिन्न भाग था और इसीलिए अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के शान्तिपूर्ण समाधान में यह सफल नहीं हो सका। "राष्ट्रसंघ को एक प्रभावशाली सार्वजनिक संघ (A Glorified Public Union) भी कहा गया है, क्योंकि इसका ध्येय कुछ विषय तक ही सीमित नहीं था।"[2] इसके ध्येय अनेक थे और साथ ही संघ-शासन के मुख्य लक्षण भी इसमें विद्यमान थे। इसके संगठन में न तो दो सदनों की व्यवस्था थी और न ही दो प्रकार की सरकार थी। और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का उसका अधिकार-क्षेत्र भी सीमित था। पिटमैन बी. पौटर ने राष्ट्रसंघ को 'एक निर्बल संघ शासन' की संज्ञा दी है जब कि क्लाईड ईगिल्टन ने इसकी तुलना एक राज्य-मण्डल से की है। राष्ट्रसंघ में जो भी लक्षण विद्यमान थे उनके आधार पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि उसके पास कुछ मात्रा में वैधानिक व्यक्तित्व अवश्य था। राष्ट्रसंघ की स्थापना इस विश्वास को लेकर हुयी थी कि शान्ति और सुरक्षा के उद्देश्यों की पूर्ति सम्प्रभुता के क्रान्तिकारी परित्याग द्वारा नहीं की जा सकती बल्कि सम्प्रभु स्वशासित राष्ट्रों के सारपूर्ण रचनात्मक और सहयोगी सम्बन्धों को प्रोत्साहन देकर की जा सकती है।[3]

राष्ट्रसंघ की सदस्यता
(Membership of the League)

राष्ट्रसंघ का जन्म उन सम्प्रभु और लगभग सम्प्रभु अथवा सम्भावित सम्प्रभु सत्ताओं के एक ऐच्छिक संघ के रूप में (As a voluntary association of sovereign and almost severeign or prospectively-sovereign entities)

1. Ibid, p. 60.
2. *Clyde Eagleton* : opt. cit., p. 232.
3. *Inis. L. Claude, JR.*, opt. cit., p. 61.

हुआ था जो प्रथम महायुद्ध के 'मित्र' पक्ष में सम्मिलित नहीं थी। यह क्षेत्रीय न हो कर एक सामान्य संगठन था और अपने क्षेत्र में विश्व-व्यापी था। जर्मनी तथा नव-स्थापित साम्यवादी रूस प्रारम्भ में चला कर इसकी सदस्यता से वंचित रखा गया था, परन्तु अन्य सभी महाशक्तियों और अन्त में बिना किसी अपवाद के सभी प्रमुख राष्ट्रों की भागीदारी को संघ की सफलता के लिए आमतौर पर अन्तिम आवश्यक समझा गया।[1]

राष्ट्रसंघ के सदस्य प्रसंविदा के अनुसार दो वर्गों में विभाजित थे-प्रथम मौलिक या प्रारंभिक एवं द्वितीय प्रविष्ट धारा के अनुसार प्रारंभिक सदस्य स्वशासित राज्य, डोमिनियन या उपनिवेश थे जिन्होंने या तो शान्ति-सन्धि या वर्साय की सन्धि पर हस्ताक्षर किये थे या जो राष्ट्रसंघ के सदस्य बनने के लिए आमन्त्रित किये गये थे। प्रविष्ट सदस्य वे थे जिनको राष्ट्रसंघ की स्थापना के बाद सदस्यता प्रदान की गयी। राष्ट्रसंघ की सभा (Assembly) किसी भी स्वशासित राज्य डोमिनियन या उपनिवेश को दो तिहाई बहुमत से राष्ट्रसंघ का सदस्य बना सकती थी जिन्हें प्रविष्ट सदस्य कहा जाता था। यह उपबन्ध भारत, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड जैसे देशों को राष्ट्रसंघ में स्थान देने के लिए रखा गया था। प्रसंविदा में किसी देश की स्वतन्त्रता के मापदण्ड को आंकने के लिए यद्यपि कोई व्यवस्था नहीं की गयी थी, तथापि सदस्य राज्यों से आशा की जाती थी कि वे अपने अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्वों को निभाने का आश्वासन देंगे। राष्ट्रसंघ में सभा ही इस बात का निश्चय करती थी कि अमुक देश ऐसा आश्वासन देने की दृष्टि से सहमत है अथवा नहीं। जोर्जिया तथा अजर बेजान जैसे क्षेत्र, जिनका राजनीतिक क्षेत्र अनिश्चित था, संघ के सदस्य नहीं बनाये गये।

राष्ट्रसंघ ने अपना जीवन 42 प्रारंभिक सदस्यों (Original members) से शुरू किया और शीघ्र ही 1920 की सभा के प्रथम अधिवेशन में ही छः और सदस्यों को सम्मिलित कर लिया गया। चीन ने वर्साय-सन्धि पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया था, पर सेण्ट जर्मेन की सन्धि पर हस्ताक्षर करके जुलाई 1920 में वह राष्ट्रसंघ का एक प्रारंभिक सदस्य बन गया। संयुक्त राज्य अमेरिका और हिजाज का अनुबन्ध में उल्लेख था तथापि उन्होंने वर्साय-सन्धि को अस्वीकार करते हुए राष्ट्रसंघ की सदस्यता ग्रहण नहीं की। ईक्वेडोर 1934 में संघ का सदस्य बना यद्यपि उसने वर्साय-सन्धि को स्वीकार नहीं किया। राष्ट्रसंघ के सदस्यों की उच्चतम संख्या 1935 में बढ़कर 63 हो गयी किन्तु अप्रेल, 1946 में संघ की अन्तिम बैठक यह संख्या घटकर 43 ही रह गयी और उनमें भी केवल 34 राष्ट्रों के प्रतिनिधि बैठक में सम्मिलित हुए।

---

1. Ibid., p. 96.

राष्ट्रसंघ का यह दुर्भाग्य था कि इसमें सभी महाशक्तियां कभी सम्मिलित नहीं हुईं। प्रारम्भ में संयुक्त राज्य अमेरिका, जर्मनी और रूस सदस्य नहीं बने। जर्मनी 1926 में सदस्य बना और अक्टूबर, 1933 में उसने सदस्यता त्यागने का नोटिस दे दिया। सोवियत रूस जैसी महाशक्ति 1933 में आ कर संघ की सदस्य बनी किन्तु परिषद् (Council) ने उसे 1940 में फिनलैण्ड पर आक्रमण करने के कारण संघ से निष्कासित कर दिया। जापान तथा इटली ने इसकी सदस्यता छोड़ने का नोटिस क्रमश: 1933 और 1937 में दे दिया था। संसार के छः राष्ट्रों सऊदी अरब, यमन, ओमान, नेपाल, मॉस्को तथा अमेरिका ने संघ की सदस्यता के लिए कभी प्रार्थनापत्र ही नहीं भेजे। केवल ब्रिटेन और फ्रांस ही महाशक्तियों के रूप में संगठन के निरन्तर सदस्य बने रहे। इस प्रकार, सर्वाधिक संकटकालीन परिस्थितियों में भी संघ को सर्वाधिक महत्वपूर्ण कुर्सियां खाली ही पड़ी रहीं। क्लिस क्लाउड ने लिखा है कि सरकारी सदस्यता-सूचियां (Official membership lists) सारी कहानी को ठीक प्रकार से प्रस्तुत नहीं करतीं। कुछ सदस्य औपचारिक रूप से राष्ट्रसंघ के भीतर थे किन्तु व्यावहारिक रूप से बाहर, जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका औपचारिक रूप से बाहर था किन्तु कुछ अवसरों पर व्यावहारिक रूप से भीतर।[1] संयुक्त राज्य अमेरिका के बढ़ते हुए सहयोग ने राष्ट्रसंघ को कुछ हद तक यह दावा करने में समर्थ बना दिया कि वह राष्ट्रों के समाज का (Community of Nations) प्रवक्ता है। तथापि जर्मनी, इटली, जापान, और रूस की पृथकता ने राष्ट्रसंघ की विश्वव्यापकता के दावे को आगे चलकर बड़ा कमजोर बना दिया।[2]

प्रसंविदा में संघ की सदस्यता से पृथक होने की भी व्यवस्था की गयी। कोई भी सदस्य दो वर्ष का नोटिस देकर संघ से पृथक हो सकता था किन्तु पृथक होने वाले राज्य के लिए आवश्यक था कि ऐसा करते समय वह अपने सभी अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों को पूरा कर सके। लेकिन जब कुछ समय बाद जर्मनी, इटली, जापान, स्पेन तथा कुछ केन्द्रीय एवं दक्षिणी अमेरिकन राज्य संघ से पृथक हुए तो उनके अपने दायित्वों को पूरा करवाने की कोई व्यवस्था नहीं की गयी। धारा 26 (2) के अनुसार यदि कोई सदस्य राज्य संघ के प्रसंविदा के किसी संशोधन को स्वीकार न करे तो उसकी सदस्यता स्वयमेव ही समाप्त हो जाती थी। संशोधन की अस्वीकृति का अर्थ ही यह होता था कि अमुक राज्य संघ का सदस्य नहीं बने रहना चाहता। धारा 16 (4) के अनुसार प्रसंविदा की अवहेलना करने वाले सदस्य को संघ की सदस्यता से वंचित किया जा सकता था। सोवियत रूस ही अकेला राज्य था जिसे इस व्यवस्था के अनुरूप संघ से निष्कासित किया गया। परिषद् (Council) किसी भी सदस्य को सर्वसम्मत मत द्वारा निकाल सकती थी।

1. Ibid, p. 98.
2. Plano and Riggs : Forging World order : The Politics of International Organization, p. 19

राष्ट्रसंघ की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति सदस्य राज्यों के चन्दे से होती थी। जनसंख्या, क्षेत्रफल तथा राष्ट्रीय धन के अनुपात में सभा (Assembly) चन्दे की रकम निश्चित करती थी। संघ का प्रधान कार्यालय जेनेवा में स्थित था। प्रत्येक वर्ष सामान्यतः सितम्बर में संघ का वार्षिक अधिवेशन हुआ करता था तथापि आवश्यक कारणों-वश विशेष अधिवेशन भी बुलाया जा सकता था। संघ के कर्मचारियों तथा प्रतिनिधियों को सभी कूटनीतिक सुविधायें प्राप्त थीं।

राष्ट्रसंघ के अंग और उनके कार्य
(Organs of the League and their Functions)

राष्ट्रसंघ के तीन प्रधान तथा स्थायी अंग थे—सभा (Assembly), परिषद् (Council) और सचिवालय (Secretariat)। इसके अतिरिक्त दो अर्ध-स्वायत्त (Semi-autonomous) अंग थे—अन्तर्राष्ट्रीय न्याय का स्थायी न्यायालय (Permanent Court of International Justice) तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ (I L O)। इन प्रमुख और स्वायत्त अंगों के अलावा कुछ गौण और सहकारी अंग भी थे जैसे अर्थ और वित्तीय संगठन, संचार और यातायात संगठन, स्थायी शासनादेश या संरक्षण आयोग (Mandates Commission) तथा बौद्धिक सहयोग का अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठान (International Institute of Intellectual Co-operation)।

सभा (Assembly)

सभा राष्ट्रसंघ का प्रतिनिधित्व करने वाला और विचारशील अवयव था। इसमें संघ के सभी सदस्य सम्मिलित थे। प्रत्येक देश को समानता के सिद्धान्त के अनुसार अधिक से अधिक तीन प्रतिनिधि भेजने का अधिकार था किन्तु एक देश का मत केवल एक ही होता था। सभा का कोई भी निर्णय बैठक में उपस्थित सदस्यों की सर्वसम्मति से होता था। अपवाद केवल उन्हीं निर्णयों के सम्बन्ध में था जो प्रक्रिया से सम्बद्ध विषयों से ताल्लुक रखते थे। दूसरे शब्दों में राष्ट्रसंघ में "मतैक्य-नियम" (Principle of Unanimity) अपनाया गया था। यह नियम संघ की सफलता में अनेक दृष्टियों से बड़ा ही बाधक सिद्ध हुआ तथापि इस नियम के बिना काम नहीं चल सकता था क्योंकि सदस्य राज्य अपनी राष्ट्रीय सम्प्रभुता की रक्षा के लिए इतने सतर्क थे कि वे वैसी संस्था में जाने के इच्छुक नहीं थे जहां उन पर किसी निर्णय के लादे जाने का भय हो। सभा की बैठक प्रायः तीन सप्ताह के लिए प्रति वर्ष जेनेवा में सितम्बर में होती थी और कभी-कभी जनवरी एवं मार्च में भी इसके अधिवेशन बुलाये जाते थे। सभा की प्रथम बैठक नवम्बर 1920 में आरम्भ हुई थी और अन्तिम बैठक 6 अप्रेल से 18 अप्रेल 1946 में चली थी।

संसदीय कार्य-विधि के सामान्य सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए सभा मुख्यतः समितियों के माध्यम से अपना कार्य करती थी। एक सामान्य समिति (A General Committee) थी जिसमें अध्यक्ष, 15 उपाध्यक्ष तथा Agend.

and Credentials Committees) के चेयरमैन सम्मिलित थे। यह समिति एक प्रकार से संघ की केन्द्रीय चालक संस्था (Central Steering body) थी जिसमें प्रमुख शक्तियों के विचारों का बड़ा वजन रहता था। असेम्बली की अन्य मुख्य समितियां ये थीं—संवैधानिक और कानूनी (Constitutional and Legal) मामलों की समिति, तकनीकी-संगठनों (Technical organizations) सम्बन्धी समिति, शस्त्रों को कम करने का कार्य (Reduction of armaments) देखने वाली समिति, प्रशासकीय और वित्तीय (Administrative and Financial) कार्य सम्बन्धी समिति, सामाजिक और मानव-हित सम्बन्धी (Social and Humanitarian) तथा राजनैतिक (Political) समिति। इनके अलावा तीन कार्यविधि सम्बन्धी समितियां (Procedural Committees) Credentials, Nomination and Agenda की थीं। चूंकि संघ के सभी सदस्य प्रत्येक मुख्य समिति के प्रतिनिधित्व के अधिकारी थे, अतः ये समितियां किन्हीं राष्ट्रीय व्यवस्थापिका की समितियों की अपेक्षा आकार में बड़ी किन्तु प्रबन्ध-कुशलता की दृष्टि से कुछ घटिया थीं।[1]

सभा के प्रमुख अधिकारियों में एक अध्यक्ष मुख्य समितियों के चेयरमैन जो स्वतः उपाध्यक्ष कहे जाते थे तथा 8 निर्वाचित उपाध्यक्ष होते थे। अध्यक्ष अपनी व्यक्तिगत राजनीतिक योग्यताओं के बल पर चुना जाता था और प्रायः किसी लघु-शक्ति (A small power) का प्रतिनिधि होता था। 1936 से पूर्व अध्यक्ष पद के लिए मतदान से पूर्व कोई औपचारिक नाम नहीं होते थे और किसी एकमात्र प्रत्याशी के नामांकन में सचिवालय पर्दे के पीछे पृष्ठभूमि-वार्तालाप द्वारा आम-सहमति प्राप्त करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता था। पर कुछ क्षेत्रों में आपत्तियों के कारण सभा ने सम्पूर्ण प्रक्रिया पर नियन्त्रण के लिए 1936 में एक नामांकन समिति (A Nomination Committee) स्थापित करने का निर्णय ले लिया।

प्रत्येक राजनीतिक संगठन की भांति सभा में भी प्रतिनिधि-गण अपने सामान्य हितों की दृष्टि से कभी प्रायः गुटों में बंट जाते थे। सर्वाधिक शक्तिशाली और संगठित समूह ग्रेट ब्रिटेन तथा उपनिवेशों (Great Britain & the Dominions) का था। फ्रांस और लघु-संघ (The Little Entente) अर्थात् चेकोस्लोवाकिया, रूमानिया तथा यूगोस्लाविया का प्रारम्भिक वर्षों में पर्याप्त महत्व रहा, तथापि समय के साथ यह प्रभाव घटता गया। 1926 में जर्मनी का प्रवेश हुआ जिसे ऑस्ट्रिया, हंगरी और बाद में इटली का पूर्ण सहयोग मिला। स्कैण्डीनेवियाई राज्य परस्पर निकट सहयोग से चलते थे और उन्हें कभी-कभी नीदरलैण्ड, बेल्जियम तथा स्विटजरलैण्ड का समर्थन भी मिल जाता था। अनेक मामलों में लैटिन अमेरिकन राज्य अपने संगठन प्रदर्शित करते थे। ये सभी गुट 'समूह प्रतिष्ठा' (Group-prestige) के मामलों पर अर्थात् संघ के अधिकारियों के निर्वाचन आदि के मसलों

1. *Cheever and Haviland* : opt. cit., p. 78

मे बहुत अधिक एकता और सगठन का परिचय देते थे किन्तु सारपूर्ण विषयो पर अपना मतैक्य और सगठन बनाये रखने मे उन्हे अधिक कठिनाई होती थी।[1]

सभा के अधिवेशनो के राजनीतिक महत्व का अनुमान हमें उसमे विभिन्न सरकारो के प्रतिनिधियों के सगठन से भलीभांति हो सकता है। प्रारम्भ मे सभा में भाग लेने वाले यूरोपीय प्रधानमंत्रियो और विदेश मन्त्रियो का अनुपात 36% के ऊपर कभी नही गया लेकिन 1924 मे ब्रिटिश प्रधानमंत्री ऑस्टिन चेम्बरलेन ने अपने देश के प्रतिनिधि-मण्डल का नेतृत्व किया और तभी से स्थिति इतनी बदल गयी कि 1931 मे अनुपात 69% मे नीचे कभी नही गया और 1929 मे तो यह 100% तक आ पहुँचा। इन शीर्षस्थ नीति-निर्माताओ द्वारा इतनी बडी सख्या में भाग लेने से सभा के विचार-विमर्श और कार्यों का स्वरूप ही बदल गया, क्योंकि ये नेता मौके पर ही अपनी सरकारो की ओर से कोई वचन दे सकते थे और अपनी नीतियो मे सामञ्जस्य बैठा सकते थे जबकि सामान्य प्रतिनिधियो को दूर स्थित अपनी सरकारो से आदेशो और सकेतो की प्रतीक्षा करनी पडती थी।[2]

सभा के कार्य बहुत विस्तृत थे तथापि उनमें अस्पष्टता विद्यमान थी। अनुच्छेद 3 के अनुसार, "सभा राष्ट्रसंघ के क्षेत्र मे आने वाले किसी भी विषय पर अथवा विश्व-शान्ति पर प्रभाव डालने वाले किसी भी प्रश्न पर अपनी बैठक मे विचार कर सकती थी।" व्यवहार मे सभा अपनी तीनो प्रकार की सामान्य शक्तियां-निर्वाचन सबंधी (Electoral), अगीभूत (Constituent) तथा विचार सम्बन्धी (Deliberative) का प्रयोग किया। निर्वाचन-शक्तियो के अन्तर्गत सभा के मुख्य कर्त्तव्य इस प्रकार थे—दो तिहाई मतो से नये सदस्यो का चुनाव, साधारण बहुमत से परिषद् के नौ स्थायी सदस्यो मे से तीन को सभा के लिए प्रत्येक वर्ष चुनना, नौ वर्ष के लिए स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के 15 न्यायाधीशो का निर्वाचन करना, एव परिषद् द्वारा नियुक्त महासचिव की नियुक्ति की स्वीकृति देना। अंगीभूत कार्यों मे सभा प्रसविदा के 26 वें अनुच्छेद के अनुसार प्रसविदा के नियमो मे ऐसा सशोधन कर सकती थी जो परिषद् को तो सर्वसम्मति से स्वीकृत हो और प्रभावित सदस्यो की रुचि के अनुकूल हो सके। विचारसम्बन्धी कार्यों के अन्तर्गत सभा अन्तर्राष्ट्रीय हितों के सामान्य राजनीतिक, आर्थिक और तकनीकी प्रश्नो पर विचार करती थी। सभा के सदस्य अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ पर प्रभाव डालने वाली उन परिस्थितियो पर गभीरता मे विचार करते थे जो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को भंग करने की चुनौती दें अथवा राष्ट्रों के उस सहयोग पर आघात करें जो विश्व-शान्ति को प्रोत्साहन देने वाला हो। 19वें धारा के अनुसार, सभा अनुचित सन्धियो पर पुनर्विचार का परामर्श देती थी तकनीकि आयोगो और परिषद् के कार्यों का निरीक्षण करती थी तथा सघ का वार्षिक बजट तैयार करती थी।

1. *Cheever and Havliand :* opt. cit., p. 77
2. *Leonard*, International Organization, p. 126.

संगठनात्मक दृष्टि से परिषद् गौण बन गयी थी। संघ के विधान निर्माताओं का विचार था कि वास्तविक कार्य परिषद् में होने के कारण सभा का विशेष महत्व नहीं होगा तथापि धीरे-धीरे इसका महत्व और सम्मान परिषद् से अधिक बढ़ता गया। परिषद् में महाशक्तियों का पारस्परिक सहयोग नहीं बना रहा, अतः सभा को शान्ति बनाये रखने सम्बन्धी तथा अन्य समस्याओं में प्रभावी भाग के रूप में कार्य करने का अवसर मिल गया।[1] यह विश्व की समस्याओं पर विभिन्न राष्ट्रों के विचारों की अभिव्यक्ति के रंगमञ्च का काम करने लगी तथा अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शान्तिपूर्ण समझौता कराने का महत्वपूर्ण साधन बन गयी। अनेक अवसरों पर तो इसने परिषद् को कार्य करने के लिए प्रेरित किया। कभी यह परिषद् से इस मामले पर कार्यवाही की रिपोर्ट माँग कर उस पर बहस करती थी और परिषद् की रिपोर्ट का समर्थन करते हुए प्रस्ताव पारित करती थी तो कभी परिषद् द्वारा विचार किये जा रहे मसले सभा में विवाद के विषय बन जाते थे। परिषद् अनेक मामलों में छानबीन (Investigation), मध्यस्थता (Mediation) और सामञ्जस्य (Conciliation) के कार्यों का निर्वाह करती थी। यह एक अर्ध-न्यायिक अंग के रूप में भी कार्य करती थी। उदाहरणार्थ 1933 में जापान के सम्बन्ध में सभा ने एक निश्चित निर्णय लिया और सभा की प्रक्रियाओं के माध्यम से ही सोवियत संघ तथा इटली को प्रसंविदा के उल्लंघन में दोषी पाया गया। सभा के विशिष्ट प्रभाव का एक कारण यह भी था कि इसका अधिवेशन खुला होता था जिसमें आम जनता दर्शक के रूप में शामिल हो सकती थी। यहाँ वाद-विवाद स्वतन्त्र रूप से होते थे तथा उन सभी विषयों पर बहस हो सकती थी जो पहले प्रायः परराष्ट्र मन्त्रालयों में गोपनीय रखे जाते थे। इस प्रकार सभा वस्तुतः केवल वाद-विवाद की सोसाइटी न होकर राष्ट्रसंघ का एक प्रभावशाली अंग थी।

इतना होने पर भी झगड़ों अथवा विवादों के निपटारे में सभा की भूमिका अनेक कारणोंवश कम प्रभावशाली रही। प्रथम तो विधान द्वारा सभा को परिषद् से कम अधिकार दिये गये, क्योंकि विधान-निर्माताओं ने इसे कार्यकारिणी का रूप नहीं देना चाहा था और दूसरे, सभा एक बहुत बड़ा निकाय थी जिसका अधिवेशन भी वर्ष में एक बार और वह भी लगभग दो सप्ताह मात्र के लिए होता था। तीसरे, अनेक राजनीतिक संकटों पर विचार के लिए सभा में प्रायः समय ही नहीं मिलता था। उदाहरणार्थ इटली-यूनान के मध्य कोर्फू-विवाद में सभा ने रुचि दिखाई थी लेकिन परिषद् ने सभा के स्थगित होने से ठीक पहले दिन अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की और इस प्रकार सभा को आवश्यक जाँच-पड़ताल का समय नहीं मिला था। चौथे, अपने विशाल आकार के कारण सभा मध्यस्थता और सामञ्जस्य के नाजुक कार्य-कलापों को अधिक कुशलता से निर्वाह नहीं कर पाती थी। पाँचवे, सभा का संगठन इस प्रकार का

1. *Plano and Riggs : opt. cit.*, p. 20.

था कि लघु-राष्ट्रों की उसमें प्रभावशाली आवाज बनी रही। यद्यपि ये राज्य झगड़ों के शान्तिपूर्ण समाधान के प्रयत्नों में पर्याप्त रुचि रखते थे लेकिन उत्साह और जोश में बह कर आवश्यक सावधानी नहीं रख पाते थे और साथ ही महाशक्तियों की आलोचना करने में आगे रहते थे। महाशक्तियों के सहयोग और समर्थन के अभाव में राजनीतिक मसलों का उपयुक्त हल निकाल पाना सम्भव नहीं था। छठे, झगड़ों के समाधान का मुख्य दायित्व सभा का न होकर परिषद् का था और प्रमुख शक्तियां परिषद् के इस अधिकार की रक्षा करने को प्रयत्नशील रहीं। इन्हीं सब बातों की वजह से सभा ने, विवादों में रुचि रखने के बावजूद, अपने सम्पूर्ण जीवन-काल में केवल चीन-जापान, बोलिविया-पेरागुआ फिनलैण्ड रूसी, इटली-इथोपिया विवादों में ही प्रत्यक्ष रूप से हाथ बटाया। अधिकांशतः प्रत्यक्ष कार्यवाही का भार परिषद् ने ही ग्रहण किया।

परिषद् *(The Council)*

परिषद् को राष्ट्रसंघ की कार्यकारिणी माना जाता था। यह लघु-संख्या सभा से अधिक शीत-सम्पन्न और रचना में उससे भिन्न थी। सभा सदस्य राज्यों की समानता के सिद्धान्त पर आधारित थी जबकि परिषद् के संगठन का आधार महाशक्तियों की उच्चता का सिद्धान्त था।

परिषद् की सदस्यता दो प्रकार की थी—स्थायी और अस्थायी। प्रारम्भ में बड़े देश केवल स्वयम् को ही इसका सदस्य बनाना चाहते थे किन्तु लघु-राष्ट्रों के विरोध के कारण उन्हें भी इसमें अस्थायी सदस्यता दी गयी। प्रसंविदा के अनुसार, परिषद् में सभी मुख्य मित्र राष्ट्र (Allied Powers) स्थायी रूप से सदस्य थे। ये राष्ट्र थे—संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रान्स, इटली और जापान। चीवर तथा हैवीलैण्ड के अनुसार उस समय यह धारणा प्रचलित थी कि केवल कुछ ही राज्य शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने की दृष्टि से पर्याप्त शक्ति-सम्पन्न थे। अतः केवल उन्हीं राज्यों को परिषद् के स्थायी सदस्यों के रूप में प्रभुत्व और दायित्व की स्थिति सौंपी गयी।[1] परिषद् के स्थायी और अस्थायी सदस्यों की संख्या लगातार घटती-बढ़ती रही। एक स्थायी सीट संयुक्त राज्य अमेरिका के लिए खाली रही जो उसके संघ में सम्मिलित न होने के कारण कभी नहीं भरी जा सकी। जब अमेरिका ने स्वयम् को इस अन्तर्राष्ट्रीय संघ से हटा लिया तो 1920 में स्थायी और अस्थायी सदस्यों का 4:4 का अनुपात रह गया। 1926 में जर्मनी को राष्ट्रसंघ में सम्मिलित कर लिया गया। और उसे भी मित्र राष्ट्रों के समान परिषद् की स्थायी सदस्यता प्राप्त हुई। लेकिन कुछ ही समय बाद स्थायी सदस्य इटली राष्ट्रसंघ से पृथक हो गया। स्थायी सदस्यों की भांति अस्थायी सदस्यों की संख्या भी समय-समय पर बदलती रही। 1926 में अस्थायी सदस्यों की संख्या बढ़कर 9, 1933 में 10 और 1936 में 11 हो गयी 1939 की अन्तिम परिषद् में महाशक्तियों में से केवल ब्रिटेन, फ्रांस दो ही

1. *Cheever & Haviland*: opt. cit., p. 100

देश स्थायी रह गये थे। जापान और इटली क्रमशः 1933-1937 में संघ की सदस्यता छोड़ गये थे और सोवियत रूस, जो 1933 में संघ में प्रविष्ट होकर परिषद् का स्थायी सदस्य बन गया था बाद में फिनलैण्ड पर आक्रमण करने के कारण संघ से निष्कासित कर दिया गया था। प्रसंविदा के अनुसार सभा (Assembly) के स्थायी और अस्थायी सदस्यों में परिवर्तन हो सकता था।

कार्यविधि (Procedure) की दृष्टि से परिषद् के प्रत्येक सदस्य का मत केवल एक होता था। प्रत्येक सदस्य राज्य परिषद् की बैठकों में केवल एक ही प्रतिनिधि भेज सकता था। परिषद् के निर्णय सर्वसम्मति से ही होते थे, किन्तु प्रक्रिया सम्बन्धी निर्णय बहुमत से हो सकते थे। इसी प्रकार जाँच समिति आदि की नियुक्ति भी बहुमत के आधार पर हो सकती थी। परिषद् के अधिवेशन 1929 के बाद से ही प्रतिवर्ष सामान्यतः 3 होते थे, विशेष अधिवेशनों की संख्या निश्चित नहीं थी। अध्यक्ष पद पर वर्णमाला के अनुसार एक देश के बाद दूसरे देश की बारी आती थी। वर्तमान सुरक्षा परिषद् की भाँति राष्ट्रसंघ की परिषद् में किसी सदस्य को निषेधाधिकार (Veto-power) नहीं था। यदि कोई राष्ट्र परिषद् का सदस्य न हो तो भी उसे परिषद् की कार्यवाही में भाग लेने का अवसर दिया जाता था वशर्ते उससे सम्बन्धित कोई विषय परिषद् के सम्मुख विचाराधीन हो। परिषद् की बैठकें सामान्यतः खुली (In open) होती थीं। किन्तु आवश्यकतानुसार गोपनीय (In private) भी हो सकती थीं।

प्रसंविदा के अनुसार परिषद् का कार्य क्षेत्र लगभग उतना ही व्यापक था जितना कि सभा का। किसी को भी एक दूसरे पर शक्ति प्राप्त नहीं थी।[1] चीवर तथा हैवीलैण्ड के अनुसार, "परिषद् एक केन्द्रीय अंग के रूप में एक छोटी और अधिक प्रबन्धनीय संस्था थी जिसका नेतृत्व मुख्यतः बड़े राष्ट्रों के हाथ में था और जिसे शस्त्रास्त्र घटाने जैसे सुरक्षात्मक मामलों के कुछ विशिष्ट उत्तरदायित्व सौंपे गये थे। फिर भी व्यवहारतः सभा ने उत्तरोत्तर अधिक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की और अनेक मामलों में तो वह राष्ट्रसंघ की "सम्प्रभु शक्ति" समझी जाने लगी।[2] परिषद् की सापेक्षिक शक्ति के पराभव में अनेक कारणों ने योग दिया।[3] प्रथम, लघु-राष्ट्र सामान्यतः बड़े राष्ट्रों के प्रभाव को सीमित करने की चेष्टा में लगे रहे। द्वितीय, बड़े राष्ट्रों ने परस्पर विरोधी नीतियाँ अंगीकार कीं जिनके फलस्वरूप परिषद् की सुरक्षात्मक भूमिका को ठेस पहुंची। तृतीय, कुछ सर्वाधिक शक्तिशाली राज्यों को परिषद् की स्थायी सदस्यता दी गयी। चतुर्थ, सभा जो कि परिषद् की तुलना में एक अधिक प्रतिनिध्यात्मक संस्था थी, विभिन्न कार्यकर्मों के विस्तृत समर्थन की दृष्टि से एक अधिक लाभप्रद साधन सिद्ध हुई।

1. Ibid, p. 113.
2. Ibid, p. 113.
3. Ibid, p. 113.

प्रसंविदा के अनुच्छेद 4 (4) के अनुसार परिषद् राष्ट्रसंघ के कार्यक्षेत्र में सम्मिलित प्रत्येक विषय और विश्व-शान्ति सम्बन्धी मामलों पर सभा के समान ही विचार कर सकती थी। परिषद् के मुख्य-मुख्य कार्य थे—सचिवालय को निर्देश देना, अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों का प्रबन्ध करना, राष्ट्रसंघ के अन्य छोटे अंगों से प्रतिवेदन प्राप्त करना, शस्त्रास्त्र घटाने की योजना तैयार करना, संघ के सदस्यों के मध्य विवादों का समाधान करना, शासनादेशों (Mandates) तथा अल्पसंख्यकों की सन्धियों और अन्य समझौतों का निरीक्षण एवं प्रतिवेदन करना, बाह्य आक्रमणों से सदस्य राष्ट्रों की प्रादेशिक अखण्डता की रक्षा करना आदि। परिषद् को यह भी अधिकार था कि वह संघ के नियमों का उल्लंघन करने पर संघ के राज्यों को सदस्यता से वंचित कर दे। उसके अन्य कार्य थे—सभा के प्रस्तावों को क्रियान्वित करना, महासचिव को मनोनीत करना, सचिवालय के अन्य ऊंचे पदाधिकारियों की नियुक्ति की स्वीकृति देना आदि। अनेक सन्धियों द्वारा परिषद् को सारघाटी के प्रशासन और डेन्जिग के स्वतन्त्र नगर के प्रबन्ध का कार्य भी मिला हुआ था।

वास्तव में परिषद् का सबसे महत्वपूर्ण कार्य विवादों का निपटारा (Settlement of disputes) करना था। यह एक प्रकार से यूरोप की संयुक्त व्यवस्था (Concert of Europe) की इस धारणा को जीवित बनाये रखना था कि अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का समाधान महाशक्तियों के निर्देशन में होना चाहिए। राष्ट्रसंघ के सदस्य इस बात के लिए वचनबद्ध थे कि वे प्रत्येक सदस्य राज्य की क्षेत्रीय अखण्डता और राजनीतिक स्वतन्त्रता को मान्यता देंगे तथा उसके विरुद्ध आक्रमण नहीं करेंगे। प्रसंविदा के अनुच्छेद 10 के अन्तर्गत व्यवस्था थी कि किसी सदस्य राज्य के विरुद्ध आक्रमण अथवा आक्रमण का भय या धमकी की सम्भावना होने पर परिषद् समुचित कार्यवाही करेगी। यह प्रावधान था कि आपातकालीन अवस्था में महासचिव किसी भी सदस्य की प्रार्थना पर अविलम्ब ही परिषद् की बैठक बुला सकेगा। अनुच्छेद 11 के अन्तर्गत राष्ट्रसंघ का कोई भी सदस्य परिषद् का ध्यान उन परिस्थितियों की ओर आकर्षित कर सकता था जिनसे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को किसी प्रकार का भय हो। अनुच्छेद 12 के अनुसार संघ के सदस्यों का यह कर्तव्य था कि यदि उनके मध्य कोई इस प्रकार का विवाद हो जिससे परस्पर सम्बन्ध विच्छेद होने की सम्भावना हो तो वे उस विवाद को विवाचन, न्यायिक निर्णय अथवा परिषद् द्वारा जाँच-पड़ताल के लिए प्रस्तुत करेंगे। सदस्यों ने इस बात पर सहमति प्रकट की कि वे विवाचक के निर्णय, न्यायिक निर्णय अथवा परिषद् की जाँच-रिपोर्ट के समय से 3 माह की अवधि के भीतर युद्ध नहीं कर सकेंगे। इस व्यवस्था का स्पष्ट अभिप्राय था कि सदस्य राज्य 3 माह के उपरान्त युद्ध कर सकता था। राष्ट्रसंघ के प्रसंविदा की यह एक बहुत ही गम्भीर और आधारभूत त्रुटि थी कि उसने युद्ध का सम्पूर्ण रूप से परित्याग नहीं किया वरन् कुछ परिस्थितियों में युद्ध की सम्भावनाओं को बनाये रखा। इस अनुच्छेद में यह भी उल्लेख था कि विवाचक अथवा न्यायालय

अपने निर्णय उचित समय के भीतर देंगे तथा परिषद् अपनी जाँच सम्बन्धी रिपोर्ट 6 माह के भीतर प्रस्तुत कर देगी। अनुच्छेद 13 के अन्तर्गत कहा गया था कि यदि कोई विवाद इस प्रकार का हो जिसे सदस्य राज्य विवाचन अथवा न्यायिक निर्णय के उपयुक्त समझते हों तो वे उस विवाद को विवाचन अथवा न्यायिक निर्णय के लिए प्रस्तुत करेंगे। सदस्यों ने इस प्रकार के किसी भी निर्णय पर पूर्ण सद्भावना से कार्य करना भी स्वीकार किया था। सदस्यों का कर्त्तव्य था कि वे ऐसे निर्णयों को स्वीकार करने वाले किसी भी सदस्य राज्य के विरुद्ध युद्धरत नहीं होंगे। इस व्यवस्था की अवहेलना होने पर परिषद् को यह निश्चय करने का अधिकार था कि विवाचक के निर्णय अथवा न्यायिक निर्णय को लागू करने के क्या उपयुक्त कदम उठाये जाय।

प्रसंविदा के अनुच्छेद 15 के अन्तर्गत परिषद् द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय विवादों अथवा झगड़ों को सुलझाने की ब्यौरेवार व्यवस्था थी। यदि संघ में सदस्य राज्यों के बीच ऐसा विवाद उठ खड़ा हो जिससे सम्बन्ध विच्छेद की सम्भावना हो और जो विवाद अनुच्छेद 13 के अन्तर्गत विवाचन अथवा न्यायिक निर्णय के लिए प्रस्तुत नहीं किये जा सके तो ऐसे विवादों को 15वें अनुच्छेद के अन्तर्गत सदस्य राज्यों द्वारा परिषद् के सम्मुख रखा जाता था। विवाद से सम्बन्धित कोई भी पक्ष महासचिव को विवाद सम्बन्धी सूचना दे सकता था और तब महासचिव का यह दायित्व था कि वह विवाद की आवश्यक जाँच पड़ताल के लिए कदम उठाये। विवाद से सम्बन्धित पक्षों का कर्त्तव्य था कि वे शीघ्र विवाद से सम्बन्धित वक्तव्य अथवा लेख्य महासचिव के समक्ष पेश करें। परिषद् इनके प्रकाशन की व्यवस्था कर सकती थी। परिषद् का यह कर्तव्य था कि वह विवाद को सुलझाने का यथासाध्य प्रयत्न करे और सफल होने पर समझौते की शर्तों को प्रकाशित करे। विवाद को सुलझाने में असफल रहने पर भी परिषद् सर्वसम्मति अथवा बहुमत से रिपोर्ट प्रकाशित करती थी जिसमें विवाद के आधारों का उल्लेख होने के साथ ही यह भी बतलाया जाता था कि समस्या का समुचित समाधान करने के लिए परिषद् की क्या सिफारिशें हैं। विवाद में लिप्त पक्षों को छोड़कर दूसरे सदस्यों द्वारा परिषद् की रिपोर्ट सर्वसम्मति से स्वीकृत हो जाने पर राष्ट्रसंघ के सदस्यों द्वारा यह निश्चय लिया जाता था कि वे उस पक्ष के विरुद्ध युद्ध नहीं करेंगे जिसने परिषद् की रिपोर्ट में लिखित सिफारिशों को मन्जूर नहीं कर लिया है। विवाद में लिप्त पक्षों को छोड़ कर अन्य सदस्यों द्वारा परिषद् की रिपोर्ट सर्वसम्मति से स्वीकार नहीं की जाने पर संघ के सदस्यों को अपनी इच्छानुसार आवश्यक कार्यवाही करने का अधिकार दिया गया। यह भी व्यवस्था थी कि अनुच्छेद 15 के अन्तर्गत आने वाले किसी भी विषय को परिषद् सभा के सम्मुख प्रस्तुत कर दे। ऐसी सूरत में 15वें और 12वें अनुच्छेद की सभी शर्तें इस विषय पर लागू होती थीं। सभा के निर्णय पर यह भी प्रतिबन्ध था कि यदि उसके द्वारा प्रस्तुत की गयी रिपोर्ट विवाद में लिप्त पक्षों को छोड़ कर, परिषद् में

उपस्थित सदस्यों तथा संघ के दूसरे सभी सदस्यों के बहुमत को स्वीकार हो तो उसे वही शक्ति प्राप्त होगी जो परिषद् के सभी सदस्यों (विवाद-लिप्त पक्षों को छोड़ कर) द्वारा स्वीकृत रिपोर्ट को हो।

विवादों के समाधान से सम्बन्धित जो व्यवस्थाएं राष्ट्रसंघ के प्रसंविदा में थी, उनका निष्कर्ष प्रकट करते हुए चीवर तथा हैवीलैण्ड ने लिखा है कि, "प्रसंविदा ने सभी परिस्थितियों में युद्ध को अवैध नहीं ठहराया तथापि इसने शान्तिपूर्ण समाधान के सभी ज्ञात तरीकों के नियमन और विकास द्वारा शक्ति के प्रयोग को यथासम्भव अवरुद्ध करने का प्रयत्न किया। परिषद् द्वारा जांच और सिफारिश के माध्यम से जनमत पर प्रतिबन्ध और गर्ममिजाजी को शांत करने के लिए शान्तिप्रद अवधियों (Cooling off periods) को पर्याप्त बल दिया गया। व्यावहारिक रूप से अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता की दुनिया में, जिसमें सामुदायिक उत्तरदायित्व की दृढ़ भावना अथवा शक्ति के केन्द्रित संगठन का अभाव था, प्रसंविदा की प्रक्रियाएं ही कुछ सहारा थी। जब तक सदस्य राज्यों ने प्रसंविदा के सिद्धान्तों में आस्था रखी, राष्ट्रसंघ आश्चर्यजनक रूप से प्रभावी रहा लेकिन 1930 में आक्रमण का विस्फोट होने के साथ ही यह स्पष्ट हो गया कि विश्व-व्यवस्था के लिए एक अधिक संयुक्त तथा एकतापूर्ण समुदाय और सरकार की आवश्यकता है।"[1]

प्रसंविदा के अनुच्छेद 16 के प्रतिबन्धों में संघ द्वारा लगाये जाने वाले प्रतिबन्धों (Sanctions) का उल्लेख था। यह व्यवस्था थी कि यदि संघ का कोई भी सदस्य राज्य अनुच्छेद 12, 13 एवं 15 की शर्तों की अवहेलना करते हुए युद्ध घोषित करे तो उसका यह कार्य सब राष्ट्रों के विरुद्ध आक्रमण समझा जायगा और इस स्थिति में सब सदस्यों द्वारा उसके साथ होने वाले वित्तीय तथा व्यापारिक सम्बन्ध समाप्त कर दिये जायेंगे। इस स्थिति में परिषद् का यह कर्त्तव्य होगा कि वह विभिन्न सरकारों से राष्ट्रसंघ के प्रसंविदा को सुरक्षित रखने के लिए प्रभावशाली सैनिक शक्ति, नौसेना और वायु सेना देने का अनुरोध करे। संघ के सदस्यों ने यह भी निश्चय किया कि इस अनुच्छेद के अन्तर्गत कार्य करने के लिए वे परस्पर सहायता करेंगे तथा अपने क्षेत्र की सेना को आवागमन की सुविधा देंगे।

परिषद् सम्बन्धी अनुच्छेदों से स्पष्ट है कि उसे वास्तव में राष्ट्रसंघ का एक शक्तिशाली और महत्वपूर्ण अंग बनाया गया था जिसके पास वैधानिक अधिकारों के अतिरिक्त विश्व राजनीति को प्रभावित करने के अनेक मौके थे। फिर भी इसकी स्थिति कभी भी स्पष्ट नहीं रही और इसी कारण यह पूर्ण सम्मान की पात्र नहीं बन सकी। शक्ति-राजनीति (Power-politics) से सदैव प्रभावित होती रही और थोड़े समय बाद ही सभा के सम्मुख झुक गई तथा उससे कम प्रभावशाली रह गयी। यह परिषद् संसार के जनमत को आक्रमणकारी के विरुद्ध एकत्रित करने और शीघ्रता

1 *Cheever and Haviland*: opt. cit., p. 116.

से पग उठाने के सक्षम थी। पर इसके कार्यों में दुर्भाग्यवश ऐसी त्रुटियाँ थीं जिनके कारण यह अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का वास्तविक कार्यकारिणी अंग नहीं बन सकी। इसकी दुर्बलताओं के कारण का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। सबसे बड़ी कमी यह थी कि प्रभावशाली सदस्य अपने हितों के समक्ष अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए अधिक चिन्तित नहीं थे और महत्वपूर्ण विषयों पर निर्णय सर्वसम्मति से ही लेना सम्भव था और महाशक्तियों द्वारा किसी विषय पर एकमत न होने पर कोई भी कार्यवाही नहीं की जा सकती थी। सी. के वैबस्टर ने ठीक ही लिखा है कि, "महाशक्तियों को सब महत्वपूर्ण विषयों पर स्थायी प्रभिषेध अधिकार प्राप्त हैं। यदि वे असहमत हों तो या तो मध्यम मार्ग अपनाना पड़ेगा अथवा कोई कार्य हो ही नहीं सकेगा। किसी भी महत्वपूर्ण विषय पर निर्णय लेने के लिए अन्य छोटे राष्ट्रों की सहमति भी अनिवार्य थी। यदि वे सब एकमत हो जाय तो उनकी शक्ति बहुत प्रबल बन सकती थी। पहले विश्व के इतिहास में कभी साल्वाडोर तथा नार्वे जैसे छोटे राष्ट्रों को ऐसी स्थिति प्राप्त नहीं थी, लेकिन वास्तविकता यह थी कि लघु शक्तियाँ महान् राष्ट्रों से बहुत अधिक प्रभावित होती थीं। कुछ छोटे राष्ट्र यद्यपि स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करते थे तथापि अन्य छोटे राष्ट्र किसी न किसी महाशक्ति पर निर्भर रहते थे और ऐसे छोटे राष्ट्रों के लिए किसी भी महत्वपूर्ण प्रश्न पर किसी महान् राष्ट्र का विरोध करना बड़ा कठिन था। इन सब बातों से स्पष्ट है कि विभिन्न देशों में एक प्रभावशाली जनमत का विकास करने पर ही विवादों का समाधान एवं अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का विकास सम्भव था।"

सचिवालय (Secretariat)

राष्ट्रसंघ का तीसरा महत्वपूर्ण अंग सचिवालय था। यह एक अस्थायी सिविल सेवा अभिकरण था जिसे जेनेवा में स्थापित किया गया था। सचिवालय के प्रधान महासचिव (Secretary General) तथा लगभग 750 अन्य कर्मचारी कार्य करते थे। प्रथम महासचिव का उल्लेख प्रसंविदा के अनुबन्धन से ही कर दिया गया था। महासचिव की नियुक्ति परिषद् द्वारा सभा की अनुमति से होती थी। संघ के प्रथम महासचिव ब्रिटिश सिविल सर्विस के थी जेम्स एरिक ड्रूमण्ड थे जिसने 13 वर्ष तक बड़ी योग्यता के साथ इस पद पर कार्य किया। तत्पश्चात् 1933 से 40 तक आयरलैण्ड के सियेन लैस्टर महासचिव रहे।

सचिवालय, सभा और परिषद् दोनों के लिए कार्य करता था। सचिवालय के कर्मचारियों को अपनी राष्ट्रीय निष्ठा से उठकर अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से कार्य करना पड़ता था। सचिवालय संघ के सभी अंगों की सहायता करता था। इसके प्रमुख कार्य थे सभा और परिषद् के लिए विचारणीय विषय की सूची तैयार करना, उनकी बैठकों की कार्यवाही का विवरण रखना, विविध प्रकार के प्रशासकीय कार्य करना, मसौदे बनाना, शोध करना, सन्धियों को पंजीबद्ध करना, रिकार्ड्स रखना आदि। प्रो. हैरिस के अनुसार सचिवालय राष्ट्रसंघ का एक अनूठा अंग था। संघ के कार्य

की सफलता अधिकांशतः स्थायी सचिवालय के अस्तित्व के कारण थी। सचिवालय का संगठन वास्तव में कोई नई चीज नहीं थी। यह राज्य सरकार के सचिवालय के समान ही था, हां, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इस प्रकार की संस्था की स्थापना एक नयी बात थी और इसीलिए इसका महत्व और अधिक बढ गया था। प्रसंविदा द्वारा सचिवालय को कोई विशेष अधिकार नहीं दिये गये थे लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से जो काम इसे करने पड़ते थे वे निश्चय ही महत्वपूर्ण थे। सचिवालय का कार्य विभिन्न खण्डों में विभाजित था। प्रारंभ मे 11 खण्ड थे और आगे चलकर 15 खण्ड कर दिये गये।

राष्ट्रसंघ के अन्य अङ्ग

प्रसंविदा के अन्तर्गत एक स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की भी व्यवस्था थी। न्यायालय की स्थापना के मूल में यह सिद्धान्त निहित था कि यदि सामूहिक सुरक्षा का सिद्धान्त झगड़ों का शान्तिपूर्ण समाधान था तो शान्तिपूर्ण समझौते का सिद्धान्त "मध्यस्थता" और "न्यायिक समझौता था। प्रसंविदा के अनुच्छेद 14 के अनुपालन मे स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना की गयी। यह हेग में स्थायी रूप से कार्य करने लगा। इसमें 15 न्यायाधीश थे जो 9 वर्ष के लिए चुने जाते थे। उन्हें दूसरी बार भी चुने जाने की व्यवस्था थी। न्यायालय के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष को 3 वर्ष के लिए चुना जाता था। कार्य की भाषा फ्रेन्च और अंग्रेजी थी। सभी न्यायाधीश अन्तर्राष्ट्रीय कार्यवाहक (International officials) थे न कि अपनी सरकारों के प्रतिनिधि। न्यायाधीशों के सभी निर्णय, प्रमाण और आदेश खुले रूप में दिये जाते थे। निर्णय अधिकांशतः बहुमत से होते थे पर कुछ मामलों में अल्पसंख्यकों के मत का भी ध्यान रखा जाता था। निर्णयों का आधार कानून था न कि राजनीति।

न्यायालय का कार्यक्षेत्र दो प्रकार का था—एक तो 'स्वेच्छा से' और दूसरा 'अनिवार्य' पर विधान की धारा 36 को 'ऐच्छिक धारा' (Optional clause) में परिवर्तित कर दिया गया जिसे सदस्य राज्य स्वेच्छा से स्वीकार कर सकते थे। जिन सदस्य राज्यों ने इस धारा को स्वीकार किया, उन्होंने निम्नलिखित कानूनी झगड़ों की न्यायालय में अनिवार्य न्याय की अनिवार्य मान्यता प्रदान की : (1) किसी सन्धि का स्पष्टीकरण, (2) अन्तर्राष्ट्रीय कानून सम्बन्धी कोई भी प्रश्न, (3) किसी अन्तर्राष्ट्रीय समझौते का उल्लंघन, एवं (4) इस प्रकार के उल्लंघन के सम्बन्ध में क्षतिपूर्ति के रूप में अथवा सीमा को निर्दिष्ट करना। अनिवार्य न्याय की मान्यता के सबंध में शर्त यह थी कि उपरोक्त मामलों में दोनों पक्ष 'ऐच्छिक धारा' का पालन करते रहे हैं। उपरोक्त श्रेणियों में आने वाले सभी झगड़ों को यद्यपि न्यायालय के निर्णय का मानना अनिवार्य (Compulsory) था किन्तु यह इस धारा को नहीं मानने वाले राज्यों की इच्छा पर निर्भर था कि वे झगड़ों को न्यायालय के सम्मुख प्रस्तुत करें अथवा नहीं करें। जिन

राज्यों ने न्यायालय के उपरोक्त अधिकार-क्षेत्र को अस्वीकार किया। उनकी संख्या 1927 में 20 से बढ़ कर 1939 में [illegible] और तब 47 हो गयी। अनिवार्य धारा (Compulsory Clause) के अन्तर्गत एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को न्याय पेशी के लिए बुला सकता था और यदि दूसरा राष्ट्र न्यायालय में नहीं आये तो न्यायालय अपने आप न्याय कर सकता था। स्थायी न्यायालय के न्याय का एक स्रोत विभिन्न संधियां थीं जिनकी संख्या लगभग 400 थी। इनके प्रभाव से न्यायालय के कार्य वस्तुतः अन्तर्राष्ट्रीय हो गये। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने काफी प्रभावशाली ढंग से कार्य किये। अपने निर्णयों और परामर्शों द्वारा इसने जिन कानूनों व सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया वे आगे आने वाले काल में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रशासन में निश्चित रूप से बड़े उपयोगी प्रमाणित हुए।

प्रसंविदा में एक अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (I.L.O.) की भी व्यवस्था थी जिसके विधान को वर्साय संधि के 13वें भाग के रूप में स्वीकार किया गया। यह स्वायत्त संगठन श्रमिक वर्ग की दशा पर विचार करके अपनी सिफारिशें प्रस्तुत करता था। इसके 3 अंग थे—सामान्य सभा (General Conference), शासक निकाय (Governing Body), तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय (International Labour Office)। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन द्वारा स्वीकृत सिफारिशों, समझौतों व परम्पराओं का मूल्य बहुत कम था लेकिन सदस्य राष्ट्र द्वारा किसी सिफारिशी समझौते को स्वीकार कर लेने पर उसका मूल्य बढ़ जाता था और उसको सम्पुष्ट (Ratify) भी कर दिया जाता था। इन सभी अंगों के अतिरिक्त कुछ अन्य कार्यों के लिए राष्ट्रसंघ के अन्य अवयव या अभिकरण भी थे जिन्हें सहायक अंग एवं स्वायत्त संस्थायें कहा जा सकता है। विधान निर्माताओं की इच्छा थी कि संघ को विभिन्न राजनीतिक प्रश्नों पर किए जाने वाले अन्तर्राष्ट्रीय प्रयासों में समन्वय स्थापित करने वाला एक महत्वपूर्ण केन्द्र बनाया जाय। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए जो अनेक अवयव बन गये वे मुख्य थे—वित्तीय संगठन, यातायात संगठन, स्वास्थ्य संगठन, बुद्धिजीवी सहयोग समिति आदि।

राष्ट्रसंघ का योगदान या उसके कार्य
(The League at Work)

राष्ट्रसंघ वह प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय संगठन था जिसने निश्चित व्यवस्था के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति स्थापित करने का प्रयत्न किया और अपने लगभग 20 वर्ष के संक्षिप्त जीवनकाल में नियमित रूप से अन्तर्राष्ट्रीय प्रशासन को प्रोत्साहन दिया। दो महायुद्धों के बीच की दो शताब्दियों में राष्ट्रसंघ के सामने लगभग 60 राजनीतिक विवाद प्रस्तुत हुए और इसी अवधि में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति में स्थायी न्यायालय ने भी लगभग इतने ही कानूनी विवादों पर विचार किया जिनमें से 32 पर अपने निर्णय दिए और 27 पर परामर्शात्मक विचार प्रकट किये।[1] राष्ट्रसंघ ने

1. Ibid, p. 399.

विभिन्न गंभीर कठिनाइयों के होते हुए भी धैर्यपूर्वक अपने उत्तरदायित्वों के निर्वाह का प्रयत्न किया और प्रारम्भिक सफलताओं के कारण कुछ ही समय में वह एक ऐसी संस्था बन गयी जिसकी ओर सभी राष्ट्रों का ध्यान केन्द्रित हो गया। अपने जीवन की प्रथम दशाब्दी (1920–1930) में राष्ट्रसंघ को विवादों के समाधान में इन बातों के बावजूद पर्याप्त सफलता मिली कि एक तो इसकी कार्यविधि (Procedure) का पूर्ण विकास नहीं हुआ था और दूसरे संयुक्त राज्य अमेरिका जो इसके जन्म के लिए बड़ी हद तक उत्तरदायी था, इसका सदस्य नहीं बना। संयुक्त राज्य अमेरिका की पृथकता ने राष्ट्रसंघ को तुरन्त ही दुर्बल बना दिया और विवादों के समाधान तथा शान्ति की सुरक्षा में इसकी क्षमता को कम कर दिया। फिर भी 1924 से 1930 तक के वर्ष राष्ट्रसंघ के सबसे अधिक प्रतिष्ठा और अधिकार की अवधि के रहे। प्रारम्भ में सदस्य राज्यों के सारे प्रतिनिधि ही राष्ट्रसंघ की बैठकों में भाग लेते थे पर कुछ ही वर्षों में संघ ने इतनी प्रतिष्ठा अर्जित कर ली कि सदस्य राज्यों के प्रमुख राजनीतिज्ञ और विदेश मन्त्री तक इसकी बैठकों में उपस्थिति होने लगे। लोकार्नो सन्धि तथा कैलाग समझौते ने राष्ट्रसंघ के सम्मान को अतिशय बढ़ा दिया। चीवर तथा हैवीलैण्ड के अनुसार, 1930 तक संघ की सफलता और ख्याति संवर्धन में निम्नलिखित कारणों ने विशेष योग दिया—

(1) जनमत के दबाव से सरकारों ने राष्ट्रसंघ को अपना समर्थन प्रदान किया। राष्ट्रपति वुड्रो विल्सन ने संघ के पक्ष में जनमत निर्माण की महती भूमिका अदा की।

(2) संघ के सम्मेलन में प्रमुख शक्तियों ने 1929 से बाद के वर्षों की तुलना में, अपनी वैदेशिक नीति के उद्देश्यों और संघ के प्रति अपने दृष्टिकोण में सामान्यतः एकता की प्रवृत्ति प्रदर्शित की। उदाहरणार्थ, इङ्गलैण्ड, फ्रान्स और इटली ने जर्मनी के बारे में अपने मतभेदों पर दुराग्रह न करके उन कदमों पर सहमति प्रकट की जो जर्मनी में राष्ट्रों के परिवार को वापस लाने के लिए उठाये गये।

(3) यूरोप में 1925 से 1929 के दौरान "सद्भावना" (Good feeling) का युग रहा। युद्धोत्तरकाल में बेरोजगारी, परम्परागत व्यापार-सम्बन्धों की विच्छिन्नता, यौद्धिक विनाश आदि के बावजूद उपर्युक्त अवधि कम से कम बाहरी रूप से वर्धमान आर्थिक समृद्धि की अवधि थी।

उपर्युक्त सभी कारणों और परिस्थितियों के फलस्वरूप राष्ट्रसंघ को पर्याप्त राजनीतिक बल मिला और वह अन्तर्राष्ट्रीय विवादों और व्यवहारों के समाधान का महत्वपूर्ण केन्द्र बन गया। यद्यपि 1929 के बाद अथवा अपनी जीवन की अन्तिम दशाब्दी में राष्ट्रसंघ को भारी असफलता का सामना करना पड़ा और अपनी सभी निर्बलताओं के कारण कटु आलोचना तथा उपहास का पात्र बनना पड़ा, तथापि इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि राष्ट्रसंघ की स्थापना से पूर्व कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन ऐसा नहीं हुआ था जिसने शान्ति की प्रतिज्ञा की अवहेलना करने

पर किसी महान् राष्ट्र की गंभीर आलोचना की हो और किसी महान् राष्ट्र को दण्ड दिया हो। यही नहीं, पूर्ववर्ती अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की अपेक्षा राष्ट्रसंघ के कार्य सुरक्षा-क्षेत्र में भी अधिक सफल रहे।[1]

अग्रिम पंक्तियों में हम राष्ट्रसंघ के प्रमुख कार्य अथवा उसकी मुख्य भूमिका की विवेचना करेंगे।

राष्ट्रसंघ शान्ति निर्माता के रूप में (The League as Peace Maker)

राष्ट्रसंघ का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बनाये रखना तथा अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शान्तिपूर्ण ढंग से समाधान करना था। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्रसंविदा में, जैसा कि पहले भी संकेत किया जा चुका है, चार प्रकार की व्यवस्थायें थी। पहली व्यवस्था, सदस्यों को कुछ ऐसी कानूनी बाध्यताओं तथा ऐसे उत्तरदायित्वों को स्वीकार करने के लिए कहा गया था जिनसे उनकी युद्ध प्रारम्भ करने की शक्ति काफी मर्यादित हो जाती थी। दूसरी व्यवस्था के अनुसार प्रसंविदा में इस प्रकार की प्रक्रियाओं को स्थान दिया गया था जिनसे अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शान्तिपूर्ण ढंग से समाधान हो सके। तीसरी व्यवस्था द्वारा, युद्ध छिड़ जाने की स्थिति में अथवा किसी राज्य द्वारा अपने दायित्वों का उल्लंघन करने पर युद्ध जारी रखने की दशा में संघ को यह भी अधिकार दिया गया था कि वह अपराधी अथवा आक्रमणकारी या दोषी राष्ट्र के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्धों और सैनिक कार्यवाही का प्रयोग कर सके। चौथी व्यवस्था युद्ध के निवारणार्थ शस्त्रास्त्रों को घटाने और निःशस्त्रीकरण करने से सम्बन्धित थी।

वास्तव में मानव-इतिहास में यह पहला अवसर था जब सुरक्षा सहायता सम्पन्न राज्यों ने अपनी प्रभुसत्ता पर बाह्य प्रतिबन्ध लगाना स्वीकार किया और अनुच्छेद 10 के अन्तर्गत यह मानवी-बाध्यता स्वीकार की कि वे परस्पर भौतिक सद्-उद्देश्यों की, वर्तमान राजनीतिक स्वतन्त्रता और प्रादेशिक अखण्डता की रक्षा बाह्य आक्रमणों से करेंगे। राष्ट्रसंघ का यही प्रसिद्ध 'सामूहिक सुरक्षा' (Collective Security) का सिद्धांत था जो दुर्भाग्यवश अनेक दुर्बलताओं के कारण कभी सफलतापूर्वक क्रियान्वित नहीं किया जा सका।

प्रसंविदा के अनुच्छेद 11 से 16 तक में युद्ध को शान्तिपूर्ण ढंग से रोकने की प्रक्रियाओं का उल्लेख था। अनुच्छेद 11 के अनुसार किसी युद्ध अथवा युद्ध की धमकी राष्ट्रसंघ के लिए चिन्ता का विषय थी और किसी भी सदस्य की प्रार्थना पर महासचिव को परिषद् की तात्कालिक बैठक बुलाने का अधिकार था। संघ के अन्तर्गत अधिकांश अन्तर्राष्ट्रीय विषय अनुच्छेद 11 के आधार पर ही लागू हुए। अनुच्छेद 15 के अन्तर्गत, झगड़े पहले परिषद् के सम्मुख जाते थे और यदि परिषद् चाहती तो उन्हें सभा के सम्मुख भेज सकती थी। परन्तु परिषद् ऐसे किसी विषय

1. *P. B. Potter*: An introduction to the study of International Organization, p. 252.

पर ऐसी कोई सिफारिश नहीं करवा सकती थी जो किसी राज्य के घरेलू अधिकार क्षेत्र में आता हो। अनुच्छेद 12 और 15 के अन्तर्गत परिषद् की शक्तियाँ समान थीं। इनके अन्तर्गत व झगड़े आते थे जिनके कारण सम्बन्ध-विच्छेद की भावना रहती हो और इसीलिए ऐसे मामलों म सदस्य राज्य विवाचन, न्यायिक निर्णय तथा परिषद् को जाँच-पड़ताल के लिए तैयार हो जाते थे। अनुच्छेद 11 का क्षेत्र बहुत अधिक व्यापक था और किसी प्रकार के झगड़े अथवा मतभेद इसके अन्तर्गत रखे जा सकते थे। परिषद् के लिए आवश्यक नहीं था कि वह कोई निश्चित मार्ग ही अपनाये। वह स्वतन्त्र रूप से अपने निर्णय दे सकती थी और यही कारण है कि इस अनुच्छेद के तहत राष्ट्रसंघ अनेक राजनीतिक झगड़ों का समाधान कर सका। मिडिलबुश तथा चेस्नेहिल के अनुसार, "राष्ट्रसंघ के प्रथम 10 वर्षों में परिषद् द्वारा युद्ध सम्बन्धी कार्यवाही को समाप्त करना, और झगड़े में सम्मिलित पक्षों को एक निर्णय पर पहुँचने के लिए मनाने में सफलता प्राप्त करना, वास्तव में एक प्रभावशाली कार्य था।"[1]

अनेक मामलों में अनुच्छेद 11 के अन्तर्गत सफलता प्राप्त नहीं होने पर उन्हें अनुच्छेद 15 के अन्तर्गत सुलझाने का प्रयास किया गया। कुछ स्थितियों में पहले तो परिषद् से अपील की गयी और बाद में विवाद सभा के सम्मुख रखा गया। चीन तथा जापान के विरुद्ध झगड़ा, बोलिविया तथा परेग्वे के बीच युद्ध, इटली एवं इथोपिया के मध्य संघर्ष, फिनलैण्ड और रूस के बीच संघर्ष आदि मामले इस प्रकार के उदाहरण हैं जिन्हें परिषद् ने सभा में भेजे बिना ही झगड़े के सम्बन्ध में कार्य किया। यह झगड़ा कोलम्बिया और पीरू के मध्य था। राष्ट्रसंघ ने 20 वर्ष की सक्रिय अवधि की प्रथम दशाब्दी में पर्याप्त सफलता अर्जित की। ऐसे प्रश्नों पर, जिनमें सशस्त्र संघर्ष होने की सम्भावना नहीं थी विभिन्न पक्षों ने परिषद् से हटाकर स्वयम् अपने ही स्तर पर विचार करने का प्रयत्न किया। परिषद् ने विवादों के समाधान के लिए विशेषज्ञ ऐजेन्सियों का बारम्बार प्रयोग किया। कानूनी प्रश्नों से सम्बन्धित मामले को किसी विधिवेत्ता आयोग अथवा अन्तर्राष्ट्रीय स्थायी न्यायालय में परामर्श के लिए भेजा जाता था। कानूनी पहलू से भली प्रकार परिचित होने पर विभिन्न पक्ष परिषद् की सहायता से विवादों का समाधान करने के प्रयत्न करते थे। परिषद् कभी-कभी जाँच-पड़ताल आयोग भी बैठा देती थी। यह कदम प्राय: तभी उठाया जाता था जब सीमा-संघर्ष, आक्रमण अथवा सैनिक-शक्ति के प्रयोग की सम्भावना हो। परिषद् द्वारा अधिक बल इसी बात पर दिया गया कि विवादों को साधारणतया ऐजेन्सियों के माध्यम से निपटाया जाय। उदाहरण के लिए चाको-युद्ध (Gran Chaco war) के बारे में अमेरिकन राज्यों की उप-समिति बैठायी गयी तो इटली-इथोपिया संघर्ष को विवाचन आयोग द्वारा सुलझाने का प्रयास किया गया।

1. *Middlebush & Chesney Hill* - Elements of International Relations, p 477.

अनेक झगड़ों के सम्बन्ध में अनुच्छेद 15 के अधीन कार्य किया गया। ट्यूनिस तथा मोरक्को में राष्ट्रीयता आदेशों के बारे में फ्रान्स और ब्रिटेन के मध्य उत्पन्न विवाद में इस अनुच्छेद के अन्तर्गत रिपोर्ट करना अनावश्यक समझा गया और न्यायिक परामर्श के बाद दोनो पक्षो मे सीधी वार्ता शुरू हो गयी। मन्चूरिया के मामले में एक रिपोर्ट तैयार की गयी जिसे जापान ने ठुकरा दिया। लेटिसिया के झगड़े में पीरू और कोलम्बिया ने रिपोर्ट स्वीकार कर ली तथा राष्ट्रसंघ ने घटना-स्थल पर प्रशासकीय आयोग भेजकर विवाद के समाधान में सहायता दी। बोलिविया तथा पीरू के बीच चाको-युद्ध पर पेरेग्वे ने 15वें अनुच्छेद के अन्तर्गत प्रस्तुत रिपोर्ट को स्वीकार नहीं किया। पेरेग्वे को सामान सामग्री भेजने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। अन्त में शान्ति की स्थापना राष्ट्रसंघ से पृथक एक अन्य ऐजेन्सी द्वारा की गयी।

प्रसंविदा के अनुच्छेद 16 में दण्ड-व्यवस्था को रोकने का उल्लेख था। व्यवस्था यह थी कि यदि संघ का कोई सदस्य 12वीं, 13वीं अथवा 15वीं धारा का उल्लंघन कर के युद्ध आरम्भ कर देगा तो उसका यह कार्य सम्पूर्ण संघ के विरुद्ध समझा जायगा और संघ के सभी सदस्य ऐसे राज्य के साथ अपने व्यापारिक सम्बन्धो का विच्छेद कर लेंगे। इस व्यवस्था को आर्थिक प्रतिबन्धों का नाम दिया गया। इथोपिया-इटली-संघर्ष में अनुच्छेद 15 के अन्तर्गत प्रस्तुत की गयी रिपोर्ट के बाद कठोर कदम उठाते हुए अनुच्छेद 16 के तहत इटली के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगाये गये। राष्ट्रसंघ के अल्पकालिक जीवन में इस अस्त्र का प्रयोग केवल एक ही बार हुआ लेकिन बड़ी शक्तियों के सहयोग के अभाव में यह अस्त्र निष्फल रहा। इटली के विरुद्ध जोर-शोर से लगाये गये आर्थिक प्रतिबन्ध टाय-टाय फिस हो गये। वास्तव में अनुच्छेद 16 के मूल में यह भावना निहित थी कि आर्थिक प्रतिबन्धो के भय से कोई देश युद्ध छेड़ने का साहस नहीं करेगा और यदि उसने साहस किया भी तो कठोर आर्थिक प्रतिबन्धों के कारण, वह युद्ध को अधिक समय तक जारी नहीं रख सकेगा और अन्त में बाध्य होकर युद्ध बन्द कर देगा। यदि महाशक्तियां इस अनुच्छेद को प्रभावपूर्ण ढंग से अमल में लाती तो यह अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की स्थापना में एक कारगर उपाय सिद्ध होता लेकिन महाशक्तियो ने अपने स्वार्थों के खातिर इस अनुच्छेद को निष्प्रभावी बना दिया और इसके प्रथम प्रयोग में ही इसका जनाजा निकाला।

युद्ध रोकने के लिए आर्थिक प्रतिबन्धों के अतिरिक्त अनुच्छेद 16 में सैनिक कार्यवाही की व्यवस्था थी। प्रसंविदा में कहा गया था कि संघ आक्रामक राज्यों के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही कर सकता है और इसके लिए सदस्य राज्यो को सेना प्रदान करनी चाहिए। पर व्यावहारिक दृष्टि से इस व्यवस्था का कोई मूल्य नहीं था क्योंकि विधान में ऐसी कोई धारा नहीं थी जिससे सदस्यो को सेना प्रदान करने के लिए बाध्य किया जा सके। इस व्यवस्था का अनुपालन एकदम ऐच्छिक था और संघ के इतिहास में इस व्यवस्था का प्रयोग कभी नहीं हुआ। संघ ने किसी भी अवसर पर इसके

नियम तोड़ने वाले सदस्यों के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही नहीं की। आर्थिक प्रतिबन्धों के निष्प्रभाव और सैनिक कार्यवाही के अप्रयोग के कारण छोटे राज्यों का राष्ट्रसंघ पर विश्वास नहीं रह गया और वे सोचने लगे कि संघ उनके अधिकारों की सुरक्षा करने में अक्षम है। संघ की दुर्बलता के कारण ही अनेक महत्वपूर्ण झगड़े उसके सामने नहीं लाये गये। उदाहरणार्थ जब जर्मनी ने आस्ट्रिया पर हमला करना चाहा तो आस्ट्रिया ने मामला राष्ट्रसंघ के सम्मुख नहीं रखा। इसी प्रकार सुडेटन-संकट के समय चेकोस्लोवाकिया ने भी विवाद राष्ट्रसंघ के सम्मुख पेश नहीं किया। जर्मनी ने जब डैन्जिग को हड़पना चाहा तो पोलैण्ड ने राष्ट्रसंघ से सहायता की अपील नहीं की। राष्ट्रसंघ की दुर्बलता को भाँपते हुए अनेक महान् राष्ट्रों ने इसका परित्याग कर दिया। इन राष्ट्रों की यह प्रवृत्ति बन गयी कि यदि कोई छोटा राज्य राष्ट्रसंघ से सहायता की अपील करता था तो इन्हें अप्रसन्नता होती।

प्रसंविदा के 17वें अनुच्छेद में संघ सदस्यों और गैर-सदस्य राज्यों के विवादों या गैर-सदस्य राज्यों के पारस्परिक विवादों के समाधान की व्यवस्था थी ऐसी अवस्था में गैर-सदस्य राज्यों को आमन्त्रित किया जाता था कि वे उस विवाद के प्रयोजन के लिए संघ की सदस्यता के उत्तरदायित्वों को स्वीकार कर लें। यदि गैर-सदस्य राज्य आमन्त्रण स्वीकार कर लेता था तो 12वें से 16वें अनुच्छेद तक की व्यवस्थाएं सिद्धान्त रूप में लागू हो जाती थीं, अन्यथा नहीं। फिर भी आमन्त्रित राज्य द्वारा संघ के किसी भी सदस्य के विरुद्ध युद्ध छेड़ देने की अवस्था में उसके खिलाफ 16वें अनुच्छेद के उपबन्धों को लागू कर देने की व्यवस्था थी। विवाद से सम्बन्धित यदि दोनों ही पक्ष गैर-सदस्य राज्य होते तो परिषद् ऐसे उपाय काम में ले सकती थी जो युद्ध को रोक दें अथवा विवाद को तय कर दें।

अनुच्छेद 19 के अनुसार, सभा (Assembly) समय-समय पर संघ के सदस्यों को उन सन्धियों पर पुनर्विचार के लिए कह सकती थी जो समयान्तर के कारण अनुपयुक्त हो गई हों। मुख्यतः, अनुच्छेद का उद्देश्य कानून को विद्यमान परिस्थितियों के अनुकूल बनाना था। युद्ध के निवारण के लिए प्रसंविदा के 8वें अनुच्छेद में शान्ति-स्थापना करने के लिए शस्त्रास्त्रों की कमी को आवश्यक बतलाया गया था और इस सम्बन्ध में विस्तृत योजना बनाने का कार्य परिषद् को सौंपा गया था। परिषद् ने इस दिशा में अनेक कदम उठाये किन्तु सफलता अर्जित नहीं की।

संघ के समक्ष आये गये कुछ प्रमुख विवाद—शान्ति-निर्माता के रूप में राष्ट्रसंघ की सफलताओं-असफलताओं का मूल्यांकन उन विवादों के द्वारा किया जा सकता है जो संघ के समक्ष समय-समय पर प्रस्तुत किये गये। यहां हमारा उद्देश्य विवादों का विस्तृत विवेचन करना न होकर केवल संघ की सफल-असफल कार्यवाही का संकेत मात्र करना है और इस दृष्टि से कुछ प्रमुख विवादों को ही लेना पर्याप्त होगा।

संघ के समक्ष पहला उल्लेखनीय विवाद आलैण्ड (Aland) टापुओं के स्वामित्व के ऊपर फिनलैंड और स्वीडन के मध्य झगड़ा था। दोनों ही देश राष्ट्रसंघ

के सदस्य नहीं थे, अतः तीसरे पक्ष ब्रिटेन ने विवाद को संघ के सम्मुख प्रस्तुत किया। फिनलैण्ड ने विवाद को अपना "घरेलू मामला" घोषित करते हुए उसे राष्ट्रसंघ के अधिकार क्षेत्र से बाहर बतलाया। लेकिन परिषद् (Council) ने फिनलैण्ड के दावे को स्वीकार न करते हुए मामले की जाँच के लिए आयोग बैठा दिया। आयोग ने, आवश्यक जाँच-पड़ताल के बाद, जो भी व्यवस्थायें दीं उन्हें दोनों ने स्वीकार कर लिया और तदनुरूप दोनों देशों में अप्रैल, 1922 में एक सन्धि हो गयी।

अल्बानिया के सीमा-विवाद को भी संघ ने सफलता से निपटाया। 1921 में यूगोस्लाविया के सैनिकों के हमले के खिलाफ अल्बानिया ने संघ से हस्तक्षेप की अपील की। परिषद् को इस विवाद के समाधान में राजदूतों के सम्मेलन से बड़ी सहायता मिली।

बल्गेरिया तथा यूनान के गम्भीर विवाद (1925–26) को भी राष्ट्रसंघ ने सफलतापूर्वक सुलझाया। दोनों देशों के मध्य सीमान्त को लेकर झगड़ा शुरू हो गया। बल्गेरिया ने 10वें और 11वें अनुच्छेद के अन्तर्गत राष्ट्रसंघ से यूनानी आक्रमण की शिकायत की। परिषद् ने लड़ाई बन्द करने और दोनों देशों की सेनाओं को अपनी सीमाओं पर लौट जाने की आज्ञा दी। सैनिकों की वापसी की देखभाल के लिए फ्रान्स, ब्रिटेन तथा इटली से अपने सैनिक अधिकारी भेजने की प्रार्थना की गयी। यूनान और बल्गेरिया ने परिषद् के आदेशों का पालन किया। तत्पश्चात् जाँच आयोग बैठाया जिसने यूनान के आक्रमण को न्यायपूर्ण ठहराकर बल्गेरिया को क्षतिपूर्ति की जाने का निर्णय लिया। यूनान को क्षतिपूर्ति की रकम दी जा चुकी थी।

ब्रिटेन और फ्रान्स के मध्य ट्यूनिस और मोरक्को में राष्ट्रीयता के प्रश्न में जो विवाद (1921–22) उठा, उसे ब्रिटेन ने पंच-निर्णय द्वारा हल करना चाहा किन्तु फ्रांस ने अपना "घरेलू मामला" बतलाकर ब्रिटेन के प्रस्ताव को ठुकरा दिया। बाद में यह विवाद स्थायी न्यायालय के सुपुर्द किया गया जिसने घरेलू अधिकार क्षेत्र के फ्रेन्च दावे को अस्वीकार कर दिया। अन्त में विवाद को दोनों देशों ने पारस्परिक वार्ता द्वारा हल कर दिया। यह राष्ट्रसंघ की भावना की विजय थी।

पोलैण्ड और चेकोस्लोवाकिया के मध्य यावोर्जनी सीमा विवाद (1923–29) पर अनुच्छेद 11 के अन्तर्गत विचार करते हुए परिषद् ने सीमा आयोग नियुक्त किया जिसकी सिफारिश के अनुसार निर्धारित की गयी सीमा दोनों देशों ने स्वीकार कर ली।

मेमल समस्या के समाधान में राष्ट्रसंघ ने महत्वपूर्ण सफलता अर्जित की। परिषद् ने मामलों की एक समिति नियुक्त की जिसकी रिपोर्ट के आधार पर यह तय किया गया कि बन्दरगाह को छोड़कर शेष सम्पूर्ण मेमल का स्वामी लिथुआनिया है। साथ ही मेमल-वासियों को आन्तरिक स्वतन्त्रता स्वीकार की गयी और मेमल बन्दरगाह पर शासन करने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय बोर्ड की स्थापना की। पोलैण्ड ने इस व्यवस्था का विरोध किया पर कोई फल नहीं मिला।

मोसुल विवाद (1924–25) ब्रिटेन द्वारा राष्ट्रसंघ के समक्ष प्रस्तुत किया गया। यह विवाद मोसुल का टर्की, ईराक और ब्रिटेन में अपने अधिकार प्रदर्शन करने के कारण उत्पन्न हुआ था। पहले तो परिषद् ने दोनों पक्षों से यह वादा कर लिया कि वे लोसान-सन्धि की व्यवस्थाओं का सम्मान करते हुए "यथा-स्थिति" को बदलेंगे नहीं और राष्ट्रसंघ के निर्णय को मानेंगे। तत्पश्चात् परिषद् ने समस्या की जाँच के लिए एक तटस्थ जाँच आयोग नियुक्त कर दिया जिसकी सिफारिशों के आधार पर जून, 1926 में ब्रिटेन, टर्की और ईराक की एक त्रिपक्षीय सन्धि पर हस्ताक्षर किये गये और संघ द्वारा निर्धारित सीमान्त को स्वीकार किया गया। राष्ट्रसंघ के लिये यह एक गौरवशाली सफलता थी।

उपर्युक्त सभी और कुछ अन्य मामलों में अपने प्रारम्भिक वर्षों में राष्ट्रसंघ को पर्याप्त सफलता मुख्यतः बड़े राष्ट्रों के सहयोग के कारण ही मिली। मुख्य कारण यह भी था कि प्रारम्भिक काल में विजेता राष्ट्रों का पूरा प्रभाव था और पराजित देश इस स्थिति में नहीं थे कि अपने झगड़ों को राष्ट्रसंघ के सम्मुख रख सकें। साथ ही जर्मनी और रूस जैसे राज्य संघ के सदस्य ही नहीं थे। संघ के महासचिव और परिषद् ने भी बुद्धिमता और कुशलता से कार्य करते हुए ऐसी प्रक्रिया अपनायी ताकि शीघ्रतापूर्वक विवाद पर कार्यवाही की जा सके।

राष्ट्रसंघ को अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में भारी असफलता का सामना करना पड़ा। बड़े देशों के सहयोग की कमी और उनके विरोधी विश्वासों तथा दृढ़ता के साथ कार्यवाही करने की दुर्बलता के कारण राष्ट्रसंघ की दुर्बलता स्पष्ट होती गयी। वास्तव में 1923 के कोर्फू विवाद से ही यह जाहिर हो गया था कि राष्ट्रसंघ बड़े देशों के विरुद्ध कार्यवाही करने का साहस नहीं रखता। यद्यपि इटली और यूनान के मध्य हुए इस विवाद को सुलझाने में राष्ट्रसंघ विजयी हुआ। लेकिन यह हल संघ के सिद्धान्तों और नियमों की पहली प्रबल अवहेलना थी। यूनान को निर्बल होने का दण्ड मिला था और यद्यपि इटली ने कोर्फू पर बमवर्षा करके यूनान को क्षति पहुचायी थी फिर भी मुआवजे के रूप में उसे पुरस्कार दे दिया गया था। पुनश्च, स्वतन्त्रता के लिए राजदूतों के सम्मेलन को बुलाया गया था और संघ में परिषद् के इस मामले की पूर्ण उपेक्षा की गयी थी।

ग्रान-चाको विवाद (1928-33) के समाधान में अनिश्चय और असमर्थता के कारण राष्ट्रसंघ की प्रतिष्ठा पर आघात पहुंचा। ग्रान-चाको का दलदली प्रदेश दक्षिणी अमेरिका के पेराग्वे तथा बोलिविया राज्यों के मध्य विवाद और सशस्त्र संघर्ष का विषय था। 1932 तक तो विवाद में राष्ट्रसंघ पर्दे के पीछे ही रहा और बाद में उसके द्वारा नियुक्त जाँच-आयोग से भी समस्या की कोई स्थिति नहीं निकल सका। आयोग की रिपोर्ट के आधार पर परिषद् ने दोनों राज्यों को शस्त्रास्त्र भेजने पर प्रतिबन्ध लगाए। बोलिविया ने मामला परिषद् से हटाकर सभा में भेज देने की प्रार्थना की। सभा के शान्ति प्रस्ताव को बोलिविया ने तो मान लिया किन्तु पेराग्वे

ने अस्वीकृत कर दिया। इस प्रकार राष्ट्रसंघ द्वारा बोलिविया को शस्त्रास्त्र भेजने पर पाबन्दी हटाली गई। लेकिन पेराग्वे के विरुद्ध यह प्रतिबन्ध जारी रहा। परिणाम यह हुआ कि पेराग्वे ने संघ की सदस्यता ही छोड दी। आगे चल कर संघ के बाहर ही यह मामला अमेरिकन राज्यों की मध्यस्थता के प्रयत्नों मे सुलझाया जा सका।

राष्ट्रसंघ के विनाश का सूत्रपात मंचूरिया संकट (1931-32) से हुआ जिसका समाधान करने मे वह बुरी तरह असफल रहा। समस्या को सुलझाने के लिए संघ ने बहस, जाँच-पड़ताल, कमीशन, प्रचार, पूँजी, नैतिक दबाव रूपी विभिन्न शस्त्रों के प्रयोग किये किन्तु यह सभी एक-एक करके या सामूहिक रूप से असफल हो गये। जापान ने लगभग सम्पूर्ण दक्षिणी मंचूरिया पर अधिकार कर लिया और उसके नग्न तथा लज्जाहीन आक्रमण एवं राष्ट्रसंघीय विधान के उल्लंघन की पाश्चात्य राष्ट्रों ने इस आशा मे उपेक्षा कर दी कि जापान अन्ततः सोवियत रूस पर आक्रमण करेगा। चीन और सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त की उन्हे कोई परवाह नही थी। अन्तर्राष्ट्रीय न्याय का यह एक विचित्र नमूना था जिसमें बड़ी मछली को छोटी मछली निगल जाने का पूरा अधिकार प्राप्त था। जब सभा ने भारी विचार-विमर्श के बाद जापान के कार्य की निन्दा की और लिटन कमीशन की उन सिफारिशों को मानने का प्रस्ताव पास किया जिसके अनुसार जापानी सेना को हटा लेने तथा मंचूरिया मे स्वायत्त शासन की स्थापना की सिफारिश की गयी थी तो जापानी प्रतिनिधि मंडल ने सभा की कार्यवाही पर खेद प्रकट करते हुए घोषणा कर दी कि "राष्ट्रसंघ के साथ सहयोग करना अब जापान के लिए असम्भव प्रतीत होता है।" सभा के निर्णय के विरोध मे जापानी प्रतिनिधि मंडल सभा-स्थल से उठकर चला गया और बाद में 27 मार्च, 1933 को जापान ने राष्ट्रसंघ की सदस्यता त्यागने की विधिवत् सूचना दे दी। मंचूरिया काण्ड ने राष्ट्रसंघ की दुर्बलता को बड़े स्पष्ट रूप मे अभिव्यक्त कर दिया। वह जापानी आक्रमण से चीन की रक्षा करने में शुरू से असमर्थता प्रकट करता रहा है। संघ के सदस्यों पर बलात्कार होता रहा, संघ के विधान का उल्लंघन किया जाता रहा लेकिन इन सब को रोकने के लिए कोई सक्रिय तथा व्यावहारिक कदम नही उठाया गया। राष्ट्रसंघ की इस असफलता से विश्व पुनः शक्ति-राजनीति (Power-politics) की ओर मुड़ गया, वाशिंगटन सम्मेलन द्वारा निर्मित सन्तुलन समाप्त हो गया और सामूहिक सुरक्षा का सारा सिद्धान्त एक कोरी कल्पना बन गया।

मंचूरिया काण्ड ने राष्ट्रसंघ और सामूहिक सुरक्षा के मृत्यु-पट्टे (Death warrant) पर हस्ताक्षर कर दिये, केवल खैर यही थी कि अभी तक मृत्यु का घण्टा नही बजा था। बाद मे मुसोलिनी ने सर्वप्रथम संघ की अर्थी का ढिंढोरा पीट दिया। 1935 में इटली के तानाशाह ने राष्ट्रसंघ के अन्य सदस्य राज्य एबिसीनिया पर आक्रमण करके राष्ट्रसंघ की बची हुई महत्ता को भी पलीता लगा दिया। परिषद् ने इटली को युद्ध के लिए उत्तरदायी माना और सभा का आपातकालीन

अधिवेशन बुलाया जिसने इटली के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने का निश्चय किया। 18 नवम्बर, 1935 में राष्ट्रसंघ के इतिहास में पहली बार एक देश के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगाये गये, किन्तु ये प्रतिबन्ध सफल नहीं हुए क्योंकि ब्रिटेन और फ्रांस ने राष्ट्रसंघ के भीतर रहते हुए कूटनीतिक दाँव पेचों से तो इटली की सहायता की ही, साथ ही इटली को तेल भेजने के प्रतिबन्ध को लागू करने की कार्यवाही में भी विलम्ब की नीति अपनायी। अमेरिका से इटली को भारी मात्रा में तेल मिलता रहा। इटालियन फौजें एबिसीनिया को रौंदती रहीं। सम्राट् हेल सिलासी ने स्वयम् सभा में उपस्थित हो कर सहायता की अपील की लेकिन सोवियत प्रतिनिधि को छोड़ कर किसी ने असहाय एबिसीनिया का समर्थन नहीं किया। 15 जुलाई, 1936 को इटली के विरुद्ध लगाये गये आर्थिक प्रतिबन्ध भी हटा लिये गये। इस प्रकार एबिसीनिया काण्ड में सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त को पूर्ण तिरस्कृत कर दिया गया। इतना ही नहीं ब्रिटेन और फ्रांस के प्रयास से एबिसीनिया को राष्ट्रसंघ से भी निकाल दिया गया। नवम्बर, 1938 तक ब्रिटेन और फ्रांस ने इटली की एबिसीनिया विजय को स्वीकार कर लिया और राष्ट्रसंघ के मौलिक सिद्धान्तों को तिलांजलि दे दी। अपने दोस्तों की सहायता का मुसोलिनी ने केवल 19 महीने बाद ही बड़ा माकूल उत्तर दिया। उसने दोनों देशों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करके बता दिया कि वह उनसे बढ़कर चालाक और अवसरवादी है। राष्ट्रसंघ के प्रसंग में यह कहना होगा कि इटली के समस्त अनैतिक कार्य संघ की नजरों के नीचे होते रहे और संघ ने चुपचाप आत्महत्या कर ली। 16वें अनुच्छेद के अनुसार लगाये गये आर्थिक प्रतिबन्धों को पूरी कड़ाई से पालन कराने का कभी प्रयत्न नहीं किया गया। राष्ट्रसंघ ने स्वयम् को बड़े राष्ट्रों के हाथ का खिलौना बना दिया।

मुसोलिनी के साघातिक प्रहार से राष्ट्रसंघ के 'अस्थि-पञ्जर ढीले हो गये। इसके बाद ही स्पेन के गृहयुद्ध (1936–39) के मामले में भी राष्ट्रसंघ को मुँह की खानी पड़ी। अक्टूबर, 1937 में सभा ने 'आदेश दिया कि स्पेन की भूमि पर से विदेशी फौजों को हटा लिया जाय। लेकिन इटली और जर्मनी ने सभा को साफ अँगूठा बता दिया और राष्ट्रसंघ कुछ नहीं कर सका। राष्ट्रसंघ ब्रिटेन और फ्रांस आदि प्रमुख सदस्यों के हाथों का खिलौना बना रहा। फ्रान्को का दल गृहयुद्ध को जीत गया और राष्ट्रसंघ की उपेक्षा तथा असमर्थता के कारण स्पेन के जनतन्त्र शासन का अन्त हो गया।

रूसी-फिनिश युद्ध (1939–40) ने राष्ट्रसंघ की अन्त्येष्टि कर दी। फिनलैंड ने अनुच्छेद 11 और 15 के अन्तर्गत अपील करते हुए आक्रमणकारी सोवियत रूस से अपनी रक्षा और आक्रमण कार्य के विरुद्ध कठोर कार्यवाही की माँग की। राष्ट्रसंघ ने बड़ी तत्परता से कार्य करते हुए घोषणा की कि सोवियत रूस ने प्रसंविदा का उल्लंघन किया है अतः यह संघ का सदस्य बने रहने का अधिकारी नहीं है। यद्यपि रूस को संघ से निष्कासित कर दिया गया, किन्तु फिनलैंड को इससे कोई

लाभ नहीं पहुंचा। राष्ट्रसंघ को कुछ सदस्यों ने जो थोड़ी बहुत सहायता दी वह अपर्याप्त सिद्ध हुई। वास्तव में संघ के उपर्युक्त कदम दूरदर्शिता के परिचायक नहीं थे। जापान, इटली और जर्मनी को संघ के प्रसंविदा की घोर अवहेलना करने पर भी संघ से निष्कासित नहीं किया गया था। रूस के विरुद्ध इस प्रकार का प्रस्ताव केवल इसीलिए पारित हो सका क्योंकि उस समय संघ के अधिकांश सदस्य साम्यवाद के घोर विरोधी थे। यदि सच पूछा जाय तो 1939 तक रूस ही एकमात्र ऐसी महाशक्ति थी जिसने राष्ट्रसंघ के नियमों का पालन करते हुए उसको सामूहिक सुरक्षा के लिए प्रभावशाली साधन बनाने का प्रयत्न किया।

वस्तुतः यह कहना चाहिए कि राष्ट्रसंघ को मुर्दा बनाने का प्रभावशाली प्रयत्न 1929 से ही शुरू हो गया था। फिनलैण्ड के मामले में संघ द्वारा दिखाई गयी तत्परता राष्ट्रसंघ के दीपनिर्वाण से पहले की अन्तिम चमक थी जो फिनलैण्ड की प्राण-रक्षा में असफल रही।

संघ के अन्तर्गत शक्ति का नियमन
(Regulation of Forces under the League)

जैसा कि कहा जा चुका है, राष्ट्रसंघ ने निःशस्त्रीकरण की दिशा में भी काफी प्रयास किये, यद्यपि अन्ततोगत्वा असफलता ही हाथ लगी। प्रसंविदा के आठवें अनुच्छेद के दूसरे प्रकरण में था कि "प्रत्येक राज्य की भौगोलिक व्यवस्था एवं परिस्थितियों का लेखा रखकर परिषद् विभिन्न सरकारों द्वारा विचार और कार्यवाही के लिए शस्त्रास्त्रों में कमी की योजना बनाए।"

उपर्युक्त व्यवस्था के अनुपालन में 1920 में अस्थायी मिश्रित आयोग ने स्थायी आयोग के सहयोग से, अक्टूबर, 1924 में अस्तित्वहीन होने से पूर्व, निःशस्त्रीकरण समस्या को सुलझाने के लिए प्रयत्न किये। अन्तिम प्रयत्न में पारस्परिक सहायता सन्धि का एक प्रारूप तैयार किया गया जिसमें निःशस्त्रीकरण से सामूहिक सुरक्षा को मूल आधार बतलाया गया। समस्या के हल के लिए अपेक्षित सामान्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया जिन्हें 1922 में संघ की तीसरी सभा ने स्वीकार कर लिया। इन सिद्धान्तों में कहा गया कि कोई भी निःशस्त्रीकरण की योजना तब तक सफल नहीं हो सकती जब तक वह व्यापक रूप से सब पर लागू न हो और अनेक राज्य अपने शस्त्रास्त्रों में तब तक कमी करने की स्थिति में नहीं आ सकते जब तक कि उन्हें सुरक्षा के लिए पर्याप्त आश्वासन नहीं मिल जायं। यह संकेत दिया गया कि ऐसे आश्वासनों की व्यवस्था पारस्परिक प्रतिरक्षात्मक सन्धियों द्वारा की जा सकती है जिसमें एक राज्य दूसरे को सुरक्षा का आश्वासन देते हुए यह विश्वास दिलाये कि आक्रमण की स्थिति में प्रत्येक राज्य आक्रान्त देश की रक्षा के लिए युद्ध करेगा।

पारस्परिक सहायता सन्धि के प्रारूप (Draft Treaty of Mutual Assistance) को सफलता प्राप्त नहीं हुई और तब मध्यस्थता (Arbitration) के उपाय में सुरक्षा और सुरक्षा में निःशस्त्रीकरण का नया मार्ग ढूंढा गया। इसका अनुसरण

करते हुए अस्थायी मिश्रित आयोग ने संघ के अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के समाधानार्थ जेनेवा प्रोटोकोल की तैयारी मे सहायता दी जिसे 1924 मे संघ का निर्विरोध अनुमोदन मिला। किन्तु अन्त मे इसे भी असफलता का मुँह देखना पड़ा। अक्टूबर, 1924 के बाद मे ही अस्थायी मिश्रित आयोग ने काम करना बन्द कर दिया।

1925 मे परिषद् ने सज्जीकरण या प्रारम्भिक आयोग (Preparatory Commission) की नियुक्ति की। 5 वर्ष तक निरन्तर प्रयत्न करने पर भी आयोग नि:शस्त्रीकरण सम्बन्धी मतभेदो को सुलभा नही सका। फिर भी दिसम्बर 1930 में आयोग ने नि शस्त्रीकरण की योजना का एक अस्थायी प्रारूप-प्रस्ताव (Dummy Draft Convention) पास कराने मे सफलता अर्जित की जिसमे अनेक उपयोगी व्यवस्थायें थी, यथा—बजट द्वारा स्थल युद्ध सामग्री पर नियन्त्रण किया जाय, अनिवार्य सैनिक सेवा की अवधि घटायी जाय, रासायनिक एव कीटाणु युद्धो को रोका जाय आदि। इस प्रस्ताव मे प्रशिक्षित एव सुरक्षित सेनाओ पर नियन्त्रण, स्थल तथा जल सेनाओ के शस्त्रास्त्रो पर अथवा वायुसेना की सामग्री के व्यय पर कोई प्रतिबन्ध नही सुझाया गया था। सज्जीकरण आयोग के प्रस्ताव का व्यावहारिक मूल्य बहुत कम था। फरवरी, 1932 मे होने वाले नि.शस्त्रीकरण सम्मेलन ने उसका उपयोग भी नहीं किया, तथापि आयोग के श्रम का यह परिणाम अवश्य निकला कि नि.शस्त्रीकरण सम्बन्धी वे मूलभूत मतभेद सामने आ गये जिनका समर्थन सम्मेलन को करना पड़ता था।

सज्जीकरण आयोग के प्रस्ताव को मुख्य आधार मानकर जेनेवा मे फरवरी, 1932 मे नि.शस्त्रीकरण सम्मेलन (Disarmament Conference) आयोजित किया गया। दुर्भाग्यवश तत्कालीन परिस्थितिया इस अत्यधिक महत्वाकांक्षी शान्ति-प्रयास के अनुकूल नही थी। सम्मेलन को नि.शस्त्रीकरण की दिशा मे आगे बढ़ाने के लिए विचार-विमर्श के दौरान अनेक नये सुझाव प्रस्तुत किये गये। लीग के अधीन एक पुलिस-शक्ति की रचना की सिफारिश की गयी जिसका बमवर्षकों पर एकाधिकार हो। आक्रामक को कठोरता से दण्ड देने एव पच निर्णय (Arbitration) को आवश्यक बनाने की बात कही गयी। किसी अनसुलझे झगड़े पर अन्तिम रूप से कानूनी निर्णय देने के लिए जोर दिया गया। फ्रान्स ने कहा था कि आक्रमणकारी हथियारो को राष्ट्रसघ के अधीन कर देना चाहिए। किन्तु आक्रमणकारी हथियार (Offensive weapons) क्या हैं, इस पर उन लोगो मे मतभेद बना रहा। इसी प्रकार जब तोपों पर विचार किया गया तो लोगों ने स्वीकार किया कि इनका रक्षा एव आक्रमण दोनो के लिए उपयोग किया जा सकता था। किन्तु किसमे इसका उपयोग किया जायगा, यह उनकी प्रभावशीलता (Effectiveness) पर निर्भर करता था।

अस्त्र-शस्त्र एव मानव शक्ति के जितने भी रूपों पर विवाद हुआ उनमें सबसे अधिक सहमति रासायनिक एव वानस्पतिक हथियारो के आक्रमणकारी प्रवृति पर हो सकी। यह सम्मेलन अधिक सफलता प्राप्त नही कर सका। इसका

एक कारण तो यह था कि पश्चिमी देशों को सोवियत रूस की भावी विदेशी नीति के बारे में डर था। दूसरा, फ्रान्स व जर्मनी किसी भी बात पर एक मत नहीं हो सके थे। जर्मनी वर्साय की सन्धि के प्रतिबन्धों को मानने को तैयार नहीं था और इधर फ्रान्स उसे किसी भी कीमत पर बराबर का स्तर नहीं देने को कमर कसे हुए था। साथ ही जर्मनी भी बराबर के स्तर से कम कुछ भी लेना नहीं चाहता था। दिसम्बर, 1932 में फ्रान्स ने जर्मनी को इस शर्त पर बराबर का स्तर देना स्वीकार कर लिया कि सामूहिक सुरक्षा पत्र द्वारा रक्षा का आश्वासन दिया जाय। मार्च, 1933 में रेम्जे मेकडानल्ड (Ramsay Mac-Donald) द्वारा एक नयी योजना प्रस्तुत की गयी। किन्तु जर्मनी में हिटलर द्वारा शासन-सत्ता को सम्भालने के बाद यह योजना साकार नहीं हो सकी। 14 अक्टूबर, 1933 में जर्मनी ने सम्मेलन छोड़ने की घोषणा कर दी। उसके एक सप्ताह बाद ही उसने राष्ट्रसंघ को भी छोड़ दिया। 16 मार्च, 1935 को जर्मनी ने वर्साय-सन्धि के निःशस्त्रीकरण से सम्बन्धित उपबन्धों को खुले रूप से प्रभावकारी घोषित कर दिया। इस घोषणा के साथ ही युद्ध के नवीन इरादों को प्रदर्शित करने के लिए रङ्गमञ्च का पर्दा उठा। शूमेन के शब्दों में, "16 वर्ष के उपरान्त पराजय का बेरा बन्द कर दिया गया। राष्ट्रसंघ द्वारा संसार में निःशस्त्रीकरण के प्रयासों का प्रारम्भ जर्मनी के एक-पक्षीय निःशस्त्रीकरण में शुरू हुआ था और जर्मनी के एक-पक्षीय पुनःशस्त्रीकरण से इन प्रयासों का अन्त हो गया। यूरोप के सामूहिक बुद्धि सुरक्षा की प्राप्ति में सफल हो जाने के उपरान्त, आत्मघात की तैयारियां में लगायी गयी।"

संरक्षण अथवा समादेश व्यवस्था सम्बन्धी कार्य
(Mandatory Functions of the League)

समादेश अथवा अधिदेशीय अथवा संरक्षण व्यवस्था (Mandate system) के अन्तर्गत राष्ट्रसंघ पर यह उत्तरदायित्व डाला गया कि वह भूतपूर्व जर्मनी साम्राज्य के उपनिवेशों और टर्की के खलीफा साम्राज्य के अरब प्रायद्वीप के निवासियों के कल्याण और उन्नति की व्यवस्था करे। अनुच्छेद 22 के अनुपालन में राष्ट्रसंघ ने अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करते हुए प्राकृतिक प्रदेशों और उपनिवेशों का शासनाधिकार, जनता के हितों को ध्यान में रखते हुए, विभिन्न देशों को सौंपा। वे देश संरक्षण अधिकार का उपयोग राष्ट्रसंघ की ओर से संरक्षक राज्य (Mandatory States) के रूप में करते थे। इन्हें अपनी शासन-प्रबन्ध की रिपोर्ट प्रतिवर्ष राष्ट्रसंघ को देनी पड़ती थी। संरक्षण-व्यवस्था के निरीक्षण के लिए राष्ट्रसंघ (1920) ने एक स्थायी संरक्षण आयोग (Permanent Mandate Commission) की स्थापना किया जो संरक्षक राज्यों द्वारा प्रस्तुत रिपोर्ट की जांच करता था, याचिकायें सुनता था और संरक्षक-व्यवस्था के बारे में परिषद् से आवश्यक सिफारिशें करता था। शूमेन की दृष्टि में संरक्षण-व्यवस्था "साम्राज्यवाद की दोहरी समस्या है—एक ओर तो निवासियों के हितों की रक्षा करना तथा दूसरी ओर साम्राज्य-निर्माताओं को शान्त

रचना—के दृढ़तापूर्वक समाधान की सबसे अधिक मनोरंजक अन्तर्राष्ट्रीय चेष्टाओं में से थी।"[1] संरक्षित अथवा मेण्डट शासन के अधीन 14 क्षेत्र थे जिनको ए. बी. सी श्रेणियों में विभाजित किया गया। संरक्षक शक्तियों में फ्रान्स, ब्रिटेन, बेल्जियम, दक्षिण अफ्रीका, न्यूज़ीलैण्ड, आस्ट्रेलिया तथा जापान थे। संरक्षण-व्यवस्था का सर्वाधिक लाभ ब्रिटेन और फ्रान्स को मिला। राष्ट्रसंघ को संरक्षण (Mandate) के सम्बन्ध में तीन प्रकार के निरीक्षणात्मक या नियन्त्रणात्मक अधिकार प्राप्त थे—

(1) संरक्षित राज्यों के संरक्षण में आये उपनिवेशों या प्रदेशों के सम्बन्ध में प्रतिवर्ष परिषद् को वार्षिक प्रतिवेदन भेजना पड़ता था।

(2) प्रत्येक संरक्षित के लिए सौंपे गये प्रदेश के शासन के सम्बन्ध में परिषद् निर्देश दे सकती थी।

(3) संरक्षक राज्यों के प्रतिवर्ष वार्षिक प्रतिवेदन की जाँच राष्ट्रसंघ द्वारा निर्मित स्थायी संरक्षण आयोग करता था और तब अपनी सिफारिशों को परिषद् के सामने रखता था।

संरक्षण-व्यवस्था सिद्धान्त और व्यवहार में भिन्न थी, व्यवहार में यह व्यवस्था साम्राज्यवाद का एक नवीन रूप ही सिद्ध हुई। संरक्षण-प्रणाली संरक्षित प्रदेशों की भलाई के लिए स्थापित की गयी थी। लेकिन संरक्षित राज्यों ने उनका शासन अपने हितों की रक्षा के उद्देश्य से किया। ब्रिटेन ने ईराकियों की स्वतन्त्रता-प्राप्ति की महत्वाकांक्षाओं को कुचल दिया तथा फिलिस्तीन में 'फूट डालो और राज्य करो' की नीति अपनायी। फ्रान्स ने सीरिया और लेबनान में राष्ट्रवाद का दमन किया। टोगोलैण्ड तथा केमरून में भी जनता की इच्छा की अवहेलना की गयी। तृतीय श्रेणी के संरक्षित प्रदेशों में संरक्षक राज्यों ने 'मुक्त द्वार' (Open Door) नीति नहीं अपनायी। संरक्षित प्रदेशों के साथ सामान्य उपनिवेशों का सा व्यवहार किया गया। परिणामस्वरूप लगभग सभी विद्रोह और दंगे-फसाद होते रहे। वास्तव में संरक्षण-व्यवस्था गुप्त सन्धियों के अनुसार "पराजित शत्रु की औपनिवेशिक लूट की विजय के निमित्त एक पारदर्शी मात्र थी" जिसके कारण क्षेत्रफल, जनसंख्या, साधनों एवं सैनिक महत्व के स्थानों की दृष्टि से मुख्यतः ब्रिटेन और फ्रान्स के साम्राज्यों का बड़ा विस्तार हुआ। जापान को भी ऐसे प्रदेश मिले जिनसे उसकी नौसैनिक-शक्ति प्रशान्त महासागर की ओर आगे जा फैली। फलस्वरूप अमेरिका भी अप्रभावित नहीं रह गया और पश्चिमी प्रशान्त महासागर में अपनी स्थिति की रक्षा के लिए उसे प्रदेशों और द्वीपों को घनिष्ट सहयोग देना पड़ा।

संरक्षण-पद्धति ने अपनी थोड़ी-सी अवधि में कुछ उपयोगिता अवश्य सिद्ध की। स्थायी संरक्षण आयोग द्वारा स्थानीय जनता की कठिनाइयों को सुलझाने की चेष्टा की गयी तथा उनके सामाजिक एवं आर्थिक सुधार के लिए पग उठाये गये।

1. *F. L. Shuman :* International Politics, p. 441.

स्थानीय जनता की याचिकाओं पर विचार किया गया और उन पर कुछ कार्यवाही की गयी। स्थानीय जनता की आकांक्षाएं प्रकाश में आयीं और संसार उनसे कुछ परिचित हुआ। लेकिन कुल मिलाकर संरक्षण-व्यवस्था साम्राज्यवादी अत्याचारों का अन्त नहीं कर सकी। संरक्षण आयोग का कार्य पूर्ण परामर्शात्मक था और उसकी सूचना के स्रोत अपर्याप्त तथा अविश्वसनीय थे क्योंकि उसे संरक्षित प्रदेशों में जाने और वहां के निवासियों की शिकायतें सुनने का अधिकार नहीं था। अस्पष्ट और गलत वक्तव्यों की जांच के लिए कोई व्यवस्था नहीं थी। 1933 में जापान ने राष्ट्रसंघ छोड़ दिया लेकिन उसके संरक्षण स्थापित रहे, अतः 1933 के बाद उसने जो भी वार्षिक प्रतिवेदन भेजे वे एकदम अपूर्ण थे। 1938 में तो उसने प्रतिवेदन भेजना भी बन्द कर दिया। लार्ड बालफोर ने ठीक ही लिखा है कि संरक्षण प्रथा, विजेता राष्ट्रों द्वारा विजित प्रदेशों पर, अपनी प्रभुसत्ता से स्वेच्छापूर्वक लगायी हुई मर्यादा थी। यह व्यवस्था व्यवहार में जनसमूह और भू-प्रदेशों की अधिकारलिप्सा का एक खेल बन गयी थी जिसमें जानवरों और मोहरों की भांति जनता तथा भूखण्डों की अदला-बदली चलती रही। संरक्षण-सिद्धांत के विरुद्ध संरक्षक राज्यों ने संरक्षित प्रदेशों में अपने सैनिक अड्डे बनाये। यह व्यवस्था इसलिए भी प्रभावशाली नहीं हो सकी कि संयुक्त राज्य अमेरिका ने इसको कार्यान्वित करने में भाग नहीं लिया, फिर भी यह स्वीकार करना होगा कि संरक्षण व्यवस्था में "एक नवीन विश्व-व्यवस्था के विचार की किरणें थी।" इसने इतिहास में पहली बार ट्रस्टी-शिप, संरक्षण और अधिदेशीयता के सिद्धान्तों (Principles of Trusteeship, Tutelage and Mandate) को अन्तर्राष्ट्रीय स्वीकृति प्रदान की गयी। क्विन्सी राइट के अनुसार स्थायी संरक्षण आयोग ने संरक्षित प्रदेशों में औपनिवेशिक प्रशासन का मापदण्ड उपस्थित किया तथा औपनिवेशिक जन-समुदाय के लिए स्वराज्य एवं आत्मनिर्णय के उद्देश्य को जीवित रखा। इस व्यवस्था के मूल में छिपे आग्रह के बल पर साम्राज्य एवं शक्तियों ने कम से कम यह स्वीकार कर लिया कि पिछड़े प्रदेशों के निवासियों का शासन उन प्रदेशों के निवासियों के हितों में किया जाना चाहिए। विश्व जानता है कि इस से ही कालान्तर में ईराक, सीरिया, लेबनान आदि को स्वतन्त्रता प्राप्ति हो सकी। लियोनार्ड के शब्दों में "राष्ट्रसंघीय सुरक्षा की मान्य दुर्बलता के बावजूद एक स्पष्ट सुधार का प्रतिनिधित्व करती है।"

अल्पसंख्यकों की सुरक्षा (Protection of Minorities)

प्रथम महायुद्ध के बाद राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों की सुरक्षा के लिए शान्ति सम्मेलन ने अल्पसंख्यक सन्धियों का उपाय अपनाया जिसके अनुसार अल्पसंख्यकों के संरक्षण के लिए राष्ट्रों ने आपस में कुछ सन्धियां की और इन सन्धियों को कार्यान्वित करने का भार राष्ट्रसंघ को सौंपा। यूरोप के विभिन्न राष्ट्रों में बसने वाले लगभग 3 करोड़ अल्पसंख्यकों के हितों की सुरक्षा का भार राष्ट्रसंघ पर आया। संघ और विभिन्न राज्यों के मध्य समझौतों में यह उद्देश्य सन्निहित किया गया कि अल्पसंख्यकों के

जीवन और स्वतन्त्रता की रक्षा की जायगी, उनके धर्म और विचार का आदर होगा बशर्ते कि वे सार्वजनिक शान्ति के लिए घातक न हों, उन्हें नागरिकता के अधिकार प्रदान किये जायेंगे अदालत में सब के साथ समान व्यवहार होगा, सब को समान सुविधायें दी जायेंगी तथा नौकरी के सुयोग प्रदान किये जायेंगे, उनकी शिक्षा-व्यवस्था उनकी अपनी ही भाषा में की जायेगी आदि। सन्धिकर्त्ता राष्ट्रों ने स्वीकार किया कि ये सिद्धान्त उनके उत्तरदायित्व होंगे और आगामी व्यवस्थापन तथा प्रशासकीय आदेश द्वारा परिवर्तित नहीं किये जायेंगे।

राष्ट्रसंघ ने अल्पसंख्यकों की व्यवस्था के निर्वाह के लिए जिस विधि को अपनाया, वह दो परस्पर विरोधी सिद्धान्तों पर आधारित थी—पहला सिद्धान्त, अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण एवं नियन्त्रण था और दूसरा राष्ट्रीय प्रभुसत्ता के प्रति सम्मान था। अधिकांश सन्धियों में व्यवस्था थी कि समझौते का किसी बात पर उल्लंघन होने पर अल्पसंख्यक राष्ट्रसंघ की परिषद् के किसी सदस्य द्वारा परिषद् का ध्यान इस ओर आकर्षित करें।

विषम कठिनाइयों और परिस्थितियों के कारण राष्ट्रसंघ अल्पसंख्यकों के प्रति अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह नहीं कर पाया। अल्पसंख्यक सन्धियों से विमुक्त देश तो अल्पसंख्यकों के साथ बुरा व्यवहार करते थे किन्तु उन देशों में भी, जिनका सन्धियों में हाथ था, अल्पसंख्यकों को पूर्ण संरक्षण प्राप्त नहीं हुआ। परिषद् ने अल्पसंख्यकों के कुछ निवेदनों पर विचार किया और उनकी कुछ असुविधाओं को दूर भी किया, परन्तु स्थायी एकरूपता लाने में वह असफल रही। परिषद् ने कभी भी किसी राज्य को आपत्तिजनक कार्यवाहियों के लिए शक्तिशाली तरीके से नहीं रोका। सन् 1928 में जर्मन प्रतिनिधि स्ट्रेशमान द्वारा कटु आलोचना की जाने के उपरान्त अल्पसंख्यकों सम्बन्धी राष्ट्रसंघ की नीति में कुछ परिवर्तन आया और 1929 में अल्पसंख्यकों के विवादों का अधिक क्षमता के साथ निपटारा करने के लिए एक अल्पसंख्यक समिति (Minorities Committee) बना दी गयी जिसमें परिषद् का सभापति और उसके द्वारा चुने हुए दोनों प्रतिनिधि होते थे। पर यह व्यवस्था भी प्रभावकारी सिद्ध नहीं हुई क्योंकि संघ के निर्णयानुसार, परिषद् ने अल्पसंख्यकों के विवादों से सम्बन्धित सरकारों पर अपने निर्णय थोपने के बल पर दोनों दलों में समझौता कराने का मार्ग अपनाया। सितम्बर, 1934 में पोलैण्ड के प्रतिनिधि ने राष्ट्रसंघ की सभा में स्पष्ट घोषणा कर दी कि वह अल्पसंख्यकों की रक्षा के लिए तब तक सहयोग नहीं देगा जब तक दूसरे सदस्य देश भी अपने यहां अल्पसंख्यकों की रक्षा का किसी प्रकार का दायित्व नहीं लेते। पोलैंड की देखा-देखी दूसरे राज्यों ने भी राष्ट्रसंघ को सहयोग देना बन्द कर दिया। राष्ट्रसंघ जर्मन-नाजियों के अत्याचारों में यहूदियों को किसी भी प्रकार सुरक्षा प्रदान करने में असफल रहा। अपनी दोषपूर्ण व्यवस्था और शिथिल नीति के कारण वह न तो

अल्पसंख्यकों को सुरक्षा का आश्वासन दे सका और न ही उन राज्यों को ही निर्देश दे पाया जो अल्पसंख्यकों को सुरक्षा प्रदान करने के लिए कानूनबद्ध थे।

आर्थिक तथा सामाजिक कार्य
(Economic and Social Functions of the League)

राष्ट्रसंघ प्रमुखतः एक राजनीतिक संस्था थी तथापि गैर राजनीतिक क्षेत्र में उसे अधिक महत्वपूर्ण सफलता मिली। संघ ने आर्थिक, सामाजिक आदि मानव-जीवन के लगभग सभी क्षेत्रों के अन्तर्राष्ट्रीय महत्व को ध्यान में रखते हुए कार्य किया और अन्तर्राष्ट्रीय, सहयोग में एक नवीन युग का सूत्रपात किया। संघ के प्रयत्नों से विश्व-इतिहास में सम्भवतः पहली बार अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के आर्थिक एवं सामाजिक विषयों पर भी गम्भीर विचार विमर्श होने लगा।

संघ ने युद्ध से जर्जर राज्यों की अर्थ-व्यवस्था को पुनःस्थापित करने का उत्तरदायित्व सम्भाला। इस दिशा में उसने विश्व के राष्ट्रों को प्रेरित किया कि वे स्वस्थ आर्थिक नीतियाँ अपनायें। संघ ने अनेक आर्थिक, वित्तीय समुदायों की स्थापना की जिसने आंकड़ों एवं तथ्यों के संकलन का कठिन कार्य पूरा करने के साथ ही नाना आर्थिक समस्याओं का महत्वपूर्ण और उपयोगी शोधकार्य किया। आर्थिक संकटग्रस्त देशों के पुनर्निर्माण के लिए संघ ने बहुमूल्य वित्तीय सहायता प्रदान की। आस्ट्रिया, हंगरी, बल्गेरिया, डेन्जिग आदि के आर्थिक पुनर्निमाण में राष्ट्रसंघ बड़ा सहायक सिद्ध हुआ। पुनर्निर्माण और शरणार्थियों को बसाने के क्षेत्र में भी राष्ट्रसंघ की उल्लेखनीय भूमिका रही। शरणार्थी-सहायता कार्य के लिए राष्ट्रसंघ ने एक अन्तर्राष्ट्रीय कार्यालय की स्थापना की जिसके निर्देशन में लाखों रूसी, यूनानी और आर्मेनियन पुनः बसाये गये। राष्ट्रसंघ के प्रयत्नों से स्थापित यूनानी शरणार्थी बोर्ड ने यूनानी शरणार्थियों को बसाने का महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न किया और संघ ने इसके लिए यूनानी सरकार को दो बारी ऋण भी दिये।

राष्ट्रसंघ ने बौद्धिक सहयोग की दिशा में भी गम्भीर पग उठाया जिसका उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिकों, साहित्यकारों, कलाकारों, शिक्षकों आदि के पारस्परिक सम्बन्धों का विकास करके बौद्धिक क्षेत्र में प्रगति लाना था। संघ के उद्देश्य की मूल भावना यह थी कि मानसिक क्षेत्रों में राष्ट्रों के मध्य निकटतर एकता की स्थापना तथा स्पष्टतर ज्ञान-शक्ति के द्वारा शान्ति की सुरक्षा के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग में वृद्धि हो। बौद्धिक सहयोग के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय समिति भी स्थापित की गयी जिसके सदस्य विश्व के महान् बुद्धिजीवी थे। इसके अतिरिक्त संघ द्वारा पेरिस में 1926 में 'बौद्धिक-सहयोग-संस्थान' की भी स्थापना हुई। कुछ ही समय में इस संस्था, राष्ट्रसंघ की समिति तथा अन्य विशिष्ट अन्तर्राष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय समितियों ने पूर्णतः बौद्धिक सहयोग-संगठन का रूप धारण कर लिया जिसने अपने बौद्धिक कार्यकलापों द्वारा विश्व-शान्ति के प्रसार में योग दिया। परिवहन तथा संचार, स्वास्थ्य, नारी-कल्याण एवं बाल-कल्याण, मादक द्रव्यों पर नियन्त्रण, दासता एवं

बेरोजगारी, युद्ध-बन्दियो की रिहाई आदि के क्षेत्र मे भी राष्ट्रसघ ने उल्लेखनीय सफलतायें अर्जित की। अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग द्वारा जन-स्वास्थ्य की सुरक्षा को बढ़ावा देने के लिए राष्ट्रसघ द्वारा 1923 मे स्थायी स्वास्थ्य सगठन (Permanent Health Organization) स्थापित किया गया।

राष्ट्रसंघ का मूल्यांकन
(Evaluation of the League)

राष्ट्रसघ लगभग 20 वर्ष तक कार्यशील रहा, लेकिन उसका शान्ति स्थापित करने का महान् ध्येय सफल नहीं हो सका। गम्भीर प्रयत्नों के बावजूद संघ निःशस्त्रीकरण का अपना स्वप्न साकार नहीं कर सका। यह केवल कुछ छोटे विवादो का समाधान करने मे ही सफल हुआ लेकिन उन बड़े और महत्वपूर्ण विवादो के हल मे, जिनमे महाशक्तियां उलझी हुई थी, असमर्थ रहा। जिन कारणों से राष्ट्रसघ अपने उत्तरदायित्वो का सफलतापूर्वक निर्वाह न कर सका, उनमे मुख्य इस प्रकार हैं—

(1) राष्ट्रसघ सवैधानिक दृष्टि से बड़ा निर्बल था। अपने निर्णयो का पालन कराने के लिए उसके पास कोई अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस अथवा सेना नहीं थी। वह सदस्य राज्यो को बाधित करने की सामर्थ्य नहीं रखता था। किसी भी राज्य को अपराधी घोषित करने मे परिषद् मे सर्वसम्मति की उपलब्धि अत्यन्त कठिन थी और यदि किसी प्रकार ऐसा हो भी जाय तो भी कोई राष्ट्र इसकी उपेक्षा कर सकता था। सघ की कार्य-पद्धति इतनी जटिल और विलम्बकारी थी कि विवाद प्रायः इतना लबा खिच जाता था कि आक्रामक राष्ट्र के विरुद्ध प्रभावशाली कार्यवाही का समय ही समाप्त हो जाय। उदाहरणार्थ, मन्चूरिया-घटना के समय राष्ट्रसघ का लिटन-आयोग जब चीन पहुचा तब तक जापान सम्पूर्ण मन्चूरिया पर अपना आधिपत्य जमा चुका था। प्रसविदा का यह महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक दोष था कि उसने युद्ध का वर्जन नही किया था वरन् आक्रामक और रक्षात्मक युद्ध का अन्तर प्रकट करते हुए रक्षात्मक युद्ध को वैध माना था। इस प्रकार युद्ध को प्रत्येक परिस्थिति मे बुरा नही बताया गया था। अनुच्छेद 12, 13 और 15 के अन्तर्गत कुछ दशा मे अन्तर हो सकता था। मार्गेन्थो ने जीन-रे (Jean Ray) के शब्दों को दुहराते हुए लिखा है कि प्रसविदा के निर्माताओ की दृष्टि मे अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ो को सुलझाने के लिए युद्ध ही एक सामान्य हल (Normal Solution) था। यदि राष्ट्रसंघ के सदस्य प्रसविदा के उपबन्धो को पूर्णतः कार्यान्वित करते तो उन्हे युद्धों को रोकने के लिए भी कुछ व्यवस्था करनी पड़ती और युद्धो को वैध बनलाना पड़ता।[1]

(2) संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा सदस्यता ग्रहण न करने से राष्ट्रसघ अपने प्रबल समर्थक के सहयोग से वञ्चित हो गया। अमेरिका की पृथक्ता ने संघ को

1. *Jean Ray* : Quoted by Morgenthau in "Politics Among Nations", p 442.

जीवन-शक्ति पर प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से बुरा प्रभाव डाला। संघ की सदस्यता अमेरिका पर लागू न होने से प्रसंविदा के अनुच्छेद 16 के अन्तर्गत आर्थिक प्रतिबन्धों की व्यवस्था महत्वपूर्ण नहीं रही क्योंकि अपराधी राज्य आवश्यक वस्तुओं का अमेरिका से सुगमतापूर्वक आयात कर सकता था। अमेरिका की पृथक्ता के कारण राष्ट्रसंघ के आदर्शवाद का प्रभाव मुर्झा गया और संकीर्ण राष्ट्रवाद पनपता गया। विश्व के एक महान् राष्ट्र द्वारा संघ का सदस्य न बनने से "असंतुष्ट राज्यों" के सामने एक उदाहरण प्रस्तुत हो गया और वे अमेरिका का अनुसरण करते हुए राष्ट्रसंघ को छोड़ने लगे। राष्ट्रसंघ के समान एक विश्वव्यापी संगठन के क्षेत्र से नयी दुनिया का एक विशाल प्रदेश निकल गया, अतः संघ की सार्वभौमिकता को गंभीर आघात पहुंचा। यदि अमेरिका संघ का सदस्य होता तो मंचूरिया तथा एबिसीनिया पर जापानी आक्रमण निरस्त किया जा सकता था। अमेरिका द्वारा संघ का सदस्य न बनने से फ्रांस को सुरक्षा के लिए दी गयी एंग्लो-अमेरिकन गारन्टी व्यर्थ हो गयी तथा सुरक्षा की खोज में पड़ कर फ्रान्स यूरोप में गुट बन्दियों का जाल बुनने लगा जिससे राष्ट्रसंघ के सदस्यों और विश्व-शान्ति को गंभीर आघात पहुँचा।

(3) स्वरूप संबंधी दुर्बलता भी राष्ट्रसंघ की विफलता का एक कारण बनी। संघ में यूरोपीय देशों का प्रभाव अधिक था जबकि विश्व के अन्य भागों के शक्तिशाली देशों को प्रतिनिधित्व नहीं मिला। विश्व-राजनीति में गैर-यूरोपीय देशों के बढ़ते हुए प्रभाव की अवहेलना करके कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था सफल होने की आशा नहीं कर सकती थी। अमेरिका प्रारंभ में ही संघ का सदस्य नहीं बना और रूस तथा जर्मनी को संघ का सदस्य बनाने योग्य नहीं समझा गया। जर्मनी को काफी वर्षों बाद 1926 में और रूस को 1934 में सदस्यता दी गयी लेकिन वे क्रमशः 1933 एवं 1939 में संघ से पृथक हो गये। ब्राजील, कोस्टारिका, इटली आदि अनेक राष्ट्र एक-एक करके संघ से अलग हो गये। इस प्रकार संघ के आन्तरिक जीवन में ऐसा कोई भी अवसर नहीं आया जब संघ को सम्पूर्ण विश्व का प्रतिनिधि कहते हुए अथवा विश्व की सभी महाशक्तियां समस्त राज्यों के रूप में इसमें एक साथ बैठी हों। संघ हमेशा कुछ विशिष्ट राष्ट्रों का गुट बना रहा और उस पर ये आरोप लगाये जाते रहे कि वह "विजेताओं का संघ", "सन्देहग्रस्त राष्ट्रों का संगठन" अथवा "रूस के विरुद्ध पश्चिम का षड्यन्त्र" है। राष्ट्रसंघ जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के लिए सर्वव्यापकता की कमी उसकी असफलता का बीज था।

(4) राष्ट्रसंघ के लिए वर्साय की सन्धि से जन्म लेना अभिशाप सिद्ध हुआ। "बदनाम मां की इस सम्मानित बेटी" को पराजित-राष्ट्र विजेता-राष्ट्रों द्वारा अपने स्वार्थ-सिद्ध करने का यन्त्र समझते रहे। पराजित राष्ट्रों को वर्साय-सन्धि की जो सजा दी गयी वह सीमा से अधिक थी, अतः उसके सन्तुलन के प्रति पराजित राष्ट्रों का भी लगाव नहीं हो सकता था। पुनश्च, राष्ट्रसंघ के प्रमुख संस्थापक विल्सन ने व्यवस्था दी थी कि आवश्यकता पड़ने पर सब सन्धियों में संशोधन करें लेकिन पास

के नेतृत्व मे एक गुट-विशेष मे सभी राष्ट्रो ने शान्ति-सन्धि मे किसी भी संशोधन का तीव्र विरोध किया। परिणाम यह हुआ कि संघ सन्धियो मे कोई संशोधन नहीं कर पाया और उसने विश्व के अनेक राष्ट्रों की निगाहों मे स्वयम् को यथास्थिति-व्यवस्था मे कायम रखने वाला संगठन सिद्ध कर दिया।

(5) पोयन्कारे और मिलरेण्ड के नेतृत्व मे फ्रान्स के राष्ट्रीय गुट ने 1918 से 1924 के बीच जर्मनी के साथ कठोर व्यवहार करके इसके आत्म-सम्मान को गहरा धक्का पहुंचाया। फ्रान्स के नेताओ ने बिस्मार्क के पदचिन्हों का अनुसरण किया। 1924 से 1930 तक स्ट्रेसमान, ब्राइण्ड तथा चैंबरलैन ने दोनो देशो मे सद्भावना का वातावरण बनाने का प्रयत्न किया, लेकिन वास्तविक मैत्री स्थापित नहीं हो सकी। जी. पी. गूच के अनुसार "मित्रता की नींव दृढ नहीं थी····। लोकार्नो समझौता करने मे विलम्ब किया गया और अन्त मे अन्य आवश्यक पग नहीं उठाये गये। युद्ध के घाव अभी भरे नहीं थे।"[1]

(6) राष्ट्रसंघ की सदस्य महाशक्तियो ने अनुच्छेद 10, 11, 15 और 16 के अन्तर्गत लगाये गये उत्तरदायित्वो की स्थापना नहीं की। उन्होंने अपनी घोषणाओं मे भले ही शान्ति की दुहाई दी हो, पर व्यावहारिक रूप से शान्ति की स्थापना के लिए कोई सक्रिय पग नहीं उठाया गया। प्रसंविदा का उल्लंघन करने वाले राज्यो के विरुद्ध आर्थिक बहिष्कार की नीति नितान्त अप्रभावशील सिद्ध हुई। फ्रान्स व ब्रिटेन ने इस गुप्त समझौते पर आचरण किया कि इटली को जर्मनी के साथ मिलाने से रोकने के लिए उचित यही है कि मुसोलिनि के साम्राज्य-निर्माण के प्रयत्नो मे प्रभावशाली बाधा न डाली जाय। जापान ने अनेक अधित और अनुचित कार्यवाहियो से यह प्रकट कर दिया कि वह राष्ट्रसंघ के सिद्धान्तो को टालने को तैयार नहीं था। प्रमुख सदस्य राज्यो की सिद्धान्तहीनता और राष्ट्रसंघ मे व्यावहारिक अनास्था का परिणाम यह हुआ कि जेनेवा की झील के तट पर एरियाना पार्क में निर्मित भव्य प्रासाद (राष्ट्रसंघ) शीघ्र ही सुन्दर समाधि-स्थल बन गया।

(7) संघ के सदस्य राज्यो ने "अपनी-अपनी डफली, अपना-अपना राग" वाली कहावत चरितार्थ की। संकीर्ण राष्ट्रीय हितो के नाम पर विश्वशान्ति की व्यवस्था और सुरक्षा का गला घोट दिया गया। ब्रिटेन और फ्रान्स की नीतियों में भारी मतभेद रहा तथा जर्मनी की चालें सफल होती चली गयी और संघ के हाथों को कमजोर बनाती गयी। फ्रान्स राष्ट्रसंघ को जर्मनी से सुरक्षा पाने का माध्यम समझता चला और ब्रिटेन ने अपने व्यापारिक स्वार्थों के कारण जर्मनी के प्रति मृदु तथा उदारनीति अपनायी। जर्मनी को संघ के कार्यों और सन्धियों मे कभी कोई आस्था नहीं रही। हिटलर की दृष्टि में राष्ट्रसंघ आँखो का वह काँटा था जो सम्पूर्ण [illegible] मे जर्मन [illegible] स्थापित करने मे सहयोगी नहीं हो सकता था। इटली ने जर्मनी [illegible] उकसाया ताकि वह फ्रान्स और उसके पूर्वीय मित्रो को कमजोर कर सके। बाद

1. G. P. Gooch: Problems of Peace, Vol. 12, p. 64.

ने उसने जर्मनी से वही काम लिया जो कि जर्मनी रूस से लेता था। सोवियत नेताओं की दृष्टि में "राष्ट्रसंघ पिछली शताब्दी में सबसे निर्लज्ज और चोरी की बनायी हुई ... की उपज" ही बना रहा और पश्चिमी देशों द्वारा भी उसका बुरी तरह से विरोध किया जाता रहा। हिटलर के उदय से आशंकित होकर 1934 में वह राष्ट्रसंघ का सदस्य बन गया किन्तु तब भी पश्चिमी राष्ट्रों ने उस पर विश्वास नहीं किया। युद्धोत्तर शान्ति-सन्धियों ने जापान को नीचा दिखाया अतः प्रतिक्रिया स्वरूप चाहता था कि सुदूरपूर्व में वह एक महान् शक्ति बन जाय। संयुक्त राज्य अमेरिका को अमेरिकन गोलार्द्ध में संघ के प्रभाव का तनिक भी विस्तार मान्य नहीं था।

स्पष्ट है कि संघ के सम्बन्ध में सभी बड़ी शक्तियों के विभिन्न दृष्टिकोण बने रहे और जहां कहीं उनके हितों का संघ के सिद्धान्तों से विरोध हुआ वे संघ के सिद्धान्तों को तिलाञ्जलि देते रहे। छोटे राष्ट्रों के पास बड़े राष्ट्रों का अनुसरण करने के अलावा दूसरा विकल्प नहीं था। उन परिस्थितियों में राष्ट्रसंघ द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था और शान्ति स्थापित करने में असमर्थ रहना सर्वथा स्वाभाविक था। मार्गेन्थो के अनुसार सम्प्रभु राष्ट्र नैतिकता और नीतियों को राष्ट्रसंघ के नैतिक और राजनीतिक लक्ष्यों के ऊपर कायम रख सकते थे।

(8) सन् 1930 की महान् आर्थिक मन्दी ने राष्ट्रसंघ को अप्रत्यक्ष क्षति पहुंचायी। इसके फलस्वरूप लगभग सभी देशों में आर्थिक राष्ट्रवाद की शक्तियां प्रबल हो गयीं। इसने जर्मनी के नाजीवाद और जापान के सैनिकवाद को विकसित किया। शस्त्रों की होड़ लग गयी। सामूहिक सुरक्षा आहत हो गयी, अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की नींव ढह गयी और आक्रमणों की संख्या बढ़ने लगी। आर्थिक संकट के फलस्वरूप रूस के प्रति पाश्चात्य शक्तियों की सख्या में वृद्धि होने लगी। साम्यवादी विचार विकसित हुए और पश्चिमी मित्र रूस के प्रत्येक विरोधी को अपना मित्र मानने लगे। फलस्वरूप तुष्टीकरण की नीति को बल मिला और हस्तक्षेप की नीति ने आक्रमण को सहारा दिया।

(9) राष्ट्रसंघ की स्थापना इस विश्वास पर की गई थी कि इसके सभी सदस्य शान्ति, स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्रवाद के प्रेमी हो गये, लेकिन 1922 में इटली और 1930 के बाद जर्मनी, स्पेन, पुर्तगाल तथा अनेक यूरोपीय देशों में अधिनायकवादी सरकारें सत्तारूढ़ हो गयीं। हिटलर और मुसोलिनी जैसे शासक "लहू और लोहे" की नीति में विश्वास करते थे, अतः उन्होंने राष्ट्रसंघ को पंगु बना दिया।

(10) उग्र-राष्ट्रीयता के विचारों ने राष्ट्रसंघ की विफलता के प्रारम्भ से ही बीज बो दिये। प्रत्येक राज्य अपने को सम्प्रभु समझते हुए अपनी इच्छानुसार कार्य करने में स्वयं को स्वतन्त्र मानता था। इस प्रकार राष्ट्रसंघ "संप्रभु राज्यों का संगठन था, जिसमें कोई भी सदस्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और व्यवस्था के लिए अपनी प्रभुता

पर किसी भी प्रकार का अंकुश लगाने को तैयार नहीं था।" राज्यों का यह दृष्टिकोण संघ के अन्तर्राष्ट्रीय कार्यों के प्रति घातक था।

उपर्युक्त कारणों से राष्ट्रसंघ युद्धों के निवारण और शान्ति की स्थापना में सफल नहीं हो सका। शस्त्रों के अम्बार जुट गये और 1939 में दूसरे महायुद्ध का विस्फोट हो गया। तथापि यह असफलता वास्तव में राष्ट्रसंघ की असफलता न होकर सदस्य राज्यों की असफलता थी।[1] सदस्य राज्यों ने उन आदर्शों और सिद्धान्तों पर कार्य नहीं किया जो प्रसंविदा में निहित थे। कोई भी संस्था सदस्य राज्यों के सहयोग पर निर्भर करती है और जब सदस्यों द्वारा ही संस्था ठुकरा दी जाने लगी तो संस्था के जीवन की आशा ही क्या की जा सकती है? पर असफलता के बावजूद इसमें कोई संदेह नहीं कि संघ ने अपने आप को ऐतिहासिक महत्व की एक महान संस्था प्रमाणित किया। उसने विश्व को सहयोग और सहअस्तित्व का प्रभावशाली पाठ पढ़ाया। उसने एक ऐसी प्रगतिशीलता प्रदान की जहां दोनों प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय विचारों और कार्यों की परीक्षा की जा सके। जेनेवा के एरियाना पार्क में समय-समय पर अन्तर्राष्ट्रीय बैठकों द्वारा राष्ट्रसंघ ने अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं और विवादों पर प्रकाश डाला। शांतिपूर्ण तरीकों से उन्हें सुलझाने का प्रयत्न किया, विशेषज्ञों की सलाह से अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों और आर्थिक तथा सामाजिक समस्याओं को हल किया, अनेक भयानक रोगों के कारणों की जाँच करवा के आरोग्य का साधन निकाला और बौद्धिक विकास के लिए मूल्यवान सिफारिशें कीं। हमारी सभ्यता को राष्ट्रसंघ की सबसे बड़ी देन यह मिली कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून को समुचित ढंग से नियम-बद्ध किया गया। राष्ट्रसंघ के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने कानूनी विवादों को बड़ी कुशलता से सुलझाया। संघ ने अनेक रूपों के पुरातन कूटनीतिक तरीकों को बदला। राष्ट्रसंघ की विफलता भी मानव-जाति के लिए बड़ी लाभदायक सिद्ध हुई। उसने जो बहुमूल्य अनुभव प्राप्त किया और विश्व ने संयुक्त राष्ट्र संघ के रूप में उस अनुभव का पूरा लाभ उठाया।

गैर-राजनीतिक कार्यों में संघ ने आशातीत सफलता प्राप्त की और विश्व में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग तथा प्रचार में उसे अपूर्व सफलता मिली। पोटर (P. B. Potter) ने सत्य ही लिखा है कि—"भूतकाल के अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों ने जो कुछ किया यदि उसे माना जाय तो संघ का कार्य, यहां तक कि सुरक्षा के क्षेत्र में भी उच्च स्तर का था। वास्तव में बहुत थोड़े उन्नत विशेषता वाले और सीमित प्रतिनिधि को छोड़कर यह अन्य सभी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था से ऊँचा था।"[2]

---

1. *Pitman B. Potter* : opt. cit., p. 253-54.
2. Ibid, p. 252.

5

राष्ट्रसंघ एवं संयुक्त राष्ट्रसंघ—निरन्तरताएं तथा अनिरन्तरताएं

(THE LEAGUE AND THE U. N.—CONTINUITIES AND DISCONTINUITIES)

राष्ट्रसंघ का हम विस्तार से विवेचन कर चुके हैं और संयुक्त राष्ट्रसंघ का विशद विवेचन अग्रिम अध्याय मे किया गया है। यहाँ इस प्रसंग मे यह देखना रोचक होगा कि संयुक्त राष्ट्रसंघ को अपनी पूर्ववर्ती अन्तर्राष्ट्रीय संस्था से विरासत मे क्या मिला और वह किस रूप मे आज राष्ट्रसंघ का अगला कदम सिद्ध हो रहा है अथवा दूसरे शब्दों मे राष्ट्रसंघ और संयुक्त राष्ट्रसंघ में क्या समानताएं (निरंतरताएं) और भिन्नताएं (अनिरंतरताएं) हैं।

समानताएं अथवा निरंतरताएं
(Continuities)

पामर एवं परकिन्स के अनुसार राष्ट्रसंघ से बहुत सी बातें संयुक्त राष्ट्रसंघ को एक प्रकार से विरासत में मिली हैं अर्थात् *वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की प्रकृति* बहुत कुछ अपने पूर्वगामी संगठन से मिलती-जुलती है। गहन विश्लेषण से दोनों ही संस्थाओं में कतिपय क्षेत्रों मे जो समानताएं परिलक्षित होती हैं वे कुछ इस प्रकार हैं—

(1) राष्ट्रसंघ के समान ही संयुक्त राष्ट्रसंघ का जन्म अन्तर्राष्ट्रीय जगत मे अंधड और तूफानों के मध्य हुआ तथा उत्तराधिकार मे अपने पूर्वगामी संगठन की भाँति ही उसे भी युद्धध्वंस विश्व की जटिल राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक समस्याएं प्राप्त हुई जिनकी काली छाया से वह अभी भी पूर्ण मुक्त नही हो सका है।

(2) राष्ट्रसंघ के समान ही संयुक्त राष्ट्रसंघ मे भी अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के क्षेत्र मे शक्ति-प्रयोग के अधिकार की कुछ परिसीमाओं को छोड़कर सभी राष्ट्र अपनी इच्छानुसार कुछ भी कार्य करने में वैधानिक दृष्टि से स्वतन्त्र हैं। वर्तमान

विश्व-संस्था की स्थापना भी, पूर्वगामी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की भाँति ही, प्रभुसम्पन्न राष्ट्रों में सीमित अधिकार सपन्न संगठन के रूप में हुई है। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने भी, लीग की तरह ही, राज्यों में सम्प्रभुता का आदर करना स्वीकार किया है और सिद्धान्त रूप में प्रत्येक देश के मत को बराबर का महत्व प्रदान करते हुए मान्यता दी है।

(3) मूल रूप से दोनों ही संस्थाओं की स्थापना के समय विजेता राष्ट्रों ने पराजित राष्ट्रों को छोड़ दिया था। जब राष्ट्रसंघ की स्थापना हुई तो उसकी सदस्य संख्या विजेता राष्ट्रों तक ही सीमित रही थी और संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना के समय 51 राष्ट्र थे।

(4) संरचनात्मक दृष्टि से भी संयुक्त राष्ट्रसंघ के संविधान और प्रविधियों में लीग से आश्चर्यजनक समानता दिखायी दी है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रधान तथा सहायक अंगों का निर्माण करते समय राष्ट्रसंघ के संगठन से बहुत कुछ प्रेरणा मिली है। यह कहा जा सकता है कि उसने राष्ट्रसंघ में थोड़ा सुधार करने के बाद उसे अपना लिया है। संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा, सुरक्षा परिषद्, और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय तथा सचिवालय राष्ट्रसंघ की सभा, परिषद्, स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय तथा सचिवालय के प्रतिरूप हैं। जहाँ तक गैर-राजनीतिक कार्यों का सम्बन्ध है, राष्ट्रसंघ की भाँति संयुक्त राष्ट्रसंघ के विभिन्न सहायक अंग भी अन्तर्राष्ट्रीय जगत को गरीबी, बीमारी, भुखमरी, अशिक्षा, अज्ञान आदि से मुक्ति दिलाकर सामाजिक, सांस्कृतिक तथा वैज्ञानिक विकास करना चाहते हैं।

(5) राष्ट्रसंघ के समान ही संयुक्त राष्ट्रसंघ की परिषद् में अध्यक्ष पद को क्रमानुसार रखने की व्यवस्था की गयी है और व्यवहार तथा दायित्व, निर्णय और सिफारिश में अन्तर रखा गया है। राष्ट्रसंघ के समान ही वर्तमान विश्व-संस्था में भी समस्त विवादों के निर्णयों का सर्वोत्तम उपाय परस्पर वार्तालाप और समझौता माना गया है। दूसरे शब्दों में संयुक्त राष्ट्रसंघ भी अपने पूर्वज की भाँति परस्पर विचार-विमर्श तथा वार्तालाप के बाद ही किसी निर्णय पर आता है।

(6) राष्ट्रसंघ के समान ही संयुक्त राष्ट्रसंघ की प्रकृति भी कुछ इस प्रकार की है कि अपने सदस्यों के सक्रिय सहयोग के बिना सफलतापूर्वक अपने लक्ष्यों को प्राप्त नहीं कर सकता। सदस्यों के सहयोग के अभाव में राष्ट्रसंघ समाप्त हो गया और यदि संयुक्त राष्ट्रसंघ को इस भविष्य से दूर रखना है तो इसके छोटे और बड़े, निर्बल और सबल सभी सदस्यों को इसे सहयोग देना होगा।

(7) संयुक्त राष्ट्रसंघ की न्यास-व्यवस्था राष्ट्रसंघ की संरक्षण-व्यवस्था (Mandate System) का विकसित और श्रेष्ठतर रूप है तथा संरक्षण अथवा मेण्डेट व्यवस्था के समान है। यह "श्वेत जातियों के भार" (White men's burden) के साम्राज्यवाद सिद्धान्तों एवं आत्मनिर्णय और स्वशासन के साम्राज्यवाद विरोधी सिद्धान्तों के मध्य एक समझौता है, तथापि यह अवश्य है कि इसका साम्राज्य

विरोधी पक्ष मैण्डेट व्यवस्था की अपेक्षा अधिक प्रबल है। 19वीं शताब्दी के उपनिवेशवाद की तुलना में राष्ट्रसंघ की मैण्डेट व्यवस्था एक श्रेष्ठ कदम थी, क्योंकि इसके अन्तर्गत राजनीतिक एवं आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए प्रदेशों पर अन्तर्राष्ट्रीय देख-भाल एवं नियन्त्रण की बात सिद्धान्ततः स्वीकार कर ली गयी थी। द्वितीय महायुद्ध के बाद संयुक्त राष्ट्रसंघ में पुन. इसी सिद्धान्त के आधार पर न्यास-व्यवस्था की आधार-शिला स्थापित की गयी और ऐसा करते समय राजनीतिज्ञों ने पुरानी मैण्डेट-व्यवस्था की त्रुटियों को विशेष रूप से ध्यान में रखा।

(8) यद्यपि नवीन संस्था-सिद्धान्त रूप में, सम्प्रभु-राज्यों का एक संघ है, तथापि राष्ट्रसंघ की यह परम्परा कायम रही कि ऐसी अनेक इकाइयों को भी, 'जो संप्रभु राज्य' के तकनीकी स्तर पर खरी नहीं उतरती थी, संयुक्त राष्ट्रसंघ का प्रारम्भिक सदस्य स्वीकार किया गया।

(9) राष्ट्रसंघ में प्रारम्भ से अन्त तक रिक्त स्थानों की समस्या (The problem of empty chairs) बनी रही थी और वर्तमान संयुक्त राष्ट्रसंघ तथा इसके विशिष्ट अभिकरण भी न्यूनाधिक रूप में इस समस्या से प्रभावित हैं। सर्वाधिक महत्वपूर्ण और निर्णयकारी अन्तर्राष्ट्रीय उद्देश्यों की पूर्ति की दृष्टि से संयुक्त राष्ट्रसंघ में लाल चीन की अनुपस्थिति बहुत कुछ उसी प्रकार खटकने वाली है जिस प्रकार संयुक्त राज्य अमेरिका की अनुपस्थिति राष्ट्रसंघ में खटकती रही। विश्व के और भी कुछ महत्वपूर्ण राष्ट्र, इस या उस महाशक्ति की अड़गेबाजी के कारण, अभी तक विश्व-संस्था के सदस्य नहीं बन सके हैं।

(10) वर्तमान संयुक्त राष्ट्रसंघ, राष्ट्रसंघ के समान शक्तियों के गुटों से प्रभावित रहा है। राष्ट्रसंघ फ्रांस और जर्मनी के पारस्परिक द्वेष के कारण असफल हुआ तो संयुक्त राष्ट्रसंघ की असफलता का टीका अमेरिका और दूसरी ऐसी महाशक्तियों के माथे लगा। इस कथन में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि दोनों अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं में मित्र राष्ट्रों का बहुमत रहा है। नाजी-वाद एवं फासी-वाद के विरुद्ध मित्र-शक्तियां राष्ट्रसंघ के समय एकत्र थीं और संयुक्त राष्ट्रसंघ में ये शक्तियां साम्यवाद के विरुद्ध एकत्रित हैं।

इन्हीं सब कारणों से अनेक विद्वान संयुक्त राष्ट्रसंघ को राष्ट्रसंघ का संशोधित और परिवर्धित संस्करण मानते हैं, तथा प्रो. शूमेन ने तो यहां तक लिख दिया है कि "संयुक्त राष्ट्रसंघ एक नये परिवेश में राष्ट्रसंघ ही है।"

भिन्नताएं (अनिरन्तरताएं)
(Discontinuities)

संयुक्त राष्ट्रसंघ के निर्माताओं ने राष्ट्रसंघ की दुर्बलताओं और कमियों के परिणामों तथा अनुभवों से लाभ उठाकर नवीन अन्तर्राष्ट्रीय संस्था को उनकी पुनरावृत्ति से बचाने का प्रयास किया, अतः यह स्वाभाविक था कि संयुक्त राष्ट्रसंघ

अनेक क्षेत्रो और व्यवस्थाओ मे अपने पूर्ववर्ती सगठन से भिन्न है। क्लाइड ईगिल्टन के अनुसार, "यद्यपि दोनो सस्थाओ के बनावट और ढाचे मे एकरूपता है फिर भी उन उद्देश्यो मे मौलिक भेद है जिनको जोड़ कर यह कहा जा सकता है कि सयुक्त राष्ट्रसघ विचार और प्रकृति मे राष्ट्रसघ से बिल्कुल भिन्न है।" दोनो सस्थाओ मे जो अन्तर हैं उन्हे इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

(1) राष्ट्रसघ बहुत कुछ विजेता राष्ट्रो की सस्था के रूप मे विख्यात रहा क्योकि उसका मुख्य कार्य युद्धोत्तर शान्ति-सन्धियो को क्रियान्वित करना था और उसका प्रसविदा भी वर्साय-सन्धि का एक अग था। सयुक्त राष्ट्रसघ ने कोई भी आरोप विरासत मे ग्रहण नही किया है। उसका सम्बन्ध पराजित राष्ट्रो पर थोपी गयी किसी सन्धि से नही है। उसका सम्बन्ध विजयी शक्तियो के शोषण और दमन को बनाये रखना न होकर उसे यथासभव कम अथवा समाप्त कर देना है। सयुक्त राष्ट्रसघ का नाम भी अपने आप मे अधिक प्रभावशाली और अर्थपूर्ण है जिसमे राष्ट्रो के उत्तरोत्तर अधिक घनिष्ठ सम्पर्क मे आने की सभावना अभिव्यक्त होती है।

(2) राष्ट्रसघ के प्रसविदा की प्रस्तावना मे केवल अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा का उल्लेख था। प्रसविदा के प्रारम्भिक शब्द थे—"महान् संविदाकार राष्ट्रसघ के प्रसविदा को स्वीकार करते हुए" सयुक्त राष्ट्रसघ के चार्टर की प्रस्तावना में शान्ति और सुरक्षा के अतिरिक्त वही, आर्थिक एवं सास्कृतिक बातों का भी उल्लेख है तथा प्रस्तावना के ये शब्द "हम सयुक्त राष्ट्रो के लोग" अधिक महत्वपूर्ण हैं। इन शब्दो से आभास होता है कि वर्तमान विश्व-सस्था का/ निर्माण किसी राष्ट्र विशेष ने नही किया है। यह अधिक प्रजातान्त्रिक और प्रगतिशील भावना का द्योतक है।

(3) राष्ट्रसघ की अपेक्षा सयुक्त राष्ट्रसघ का सगठन अधिक व्यापक है। राष्ट्रसघ के प्रमुख अग केवल सभा, परिषद् और सचिवालय थे जबकि वर्तमान सस्था के प्रमुख अग महासभा, सुरक्षा परिषद्, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय, आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् तथा सचिवालय हैं। इनमे आर्थिक एव सामाजिक परिषद् पूर्णतः नवीन है जिसकी स्थापना इस तथ्य को ध्यान मे रखकर की गयी है कि आर्थिक एव सामाजिक न्याय के बिना विश्व-शान्ति की स्थापना नहीं हो सकती। राष्ट्रसघ का कार्य प्रधान रूप से राजनीतिक क्षेत्र तक सीमित था। जबकि सयुक्त राष्ट्रसघ के आर्थिक, सामाजिक, सास्कृतिक एव मानवीय कार्य तथा ऐसे ही अन्य विषय भी अपेक्षाकृत बहुत अधिक महत्वपूर्ण हैं। नवीन सगठन मे मानव-व्यक्तित्व के विकास और व्यक्तियो के मानव-अधिकारों के संरक्षण के महत्व को समझा गया है। इसके विभिन्न सगठन, जैसे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष, विश्व स्वास्थ्य संगठन, यूनेस्को आदि मानव जाति की आर्थिक, सामाजिक और सास्कृतिक एकता की वृद्धि के लिए

प्रयत्नशील है। यूनेस्को के संविधान की भूमिका में लिखा गया है, "चूंकि युद्ध पहले मनुष्यों के मन में उत्पन्न होता है अतः शान्ति की आधारशिलाएं मनुष्यों के मन में स्थापित की जानी चाहिए।" संस्था के कार्य-क्षेत्र के प्रतिबन्धात्मक होने के साथ-साथ यह रचनात्मक भी बनी है। ऐसे संगठन का राष्ट्रसंघ में सर्वथा अभाव था।

(4) संयुक्त राष्ट्रसंघ की सभा और परिषद् के कार्य की अपेक्षा अधिक स्पष्ट विभाजन है। राष्ट्रसंघ में इन दोनों के कार्यों के बारे में अनिश्चय और सन्देह विद्यमान थे अतः संघ की स्थिति अन्त तक बड़ी दुर्बल रही। पर वर्तमान संघ के चार्टर में इस प्रकार की दुर्बलता के प्रति सावधानी बरती गयी है। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने का कार्य सुरक्षा परिषद् का विषय है। सुरक्षा परिषद् का कार्य क्षेत्र राष्ट्रसंघ की परिषद् की अपेक्षा मर्यादित होते हुए भी सुस्पष्ट है। राष्ट्रसंघ की परिषद् सभी प्रकार के विषयों पर विचार कर सकती थी जबकि वर्तमान सुरक्षा परिषद् का उत्तरदायित्व केवल अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति व सुरक्षा की स्थापना है। इसके बावजूद वर्तमान सुरक्षा परिषद् अधिक शक्तिशाली है क्योंकि उसके निर्णयों का पालन सदस्यों के लिए बाध्य है। 1950 में पारित, "शान्ति के लिए एकता का प्रस्ताव" (Unity for Peace Resolution) द्वारा महासभा को शान्ति-रक्षा का कार्य मिल गया है, लेकिन वह इसे तभी करती है जब सुरक्षा परिषद् किसी महत्वपूर्ण विषय पर कार्यवाही करने में निषेधाधिकार के कारण विफल हो जाय और इस प्रकार विश्व-शान्ति भंग होने की आशंका पैदा हो जाय। तथापि इस स्थिति में भी महासभा सम्बन्धित प्रश्न पर विचार, विवाद और सिफारिश ही कर सकती है क्योंकि कार्यवाही करने का अधिकार केवल सुरक्षा परिषद् को ही है। सुरक्षा परिषद् के पास वास्तविक शक्ति है तथा उसके संगठन एवं व्यवहार में अनेक नियमों ने उसे महत्वपूर्ण संस्था बना दिया है। सदस्य राज्यों द्वारा प्राप्त सहायता से वह सशस्त्र सेना का उपयोग कर सकती है।

(5) दोनों विश्व-संस्थाओं में एक अन्तर इनके अंगों के अधिवेशनों और उनके मतदान पद्धति में है। राष्ट्रसंघ की परिषद् और सभा के अधिवेशन अति अल्पकालीन होते थे। परिषद् वर्ष भर में तीन या चार बार समवेत होती थी और उसके अधिवेशन भी वर्ष में केवल दो बार होते थे। इसके विपरीत वर्तमान संगठन के सुरक्षा परिषद् की बैठक 14 दिन में एक बार अवश्य होती है। यह संघ की निरन्तर बने रहने वाली कार्यकारिणी है। इसके सदस्य राष्ट्रों के एक-एक प्रतिनिधि संघ के कार्यालय में सदैव पहुंचते रहते हैं। इस प्रकार यह हमेशा क्रियाशील रहती है। संकट-काल में सुरक्षा परिषद् की आवश्यक बैठकें अविलम्ब बुलायी जा सकती हैं। राष्ट्रसंघ में कोई ऐसी व्यवस्था नहीं थी, ऐसा कोई प्रावधान नहीं था कि परिषद् के सदस्य राष्ट्रों के प्रतिनिधि प्रधान कार्यालय में सदैव पहुंचते रहें। इसके अतिरिक्त राष्ट्रसंघ की सभा की तुलना में वर्तमान महासभा के अधिवेशन महीनों चलते रहते हैं। आवश्यकता

पड़ने पर विशेष अधिवेशन भी आमन्त्रित किये जा सकते हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्य अंगों के अधिवेशन भी वर्ष में दो या तीन बार होते हैं, जो लगभग 5 या 6 सप्ताह तक चलते हैं। इतना ही नहीं, आयोग की बैठकें भी लगभग सप्ताह पर्यन्त चलती हैं।

राष्ट्रसंघ की सभा और परिषद् के निर्णय सर्वसम्मति से किये जाते थे जबकि वर्तमान विश्व संस्था में महासभा के निर्णय दो तिहाई बहुमत से हो जाते हैं। सुरक्षा परिषद् के प्रक्रिया सबंधी निर्णय 11 में 7 सदस्यों की स्वीकृति से हो जाते हैं और महत्वपूर्ण निर्णयों के लिए 7 सदस्यों की स्वीकृति हर सूरत में होनी चाहिए। मतदान पद्धति के इस अन्तर से संयुक्त राष्ट्रसंघ अपने पूर्ववर्ती संगठन की अपेक्षा एक *अधिक प्रगतिशील और व्यावहारिक संगठन बन जाता है जिसके निर्णय शीघ्रता से* हो सकते हैं।

(6) राष्ट्रसंघ की तुलना में संयुक्त राष्ट्रसंघ एक अधिक समर्थ और प्रभावशाली संस्था है तथा विश्व-शान्ति की स्थापना में तुलनात्मक रूप से अधिक महत्वपूर्ण है। निम्नलिखित तथ्य इसे स्पष्ट करते हैं—

(क) राष्ट्रसंघ में आक्रमण होने पर ही उसे रोकने के लिए कार्यवाही कर सकता था जबकि संयुक्त राष्ट्रसंघ वास्तविक युद्ध छिड़ने पर ही नहीं वरन् शान्ति भंग होने की आशंका और आक्रमण होने के भय से प्रभावित होने पर भी अपनी कार्यवाही प्रारंभ कर सकता है।

(ख) राष्ट्रसंघ में *शान्ति भंग करने वालों के विरुद्ध* मुख्य रूप से आर्थिक प्रतिबन्धों की ही व्यवस्था थी। इस पर भी जो आर्थिक प्रतिबन्ध लगाये जाते थे वे *नाममात्र के ही थे। जापान के विरुद्ध कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाये गये थे और इटली* के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध कतई नाकामयाब सिद्ध हुए थे। यद्यपि संयुक्त राष्ट्रसंघ भी अपनी कार्यवाही यथासंभव आर्थिक प्रतिबन्ध तक ही सीमित रखता है लेकिन उनके अनुपयुक्त दिखने पर जल, थल तथा वायुसेना द्वारा कार्यवाही कर सकता है। सुरक्षा परिषद् सदस्य राष्ट्रों से सैनिक सहायता की अपील कर सकती है तथा उसकी सैनिक योजनाओं को सुचारु रूप से कार्यान्वित करने के लिए एक सैनिक स्टाफ समिति (Military Staff Committee) भी है। कोरिया और कांगो में संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा जो प्रभावशाली सैनिक कार्यवाही की गयी, उसका उदाहरण राष्ट्रसंघ के सम्पूर्ण इतिहास में देखने को नहीं मिलता।

(ग) *राष्ट्रसंघ के पास संकट में प्रयुक्त की जाने वाली अपनी कोई सेना नहीं* थी, अतः आक्रान्ता को रोकने की उसकी व्यवस्था संयुक्त राष्ट्रसंघ की तुलना में बहुत ही अप्रभावी थी। आक्रमण के समय यह सदस्य-राज्यों की इच्छा पर निर्भर था कि वे सहायता करें या न करें। परन्तु संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य इस बात के लिए वचनबद्ध हैं कि समय आने पर वे सुरक्षा परिषद् की प्रार्थना पर सैनिक सहायता देंगे और अविलम्ब सहायता के लिए हवाई सेना भी तैयार रखेंगे। राष्ट्रसंघ में यह सदस्य-राष्ट्रों का कार्य था कि वे निर्णय करें कि किसी सदस्य ने संघ के संविधान के

दायित्वों का उल्लंघन किया है या नहीं तथा उसके विरुद्ध सैनिक कार्यवाही की जाए अथवा नहीं। इसके विपरीत संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में शान्ति भंग की दशा को निश्चित करना और सैनिक कार्यवाही का निर्णय करना सदस्यों पर नहीं अपितु सुरक्षा परिषद् पर छोड़ दिया गया है और उसके निर्णयों का पालन सदस्यों की इच्छा पर नहीं बरन् आवश्यक है। "शान्ति के लिए एकता" के प्रस्ताव में महासभा को भी सुरक्षा परिषद् के निषेधाधिकार के कारण गतिरोध होने पर शान्ति स्थापित करने के लिए सैनिक कार्यवाही करने का अधिकार प्रदान किया है। इस प्रकार की व्यवस्था राष्ट्रसंघ के संविदा में नहीं थी।

(5) राष्ट्रसंघ स्वयमेव युद्ध और शान्ति संबंधी कोई कार्यवाही कर सकता था। उसके द्वारा किसी स्थिति पर विचार तभी सम्भव था जब उस ओर उसका ध्यान किसी सदस्य राष्ट्र द्वारा आकर्षित किया जाता। संयुक्त राष्ट्रसंघ इस दोष से मुक्त है। सुरक्षा-परिषद् विश्व-शान्ति को खतरा पहुंचाने वाली इस स्थिति पर स्वयं ही कार्यवाही करने की अधिकारी है। महासचिव का कर्तव्य है कि वह सुरक्षा परिषद् का ध्यान उन तत्वों की ओर आकर्षित करें जो उसे शान्ति के लिए घातक प्रतीत हों।

(6) राष्ट्रसंघीय व्यवस्था में प्रत्येक राज्य आक्रान्ता के विरुद्ध व्यक्तिगत रूप से कार्य कर पाता था। अनुशासित (Sanctions) के प्रयोग से पूर्व प्रत्येक राज्य को स्वयं इस बात का निश्चय करना पड़ता था कि आक्रमण हुआ है अथवा नहीं और यदि आक्रमण हुआ है तो आक्रान्ता कौन है। प्रत्येक राज्य यह निश्चय करता था कि अनुशासित (Sanctions) के प्रयोग में हाथ बटाया जाय या नहीं। जब कोई सदस्य-राष्ट्र आक्रान्त की सहायता करता तो यह सहायता अमुक राष्ट्र को ही दी जाती थी, राष्ट्रसंघ को नहीं। लेकिन वर्तमान विश्व-संघ में सुरक्षा परिषद् ही इस बात का निर्णय करती है कि आक्रमण हुआ है अथवा नहीं और सदस्यों का यह कर्तव्य है कि वे हर सम्भव तरीकों से सुरक्षा परिषद् की सहायता करें।

(7) राष्ट्रसंघ में यूरोप के प्रतिनिधि अधिक थे जबकि संयुक्त राष्ट्रसंघ में सभी क्षेत्र के प्रतिनिधि हैं। वर्तमान संस्था केवल यूरोपीय देशों का अखाड़ा मात्र नहीं है। एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रों को प्रभावशाली प्रतिनिधित्व मिला हुआ है। राष्ट्रसंघ की तुलना में संयुक्त राष्ट्रसंघ पूरे विश्व का संगठन है। अपवाद स्वरूप चीन जैसे महान् राष्ट्र अभी संघ का सदस्य नहीं बन पाया है लेकिन इस दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का घटनाचक्र अब चीन के अनुकूल होता जा रहा है। राष्ट्रसंघ में तत्कालीन पांच महाशक्तियों में से अधिकांशतः दो ही स्थायी सदस्य के रूप में सम्मिलित रही थी जबकि संयुक्त राष्ट्रसंघ में द्वितीय महायुद्धोत्तर तीन महाशक्तियां सम्मिलित हैं।

(8) राष्ट्रसंघ की सदस्यता स्वैच्छिक थी और कोई भी राष्ट्र दो वर्ष का नोटिस देकर सदस्यता का परित्याग कर सकता था। जापान, इटली और जर्मनी

जैसे प्रमुख राष्ट्रों ने निजी स्वार्थों के अनुकूल अवसर पाकर राष्ट्रसंघ की सदस्यता त्याग दी थी। संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में किसी सदस्य–राष्ट्र को कम से कम सैद्धान्तिक रूप में तो, संघ से पृथक होने का अधिकार नहीं है।

(9) राष्ट्रसंघ के संविदा में युद्ध को अवैध घोषित नहीं किया गया था। संघ का सदस्य-राष्ट्र कुछ अवस्थाओं में संविदा की अवहेलना किये बिना ही युद्ध कर सकता था। इसके विपरीत संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में युद्ध बिल्कुल अवैध हैं। केवल अनुच्छेद 15 के अनुसार सदस्य व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूप से अपनी आत्मरक्षा के लिए युद्ध कर सकते हैं।

(10) दोनों संस्थाओं के "घरेलू कार्य-क्षेत्र" (Domestic Jurisdiction) के सम्बन्ध में भी मौलिक अन्तर पाया जाता है। संयुक्त राष्ट्रसंघ इस विषय में राष्ट्रसंघ की अपेक्षा अधिक व्यापक व्यवस्था करता है तथा सदस्यों को अधिक स्वतन्त्रता देता है। चार्टर के अनुच्छेद 27 में उल्लेख है कि, "संयुक्त राष्ट्रसंघ को किसी भी राज्य के उन मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है जो निश्चित रूप से राज्य के घरेलू क्षेत्र के भीतर आते हों।" यह अनुच्छेद इस बात [illegible] स्पष्ट नहीं करता है कि "घरेलू क्षेत्र" का निश्चय कौन करेगा। स्पष्ट ही अनुच्छेद द्वारा प्रत्येक सदस्य को घरेलू क्षेत्र का निर्णय करने की स्वतन्त्रता मिल जाती है और इससे संयुक्त राष्ट्रसंघ का कार्य क्षेत्र व प्रभाव संकुचित हो जाता है। राष्ट्रसंघ में इस विषय की व्याख्या अधिक अच्छी थी क्योंकि उसमें घरेलू क्षेत्र का निर्धारण सदस्यों पर नहीं छोड़ा गया था अपितु अन्तर्राष्ट्रीय कानून के आधार पर इसका निर्णय करने का भार परिषद् पर डाला गया था।

(11) संयुक्त राष्ट्रसंघ की अन्तर्राष्ट्रीय न्यास–प्रणाली (International Trusteeship System) राष्ट्रसंघ की मैण्डेट पद्धति की अपेक्षा अधिक सुनिश्चित है। न्यास प्रणाली में सीधी योजना करने की प्रणाली, समय-समय पर दौरा करने वाले शिष्ट-मण्डल तथा मौखिक सुनवाई आदि की व्यवस्था है और न्यास क्षेत्रों में जनता की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं शैक्षणिक प्रगति को सुनिश्चित करने पर पूरा ध्यान दिया गया है। राष्ट्रसंघ की संरक्षण व्यवस्था को तीन श्रेणियों 'अ', 'ब', 'स'—में वर्गीकृत किया गया था जो संरक्षित क्षेत्रों में राजनीतिक विकास के मापदण्ड के अनुसार था, लेकिन संयुक्त राष्ट्रसंघ की न्यास–व्यवस्था के अन्तर्गत न्यास क्षेत्रों और गैर स्वशासन प्राप्त क्षेत्रों को स्वतन्त्रता प्रदान करने की निर्दिष्ट तिथियां तक रख दी गयी थीं। उदाहरणार्थ, लीबिया के मामले में 1952 तथा इटली-सोमालीलैंड के मामले में 1960 का वर्ष निश्चित किया गया था। राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत ऐसा करना अकल्पनीय था।

राष्ट्रसंघ की संरक्षण-पद्धति में संरक्षित क्षेत्रों की समस्या संरक्षण आयोग (Mandate Commission) का विषय समझी जाती थी। चूंकि संरक्षण आयोग राष्ट्रसंघ का कोई महत्वपूर्ण अंग नहीं था अतः संरक्षित क्षेत्रों की समस्या को प्रायः

उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता था। लेकिन वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय संगठन में न्यास-परिषद् एक महत्वपूर्ण अंग है और न्यास क्षेत्रों की समस्याओं के बारे में लघु-राष्ट्रों का बहुमत है जो उपनिवेशवाद के कट्टर विरोधी हैं। राष्ट्रसंघीय संरक्षण पद्धति उपनिवेशवाद का दूसरा रूप थी। इसमें उन प्रदेशों की स्वतन्त्रता और प्रगति के लिए कोई व्यवस्था नहीं थी। दूसरी ओर यह स्पष्ट शब्दों में उल्लिखित है कि शासन करने वाले देशों का कर्त्तव्य है कि वे अपने प्रदेशों का इतना विकास करें कि वे स्वशासन के योग्य बन सकें।

(12) राष्ट्रसंघ के प्रसंविदा में निःशस्त्रीकरण और शस्त्रास्त्रों के नियंत्रण के सम्बन्ध में उल्लेख था, तथापि वह इस दिशा में कोई सफलता प्राप्त नहीं कर सका। संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में शस्त्रास्त्रों को कम करने के साथ ही यह भी कहा गया है कि विभिन्न राज्यों के शस्त्रास्त्रों के उत्पादन को नियमित किया जाय। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए महासभा को सिफारिशें प्रस्तुत करने का अधिकार है तथा सुरक्षा परिषद् को इस बारे में योजनायें पास करने का उत्तरदायित्व सौंपा गया है।

उपर्युक्त विवरण से निष्कर्ष यही निकलता है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ की तुलना में अनेक अंशों में राष्ट्रसंघ अधिक उत्कृष्ट और श्रेष्ठ है, तथापि यह भी स्वीकार करना होगा कि संयुक्त राष्ट्रसंघ एक निर्दोष संस्था नहीं है। इसमें अनेक त्रुटियां हैं जिनका परिमार्जन होने पर यह संस्था और भी अधिक शक्तिशाली तथा प्रभावशाली बन सकती है। अब भी यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून को यथेष्ट नैतिक और भौतिक समर्थन प्रदान करने में असमर्थ है। इसके पास ऐसी ठोस सैनिक-शक्ति का अभाव है जिसके बल पर यह सभी राष्ट्रों से अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पालन करवा सके।

6

संयुक्त राष्ट्रसंघ—जन्म एवं सदस्यता

(THE UNITED NATIONS—ORIGIN AND MEMBERSHIP)

"संयुक्त राष्ट्रसंघ का चार्टर जिस पर आपने भी हस्ताक्षर किये हैं, एक ऐसी शक्तिशाली नींव है जिस पर एक सुन्दर विश्व का निर्माण कर सकते हैं। इसके लिए इतिहास आपका सम्मान करेगा।"

—राष्ट्रपति ट्रूमैन

संयुक्त राष्ट्रसंघ का जन्म
(The Origin of the U.N.)

प्रथम महायुद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की स्थापना के लिए राष्ट्रसंघ अस्तित्व में आया जो विभिन्न दुर्बलताओं और महाशक्तियों के असहयोग के कारण अपने उद्देश्य में असफल हुआ। 1939 में द्वितीय महायुद्ध छिड़ गया जो अपार धन-जन के विनाश के बाद 1945 में समाप्त हुआ।

महायुद्ध का विस्फोट होते ही मित्र राष्ट्र एक नयी प्रभावशाली विश्व-संस्था स्थापित करने की योजना बनाने लगे। युद्धकाल में अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के ध्येयों को स्पष्ट करने के लिए अनेक कदम उठाये गये। 12 जून, 1941 की मित्र राष्ट्रों की घोषणा में इस ओर संकेत किया गया। ब्रिटेन, कनाडा, आस्ट्रेलिया, फ्रान्स आदि अनेक हस्ताक्षरकर्त्ता राष्ट्रों ने घोषित किया कि वे पृथक् शान्ति स्थापित नहीं करेंगे। यह कहा गया कि शान्ति स्थापित करने का एक मात्र मूल आधार विश्व के सभी स्वतन्त्र राष्ट्रों का ऐच्छिक सहयोग है ताकि युद्ध और आक्रमण के भय निरस्त हो जाय। इसके बाद ही अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की स्थापना के सम्बन्ध में राजनीतिज्ञों में मुलाकातों और सम्मेलनों का सिलसिला चला। 14 अगस्त, 1941 की अटलान्टिक घोषणा में चर्चिल और रूजवेल्ट द्वारा विश्व-शान्ति स्थापित करने के कुछ सिद्धान्तों की व्याख्या की गयी। उन्होंने अपने देशों की ओर से अपनी नीति और सिद्धान्तों की घोषणा की और कहा कि "हम साम्राज्य विस्तार या किसी नये प्रदेश पर अधिकार नहीं करना चाहते। हम चाहते हैं कि जनमत से ही प्रत्येक राष्ट्र का शासन चले। सब

राष्ट्रों में पारस्परिक आर्थिक सहयोग हो, युद्ध के बाद पराजित राज्य पुनः प्रतिष्ठित हों और उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हो, प्रत्येक राष्ट्र युद्ध सामग्री में कमी करे तथा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए प्रयत्न करें।" इस अटलान्टिक घोषणा (Atlantic Charter) को ही संयुक्त राष्ट्रसंघ का जन्मदाता माना जाता है। इस चार्टर पर बाद में सोवियत रूस ने भी अपने हस्ताक्षर कर दिये।

संयुक्त-राष्ट्रसंघ की स्थापना की दिशा में दूसरा पग जनवरी, 1942 को "संयुक्त राष्ट्रसंघ की घोषणा" (United Nations Declaration) द्वारा उठाया गया। अमेरिका, ब्रिटेन, रूस, चीन आदि देशों को मिलाकर 26 राष्ट्रों ने इस घोषणा पर हस्ताक्षर करते हुए अटलान्टिक घोषणा के सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया। मई-जून 1943 में 44 राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने एक खाद्य एवं कृषि सम्मेलन में लाखों विस्थापितों की भोजन समस्या पर विचार किया और इस प्रकार भावी खाद्य एवं कृषि संगठन की नींव डाली।

अक्टूबर, 1943 में मास्को में अमेरिका, ब्रिटेन, रूस और चीन के विदेश मन्त्रियों का सम्मेलन हुआ जिसमें उन्होंने अटलान्टिक चार्टर के सिद्धान्तों के आधार पर विश्व-शान्ति और सुरक्षा के लिए अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की स्थापना पर जोर दिया। मास्को-घोषणा महत्वपूर्ण थी क्योंकि "इसके वक्तव्य अटलान्टिक चार्टर की अपेक्षा अधिक स्पष्ट थे और इसके द्वारा रूस ने निश्चित रूप से यह प्रतिज्ञा की कि वह एक सुरक्षा-संगठन की स्थापना की दिशा में सक्रिय सहयोग देगा।" मास्को-घोषणा में भावी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का चित्रांकन करते हुए कहा गया कि उसमें शान्ति के इच्छुक सभी छोटे-बड़े राज्य सम्मिलित होंगे तथा सभी राज्यों के साथ समानता का व्यवहार किया जायगा।

नवम्बर, 1943 में तेहरान-सम्मेलन में चर्चिल, रूजवेल्ट, स्टालिन ने यह निर्णय किया कि छोटे-बड़े सभी राष्ट्रों को संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य बनने के लिए आमन्त्रित किया जाय। युद्धकाल के इस प्रथम शिखर सम्मेलन में प्रजातान्त्रिक राष्ट्रों के विश्व-परिवार की आशा प्रकट की गयी।

मित्र राष्ट्रों ने अपने प्रयत्नों से यह स्पष्ट कर दिया कि वे ईमानदारी के साथ एक विश्व-संगठन की स्थापना करना चाहते हैं। अतः इस संगठन के संविधान की रचना के लिए 21 अगस्त, 1944 से 7 अक्टूबर, 1944 तक वाशिंगटन के एक भवन डम्बरटन ओक्स में अमेरिका, ब्रिटेन, रूस और चीन के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन हुआ जिसमें संयुक्त राष्ट्रसंघ के मुख्य अंगों—महासभा, सुरक्षा परिषद्, सचिवालय और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सम्बन्ध में विचार किया गया। सम्मेलन में संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर का प्रथम प्रारूप तैयार किया गया। संघ के सचिवालय द्वारा किये जाने वाले कार्यों को अधिक क्षमतापूर्वक सम्पन्न करने के लिए एक आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् बनाने एवं शांति स्थापित करने वाली अन्तर्राष्ट्रीय सशस्त्र सेनाओं की व्यवस्था के लिए सैनिक स्टाफ समिति के निर्माण के सुझाव दिये

गये। सम्मेलन में पहली बार विश्व-संस्था के सामने पश्चिमी राष्ट्रों और रूस में कुछ मतभेद प्रकट हुए। सोवियत रूस का मत था कि संस्था में पूंजीवादी देशों का बहुमत रहेगा अतः उस पर निषेधाधिकार दिया जाना चाहिए। इसके विपरीत संयुक्त राज्य अमेरिका निषेधाधिकार को सीमित करना चाहता था। सम्मेलन में संस्था की स्थापना के लिए जो सुझाव रखे गये, वे 9 अक्टूबर, 1944 में प्रकाशित किये गये। इन डम्बर्टन-ओक्स सुझावों (Dumbarton Oaks Proposals) में 12 अध्याय थे, तथापि इनकी कोई प्रस्तावना नहीं थी। पहले अध्याय में संगठन का ध्येय, दूसरे में सिद्धान्त और तीसरे में सदस्यता की चर्चा थी। चौथे अध्याय में संगठन के मुख्य अंगों, पांचवें में महासभा, छठे में सुरक्षा परिषद् के संगठन और कार्यों तथा 7वें में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का वर्णन था। 8वें अध्याय के पहले भाग में झगड़ों को शान्तिपूर्ण ढंग से सुलझाने के बारे में, दूसरे भाग में आक्रमण का सामना करने के बारे में और तीसरे भाग में क्षेत्रीय संगठनों के बारे में उल्लेख था। 9वें अध्याय में अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक और सामाजिक परिषद् के संगठन और शक्तियों का वर्णन था। 10वां अध्याय सुरक्षा परिषद् से सम्बन्धित था और 11वें अध्याय में संशोधन की विधि वर्णित थी। 12वां अध्याय संक्रमण-कालीन व्यवस्था से सम्बन्धित था। सम्मेलन में सुरक्षा परिषद् के मतदान के बारे में कोई निश्चय नहीं किया जा सका. अतः इस विषय पर विचार-विमर्श को आगे के लिये टाल दिया गया।

डम्बर्टन ओक्स के मतभेदों को फरवरी, 1945 में याल्टा-सम्मेलन (Yalta Conference) में दूर करने का प्रयास किया गया। सुरक्षा परिषद् में मतदान की पद्धति क्या हो, इस बारे में एक महत्वपूर्ण निर्णय लिया गया जिसे "याल्टा वोटिंग फार्मूला" कहा जाता है। यह निश्चय किया गया कि सुरक्षा परिषद् प्रक्रिया सम्बन्धी (Procedural) मामलों में 11 सदस्यों में से 7 के बहुमत से तथा अन्य आवश्यक विषयों (Substantive matters) में 7 स्वीकारात्मक मतों (Affirmative Votes) से काम करें। इसमें सुरक्षा परिषद् के पांचों स्थायी सदस्यों—संयुक्त राज्य अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन, सोवियत संघ, फ्रांस और चीन की सहमति तथा एकमतता (Unanimity) होनी चाहिये।

संयुक्त राष्ट्रसंघ चार्टर को अन्तिम रूप से निश्चित करने के लिए सान-फ्रांसिस्को (अमेरिका) में विश्व के 46 राज्यों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इ. पी. चेज ने इस सम्मेलन को सबसे महान् अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन कहा है—जैसा न तो कभी हुआ था और न ही भविष्य में होने की सम्भावना थी। यह सम्मेलन अप्रेल से जून, 1945 तक चला। 25 जून को संयुक्त राष्ट्रसंघ का चार्टर सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया गया और 26 जून को 50 देशों के प्रतिनिधियों ने इस पर हस्ताक्षर कर दिये। पोलैण्ड के प्रतिनिधि कारणवश उपस्थित नहीं हो सके, अतः उनके हस्ताक्षरों के लिए स्थान छोड़ दिया गया। इस प्रकार संयुक्त राष्ट्रसंघ के कुल 51 प्रारम्भिक सदस्य थे। 24 अक्टूबर, 1945 को संयुक्त राष्ट्रसंघ का चार्टर लागू हुआ। अतः यह दिन विश्व

मे "संयुक्त राष्ट्र दिवस" (U. N. Day) माना जाता है। 10 फरवरी, 1 को लन्दन के वेस्ट मिन्स्टर हाल मे संघ की प्रथम बैठक हुई। इसमे अनेक पदाधिकारी चुने गये। 15 फरवरी, 1946 को संघ का प्रथम अधिवेशन समाप्त हुआ। संघ का प्रधान कार्यालय पहले लेक-सक्सेस (अमेरिका) मे रखा गया और तत्पश्चात् न्यूयार्क मे बने विशाल भवन मे स्थानान्तरित कर दिया गया।

राष्ट्रसंघ द्वारा संयुक्त राष्ट्रसंघ को हस्तान्तरण

जब संयुक्त राष्ट्रसंघ का जन्म हुआ तो राष्ट्रसंघ (League of Nations) औपचारिक रूप से विद्यमान था। स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के भवन और पुस्तकालय जेनेवा तथा हेग मे विद्यमान थे, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन जेनेवा और मौन्ट्रियल मे कार्यरत थे तथा संघ के सामाजिक एवं आर्थिक कार्यक्रम वाशिंगटन, लन्दन, जेनेवा एवं प्रिन्सटन मे चल रहे थे। अतः यह समस्या पैदा हुई कि राष्ट्रसंघ को किस प्रकार भंग किया जाय तथा उसके भवनो और पुस्तकालयो की सम्पत्ति का क्या किया जाय। समस्या के समाधान हेतु संयुक्त राष्ट्रसंघ और राष्ट्रसंघ मे पत्र-व्यवहार हुआ। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने अधिकांश सामाजिक एवं आर्थिक कार्यक्रमो को स्वयम् सम्भाल लिया और साथ ही राष्ट्रसंघ के भवनो और अन्य सम्पत्ति को अपने अधिकार मे ले लिया। 8 अप्रेल, 1946 मे राष्ट्रसंघ की सभा ने अपने अन्तिम अधिवेशन मे एक प्रस्ताव पारित करके स्वयं अपनी अन्त्येष्टि की घोषणा कर दी।

संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता
(Membership of the U. N.)

संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर का द्वितीय अध्याय सदस्यता से संबंधित है। चार्टर मे दो प्रकार की सदस्यता का उल्लेख है। कुछ देश तो प्रारम्भिक सदस्य हैं और और कुछ देशो को बाद मे सदस्यता प्रदान की गयी है। प्रारंभिक सदस्य (Original Members) वे राज्य हैं, जिन्होने सॅन-फ्रांसिस्को सम्मेलन मे भाग लिया था अथवा 1 जनवरी 1942 को संयुक्त राष्ट्र घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर किये थे और चार्टर को स्वीकार किया था। प्रारंभिक सदस्यो की संख्या 51 थी। संघ की सदस्यता उन सब राज्यो के लिए खुली है जो शान्ति-प्रिय (Peace-loving) हो और चार्टर मे विश्वास रखते हो। अनुच्छेद 4 के अनुसार नये सदस्य बनाने के लिए अनिवार्य शर्तें ये हैं—

(1) वह शान्ति-प्रिय राज्य हो,

(2) चार्टर द्वारा प्रस्तावित कर्त्तव्यो को स्वीकार करता हो,

(3) संघ के निर्णय के अनुसार उन कर्तव्यो को पूरा करने मे समर्थ हो, एवं

(4) संघ के निर्णयानुसार उन कर्तव्यों को पूरा करने की इच्छा रखता हो।

उपर्युक्त सभी शर्तों को पूरा करने वाला राष्ट्रसंघ का सदस्य तभी बन सकता है जब महासभा के दो तिहाई बहुमत और सुरक्षा परिषद् की स्वीकृति प्राप्त हो। सुरक्षा परिषद् के वर्तमान 15 मे से 9 (पहले 11 मे से 7) सदस्यो का बहुमत तथा

स्थायी सदस्यों का निर्णायक मत उसके पक्ष में होना चाहिए। महासभा में निर्णय लेने से पूर्व सुरक्षा परिषद् की स्वीकृति आवश्यक है।

चार्टर के अनुच्छेद 5 एवं 6 सदस्यता-समाप्ति के बारे में हैं। अभी तक किसी भी सदस्य को संघ की सदस्यता से वञ्चित करने का कदम नहीं उठाया गया है।

जो राष्ट्रसंघ के सदस्य नहीं हैं, उन्हें भी संघ अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के मार्ग का बाधक नहीं बनने दे सकता। चार्टर के अनुसार शान्ति भंग करने वाले किसी भी राष्ट्र के विरुद्ध संघ कार्यवाही कर सकता है। गैर-सदस्य राज्यों को भी अपने अन्तर्राष्ट्रीय विवाद सुरक्षा परिषद् के सम्मुख पेश करने का अधिकार है। विशेष परिस्थिति में वे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सदस्य बन सकते हैं।

संयुक्त राष्ट्रसंघ सदस्यता की दृष्टि से राष्ट्रसंघ की तुलना में बहुत अधिक व्यापक और सार्वभौमिक संगठन है। वर्तमान में विश्व के 126 राष्ट्र संघ के सदस्य हैं। केवल पूर्वी जर्मनी, पश्चिमी जर्मनी, उत्तरी कोरिया, दक्षिणी कोरिया, लीसटस्टाइन, मोनाको, दक्षिणी रोडेशिया, सानमारिनो, स्विट्जरलैण्ड, वैटिकनसिटी, उत्तरी वियतनाम, दक्षिणी वियतनाम एवं पश्चिमी समोआ अभी तक विश्व-संस्था के सदस्य नहीं बन पाये हैं। हाल ही में 26 अक्टूबर 1971 को संयुक्त राष्ट्रसंघ महासभा राष्ट्रवादी चीन (ताइवान) को राष्ट्रसंघ से निष्कासित कर उसके स्थान पर जनवादी चीन (कम्युनिस्ट) को सदस्य बनाने का प्रस्ताव पास कर चुकी है और कम्युनिस्ट चीन संघ को सूचित कर चुका है कि वह शीघ्र ही महासभा में अपने प्रतिनिधि भेज देगा। संघ सदस्यता की दृष्टि से सार्वभौमिक है, तथापि 5 बड़े राष्ट्रों (The Five Big) ने सुरक्षा परिषद् में निषेधाधिकार का विशेष अधिकार ग्रहण कर रखा है ताकि वे परिस्थितियों अथवा वातावरण के प्रवाह का अपने पक्ष में नियमन कर सकें या स्थिति को अपने विरुद्ध में जाने से रोक सकें। वास्तव में संघ में नये सदस्यों के प्रवेश के प्रश्न पर अमेरिकन और सोवियत गुट की टकराहट होती रही है। संघ-मञ्च पर राजनीतिक पलड़ा अपने पक्ष में बनाये रखने की दृष्टि से अथवा राजनीतिक विजय प्राप्त करने अथवा राजनीतिक पराजय टालने की दृष्टि से रूस और अमेरिका जैसी महाशक्तियां संघ की सदस्यता के प्रश्न पर उलझती रही हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका ने 1946 में अपना प्रथम "Package Proposal" रखा था जिसे सोवियत संघ ने ठुकरा दिया और 1947 के बाद सोवियत संघ ने अनेक ऐसे प्रस्ताव रखे जिन्हें संयुक्त राज्य अमेरिका ने अस्वीकृत कर दिया। इनिस क्लाडे ने ठीक ही लिखा है कि संघ की सदस्यता के इच्छुक राष्ट्र दो समूहों में विभाजित रहे हैं—एक समूह सोवियत गुट के समर्थक राष्ट्रों का जिन्हें सुरक्षा परिषद् में 7 सदस्यों (अब 15 में से 9) का आवश्यक समर्थन नहीं मिला और दूसरा पश्चिमी गुट के राज्यों का जिनके प्रवेश के विरुद्ध सोवियत संघ ने निषेधाधिकार का प्रयोग किया।[1]

---

1. *Inis L. Claude* : opt. cit., p. 100.

संयुक्त राष्ट्रसंघ में सदस्यता की समस्या अब तक दो मुख्य तत्वों से प्रभावित रही है—

(क) राजनीतिकरण (Politicization), एवं
(ख) नैतिकीकरण (Moralization)।

सदस्यता की समस्या के सन्दर्भ में राजनीतिकरण (Politicization) का तत्व संयुक्त राष्ट्रसंघ की एक विशेषता बन चुका है। रूस और अमेरिका दोनों ही महाशक्तियाँ एक दूसरे के समर्थक राज्यों को तब तक संघ में स्थान देने में प्रायः सहमत नहीं हुईं जब तक उनके समर्थक राज्यों का बदले में संघ का सदस्य बनना निश्चित नहीं हो गया। इस प्रकार संघ की सदस्यता का प्रश्न महाशक्तियों की राजनीतिक प्रतिष्ठा (Political prestige) का प्रश्न रहा है और आज यद्यपि विश्व के बहुसंख्यक राष्ट्रसंघ के सदस्य बन चुके हैं तथापि कुछ इने-गिने राष्ट्रों का संघ में प्रवेश इसीलिए अटका हुआ है कि महाशक्तियों में परस्पर समझौता नहीं हो पाता है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर की व्यवस्थाएँ बहुत कुछ संयुक्त राज्य अमेरिका के पक्ष में जाती हैं। चार्टर में उल्लेख है कि वे ही राज्य संघ के सदस्य बन सकेंगे जो 'शांतिप्रिय' (Peace-loving) तथा सदस्यता के उत्तरदायित्व निभाने के 'योग्य और इच्छुक' (Able and willing) हों। चार्टर के प्रावधान से संयुक्त राज्य अमेरिका और उसके मित्र राष्ट्रों के हाथ मजबूत होते हैं क्योंकि वे रूस समर्थक अथवा अन्य किसी राष्ट्र को 'शान्ति-प्रिय' नहीं मानते हुए संघ की सदस्यता से वंचित रखने में बहुत कुछ सफल प्रयास कर सकते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका का उद्देश्य यही रहा है कि अमेरिकन नेतृत्व में विश्वास रखने वाले राज्यों को ही सदस्यता के लिए समर्थन देकर विश्व-संस्था में अपनी राजनीतिक प्रमुखता को बनाये रखा जाय। ऐसा संभव न होने पर अमेरिका सदस्यता के प्रत्याशी सभी राज्यों को संघ से बाहर रखने को इच्छुक रहा है। इसके विपरीत सोवियत रूस की नीति अधिकांशतः यह रही है कि अमेरिका समर्थक प्रत्याशियों को संघ में तभी प्रवेश मिले दिया जाय जब दूसरे (रूस के) गुट के समर्थकों को भी संघ में स्थान मिले। इस प्रकार जहाँ संयुक्त राज्य अमेरिका के लिए "One group or nothing" का लक्ष्य रहा है वहाँ सोवियत रूस का उभय "Both groups or nothing" की दृष्टि में रहा है। अमेरिका राजनीतिक विजय (Political victory) के लिए लड़ता है जब कि रूस का उद्देश्य राजनीतिक पराजय (Political defeat) को टालने का रहा है। संघ की सदस्यता का प्रश्न "आत्मविश्वासी बहुमत" और एक प्रतिरक्षात्मक अल्पमत की राजनीतिक चालों का अनोखा प्रदर्शन या खेल (A typical display of the political tactics of a self-confident majority and a defensive minority) रहा है,[1] और संघ में कतिपय राज्यों के प्रवेश के प्रश्न पर कूटनीतिक दाँव-पेंचों का यह तमाशा आज भी जारी है।

---

1. Ibid, p. 101.

संयुक्त राष्ट्रसंघ के छोटे सदस्यों की प्रवृत्ति भी सदस्यता सम्बन्धी समस्या को संगठन के स्वस्थ संवैधानिक विकास की दृष्टि से न देख कर अपने राजनीतिक लाभ के लिए एक शस्त्र के रूप में प्रयोग करने की रही है। लघु शक्तियों ने सदस्यता सम्बन्धी प्रश्न को एक ऐसे युद्ध-स्थल के रूप में लिया है जहां वे संघ में अपनी श्रेष्ठतर स्थिति के लिए संघर्ष कर सकें। उन्होंने पञ्च-महाशक्तियों के निषेधाधिकार को असमानता का प्रतीक मानते हुए इस बात पर आपत्ति की है कि सुरक्षा परिषद् को सदस्यता के प्रार्थना-पत्र पर विचार करने का अधिकार हो। अर्जेण्टाइना के नेतृत्व में यह आन्दोलन भी चला था कि सिर्फ महासभा अकेली ही सदस्यता के प्रार्थना-पत्रों पर निर्णय लेने में सक्षम है और इस सम्बन्ध में उसे सुरक्षा परिषद् की सिफारिश की परवाह नहीं करनी चाहिए। यद्यपि चार्टर की इस व्याख्या से 1950 में ही विश्व-न्यायालय ने असहमति प्रकट कर दी थी, तथापि कतिपय लघु-राष्ट्रों ने अभी तक अपने उपर्युक्त दावे को त्याग नहीं किया है। इस संघर्ष का मूल स्वर इस उद्देश्य में निहित है कि महासभा की स्थिति को सुरक्षा परिषद् से प्रत्येक स्तर पर ऊंचा बनाया जाय। और इस प्रकार विश्व-संगठन में महाशक्तियों के प्रभाव और विशिष्ट अधिकार को कम किया जाय।

संक्षेप में यह कहना चाहिए कि सदस्यता सम्बन्धी प्रश्न का राजनीतिकरण संयुक्त राष्ट्रसंघ में अमेरिकन और सोवियत टीमों तथा महाशक्तियों और लघु राज्यों के समूहों के बीच फुटबाल का मैच बन गया है।

सदस्यता-सम्बन्धी प्रश्न को प्रभावित करने वाला दूसरा तत्व नैतिकीकरण (Moralization) का है और यह भी संयुक्त राष्ट्रसंघ की एक विशेषता बन चुका है। नैतिकीकरण के तत्व के प्रभावशाली विकास की सम्भावनायें सान फ्रान्सिस्को सम्मेलन में ही स्पष्ट हो गयी थीं। इस तत्व का प्रभाव नये सदस्यों की "शान्ति-प्रियता" और संघ के दायित्वों को पूरा करने की उनकी "योग्यता एवं इच्छा" जैसे शब्दों में स्पष्ट है। जहां राष्ट्रसंघ ने अपने नैतिक तत्वों सम्बन्धी प्रावधानों का प्रभाव कुछ ही वर्षों में खो दिया था वहां संयुक्त राष्ट्रसंघ में अब तक नये सदस्यों के सन्दर्भ में नैतिक स्तरों (Moral Standards) को गंभीरतापूर्वक लिया गया है और सौभाग्यवश सोवियत तथा पाश्चात्य दोनों ही राजनीतिक खेमों ने नैतिकीकरण की इस प्रक्रिया के विकास में योग दिया है। प्रायः कहा जाता है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के नैतिकीकरण के विकास में संयुक्त राज्य अमेरिका का प्रारंभिक और निर्णायक योग रहा है, लेकिन संघ के राजनीतिक इतिहास का गम्भीर विश्लेषण इस दावे को अतिशयोक्ति ही सिद्ध करता है। नैतिकता के जामे की आड़ में सदस्यता के प्रश्न को महाशक्तियों ने सदैव अपने राजनीतिक हित तथा प्रभाव की दृष्टि से ही लिया है और तदनुकूल समयानुसार अपने रवैये में परिवर्तन किया है। सदस्यता सम्बन्धी प्रश्न के नैतिकीकरण का सर्वाधिक दुखद पहलू यह है कि अभी तक यह ऐसी किसी निश्चित धारणा के साथ सुसम्बद्ध नहीं हो पाया है कि अन्तर्राष्ट्रीय

सम्बन्धों के क्षेत्र में संयुक्त राष्ट्रसंघ को क्या करना चाहिए। यह नैतिकीकरण अभी तक केवल संकीर्ण और सीमित क्षेत्रीय राजनीतिक स्थितियों (Narrow and short-range political positions) के समर्थन में ही प्रयुक्त होता है।

लालचीन की सदस्यता का प्रश्न—यद्यपि 26 अक्टूबर 1971 को महासभा द्वारा लालचीन को संघ का सदस्य बनाने का प्रस्ताव स्वीकार हो चुका है, तथापि इस तारीख से पूर्व तक संघ में लाल चीन का प्रवेश बहुत ही विवादास्पद रहा था। चीन में साम्यवादी सरकार की स्थापना हो जाने के बाद अनेक देशों द्वारा साम्यवादी चीन को तुरन्त या कुछ बाद में मान्यता दे दी गयी लेकिन दूसरे कुछ राष्ट्र जिसमें संयुक्त राज्य अमेरिका मुख्य था, चीन की नयी सरकार को वैध मानने और उससे राजनीतिक सम्बन्ध बनाने के लिए राजी नहीं हुए थे।

साम्यवादी चीन को संघ का सदस्य बनाये जाने के लिए 1950 में ही सुरक्षा परिषद् में जो भी प्रतिवर्ष प्रस्ताव रखे गये, उनका पश्चिमी शक्तियों ने भरपूर विरोध किया। अमेरिकन नेतृत्व में इस विरोध के मूल में मुख्यतः यह भय निहित रहा कि लालचीन को राष्ट्रवादी चीन के स्थान पर यदि सुरक्षा परिषद् का स्थायी सदस्य बना दिया गया तो सोवियत रूस का पक्ष भारी हो जायगा और सुरक्षा परिषद् की बागडोर अमेरिका के हाथ से खिसक जायगी। महासभा में एशिया तथा अफ्रीका के नवोदित राष्ट्रों के प्रवेश के फलस्वरूप संयुक्त राज्य अमेरिका का महत्व प्रतिवर्ष घटता गया, अतः पूँजीवादी शक्तियों ने चीन के प्रवेश का मार्ग हर प्रकार से अवरुद्ध किया। अमेरिका और उसके समर्थक राष्ट्रों का मुख्य तर्क यही रहा कि साम्यवादी चीन चार्टर द्वारा सदस्यता के लिए प्रस्तुत कसौटी पर किसी प्रकार खरा नहीं उतरता है, क्योंकि 1950 से ही वह निरन्तर हिंसात्मक तथा आक्रमणात्मक कार्यों में संलग्न रहा है और कदम-कदम पर उसने संयुक्त राष्ट्रसंघ एवं उसके आदेशों की अवहेलना की है। यह कहा गया कि लालचीन ने फारमूसा पर बलात् अधिकार करने के लिए आक्रमणात्मक व्यवस्थायें की हैं तथा समस्या को शान्तिपूर्ण ढंग से सुलझाने से साफ इन्कार कर दिया है, दक्षिणी एशिया के नवोदित राष्ट्रों के निवासियों को हिंसात्मक उपायों द्वारा वैध सरकारों को उलट कर साम्यवादी शासन स्थापित करने के लिए उकसाया है, विभिन्न देशों में साम्यवादी छापामार दलों को सक्रिय रूप से सैनिक एवं आर्थिक सहायता प्रदान की है, तिब्बत की स्वतन्त्रता का अपहरण किया है और मित्र देशों की सीमा का अतिक्रमण करने में पहल की है। अमेरिकन गुट ने यहाँ मत प्रकट किया कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून और अन्तर्राष्ट्रीय सदाचार के नियमों की अवहेलना करने वाले और युद्ध की अनिवार्यता की खुले तौर पर घोषणा करने वाले देश को संयुक्त राष्ट्रसंघ में स्थान नहीं दिया जाना चाहिए।

दूसरी ओर कुछ राष्ट्रों का तर्क यह रहा कि यदि लालचीन को संयुक्त राष्ट्रसंघ में स्थान दे दिया गया तो उसकी उग्र हिंसात्मक नीति पर कुछ हद तक नियन्त्रण किया जा सकेगा। यह भी कहा गया है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ को विश्व का दर्पण होना चाहिए, अतः जब तक लालचीन को इसका सदस्य नहीं बनाया जाता,

विश्व के एक बड़े हिस्से का मत अनजान ही रह जायगा। लालचीन की सदस्यता के अभाव में संयुक्त राष्ट्रसंघ के निर्णय विशेष प्रभावी नहीं हो पायेंगे।

पर, जैसा कि कहा जा चुका है, आज की राजनीति में अवसरवादिता सर्वोपरि है और संयुक्त राष्ट्रसंघ में सदस्यता के प्रश्न को महाशक्तियां अपनी राजनीति को हित-अहित की दृष्टि से तोलती हैं। यही कारण है कि जहां विगत वर्षों में अमेरिका और उसके समर्थक राष्ट्र चीन को अशान्ति-प्रिय घोषित करते हुए उसको सदस्य बनाये जाने के प्रत्येक प्रस्ताव का विरोध करते रहे वहां कुछ अर्से से यह संभावना स्पष्ट हो गयी थी कि अमेरिका अब की बार चीन के संघ में प्रवेश का विरोध नहीं करेगा। जो राष्ट्र अमेरिका के लिए अभी तक "युद्ध-प्रिय" और संयुक्त राष्ट्रसंघ के उद्देश्यों को पलीता लगाने वाला था वही अब "संघ में प्रवेश करने योग्य" राष्ट्र बन जायगा। आखिर हुआ यही कि 1971 के उत्तरार्द्ध की "पिंगपोंग-कूटनीति" और अमेरिकन राष्ट्रपति निक्सन द्वारा चीन जैसे विशाल राष्ट्र को अमेरिका की व्यापारिक मण्डी बनाने की कूटनीति ने संयुक्त राष्ट्रसंघ में चीन की सदस्यता का मार्ग प्रशस्त कर दिया तथा 26 अक्टूबर, 1971 को महासभा के प्रस्ताव द्वारा संघ में उसकी सदस्यता सुनिश्चित हो गई। पर अमेरिका के लिये यह बड़ी भारी कूटनीतिक पराजय थी कि ताइवान (राष्ट्रवादी चीन) के निष्कासन की कीमत पर लालचीन का संघ में प्रवेश हुआ। लालचीन के सदस्यता सम्बन्धी विवाद से स्पष्ट है कि सदस्यता की समस्या राजनीतिकरण, नैतिकीकरण के तत्वों से कितनी प्रभावित और उलझी हुई है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ का स्वरूप एवं रूपविधान
(Nature and Structure of the U.N.)

संयुक्त राष्ट्रसंघ का स्वरूप राष्ट्रसंघ के स्वरूप से अधिक उच्च आदर्शभूमि पर आधारित है। इसके निर्माण में राष्ट्रसंघ सम्बन्धी अनुभवों का लाभ उठाया गया है और चार्टर की व्यवस्थायें उन कारणों तथा परिस्थितियों को ध्यान में रखकर की गयी हैं जिनसे द्वितीय महायुद्ध हुआ। ऐसे प्रावधानों की व्यवस्था की गयी है जिन पर ईमानदारी से अमल करने पर, फिर कभी महायुद्धों की पुनरावृत्ति नहीं हो सके। संघ की व्यवस्थाओं के मूल में यह विचार निहित है कि रंग-भेद और उपनिवेशवाद भावी संकटों को जन्म दे सकते हैं। अतः चार्टर में मौलिक मानव-अधिकारों पर बल दिया गया है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ किसी प्रकार का केन्द्रीय संगठन न होकर संघीय संगठन (Federal Organization) जैसा है। विभिन्न क्षेत्रों में काम करने के लिए स्वायत्त सत्ता प्राप्त विशिष्ट ऐजेन्सियों की व्यवस्था करके संघ ने सत्ता का विकेन्द्रीकरण किया है। ये ऐजेन्सियाँ प्रायः संघ के सहयोग और निर्देशन में कार्य करती हैं तथापि अपने-अपने कार्य-क्षेत्र में स्वतन्त्र हैं। इन ऐजेन्सियों के रूप में विषयवार कार्य-क्षेत्र का विभाजन हो जाने से संयुक्त राष्ट्रसंघ एक संस्था की अपेक्षा एक व्यवस्था का रूप लिये हुए है।

चार्टर की प्रस्तावना के आरम्भ में सदस्य राष्ट्रों के विश्वशान्ति और सुरक्षा सम्बन्धी संकल्पों को प्रकट किया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों तथा विश्व-शान्ति एवं सुरक्षा को प्रभावित करने की दृष्टि से संघ के उद्देश्य ये रखे गये हैं—

(1) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा की स्थापना करना, शान्ति पर होने वाले आक्रमणों को रोकना और उनके विरोध में प्रभावशाली सामूहिक कार्यवाही करना, शान्ति तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून भंग करने वाली चेष्टाओं को दबाना एवं अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को शान्तिपूर्ण ढंग से तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के अनुसार सुलझाना।

(2) जनता के आत्मनिर्णय तथा समान अधिकार के आधार पर राष्ट्रों के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का विकास करना और सार्वभौम शान्ति को बल प्रदान करने के लिए दूसरे आवश्यक कदम उठाना।

(3) संसार की आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं मानवीय समस्याओं को हल करने में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करना तथा मूल-वंश, लिंग, भाषा या वर्ग के भेदभाव के बिना मानव-मात्र के लिए मानवीय अधिकारों और मौलिक स्वतन्त्रताओं को प्रोत्साहन देना।

(4) उपर्युक्त उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए राष्ट्रों के प्रयासों में सामञ्जस्य स्थापित करना और इसके लिए एक केन्द्र का कार्य करना।

संघ ऐसे सिद्धान्तों पर आधारित है जो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सम्बन्धों को प्रभावित करने की भूमिका तैयार करते हैं। चार्टर की धारा 2 के अनुसार सदस्य राज्यों को इन सिद्धान्तों का निर्वाह करना होता है—

(1) सभी राज्य प्रभुता-सम्पन्न हैं और समान हैं।

(2) सभी सदस्य चार्टर के अनुसार अपने दायित्वों व कर्त्तव्यों का सद्भावना से पालन करेंगे।

(3) सभी सदस्य राष्ट्र अपने झगड़ों का निपटारा शान्तिपूर्ण ढंग से इस प्रकार करेंगे कि शान्ति, सुरक्षा व न्याय के भंग होने का भय नहीं रहे।

(4) सदस्य राष्ट्र अपने सम्बन्धों में आक्रमण की धमकी देना या दूसरे राष्ट्रों के प्रति बल प्रयोग करने से दूर रहेंगे।

(5) सदस्य राष्ट्र चार्टर के अनुसार की जाने वाली संघ की प्रत्येक कार्यवाही में सब प्रकार का सहयोग व सहायता देंगे और वे किसी ऐसे देश की मदद नहीं करेंगे जिसके विरुद्ध संघ शान्ति और सुरक्षा के लिए कोई कार्यवाही करेगा।

(6) शान्ति एवं सुरक्षा बनाये रखने के लिए संघ आवश्यक कार्यवाही करेगा। संघ यह भी देखेगा कि गैर-सदस्य राष्ट्र भी यथा सम्भव ऐसे कार्य नहीं करें जिनसे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति व सुरक्षा को खतरा पैदा हो जाय।

(7) विश्व-शान्ति और सुरक्षा के अतिरिक्त संघ किसी राष्ट्र के घरेलू मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगा।

स्पष्ट है कि संघ के उद्देश्यों और सिद्धान्तों की रचना इस प्रकार की गयी है कि वे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करने की भूमिका बनाते हैं और इस दृष्टि से संघ के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा बनाये रखना, विभिन्न राष्ट्रों में मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना तथा मानव-कल्याण के कार्य करना उसका कर्त्तव्य है। संघ के सिद्धान्तों पर सदस्य राष्ट्रों की निष्ठापूर्ण स्वीकृति ही संघ को इस दृष्टि से सक्षम बनाती है कि वह शान्ति एवं सुरक्षा के लिए अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में, अपनी सीमाओं में रहते हुए हस्तक्षेप कर सके।

जहाँ तक संयुक्त राष्ट्रसंघ के संगठन अथवा उसके विभिन्न अंगों का प्रश्न है, उनका विस्तार से विवेचन अगले अध्यायों में किया गया है। भूमिका-स्वरूप यहां इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि संघ के निम्नलिखित छः प्रधान अंग हैं—

1. महासभा (General Assembly)
2. सुरक्षा परिषद् (Security Council)
3. आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् (Economic and Social Council)
4. न्यास परिषद् (Trusteeship Council)
5. अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (International Court of Justice), एवं
6. सचिवालय (Secretariat)

इसके अतिरिक्त संयुक्त राष्ट्रसंघ सहायक अंगों की भी स्थापना कर सकता है। इसी अधिकार के अन्तर्गत अपने कर्त्तव्यों के समुचित निर्वाह के लिए संघ द्वारा अनेक विशिष्ट समितियों (Specialized Agencies) की स्थापना की गयी है, जैसे अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन (I.L.O.), यूनेस्को (UNESCO) आदि।

7

महासभा

(THE GENERAL ASSEMBLY)

"महासभा मानव-जाति की संसद का एक रूप है जिसमें राष्ट्र शान्तिपूर्ण परिवर्तन की भारी समस्या पर विचार करने के साधन ढूंढ रहे हैं, और वह भी कानून तथा संसदीय प्रक्रिया के ढांचे में।"

—क्लार्क प्राइक बर्गर

महासभा को जिसे सीनेटर वेन्डेन बर्ग ने "संसार की नागरिक सभा" की संज्ञा दी है, संयुक्त राष्ट्रसंघ की व्यवस्थापिका सभा कहा जा सकता है, यद्यपि इसके प्रस्तावों को बाध्यकारी सत्ता प्राप्त नहीं है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के सभी सदस्य महासभा के सदस्य होते हैं। प्रत्येक सदस्य राज्य को महासभा में 5 प्रतिनिधि तथा 5 वैकल्पिक प्रतिनिधि (Alternate delegates) भेजने का अधिकार है, किन्तु वह मत एक ही दे सकता है।

महासभा का एक अध्यक्ष और 7 उपाध्यक्ष होते हैं। ये प्रत्येक अधिवेशन के लिए अपना सभापति चुनते हैं। पहले अधिवेशन के सभापति श्री पाल हेनरी स्पाक थे। 8वें अधिवेशन के लिए भारतीय प्रतिनिधि श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित को सभापति निर्वाचित किया गया था। विश्व की वह पहली और अभी तक एकमात्र महिला हैं जिन्हें इस प्रकार का सम्मान प्राप्त हुआ है।

महासभा का अधिवेशन वर्ष में एक बार सितम्बर माह में आरम्भ होता है। वर्ष में एक अधिवेशन होना तो अनिवार्य ही है परन्तु विशेष अधिवेशन को महामंत्री सुरक्षा परिषद् की अथवा संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्यों के बहुमत की प्रार्थना पर बुला सकता है। महासभा के अब तक के इतिहास में अनेक बार इसके विशेष अधिवेशन हो चुके हैं। उदाहरणार्थ जून 1967 में अरब-इजराइल संघर्ष पर विचार करने के लिए इसका विशेष अधिवेशन हुआ था।

महासभा में मतदान पद्धति
(Voting-system in the General Assembly)

महासभा में "एक राज्य, एक वोट" के सिद्धान्त को मान्यता देकर छोटे-बड़े राष्ट्रों का भेद मिटा दिया गया है। महत्वपूर्ण प्रश्नों के निर्णय के लिए उपस्थित सदस्यों का दो-तिहाई बहुमत और साधारण प्रश्नों के निर्णय के लिए साधारण बहुमत पर्याप्त होता है। चार्टर के अनुच्छेद 18 के अनुसार महत्वपूर्ण प्रश्न ये माने गये हैं—(1) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की सुरक्षा सम्बन्धी सिफारिशें, (2) सुरक्षा परिषद् के अस्थायी सदस्यों का चुनाव, (3) आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् के सदस्यों का चुनाव, (4) संरक्षण परिषद् के सदस्यों का चुनाव, (5) संयुक्त राष्ट्रसंघ के नये सदस्य बनाना, (6) सदस्यों के अधिकारों और सुविधाओं का स्थगन, एवं (7) संरक्षण व्यवस्था को कार्यान्वित करने सम्बन्धी प्रश्न। बजट सम्बन्धी अनुच्छेद 19 के अनुसार उस सदस्य को जिसने संयुक्त राष्ट्रसंघ को पूरा चन्दा नहीं दिया था, मत देने का अधिकार नहीं होता। किन्तु महासभा किसी ऐसे सदस्य को मत देने की अनुमति प्रदान कर सकती है जिसकी तरफ से उसे यह सन्तोष हो गया हो कि चन्दे का भुगतान करना सदस्य राष्ट्र के नियन्त्रण से बाहर है।

यह भी व्यवस्था है कि यदि किसी विषय को महत्वपूर्ण प्रश्न में शामिल करना है तो साधारण बहुमत से ऐसा किया जा सकता है।

महासभा में संयोग एवं समूह
(Coalitions and Groups in the General Assembly)

महासभा एक संसदीय निकाय की भांति है क्योंकि वहां एक अपरिपक्व दलीय-व्यवस्था (*Embryonic party-system*) प्रभावी रहती है। जिस प्रकार कभी राजनीतिक दलों को वैयक्तिक स्वतन्त्रता के दमन का बदनाम साधन समझा जाता था उसी तरह संयुक्त राष्ट्रसंघ में राज्यों के विविध समूहों की गतिविधियों को कभी-कभी इस आधार पर कोसा जाता है कि वे कुछ स्वार्थपूर्ण वर्गीय हितों (Selfish sectional interest) के खातिर नैतिक सिद्धान्तों का बलिदान कर देते हैं।[1] फिर भी इस प्रकार का आरोप अथवा संयुक्त राष्ट्रसंघ में अपरिपक्व दलीय-व्यवस्था के सम्बन्ध में शिकायतें कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण हैं। आखिर, राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय सरकारी या गैर-सरकारी क्षेत्रों में यह राजनीतिक प्रक्रिया का एक भाग ही है कि कतिपय विवादग्रस्त प्रश्नों को उनके मूल्यों अथवा महत्व के आधार पर हल किया जाय। अतः यह स्वाभाविक है कि ऐसे प्रश्नों पर, किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन में आम-सहमति सरलता से प्राप्त नहीं हो पाती और राज्य अपने समान दृष्टिकोण वाले दूसरे राज्यों को साथ लेकर अपने मत के पक्ष में अन्य राज्यों को फोड़ने के लिए राजनीतिक हलचल करते हैं। न केवल अन्तर्राष्ट्रीय संगठन बल्कि राष्ट्रीय राज्यों की व्यवस्थापिकाओं में इस प्रकार की गतिविधियां आम बात है। संयुक्त

---

1. *Sydney D. Bailey :* The General Assembly of the United Nations, p 21

राष्ट्रसघ मे सदस्य राज्य निरन्तर एक दूसरे से मिलते रहते है क्योंकि वे उसी भवन मे साथ-साथ बैठते हैं, घूमते-फिरते हैं, अपने दायित्वो का निर्वाह करते हैं और खाते-पीते हैं। अतः उनमे पर्दे के पीछे और खुले रूप मे मित्रो के बीच विभिन्न समस्याओं और प्रश्नो पर निरन्तर सलाह-मशविरा होता रहता है। कभी पहले सुनिश्चित समय पर योजनानुसार सलाह-मशविरा किया जाता है तो कभी वैसे ही मिलते-जुलते परामर्श की यह प्रक्रिया जारी रहती है। यह आवश्यक नही है कि इस प्रकार का सलाह-मशविरा सदैव विश्व-राजनीति की ज्वलन्त समस्याओ से ही प्रत्यक्षतः सम्बन्धित हो। अधिकाशत सामान्य और आम बातो पर ही सलाह-मशविरा चलता रहता है। वास्तव मे यह एक सामान्य कूटनीतिक प्रयास होता है कि पारस्परिक विचार-विमर्श द्वारा एक दूसरे को समझने का प्रयत्न किया जाय, अपने पक्ष मे मित्रो और लोगो को प्रभावित किया जाय तथा सूचनाओ का आदान-प्रदान किया जाय।

महासभा मे राज्यो के समूह (Groups) सयोग अथवा सहमिलन या गठबन्धन (Coalitions) ब्लाक्स (Blocs) आदि निरन्तर सक्रिय रहते है। आलोचको के अनुसार इन सयोगो, समूहो और ब्लोकों की गतिविधियो के फलस्वरूप महासभा द्वारा किसी निष्पक्ष निर्णय पर पहुचने की सभावना घट जाती है। यह आरोप यद्यपि एक हद तक सही है, लेकिन हमें यह नही भूलना चाहिए कि महसभा कोई दार्शनिकों या वैज्ञानिको का निकाय नही है और न ही न्याय की खोज करने वाला कोई न्यायिक सस्थान ही है वरन् यह तो एक राजनीतिक निकाय (A political body) जो विभिन्न समस्याओ का संभावित हल खोजने का प्रयास करता है और यह देखता है कि ऐन-केन प्रकारेण समस्या के समाधान मे सदस्यों का बहुमत प्राप्त किया जाय।

महासभा और सयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्य अगो के विभिन्न चुनावो के सम्बन्ध मे राज्यो के समूह और सयोग या गुट बडी सरगर्मी दिखाते है। अधिकाश महासभायी चुनाव प्रतिनिध्यात्मक सिद्धान्त पर आधारित होते हैं। चूँकि सयुक्त राष्ट्रसघ के प्रत्यक अग मे महासभा के सभी सदस्यो का प्रवेश सभव नही हो सकता, अत. सीमित सदस्यता के निकाय या समूह इस तरह स्थापित कर दिये जाते हैं जो अपने-अपने सम्पूर्ण पक्षो का प्रतिनिधित्व करते हैं।

सयुक्त राष्ट्रसघ मे विभिन्न प्रकार के सहयोग, समूह और सगठन पनपते है। इनमे "The *ad-hoc* Coalition" होता है जो कम या अधिक समय के लिए समस्या विशेष पर विचार-विमर्श के लिए जन्म लेता है और जब वह समस्या समाप्त हो जाती है अथवा उसकी प्रकृति बदल जाती है तो यह तदर्थ समूह या सयोग (*Ad-hoc* Coalition) भी समाप्त हो जाता है। उदाहरण के लिए स्पेनिश भाषी प्रतिनिधि अनेक बार इस दृष्टि से परस्पर सयुक्त हुए है कि

संयुक्त राष्ट्रसंघ की कार्यवाही मे स्पेनिश भाषा के प्रयोग के दावे पर आवाज बुलन्द कर सकें। इसी प्रकार कोरिया युद्ध के समय उन 16 राज्यों ने कोरियाई प्रश्नो पर एक दूसरे को सहयोग किया जिन्होंने कोरिया मे संयुक्त राष्ट्रसंघीय सैन्य-कार्यवाही मे भाग लिया था। महासभा मे 1956–57 के 11वें अधिवेशन मे कनाडा, जापान तथा नार्वे विभिन्न निःशस्त्रीकरण के मामलों पर एक होकर चले थे और इस सहयोग (Coalition) को "नवीन उत्तरीय समूह" (The New Northern Bloc) कहा जाने लगा था।[1]

महासभा मे राज्यो के एक दूसरे प्रकार के सगठन या संयोग (Coalition) का उदय तब होता है जब कुछ राज्य नियमित या अनियमित रूप से "कॉकस" (Caucus) मे मिलते हैं ताकि वे सामान्य हित के मामलो पर आपस मे विचार-विमर्श कर सकें, बिना इस बात के लिए वचनबद्ध हुए कि वे एक होकर कार्य करेंगे। लेटिन अमेरिकन राज्य (Latin American States), अफ्रो-एशियन समूह (The Afro-Asian Group) जिसमें कि अरब और अफ्रीकन उप-समूह (Sub-groups) भी शामिल हैं तथा राष्ट्र-मण्डल समूह (The Common-wealth) इसी प्रकार के संघ या समूह (Associations) माने जाते हैं। इन समूहो के अपने कुछ सामान्य सगठनात्मक लक्षण हैं। ये महासभा के अधिवेशन के दौरान प्रायः कुछ सप्ताहो मे एक बार मिलते हैं तथा वर्ष के शेष भाग मे और भी कम समवेत होते हैं। इन समूहों की अध्यक्षता बारी-बारी से होती है। ये किसी भी सदस्य द्वारा उठाये गये किसी भी मामले पर विचार-विमर्श करते हैं तथा मतदान की कोई प्रक्रिया अपनाये बिना ही अधिकाधिक सहमति पर पहुचने का प्रयत्न करते हैं।

संयुक्त राष्ट्रसंघ अथवा महासभा के पूर्वी यूरोप के जो साम्यवादी राज्य हैं वे अपने को एक ग्रुप (Group) के बजाय 'ब्लाक' (Bloc) कहना अधिक पसन्द करते हैं। यद्यपि दोनों शब्दो मे कोई खास अन्तर प्रतीत नही होता तथापि 'ब्लाक' शब्द से कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि 'ब्लाक' रूप मे सगठित राज्य एक व्यवस्थित आधार पर आपसी विचार-विमर्श ही नही करते, बल्कि सदैव एकमत से कार्य भी करते हैं। थामस होवेट (Thomas Hovet) के अनुसार "राज्यो का वह समूह एक ब्लाक है जो कॉकस (Caucus) मे नियमित रूप से मिलता है और जिसके सदस्य कॉकस मे लिये गये निर्णयो के अनुरूप महासभा मे अपना मतदान करते हैं।" यदि इस परिभाषा को लिया जाय तो महासभा मे केवल एक ही सच्चा ब्लाक दिखाई देता है और वह है सोवियत ब्लाक।[2] हाल ही के वर्षों मे साम्यवादी चीन के प्रभाव में आकर अल्बानिया सोवियत ब्लाक से हट-सा गया है।

---

1. Ibid, p 24
2. Ibid, p 24.

महासभा के प्रस्तावों में राज्यों की निम्नलिखित चार श्रेणियों का उल्लेख होता रहता है अर्थात् महासभा में राज्यों की ये चार श्रेणियां प्रमुख हैं[1]—

(1) लेटिन अमेरिकन राज्य (Latin American States)

(2) अफ्रीकन एवं एशियाई राज्य (African and Asian States)

(3) पूर्वी यूरोपीय राज्य (Eastern European States)

(4) पश्चिमी यूरोपीय एवं दूसरे राज्य (Western European and other States)

राज्यों की इन श्रेणियों के अलग-अलग अथवा एक दूसरे से मिलकर समय-समय पर विभिन्न सदस्यों की दृष्टि से विभिन्न समूह (*Groups*) पनपते रहते हैं। लेटिन अमेरिकन राज्य अपने आकार, सामाजिक तथा राजनीतिक संगठन, आर्थिक विकास आदि की दृष्टि से भिन्न हैं अत इनमें परस्पर ईर्ष्या, द्वेष और विरोध चलता रहता है। फिर भी विचार और भाषा की दृष्टि से लेटिन अमेरिकन गण-राज्यों (ब्राजील तथा हेटी के सिवाय) की एक सामान्य परम्परा है और वे स्पेनिश भाषा का प्रयोग करते हैं। महासभा में राज्य अपने एक सुदृढ़ समूह के रूप में प्रकट हुए हैं। लेटिन अमेरिकन ग्रुप की बैठक महासभा में अधिवेशन के दौरान प्रायः सप्ताह में एक बार होती है तथा वर्ष के शेष भाग में प्रायः महीने में एक बार। क्यूबा ने 1962 से ही इस ग्रुप की गतिविधियों में भाग नहीं लिया है।

अफ्रो-एशियन ग्रुप (जिसमें अरब राज्य भी शामिल हैं) को 1955 में बांडुंग-सम्मेलन से बहुत अधिक प्रेरणा मिली। महासभा के आधे से अधिक सदस्य राज्य दो समूहों में हैं। राष्ट्रवादी चीन, इजराइल और दक्षिणी अफ्रीका इस ग्रुप के सदस्य नहीं हैं, यद्यपि ये राज्य अफ्रो-एशियन ग्रुप क्षेत्र में ही आते हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ में अफ्रो-एशियन ग्रुप का उदय 1950 में हुआ था तथापि शुरू से ही अरब सदस्य राज्यों के बीच मध्यपूर्व और उससे सम्बन्धित प्रश्नों पर निकट सपर्क तथा विचार-विमर्श जारी था। महासभा में जो भी अरब राज्य सदस्य हैं वे अरब राज्यों की लीग (The League of Arab States) से सम्बन्धित हैं। अरब-लीग का न्यूयार्क में कार्यालय है और वह अरब-ग्रुप-गतिविधियों में समन्वय स्थापित करता है। संयुक्त राष्ट्रसंघ में अरब राज्यों द्वारा किये जाने वाले कुछ निर्णय वास्तव में अरब-लीग की परिषद् में होते हैं। समय-समय पर इस परिषद् ने संयुक्त राष्ट्रसंघीय निकायों में अरब लोगों अथवा राज्यों के प्रतिनिधित्व को अपनी सहमति (Approval) प्रदान की है। अरब-ग्रुप प्रायः माह में एक बार बैठक करता है। यद्यपि महासभा में अधिवेशन के दौरान इसकी बैठकें अधिक होती हैं। बैठकों में मतदान की प्रक्रिया नहीं अपनायी जाती बरन् समस्या पर मतैक्य का हर संभव प्रयत्न किया जाता है। मध्य-पूर्व और उससे सम्बन्धित प्रश्नों पर महासभा में अरब-

1. Ibid, p. 25.

ग्रुप ने उस समय भी ऊंचे संगठन का परिचय दिया है जब उनमें परस्पर फूट तथा डाह रही हो। इस ग्रुप के नेतृत्व में मिस्र की भूमिका महत्वपूर्ण रही है।

अफ्रीकन-ग्रुप संयुक्त राष्ट्रसंघीय मुख्य कार्यालय में सप्ताह में लगभग एक बार मिलता है। कुछ अफ्रीकन राज्यों का अति उग्र उपनिवेशवादी रुख कभी-कभी अफ्रो-एशियन ग्रुप में तनाव पैदा कर देता है। अतः इस बात की संभावना है कि महासभा में एक पृथक् एशियाई उपसमूह (A Separate Asian sub-group) पैदा हो जाय।

अरब और अफ्रीकन ग्रुप में विशालतर अफ्रो-एशियन ग्रुप के उपसमूह हैं। इस ग्रुप में 10 सदस्य संयुक्त राष्ट्रसंघ के संस्थापक सदस्य थे लेकिन आज संयुक्त राष्ट्रसंघीय जो भी ' कॉकस" (Caucus) हैं उनमें यह ग्रुप सबसे बड़ा है। आज संयुक्त राष्ट्रसंघ में आधे से अधिक सदस्य इस ग्रुप के हैं—और ज्यों-ज्यों संघ में नये सदस्यों का प्रवेश होता जायगा, इस ग्रुप की सदस्य संख्या और शक्ति बढ़ती जायगी। पर यह एक प्रश्न चिन्ह है कि भविष्य में अफ्रो-एशियन गुट अपनी शक्ति और संगठन को कहां तक बनाये रख सकेगा। इस ग्रुप को आज कुछ उन्हीं समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है जो संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्वयं की हैं, अर्थात् इस ग्रुप के सदस्य राज्यों █ दृष्टिकोणों में भारी भिन्नता है, सदस्य राज्यों के हित परस्पर टकराते हैं, अपने भौगोलिक आकार, अपनी जनसंख्या व समृद्धि आदि की दृष्टि से उनमें अपने निजी महत्व की प्रबल आकांक्षा है और नये तथा अपेक्षाकृत अधिक उग्र एवं सैनिक प्रवृत्ति वाले सदस्य राज्यों की मनोवृत्ति ग्रुप की एकता में खतरा पैदा करने वाली है। साम्यवादी चीन के सम्भावित प्रवेश से यह भय उत्पन्न हो गया है कि माओ के प्रतिनिधि संयुक्त राष्ट्रसंघ में अपनी भयावह कुटिल कूटनीति खेलने से बाज नहीं आयेंगे। लालचीन का संयुक्त राष्ट्रसंघ में प्रवेश अफ्रो-एशियन ग्रुप को निःसंदेह टुकड़ों टुकड़ों में विभाजित करके रहेगा।

संयुक्त राष्ट्रसंघ में पूर्वी यूरोपीय क्षेत्र के सदस्यों के बारे में कुछ अस्पष्टता है। मिडनी बेली के अनुसार यूरोप में बायलो-रशियन तथा यूक्रेनियन सोवियत समाजवादी गणतन्त्रों सहित सोवियत संघ, वारसा पैक्ट तथा पारस्परिक आर्थिक सहायता परिषद् (Mutual Economic Assistance—COMECON) के वर्तमान एवं भूतपूर्व सदस्य, *यूगोस्लाविया सम्मिलित हैं संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य* राज्यों में पूर्वी यूरोप के प्रारम्भिक सदस्य 6 थे—सोवियत संघ, बायलो रशिया तथा यूक्रेनियन गणराज्य, चैकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड एवं यूगोस्लाविया। चैकोस्लोवाकिया 1948 में सोवियत खेमे का भाग बन गया लेकिन उसी वर्ष के बाद में यूगोस्लाविया कोमिनफार्म राज्यों (The Comminform States) से हट गया। आगे चलकर अलबानिया, बल्गेरिया हंगरी व रूमानिया आदि राज्य भी सोवियत संघ के साथ हो गये। क्यूबा और मंगोलिया भी कम्युनिस्ट ब्लाक का भाग बन गया। अल्बानिया,

वारसा-पैक्ट के साथ बंधा होने पर भी, पारस्परिक आर्थिक सहायता परिषद् (COMECON) से अक्टूबर, 61 में निकल गया।

कम्युनिस्ट ब्लाक के राज्य यद्यपि मार्क्सवादी विचारधारा में विश्वास करते हैं तथापि पिछली दशाब्दी में अनेक उदार प्रवृत्तियों का विकास हुआ है और इस बात पर बल दिया जाने लगा है कि समाजवाद का मार्ग चुनना प्रत्येक देश का अपना अधिकार है। रूसी-चीनी सिद्धान्त के संघर्ष ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर प्रभाव डाला है तथापि अभी तक अल्बानिया ही महासभा का एक सदस्य रहा है जिसने खुले रूप में पेकिंग के दृष्टिकोण का समर्थन किया है।

कम्युनिस्ट ब्लाक के राज्य परस्पर विचार-विमर्श के लिए किन प्रणालियों को अपनाते हैं, इस बारे में बहुत कम ज्ञात है। तथापि यह एक तथ्य है कि ये राज्य महत्वपूर्ण प्रश्नों पर प्रायः समान नीति अपनाते हैं। बड़े और गम्भीर प्रश्नों पर उनके मतदान में विविधता या अन्तर प्रायः देखने को नहीं मिलता। यदि कभी असमंजसपूर्ण स्थिति में कोई राज्य पृथक् मत दे देता है तो भी उसका यही प्रयत्न रहता है कि वे, कम्युनिस्ट ब्लाक की एकता का ध्यान रखते हुए, समय आने पर बाद में अपना मत परिवर्तन कर दें।

महासभा में राज्यों की चौथी श्रेणी पश्चिमी यूरोप तथा अन्य राज्यों की है। पर इन राज्यों का कोई संगठित ग्रुप नहीं है और न ही इनकी कोई संक्षिप्त भौगोलिक अभिव्यक्ति है। पश्चिमी यूरोप एक लचीली शब्दावली है जिसका उत्तर में आइसलैण्ड से लेकर फिनलैण्ड तक और दक्षिण में स्पेन से लेकर ग्रीस तक विस्तार है। सिडनी बेली के अनुसार यह अधिक उपयुक्त होगा कि इन राज्यों को पश्चिमी, उत्तरी और दक्षिणी यूरोप के राज्य कहा जाय, लेकिन संक्षिप्त अभिव्यक्ति के लिहाज से "पश्चिमी यूरोप" शब्दावली का प्रयोग कर दिया जाता है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के संस्थापक सदस्यों में पश्चिमी यूरोप के 9 राज्य थे जिनकी संख्या क्रमशः काफी बढ़ गयी। पश्चिमी यूरोपीय सदस्य राज्यों में राजनैतिक और आर्थिक सहयोग के लिए अनेक संघ या ग्रुप बनते रहते हैं लेकिन संयुक्त राष्ट्रसंघ के उद्देश्यों की दृष्टि से इस क्षेत्र के राज्यों को मूल रूप में दो उपविभागों में बाँटा जा सकता है—(क) स्पेन सहित नाटो के यूरोपीय सदस्य, एवं (ख) तटस्थ (ऑस्ट्रिया, साइप्रस, फिनलैण्ड, आयरलैण्ड तथा स्वीडन)। पश्चिमी यूनानी ग्रुप प्रायः वर्ष में चार या पाँच बार फ्रान्स तथा ब्रिटेन के संयुक्त सभापतित्व (Joint Chairmanship) में मिलता है। संयुक्त राज्य अमेरिका महासभा के प्रस्तावों में उल्लिखित किसी भी क्षेत्रीय श्रेणी में नहीं आता।

राष्ट्रमण्डल अथवा कॉमनवेल्थ के जो राज्य संयुक्त राष्ट्रसंघीय महासभा के सदस्य हैं, उनमें वैचारिक अथवा भौगोलिक एकता नहीं पायी जाती लेकिन राष्ट्रमण्डल का सदस्य होने के नाते वे एक दूसरे के प्रति सहानुभूति से व्यवहार करते हैं। राष्ट्रमण्डलीय राज्य अधिकांशतः ब्रिटिश राजनैतिक परम्पराओं से

प्रभावित रहे हैं और उनकी भाषा अंग्रेजी है, आस्ट्रेलिया कनाडा, सिलोन, भारत, पाकिस्तान, न्यूजीलैण्ड, ब्रिटेन आदि अनेक राज्य राष्ट्रमण्डलीय राज्यों (Common-wealth States) में गिने जाते हैं। राष्ट्रमण्डलीय ग्रुप, महासभा के अधिवेशन के दौरान प्रायः 15 दिन में एक बार बैठक करता है और वर्ष के शेष भाग में नियमित रूप से मिलता रहता है। 1963 तक राष्ट्रमण्डलीय ग्रुप (The Common-wealth group) का सभापतित्व वरिष्ठ ब्रिटिश प्रतिनिधि किया करता था लेकिन अब बारी-बारी से विभिन्न राज्यों के प्रतिनिधि सभापतित्व करते हैं। राष्ट्र-मण्डलीय ग्रुप का यह महत्वपूर्ण लक्षण है कि इसके सदस्य राज्य दूसरे समूहों और क्षेत्रों के भी सदस्य हैं।

संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता में वृद्धि के साथ ही महासभा के सदस्य राज्यों की विभिन्न श्रेणियों की सदस्य संख्या और सापेक्षिक शक्ति बढ़ती रही है। सिडनी डी. बेली ने महासभा के सदस्य राज्यों के क्षेत्रों और समूहों की सापेक्षिक शक्ति को 1945 तथा 1964 के वर्षों में निम्नानुसार प्रकट किया है—

Changes in relative strength of regions and groups in the Assembly, 1945 and 1964

	1945		1 January 1964	
	No of Members	Percentage of Seats	No. of Members	Percentage of Seats
Latin America	20	39	20	18
Asia and Africa (Including China and South Africa)	12	24	59	52
Eastern Europe	6	12	10	9
Western Europe	9	18	18	16
Common-wealth	6	12	18	18

1964 के बाद संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्य-संख्या में बहुत अधिक वृद्धि हुई है और बहुत कुछ उसी अनुपात में महासभा के सदस्यों के समूहों और क्षेत्रों (Groups and regions) की शक्ति भी बढ़ी है। सबसे अधिक शक्ति अफ्रो-एशियाई ग्रुप की बढ़ी है। इस ग्रुप के सदस्य महासभा के कुल सदस्य राज्यों, (जो वर्तमान में 126 हैं) के आधे से भी अधिक हैं।

महासभा की समितियाँ
(Committees of the General Assembly)

महासभा की समिति-संरचना, अनेक उल्लेखनीय परिवर्तनों के बावजूद लीग की समिति-संरचना से मिलती-जुलती है। अब महासभा का कार्य 7 मुख्य समितियों में विभाजित है जिनमें प्रत्येक सदस्य अपना एक प्रतिनिधि भेज सकता है। ये मुख्य समितियाँ इस प्रकार हैं—

(1) राजनीतिक और सुरक्षा समिति (Political and Security Committee)

(2) आर्थिक और वित्तीय समिति (Economic and Financial Committee)

(3) सामाजिक-मानवीय एवं सांस्कृतिक समिति (Social, Humanitarian and Cultural Committee)

(4) न्यास-समिति (Trusteeship Committee)

(5) प्रशासनात्मक एवं बजट समिति (Administrative and Budgetary Committee)

(6) वैधानिक समिति (Legal Committee)

(7) विशेष राजनीतिक समिति (Special Political Committee)

इसके अतिरिक्त दो अन्य प्रक्रियात्मक (Procedural) समितियाँ भी होती हैं—सामान्य समिति एवं प्रमाणपत्र समिति। सामान्य-समिति का कार्य महासभा और उसकी विभिन्न समितियों की कार्यवाहियों में समन्वय स्थापित करना होता है। प्रमाण-पत्र समिति (Credential Committee) प्रतिनिधियों के प्रमाणपत्रों की जाँच करती है। कामचलाऊ समितियों की नियुक्ति महासभा अथवा उसकी किसी भी अन्य समिति द्वारा विशेष उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए की जा सकती है। ऐसी समितियों के उदाहरण हैं—संयोग विज्ञान परामर्शदात्री समिति, अणुशक्ति के शान्तिपूर्ण प्रयोग सम्बन्धी परामर्शदात्री समिति, कोरिया के एकीकरण तथा पुनर्संस्थापन सम्बन्धी संयुक्त आयोग, फिलिस्तीन के लिए समझौता आयोग आदि। कामचलाऊ एवं उप-समितियों का व्यापक और समुचित प्रयोग वास्तव में मुख्य समितियों के कार्य-निर्देशन की क्षमता को बढ़ाने का सर्वोत्तम तरीका है।[1]

महासभा के कार्य
(Functions of the General Assembly)

महासभा के कार्यों की प्रकृति मुख्य रूप से निरीक्षणात्मक एवं अन्वेषणात्मक है। यह संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के कार्यक्षेत्र में आने वाले सभी प्रश्नों पर विचार कर सकती है। इनमें किसी भी प्रकार के कार्यों और अधिकारों से सम्बन्धित विषय भी

1. *Cheever and Haviland* : op. cit., p. 96.

सम्मिलित हैं। प्लानो एवं रिग्ज ने महासभा के कार्यों को 9 भागों में वर्गीकृत किया है[1]—(1) प्रबोधक (Horatory), (2) अर्धन्यायिक (Quasi-legislative) (3) अन्वेषणात्मक (Investigatory), (4) मध्यस्थता सम्बन्धी और समन्वयात्मक (Interpositional and Conciliatory), (5) शान्ति-रक्षण (Peace Preservative), (6) बजट सम्बन्धी (Budgetary), (7) निरीक्षणात्मक (Supervisory), (8) निर्वाचन सम्बन्धी (Elective), एवं (9) संवैधानिक (Constituent)।

महासभा सदस्य राज्यों, गैर सदस्य राज्यों, महाशक्तियों, सुरक्षा परिषद् और अन्य प्रमुख अंगों—यहाँ तक कि स्वयम् अपने लिए ही प्रबोधक कार्यों में (in exhortation) लिप्त रहती है। कभी-कभी "Manifestoes against sin" कहे जाने वाले प्रस्तावों के माध्यम से महासभा ऐसी भूमिका अदा करती है जिसे उसके समर्थक चार्टर के सिद्धान्तों और मानव-समाज की चेतना की सुरक्षा के रूप में स्वीकार करते हैं और विरोधी केवल सनक के रूप में ठुकरा देते हैं। इस प्रकार के प्रस्तावों द्वारा महासभा ने अनेक बार सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्यों को अपने निषेधाधिकार का प्रयोग संयम के साथ करने, महाशक्तियों को अपने युद्ध प्रचार को रोकने, सभी राज्यों को शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की अवधारणा स्वीकार करने, एवं अपरंसीन पक्षों को अपने विवादों का चार्टर के सिद्धान्तों के अनुकूल शान्तिपूर्ण ढंग से समाधान करने को प्रयुक्त किया है।[2]

महासभा के अर्धन्यायिक कार्य विभिन्न प्रस्तावों, घोषणाओं और परम्पराओं द्वारा सञ्चालित होते हैं। इन कार्यों का उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास और संहिताकरण करना तथा मानव-अधिकारों और आधारभूत स्वतन्त्रताओं की रक्षा करना है। अपनी इस भूमिका के निर्वाह में महासभा बहुत कुछ एक राष्ट्रीय व्यवस्थापिका की विधि-निर्मात्री गतिविधियों के अनुकूल आचरण करती है। महासभा द्वारा अनेक ऐसे प्रस्ताव (Conventions) पास किये जाते हैं (जैसे कि The Genocide Convention) जिनके द्वारा राष्ट्रीय, जातीय अथवा धार्मिक समूहों की सामूहिक हत्या को अवैध करार दिया जाता है और जो सदस्य राज्यों द्वारा अनुसमर्थित किये जाने के बाद अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में एक कानून की भांति प्रभावी हो जाता है। अनेक प्रस्ताव (Resolutions) सदस्य राज्यों द्वारा वैधानिक रूप में प्रयुक्त किये जाने होते हैं ताकि व्यक्तियों के आचरण अन्तर्राष्ट्रीय स्तर (International Standards) पर लागू हो सकें। उदाहरण के लिए 1948 की मानव-अधिकारों सार्वभौमिक घोषणा (The Universal Declaration of Human Rights) महासभा के प्रबोधक और अर्धन्यायिक कार्यों के सन्दर्भ में एक ऐसा प्रयास मानी जा सकती है जिसका उद्देश्य इन सिद्धान्तों को कानून के समान

1. *Plano and Riggs*: opt. cit., p. 85–88.
2. Ibid, p. 85.

प्रभावी बनाना है। अभी तक मानव-अधिकारों सम्बन्धी अनेक संविदा (Covenants) बनाये जा चुके हैं अथवा आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् के आयोगों द्वारा बनाये जा रहे हैं ताकि उन पर महासभा की स्वीकृति और सदस्य राज्यों का अनुसमर्थन प्राप्त किया जा सके। प्लानो एवं रिग्ज की मान्यता है कि यदि सदस्यों में परस्पर सहमति हो और कार्य करने की इच्छा हो तो महासभा में अपने सीमित अर्धन्यायिक क्षेत्र में विशेषतः एक विश्व संसद के रूप में कार्य कर सकती है।[1]

महासभा का, अन्तर्राष्ट्रीय कानून क्रमिक विकास और संहिताकरण के क्षेत्र में यह विशेषतः एक महत्वपूर्ण कार्य है कि वह इस बात का अध्ययन करती रहती है कि ऐसे कौन से कानून हो सकते हैं जिन्हें सभी राष्ट्रों द्वारा स्वीकृति प्राप्त हो जायगी। महासभा ऐसे कानूनों को क्रमबद्ध रूप से रखकर उन्हें सदस्य राष्ट्रों के समक्ष स्वीकृति के लिए सिफारिश के बतौर भेजती रहती है। अपने इस दायित्व का निर्वहन महासभा चार्टर की धारा 13 के अंतर्गत करती है। महासभा के अन्वेषणात्मक कार्य इसके अर्धन्यायिक और विवाद-समाधान कार्यों के पूरक हैं। अन्वेषणात्मक भूमिका का सर्वोत्तम उदाहरण महासभा का अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग (International Law Commission) है जो 1948 से ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास और संहिताकरण की दिशा में कार्यरत है। आयोग के सदस्य अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त और राष्ट्रीय कानूनों के अधिकारी विद्वान होते हैं। आयोग संहिता-बद्ध होने योग्य विषय के सम्बन्ध में अपनी सिफारिशें महासभा के सम्मुख प्रस्तुत करता है। ऐसा करते समय सम्बन्धित पूर्व उदाहरणों, सन्धियों, न्यायाधीशों के निर्णयों और स्थिति-मतभेदों तथा विवादों का उल्लेख किया जाता है। आयोग को यह भी काम सौंपा गया है कि वह औपचारिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून का प्रतिपादन करने वाली सामग्री को संकलित और प्रकाशित करे। विशेषतः विवादों के समाधान के क्षेत्र में अन्वेषण अथवा खोज-बीन (Investigation) का विशेष महत्व है क्योंकि इसके आधार पर विवादों को भली प्रकार समझा जा सकता है, वर्तमान तथ्यों को समझा जा सकता है और एक न्यायपूर्ण तथा उचित हल खोजा जा सकता है।

महासभा के मध्यस्थता और समन्वय के विशिष्ट कार्य विवादों के समाधान से सम्बन्धित हैं और उनका प्रयोग सुरक्षा परिषद् के कार्यों की भांति ही किया जाता है। महासभा का हस्तक्षेप उस समय आवश्यक हो जाता है जब सुरक्षा परिषद् किसी गम्भीर गतिरोध अथवा अन्य विवादों से परिपूर्ण कार्यक्रम (A deadlock or a full agenda) के कारण कार्य करने में असमर्थ रहती है।[2] महासभा की शान्ति-रक्षात्मक भूमिका विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। महासभा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए खतरा उपस्थित करने वाली प्रत्येक समस्या पर सुरक्षा परिषद् के अनुरोध पर,

1. Ibid, p. 86.
2. Ibid, p. 86.

अथवा किसी सदस्य राष्ट्र के अनुरोध पर, अथवा चार्टर की 35वीं धारा के अनुसार ऐसे किसी भी राष्ट्र के अनुरोध पर भी जो संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य नहीं है, विचार करने का अधिकार नहीं रखती। यह आवश्यक है कि ऐसी किसी भी शिकायत पर जिसके बारे में महासभा कुछ कार्यवाही करना आवश्यक समझती है, सुरक्षा परिषद् से बहस के पहले अथवा बाद में परामर्श अवश्य किया जाना चाहिए। गुडरिच तथा हैंबरो के अनुसार "महासभा एक सार्वजनिक सभा-स्थल ही नहीं है बल्कि इसे अपने आपको निश्चय लेने योग्य भी प्रमाणित कर दिया है। विश्व-शान्ति और सुरक्षा को स्थापित रखने में भी इसने महत्वपूर्ण योग दिया है।"[1] "स्वेज नहर के संकट के समय महासभा ने जो कार्य किया उससे यह सिद्ध हो सका कि यह संघ का एक प्रभावशाली अंग है। स्पेन, यूनान, हंगरी, फिलिस्तीन आदि की महत्वपूर्ण समस्या महासभा के समक्ष भेजी गयी जिनमें से कुछ को इसने बड़ी सफलतापूर्वक सुलझाया। संयुक्त राष्ट्रसंघीय आपात सेना (United Nations Emergency Force-UNEF) की स्थापना महासभा के प्रयत्नों के फलस्वरूप ही हुई है। महासभा ने विभिन्न विवादों में जो समन्वयात्मक भूमिका अदा की है, उसमें विविध तकनीकों का प्रयोग होता रहा है, जैसे मध्यस्थता, पूछताछ और मध्यस्थता के आयोगों की स्थापना, युद्ध विराम के आदेश, राष्ट्रों से सहयोग का आमन्त्रण, विश्व-विख्यात और निष्पक्ष व्यक्तियों की मध्यस्थों के रूप में नियुक्ति आदि।[2]

चार्टर की 11वीं धारा के अनुसार महासभा विश्व-शान्ति और सुरक्षा को स्थापित करने के सिद्धान्तों पर विचार कर सकती है। निःशस्त्रीकरण और शस्त्रों के नियन्त्रण पर विचार कर सकती है तथा इन सिद्धान्तों के बारे में संघ के सदस्यों तथा सुरक्षा परिषद् अथवा दोनों से सिफारिश कर सकती है। चार्टर के 12वें अनुच्छेद द्वारा महासभा की शक्तियों पर यह प्रतिबन्ध है कि यदि कोई परिस्थिति अथवा झगड़ा सुरक्षा परिषद् के विचाराधीन है तो महासभा उस झगड़े या परिस्थिति के सम्बन्ध में तब तक कोई सिफारिश नहीं करेगी जब तक कि उसमें ऐसा करने के लिए न कहे। अनुच्छेद 84 के अनुसार यदि किसी कारणवश कोई ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाय जिसमें महासभा की राय राष्ट्रों के साधारण हितों या राष्ट्रों के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों को ठेस पहुँचती है तो 12वें अनुच्छेद के उपबन्धों के अधीन रहते हुए, महासभा उस परिस्थिति को शान्तिपूर्वक सुलझाने के लिए सिफारिश कर सकती है।

महासभा के बजट सम्बन्धी कार्य एक राष्ट्रीय व्यवस्थापिका की परम्परागत धन सम्बन्धी शक्ति (Power of the purse) से मिलते-जुलते हैं। संघ की आर्थिक व्यवस्था का संचालन महासभा के ही हाथों में रहता है। महासभा को संघ तथा

1. *Goodrich and Hambro* : Charter of the United Nations, p. 83.
2. *Plano and Riggs* : opt cit., p. 86.

अनुच्छेद 57 में वर्णित विशेष ऐजेन्सियों के वार्षिक बजट पर विचार और निर्णय करने का अधिकार है। वही इस बात का निर्णय करती है कि किसी देश को संघ के व्यय का कितना भाग वहन करना चाहिए।

चार्टर के अनुच्छेद 13 के अनुसार राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक और स्वास्थ्य सम्बन्धी क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को प्रोत्साहन देने के लिए महासभा प्रारम्भिक अध्ययन द्वारा जांच-पड़ताल की व्यवस्था कर सकती है तथा इस विषय में अपनी सिफारिशें भी प्रस्तुत कर सकती है। साथ ही जाति, लिंग, भाषा, धर्म आदि का भेद-भाव किये बिना समाज को मानव-अधिकार और मौलिक स्वतन्त्रतायें दिलाने में सहायता देना इसका कर्त्तव्य है।

चार्टर के अनुच्छेद 57 में अन्तःसरकारी समझौते द्वारा विस्तृत अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्वों से सम्पन्न आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी क्षेत्रों में विशेष माध्यम खोले जाने का महासभा द्वारा आदेश दिया जा सकता है। आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् इनमें से किसी भी माध्यम के साथ समझौता करके उसे संयुक्त राष्ट्रसंघ से सम्बन्धित बना सकती है। ऐसे समझौतों के प्रति महासभा का अनुमोदन आवश्यक है। महासभा को अधिकार है कि वह माध्यम की नीति और गतिविधियों को परस्पर सहयोगपूर्ण बनाने के लिए आवश्यक सिफारिशें करे।

चार्टर के अनुच्छेद 85 के अनुसार न्यास-समझौते की शर्तों और उनमें अदल-बदल तथा संशोधन के अनुमोदन सहित, युद्ध के लिए सैनिक इलाकों के न्यास-समझौतों के जितने भी काम संयुक्त राष्ट्रसंघ के जिम्मे हों, उनको महासभा पूरा करती है। इस सम्बन्ध में यह भी व्यवस्था है कि महासभा के अधिकार में काम करते हुए न्यास-परिषद् उन कामों को पूरा करने में महासभा की सहायता करेगी।

अनुच्छेद 15 के अनुसार महासभा परिषद् से उन कदमों के सम्बन्ध में वार्षिक और विशेष रिपोर्टें माग सकती है जो सुरक्षा परिषद् ने अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा और शांति को स्थापित करने के लिए उठाये हों। महासभा संघ के दूसरे अंगों से भी उनकी अपनी रिपोर्ट मांग सकती है तथा उन पर विचार कर सकती है। सचिवालय का मुख्य कार्य महासभा की सेवा में लगे रहना है और महासभा द्वारा ही वह मुख्यतः नियन्त्रित होता है। सचिवालय के संगठन और कार्यों के सम्बन्ध में निर्णय, उसके बजट, उसके संयुक्त राष्ट्रसंघ से सम्बन्धित कार्यों आदि का नियमन, नियन्त्रण—सब कुछ महासभा द्वारा किया जाता है। सम्पूर्ण संयुक्त राष्ट्रसंघीय संगठन का निरीक्षणात्मक उत्तरदायित्व महासभा पर ही है।

महासभा दोहरे चुनाव सम्बन्धी कार्य (A twofold elective function) करती है। इस कार्य के प्रथम पहलू में संयुक्त राष्ट्रसंघ में नये सदस्यों का प्रवेश अथवा निर्वाचन सन्निहित है। दूसरा पहलू संघ के अन्य अंगों के निर्वाचक सदस्यों (Elective

members) के चयन से संबंधित है। महासभा उपस्थित सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्य द्वारा आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् के सदस्यों एवं न्यास परिषद् के निर्वाचक सदस्यों का चयन करती है। पृथक् मतदान द्वारा महासभा और सुरक्षा परिषद् बिल्कुल अलग-अलग न्यायालय के न्यायाधीशों का निर्वाचन करती है। महासभा सुरक्षा परिषद् के परामर्श पर संघ के महासचिव की नियुक्ति भी करती है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में संशोधन करने की सिफारिश भी महासभा द्वारा की जा सकती है। इस सम्बन्ध में यह आवश्यक है कि महासभा के दो-तिहाई सदस्यों द्वारा इसका समर्थन किया जाय। यह दो-तिहाई बहुमत प्राप्त होने पर ही संशोधन सुरक्षा परिषद् में विचारार्थ उपस्थित किया जा सकता है। चार्टर में संशोधन करने के लिए महासभा सुरक्षा परिषद् की अनुमति से ही सम्मेलन बुला सकती है। सुरक्षा परिषद् से भी, दो-तिहाई बहुमत से (जिसमें 5 बड़े राष्ट्रों का होना आवश्यक है) स्वीकृति होने पर ही चार्टर में संशोधन किया जा सकता है।

लघुसभा
(The Little Assembly)

महासभा की शक्तियों के प्रसंग में "लघुसभा" को ध्यान में रखना आवश्यक है। निषेधाधिकार के प्रयोग और महाशक्तियों की आपसी खींचातानी के फलस्वरूप जब इस बात की आशंका की जाने लगी कि सुरक्षा परिषद् आक्रमण को रोकने और शांति के शत्रुओं का सामना करने के लिए एकमत नहीं हो सकती तथा कोई कदम भी नहीं उठा सकती, तब 13 नवम्बर, 1947 को महासभा द्वारा एक "अन्तरिम समिति" (Interim Committee) नामक एक नया सहायक अंग स्थापित किया गया जिसे सामान्य रूप से "लघुसभा" कहा जाता है. इस अन्तरिम समिति अथवा लघुसभा पर यह उत्तरदायित्व डाला गया कि वह महासभा के अधिवेशन न होने के समय शान्ति और सुरक्षा के प्रश्नों पर अपने सुझाव प्रस्तुत करेगी। अपने कार्यों के समुचित निर्वहन के लिए इसे जाँच-पड़ताल आयोग नियुक्त करने, आवश्यक खोज-बीन करने तथा महामन्त्री को महासभा का विशेष अधिवेशन बुलाने की सिफारिश करने का अधिकार दे सकती है। इस स्थिति को सुस्पष्ट करने के लिए महासभा ने यह भी निश्चय किया कि "अन्तरिम समिति चार्टर के अनुसार सुरक्षा परिषद् के दायित्वों का ध्यान रखेगी।" समिति में महासभा के प्रत्येक सदस्य राष्ट्र को अपने प्रतिनिधि भेजने का अधिकार दिया गया।

यद्यपि अन्तरिम समिति का निर्माण महासभा के एक लघु-सहकरण के रूप में हुआ और यह भी किया गया कि सदैव अधिवेशन में रहने वाली यह स्थायी संस्था महासभा के कार्यों और दायित्वों को अधिक गतिशील एवं प्रभावी बना सकेगी तथापि सोवियत गुट के देशों द्वारा इसकी वैधानिकता को कभी स्वीकार नहीं किया गया। प्रारम्भ में यह एक वर्ष के लिए निर्मित हुई थी, परन्तु बाद में भी चलती रही। यह

1949 में पुनर्गठित हुई, लेकिन 1952 के बाद इसकी कोई बैठक नही की गई। प्रारम्भ मे इस समिति ने इतना अधिक कार्य किया कि इसके स्थायी बनने की सम्भावना होने लगी। लेकिन रूस और उसके समर्थक इसके घोर विरोधी बने रहे। आगे चलकर इसका कार्य विभिन्न नियमित एव विशेष समितियो तथा आयोगो द्वारा सभाल लिया गया।

शान्ति के लिए एकता का प्रस्ताव (Uniting for Peace Resolution)

महासभा की शक्तियों मे उल्लेखनीय वृद्धि 3 नवम्बर, 1950 के "शान्ति के लिए एकता" (Uniting for Peace) प्रस्ताव पास होने के बाद हुई, जो इस प्रकार है—शान्ति को खतरा, शान्ति-भग अथवा आक्रमण की विभीषिका के सम्बन्ध मे स्थायी सदस्यो के एकमत न होने के कारण यदि सुरक्षा-परिषद् कार्य सञ्चालन मे असफल रहे तो महासभा तुरन्त ही उस पर विचार कर सकती है और सामूहिक कदम उठाने के लिए उचित सिफारिशें कर सकती है और शान्ति भग होने एव आक्रमण होने की अवस्था मे शक्ति के प्रयोग पर सिफारिश कर सकती है ताकि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा कायम रहे।" प्रस्ताव के अनुसार सुरक्षा परिषद् के किन्ही सात साधारण मत से अथवा सघ के सदस्यो के बहुमत से 24 घटे का नोटिस देकर महासभा का संकटकालीन अधिवेशन बुलाया जा सकता है।

इस प्रस्ताव में अन्तर्राष्ट्रीय तनाव वाले क्षेत्रो की स्थिति का निरीक्षण करने और रिपोर्ट देने के लिए 14 सदस्यीय "शान्ति निरीक्षण आयोग" (Peace Observation Commission) की व्यवस्था भी की गयी है। प्रस्ताव के तीसरे (सी) भाग के अनुसार सघ द्वारा सदस्य राष्ट्रो से यह प्रार्थना की गयी है कि वह आवश्यकता पडने पर सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर सघ के अधीन कार्यवाही करने के लिए सुशिक्षित सेना प्रदान करे।

"शान्ति के लिए एकता-प्रस्ताव" ने महासभा की स्थिति को सुरक्षा परिषद् से अधिक महत्वपूर्ण बना दिया है। इस बात की सम्भावना घट गयी है कि महाशक्तिया बारम्बार निषेधाधिकार के प्रयोग से सुरक्षा परिषद् को एकदम निष्क्रिय बना कर अपना उल्लू सीधा करती रहे। महासभा मे निषेधाधिकार की व्यवस्था नही है, अतः शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव के अन्तर्गत महासभा अपनी आपातकालीन अधिवेशन मे समस्या पर विचार कर सकती है। यद्यपि इस प्रस्ताव ने निषेधाधिकार की शक्ति को समाप्त नहीं किया है, तथापि इससे उत्पन्न गतिरोध को दूर करने का एक हल अवश्य निकाल दिया है। पुनश्च, यद्यपि महासभा सम्बन्धित समस्या पर केवल सिफारिशें ही करती है तथापि इन सिफारिशों को सुगमता से ठुकराया नही जा सकता क्योकि वे विश्व-जनमत का प्रतीक होती हैं। नवम्बर, 1956 को मिस्र पर इजराइल, ग्रेट ब्रिटेन और फ्रान्स के सयुक्त आक्रमण होने पर महासभा के विशेष अधिवेशन के इस प्रस्ताव के अनुसार कार्य करते हुए सफलतापूर्वक शान्ति स्थापित की थी।

महासभा के महत्व में वृद्धि के कारण

सुरक्षा परिषद् की तुलना में महासभा का महत्व बढ़ता जा रहा है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के निर्माताओं का विचार था कि सुरक्षा परिषद् संघ को प्रधान कार्यकारी अंग होगी और महासभा एक वाद-विवाद-मञ्च (*Debating forum*) के रूप में कार्य करेगी। इसीलिए जहाँ परिषद् को बाध्यकारी शक्ति प्रदान की गयी, वहां महासभा को केवल सिफारिशें करने का ही अधिकार दिया गया। लेकिन कालान्तर में[1] विभिन्न व्यवस्थाओं, परिस्थितियों और व्यवहारों के फलस्वरूप महासभा का महत्व उत्तरोत्तर बढ़ता गया है। महासभा की महत्व-वृद्धि में निम्नलिखित कारणों का विशेष योग रहा है—

(1) संयुक्त राष्ट्रसंघ के सभी सदस्य महासभा के भी सदस्य हैं, अतः विश्व की समस्याओं पर विचार करने के लिए यह एक अच्छा सार्वजनिक सभा-स्थल है।

(2) विशेषाधिकार के अनुचित और अधिक प्रयोग के फलस्वरूप सुरक्षा-परिषद् की स्थिति पहले के समान अधिक लाभकारी नहीं रही है और संकटकाल में सदस्य राज्य परिषद् का पूरा भरोसा नहीं कर सकते। विश्व-जनमत को अपने पक्ष में मोड़ने के लिए वे महासभा को अधिक उपयुक्त स्थान समझते हैं।

(3) शान्ति के लिए एकता का प्रस्ताव पास करने के बाद से महासभा का नैतिक स्तर बहुत बढ़ गया है और वह झगड़ों के निपटारे, सामूहिक सुरक्षा तथा निःशस्त्रीकरण के विषय में अधिक भाग लेने लगी है।

(4) महासभा की आपातकालीन सेना की नियुक्ति से उसके महत्व में पर्याप्त वृद्धि हुई है।

(5) सुरक्षा परिषद् के साथ-साथ महासभा को अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के प्रश्नों पर विचार करने का जो अधिकार चार्टर के अन्तर्गत प्राप्त है, उसके समुचित प्रयोग ने भी महासभा के प्रभाव में वृद्धि की है।

(6) महासभा का अन्वेषणात्मक और निरीक्षणात्मक अधिकार इसे संघ के अन्य अंगों से अधिक उच्च स्थिति प्रदान करता है।

वास्तव में 15 सदस्यों की सुरक्षा परिषद् उन अर्थों में सम्पूर्ण विश्व का अन्तर्राष्ट्रीय रंग-मञ्च नहीं कही जा सकती है। क्लार्क आइक-बर्गर (Clark M. Eichelberger) के मतानुसार "महासभा मानव-जाति के संशोधन का एक रूप है जिसमें राष्ट्र शांतिपूर्ण परिवर्तन की विविध समस्याओं पर विचार करने के साधन ढूँढ रहे हैं वह भी कानून एवं संशोधनात्मक प्रक्रिया के ढांचे में।" महासभा के सदस्य राष्ट्र स्वतन्त्र रूप में अपनी शिकायतें, प्रस्ताव और सुझाव प्रस्तुत करते हैं, इस तरह यह विश्व का उन्मुक्त अन्त:करण (Open conscience of the world) है। स्टार्क (Starke) का यह निष्कर्ष ठीक ही है कि "महासभा ने अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुविधा सम्बन्धी प्रश्नों के समाधान में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है।"[1]

1. *Starke* : An Introduction to International Law, p. 373.

8

सुरक्षा परिषद्

(SECURITY COUNCIL)

"किसी भी बात ने संयुक्त राष्ट्रसंघ में लोक विश्वास को कम करने में उतना योग नहीं दिया है जितना कि सुरक्षा परिषद् में निषेधाधिकार के बारम्बार उपयोग अथवा दुरुपयोग ने।"

—पामर एवं परकिन्स

पामर एवं परकिन्स ने सुरक्षा परिषद् को "संयुक्त राष्ट्रसंघ की कुञ्जी (Key-organ of the U.N.) कहा है संयुक्त राष्ट्रसंघ का मुख्य दायित्व अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को बनाये रखना है और चूंकि यह कार्य प्रधानतः महाशक्तियों का है अतः सुरक्षा परिषद् में महाशक्तियों को स्थायी सदस्यता और विशेषाधिकार से विभूषित किया गया है। सुरक्षा परिषद् की रचना संयुक्त राष्ट्रसंघ के कार्यकारी और सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग के रूप में की गई है तथा अन्तर्राष्ट्रीय-शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने का मुख्य दायित्व परिषद् पर ही डाला गया है। परिषद् ने अनेक अवसरों पर इस क्षेत्र में पर्याप्त सफलता अर्जित की है, तथापि कुल मिलाकर वह अपने निर्माताओं की आशाओं के अनुकूल प्रभावी सिद्ध होने में असमर्थ रही है। यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि संयुक्त राष्ट्रसंघीय व्यवस्था के किसी भी अंग अथवा अभिकरण ने विशेषाधिकार और क्रियान्वयन के मध्य इतना अधिक अन्तर और विवाद उत्पन्न नहीं किया है जितना सुरक्षा परिषद् ने।[1] लगभग सभी राजनीतिज्ञ और नेता यह स्वीकार करते हैं कि परिषद् आशाओं के अनुकूल सफल नहीं रही है। आखिर इस असफलता का कारण क्या है ? परिषद् अपनी निर्धारित भूमिका के निर्वहन में शिथिल क्यों रही है ? इन प्रश्नों का आधारभूत उत्तर सम्भवतः यही है कि महाशक्तियों की आपसी फूट उनके पारस्परिक शीत-युद्ध और विचार-धाराओं तथा क्षेत्रीय प्रश्नों पर उनकी टकराहट आदि ने सुरक्षा परिषद् को उतना

1. *Plano and Riggs : opt. cit., p. 88.*

प्रभावशाली प्रग नही बनने दिया है जितनी 1945 मे माशा की गई थी। महायुद्धोत्तर काल मे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे शकाओ, धमकियो, खुले सघर्ष, आरोप-प्रत्यारोप आदि ने जिन प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष भयो और निराशाओ को जन्म दिया है तथा विश्व के राजनीतिक पटल को जिस प्रकार कलुषित किया है, उनसे सुरक्षा परिषद् के गौरव को ठेस लगाना अस्वाभाविक नही कहा जा सकता। आशिक रूप से सुरक्षा परिषद् की कार्य-प्रणाली और निर्णयकारी-प्रक्रिया भी इसकी शिथिलता के लिए उत्तरदायी है।

सुरक्षा परिषद् का संगठन और कार्य विधियाँ
(Organization and Procedure of Security Council)

चार्टर के पांचवें अध्याय में अनुच्छेद 23 से 32 तक सुरक्षा परिषद् के सगठन, कार्यों, अधिकारो, मतदान-पद्धति आदि का वर्णन है। चार्टर की मूल व्यवस्था के अनुसार पहले सुरक्षा-परिषद् मे केवल 11 सदस्य थे—5 स्थायी और 6 अस्थायी, किन्तु अगस्त, 1965 मे सघ के चार्टर का सशोधन किया गया और परिषद् के सदस्यो की सख्या बढाकर 15 कर दी गयी। परिषद् के निर्णयो के न्यूनतम आवश्यक मतो की सख्या भी बढकर 7 से 9 कर दी गई। सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्य ये 5 देश है—चीन (कम्यूनिस्ट), फ्रान्स, ब्रिटेन, सोवियत सघ तथा सयुक्त राज्य अमेरिका। 10 (मूलत 6) अस्थायी अथवा निर्वाचित सदस्य महासभा द्वारा चुने जाते हैं। चार्टर के अनुच्छेद 23 मे स्पष्ट उल्लेख है कि परिषद् के अस्थायी सदस्य दो वर्ष के लिए चुने जायेंगे और इस अवधि के समाप्त होने पर किसी सदस्य को तुरन्त पुनः चुनाव के लिए खडे होने का अधिकार नहीं होगा। यह प्रावधान इसलिए रखा गया है क्योकि राष्ट्रसघ की परिषद् म निर्वाचक सीटो (Elective Seats) पर अधिकाश चुनावो मे मध्यवर्ती शक्तियो (Middle powers) का ही नियन्त्रण बना रहा और लघु शक्तियो को परिषद् मे प्रवेश से लगभग वञ्चित रहना पडा।[1] वर्तमान विश्व-सस्था की महासभा द्वारा 1963 मे यह निर्णय लिया गया कि सुरक्षा परिषद् के 10 अस्थायी सदस्यो मे से 5 एशियाई और अफ्रीकन राज्यो मे से, 1 पूर्वी यूरोप मे से, 2 लैटिन अमेरिकन तथा 2 पश्चिमी यूरोप और अन्य राज्यो मे से होने चाहिएं। परिषद् में अस्थायी सदस्यो का वर्तमान निर्वाचन इस निर्णय से मेल खाता है।

सुरक्षा परिषद् की कार्य-विधि के सम्बन्ध मे अनुच्छेद 28 से 32 तक व्यवस्थाए दी गई हैं। परिषद् का सगठन इस प्रकार का है कि वह लगातार काम कर सके। इसलिए सघ-स्थान मे परिषद् के प्रत्येक सदस्य का प्रतिनिधित्व हर समय रहना आवश्यक है। परिषद् की बैठकें समय-समय पर होती रहती हैं और इसमे कोई सदस्य राष्ट्र चाहे तो उसका प्रतिनिधित्व उसकी सरकार का सदस्य या विशेष रूप से मनोनीत कोई दूसरा प्रतिनिधि कर सकता है। कार्यविधि के नियमो के अन्तर्गत परिषद् की बैठको के बीच 14 दिन से अधिक का अन्तर नही होना चाहिए। परिषद्

1. Ibid., p. 90.

संघ-स्थान के अलावा किसी दूसरी ऐसी जगह भी, जहाँ यह काम करने मे सुगमता समझे, अपनी बैठकें कर सकती है। परिषद् को इस बात के लिए तैयार रहना चाहिए कि ज्योही अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एव सुरक्षा को खतरा पैदा हो, त्योंही उसकी बैठक हो सके। पूर्ववर्ती राष्ट्रसघ मे ऐसी व्यवस्था नही थी।

परिषद् अपने कार्यों के लिए आवश्यक समझने पर सहायक अगो की स्थापना कर सकती है। परिषद् की दो स्थायी समितिया (Standing Committees) हैं—(क) विशेषज्ञ समिति, जो कार्य-विधि की नियमावली का काम देखती है एव (ख) नवीन सदस्यो के प्रवेश का काम देखने वाली समिति। इनके अतिरिक्त परिषद् समय-समय पर तदर्थ समितियो तथा आयोगो की नियुक्ति भी करती रहती है। अनुच्छेद 47 मे व्यवस्था है कि सुरक्षा परिषद् को प्रभावित प्रश्नो पर स्वतन्त्र परामर्श और सहायता के लिए सैन्य स्टाफ समिति (*Military Staff Committee*) बनायी जायगी—(क) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा परिषद् की सैनिक आवश्यकताए, (ख) उसके अधीन सेना का प्रयोग और उसकी कमान, (ग) शस्त्रो का नियन्त्रण, एव (घ) सभावित निःशस्त्रीकरण। इस अनुच्छेद के अनुपालन मे नियुक्त सैनिक स्टाफ समिति मे सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्यो के स्टाफ अध्यक्ष अथवा उनके प्रतिनिधि सम्मिलित होते हैं। यह व्यवस्था है कि यदि सघ का कोई सदस्य समिति मे स्थायी प्रतिनिधि न हो और समिति के दायित्वो को ठीक तरह पूरा करने मे उस सदस्य का भाग लेना आवश्यक हो तो समिति उसको अपने साथ काम करने के लिए बुला लेगी। अनुच्छेद मे उल्लिखित है कि सुरक्षा परिषद् मे भाग लेने के लिए जो सेनाए दी जायेंगी उनका युद्ध सम्बन्धी निर्धारण सैनिक स्टाफ समिति के हाथ मे रहेगा और यह समिति सुरक्षा परिषद् के अधीन रहेगी। सैन्य स्टाफ समिति प्रादेशिक सस्थाओ से सलाह लेने के लिए प्रादेशिक उपसमितियो का निर्माण भी कर सकती है। समिति को यह अधिकार सुरक्षा परिषद् द्वारा प्रदान किया जाता है। परिषद् के अधीन एक नि.शस्त्रीकरण आयोग भी है जिसकी स्थापना जनवरी, 1952 मे की गई थी। परिषद् के सभी सदस्य इस आयोग के भी सदस्य होते हैं।

चार्टर के अनुच्छेद 30 द्वारा यह व्यवस्था की गई है कि सुरक्षा परिषद् अपनी कार्य-विधि के नियम स्वय बनायेगी और अपने अध्यक्ष चुनने की विधि भी स्वय तय करेगी। परिषद् का सभापतित्व परिषद् के सदस्यो मे से अग्रेजी वर्णमाला के अनुसार सदस्य राष्ट्रो के नियम के क्रम से प्रतिमास बदलता रहता है। इस व्यवस्था से जहा एक ओर परिषद् किसी एक सभापति के प्रभुत्व के दुरुपयोग की सभावना से बची रहती है वहा दूसरी ओर इसके द्वारा परिषद् की इच्छा और दायित्व के निर्वहन मे भी शिथिलता आती है। 10 अस्थायी सदस्यो के दो वर्षों की अल्प अवधि के लिए चुने जाने की व्यवस्था भी परिषद् की कार्य-क्षमता पर विपरीत प्रभाव डालती है।

यह व्यवस्था है कि सयुक्त राष्ट्रसघ का कोई भी सदस्य, चाहे वह सुरक्षा परिषद् का सदस्य नहीं भी हो, परिषद् के सामने आये किसी भी मामले की बहस

में भाग ले सकता है बशर्ते कि परिषद् को यह विश्वास हो कि उस मामले से उस सदस्य के हितों पर विशेष रूप से प्रभाव पड़ता है। लेकिन ऐसे सदस्य को मतदान का अधिकार नहीं होगा। परिषद् अपनी बहसों में ऐसे राष्ट्र के भाग लेने के लिए, जो संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य न हो, न्याय सम्मत नियम बनाने का अधिकार रखती है।

सुरक्षा परिषद् की मतदान-व्यवस्था बड़ी महत्वपूर्ण है। चार्टर का 27वां अनुच्छेद जो इस व्यवस्था से सम्बन्धित है, परिषद् के 5 स्थायी सदस्यों की स्थिति को सुदृढ़ बनाता है। इस अनुच्छेद में सामूहिक सुरक्षा पद्धति के दायित्व निहित हैं। यह कहना होगा कि संयुक्त राष्ट्रसंघ को कार्य सुचारु रूप से चलाने का दायित्व बहुत कुछ इस महत्वपूर्ण अनुच्छेद पर ही निर्भर है। इस अनुच्छेद के अनुसार छोटे और बड़े राष्ट्रों को समान मताधिकार प्राप्त नहीं है। यह अनुच्छेद महाशक्तियों की एकता पर आधारित है और इस बात को स्पष्ट रूप से प्रस्थापित करता है कि चार्टर का कार्य भली-भांति चलाने के लिए यह आवश्यक है कि पांचों महान राष्ट्र जो परिषद् के स्थायी सदस्य हैं, सहयोग से कार्य करें। ई. पी. चेज के अनुसार, "सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्यों की स्थिति अनोखी है। इससे परिषद् की राजनीतिक समस्याओं की महत्ता का पता चलता है। परिषद् की मतदान व्यवस्था इसका सबसे अद्भुत लक्षण है।"[1] परिषद् के प्रत्येक सदस्य राष्ट्र को एक मत प्राप्त है। परिषद् के निर्णय दो प्रकार के होते हैं—कार्य-विधि सम्बन्धी (Procedural) तथा असाधारण या सारभूत (Substantive)।[2] चार्टर में व्यवस्था है कि कार्यविधि संबंधी सभी निर्णय किन्हीं 9 सदस्यों के स्वीकारात्मक मतों से लिए जायेंगे। स्पष्ट है कि ऐसे मामलों में स्थायी और निर्वाचित सदस्यों को समान मतदान शक्ति प्रदान की गई है। लेकिन अन्य अथवा असाधारण (Substantive) मामलों पर निर्णय के लिए पक्ष में स्थायी सदस्यों के मतों सहित 9 सदस्यों के मत आने चाहिए। किन्तु किसी भी सदस्य को चाहे वह स्थायी सदस्य हो अथवा अस्थायी, शान्तिपूर्वक सुलझाये जाने वाले ऐसे मामलों में मतदान का अधिकार नहीं होगा जिससे उसका अपना सम्बन्ध हो। असाधारण मामलों में मतदान व्यवस्था से स्पष्ट है कि 5 स्थायी सदस्यों में से कोई भी सदस्य असहमति प्रकट करता है अथवा प्रस्ताव के विरोध में मतदान करता है तो वह प्रस्ताव स्वीकृत नहीं समझा जाता। ऐसे विपक्ष मतदान को निषेधाधिकार (Veto-power) कहते हैं। यदि कोई स्थायी सदस्य परिषद् की बैठक में अनुपस्थित हो अथवा अपना मत न दे तो ऐसी स्थिति में निषेधाधिकार नहीं माना जाता।

परिषद् की मतदान व्यवस्था से निष्कर्ष यही निकलता है कि किसी महत्वपूर्ण कार्य को सफल बनाने के लिए स्थायी सदस्यों का मत आवश्यक है और यही महाशक्तियों की सर्वसम्मति का सिद्धान्त है। पर उल्लेखनीय है कि यदि परिषद्

1. *Eugene P. Chase* : The United Nations in Action, p. 174.
2. *Plano and Riggs* : opt cit , p. 91.

गम्भीर मतिरोध के कारण कोई कार्यवाही नहीं कर पाती अथवा आक्रमण को रोकने के लिए निषेधाधिकार के कारण अपने अधिकारों का प्रयोग नहीं कर पाती तो महासभा दो-तिहाई बहुमत से अपनी सिफारिश कर, परिषद् को कार्य करने के लिए बाध्य कर सकती है। इस व्यवस्था के सम्बन्ध में महासभा वाले अध्याय में विस्तार से लिखा जा चुका है।

परिषद् के कार्य
(Council Functions)

सुरक्षा परिषद् संयुक्त राष्ट्रसंघ की सम्पूर्ण सदस्यता के एक एजेण्ट के रूप में कार्य करने का उत्तरदायित्व सम्भाले हुए है और अपने निर्णयों तथा कार्यों से ही संस्थागत राजनीतिक और नैतिक दबाव (An institutionalzed political and moral pressure) उत्पन्न करती है। कोई भी राज्य चाहे वह संघ का सदस्य हो अथवा नहीं विश्व-शान्ति और सुरक्षा को खतरा पैदा होने पर परिषद् के राजनीतिक और नैतिक दबाव का शिकार बन सकता है। कतिपय अपवादों को छोड़कर अभी तक परिषद् के बहुमत ने संघर्षरत या विवादी पक्षों पर संयमित दबाव डालना ही अधिक पसन्द किया है। यथा, सम्भव परिषद् का प्रयास यही रहा है कि स्थितियों से चार्टर के अनुच्छेद 6 के अनुकूल निपटा जाय और अध्याय 7 के अन्तर्गत सामूहिक कार्यवाही (Collective action) से बचा जाय।

चार्टर के अनुच्छेद 24 के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने का प्राथमिक उत्तरदायित्व सुरक्षा परिषद् का है। विवादों से निपटने में परिषद् समय-समय पर विभिन्न उपायों का आश्रय लेती रही है। प्लानो एवं रिग्ज ने परिषद् के विशिष्ट उपायों में विचार-विमर्श (Deliberation), अन्वेषण या खोज-बीन (Investigation), सिफारिश (Recommendation), समझौता (Conciliation), मध्यस्थता (Interposition), अपील (Appeal), तथा आदेश (Enforcement) गिनाए हैं।

चार्टर का अनुच्छेद 33 व्यवस्था करता है कि यदि किसी झगड़े से अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति व सुरक्षा को खतरा हो तो विवादी पक्ष उस झगड़े को सब से पहले विचार-विमर्श पूछताछ, बीच-बचाव, मेल, न्यायपूर्ण समझौते, प्रादेशिक संस्थाओं या व्यवस्थाओं द्वारा अथवा अपनी पसन्द के अन्य शान्तिपूर्ण साधनों से सुलझाने का प्रयास करेंगे और सुरक्षा परिषद् आवश्यकता समझने पर विवादी पक्ष से अपने झगड़े ऐसे साधनों से निपटाने की माँग करेगी। परिषद् को विचार-विमर्श सम्बन्धी कार्य सामान्यतः तभी शुरू हो जाता है जब विवादी पक्षों को अपने मामले परिषद् के सम्मुख प्रस्तुत करने के लिए आमन्त्रित किया जाय। परिषद् में होने वाली बहस का उद्देश्य इस बात का निर्धारण करना नहीं होता है कि कौन-सा पक्ष सही अथवा गलत है बल्कि यह पता लगाना होता है कि विवादी पक्षों में समझौते या राजीनामे के लिए सामान्य आधार-स्थल क्या है। विवादी पक्षों द्वारा अपने प्रस्तुतीकरण और उन पर बहस

आदि से एक ऐसा वातावरण बन जाने की सम्भावना रहती है जिससे परस्पर शान्तिपूर्ण समझौते का मार्ग प्रशस्त हो जाय। यह भी हो सकता है कि उनसे केवल परिषद् के सदस्यों को विवाद की कठिन प्रकृति, विवादी पक्षों के मुद्दों पर मतभेद अथवा दोनों पक्षों द्वारा प्रस्तुत किये गये तथ्यों में आधारभूत असमानताओं का ही ज्ञान हो सके।[1]

अनुच्छेद 34 के अनुसार सुरक्षा परिषद् किसी भी झगड़े अथवा स्थिति की जाँच-पड़ताल (Investigation) कर सकती है जो अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष का रूप ले सकता हो अथवा जिससे कोई दूसरा झगड़ा उठ सकता हो। परिषद् इस बात का भी निश्चय करती है कि ये झगड़े अथवा स्थिति जारी रहे तो उससे विश्व की शान्ति और सुरक्षा को कोई खतरा पैदा हो सकता है या नहीं। ऐसे झगड़े अथवा इस प्रकार की कोई स्थिति पैदा हो जाने पर, अनुच्छेद 36 के अनुसार, सुरक्षा परिषद् किसी भी समय इसके लिए उचित कार्यवाही करने या समाधान के उपायों की सिफारिश कर सकती है। इस अनुच्छेद के अन्तर्गत सिफारिश करते समय परिषद् को इस बात का भी विचार करना चाहिए कि विवादी पक्षों द्वारा कानूनी झगड़े को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सामने, न्यायालय के विधान के उपबन्धों के अनुसार, पेश किया जाय। आवश्यक जाँच-पड़ताल के लिए परिषद् का अध्यक्ष विवादी पक्षों से पूछताछ कर सकता है अथवा इस उद्देश्य के लिए एक समिति अथवा आयोग भी नियुक्त किया जा सकता है। यह भी हो सकता है कि समिति अथवा आयोग को संघर्ष-स्थल पर तथ्यों के निर्धारण के लिए भेजा जाय। जाँच-पड़ताल के उपायों द्वारा यद्यपि परिषद् विवाद से सम्बन्धित सभी तथ्यों को एकदम सही मूल्यांकन नहीं कर पाती फिर भी ऐसी स्थिति में पहुँचने की गुंजाइश रहती है कि परिषद् कामचलाऊ समाधान की दिशा में आगे बढ़ सके।

चार्टर का अध्याय 7 (अनुच्छेद 39 से 51 तक) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति-भंग शान्ति-भंग के सम्भावित खतरे आदि तथा आक्रामक कार्यवाहियों के सम्बन्ध में परिषद् द्वारा कार्यवाही की जाने से सम्बन्धित है। अनुच्छेद 39, के अनुसार परिषद् इस बात का निर्णय करेगी कि कौनसी चेष्टाएं शान्ति को खतरे में डालने वाली, शान्ति-भंग करने वाली और आक्रमण की चेष्टाएं समझी जा सकती हैं। वही सिफारिश करेगी और तय करेगी कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा कायम करने अथवा फिर से स्थापित करने के लिए अनुच्छेद 41–42 के अनुसार कौन-सी कार्यवाही की जानी चाहिए। अनुच्छेद 40 में व्यवस्था है कि किसी स्थिति को बिगड़ने से बचाने के लिए सुरक्षा परिषद् अपनी सिफारिशें करने अथवा किसी कार्यवाही का निश्चय करने से पूर्व विवादी पक्षों से ऐसी अस्थायी कार्यवाहियां करने की मांग करेगी जिन्हें वह उचित या आवश्यक समझे। इन अस्थायी कार्यवाहियों से विवादी पक्षों के अधिकारों,

1. Ibid, p 93.

दावों या उनकी हैसियत का कोई अहित नहीं होगा। यदि कोई पक्ष इस प्रकार की अस्थायी कार्यवाहियाँ नहीं करता है कि तो सुरक्षा परिषद् इस बात का विधिवत् ध्यान रखेगी।

अनुच्छेद 41 के अनुसार सुरक्षा परिषद् अपने फैसलों पर अमल करने के लिए ऐसी कार्यवाही भी कर सकती है जिसमें सशस्त्र सेना का प्रयोग नहीं हो। वह संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्यों से इस प्रकार की कार्यवाही करने की माँग कर सकती है जिनके अनुसार आर्थिक सम्बन्ध पूर्णतः अथवा आंशिक रूप से समाप्त किये जा सकते हैं, समुद्र, वायु, डाक, तार, रेडियो और यातायात के साधन बन्द किये जा सकते हैं, अथवा राजनीतिक सम्बन्ध-विच्छेद भी किये जा सकते हैं। अनुच्छेद 42 में उल्लिखित है कि यदि अनुच्छेद 41 में बतलायी गयी ये कार्यवाहियाँ सुरक्षा-परिषद् की दृष्टि से पर्याप्त हो अथवा अपर्याप्त सिद्ध हो गई हो तो अन्तर्राष्ट्रीय-शान्ति एवं सुरक्षा बनाये रखने या पुन. स्थापित करने के लिए वह जल, थल और वायु सेनाओं की सहायताओं से आवश्यक कार्यवाही कर सकती है। इस कार्यवाही में संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य देशों की जल-थल और नभ सेना विरोध प्रदर्शन कर सकती हैं, घेरा डाल सकती है अथवा अन्य दूसरे प्रकार की कार्यवाहियाँ कर सकती है। सैन्य स्टाफ समिति (Military Staff Committee) जिसमें स्थायी सदस्यों के "Chiefs of Staff" होते हैं, सुरक्षा परिषद् के इन कार्यों में सहायता देती है। परिषद् के अब तक के इतिहास का लेखा-जोखा बतलाता है कि सैन्य-कार्यवाही से बचने का हर सम्भव प्रयत्न किया जाता रहा है। वास्तव में सामूहिक सैनिक कार्यवाही करने में यह भय निहित है कि परिषद् अपनी मुख्य भूमिका में असफल हो जाय क्योंकि सामूहिक सुरक्षा सिद्धान्त में यह धारणा निहित है कि कानून भंग करने वाले सभी अथवा अधिकांश राज्य, सामूहिक कार्यवाही का खतरा उपस्थित होने पर, अपने आक्रामक कार्यों से बाज आयेंगे।[1] संयुक्त राष्ट्रसंघ के इतिहास में सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर प्रथम बार सैनिक कार्यवाही तब की गई थी जब उत्तरी कोरिया की फौजें जून, 1950 में 38° को पार कर गई थीं। अनुच्छेद 41 एवं 42 के प्रसंग में अनुच्छेद 51 की व्यवस्था ध्यान देने योग्य है। यह उल्लिखित है कि यदि संयुक्त राष्ट्रसंघ के किसी सदस्य पर कोई सशस्त्र आक्रमण होता है तो वह व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूप से आत्मरक्षा करने का अधिकारी है और इस राष्ट्र पर तब तक कोई रोक नहीं होगी जब तक कि सुरक्षा परिषद् अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा के लिए स्वयं कोई कार्यवाही न करे। आत्मरक्षा के लिए सदस्य जो भी कार्यवाही करेंगे उसकी सूचना तुरन्त ही सुरक्षा परिषद् को दी जायेगी लेकिन इससे परिषद् के अधिकारों और दायित्वों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा और वह अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा बनाये रखने या पुनः स्थापित करने के लिए जब

1. *Plano and Riggs* : opt., cit, p-94.

कभी जरूरी कार्यवाही चाहे, कर सकेगी। चीवर तथा हैवीलैण्ड के अनुसार अनुच्छेद 51 की यह व्यवस्था पोल या कमजोरी (Loophole) है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के प्रतिरोधक चरित्र को भारी आघात पहुंचा है।[1]

अनुच्छेद 43 के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने मे सहयोग देने के लिए संघ के सब सदस्यो का यह कर्तव्य है कि सुरक्षा परिषद् के मांगने पर और विशेष समझौते अथवा समझौतो के अनुसार, अपनी सशस्त्र सेनाएं, सहायता तथा अन्य सुविधाएं, जिनमें मार्ग-अधिकार भी शामिल होंगे, मुहय्या करेंगे। सेनाओं की संख्या, उनके प्रकार, उनकी तैयारी और स्थिति आदि के बारे में निश्चय, समझौते या समझौतों से किये जायेंगे और इस प्रकार के समझौतो की बातचीत सुरक्षा परिषद् की प्रेरणा से जल्दी से जल्दी शुरू की जानी चाहिए। ये समझौते परिषद् और सदस्यों अथवा परिषद् तथा सदस्य दलों के बीच होंगे और इन पर अमल तभी किया जा सकेगा जब हस्ताक्षरकर्ता राष्ट्र अपनी-अपनी वैधानिक प्रक्रियाओं द्वारा इनकी पुष्टि कर देंगे। अनुच्छेद 45 में यह भी लिखा गया है कि सदस्य सामूहिक अन्तर्राष्ट्रीय कार्यवाही के लिए अपनी राष्ट्रीय वायुसेना के दल जल्दी से जल्दी उपलब्ध करेंगे ताकि संयुक्त राष्ट्रसंघ तुरन्त सैनिक कार्यवाही कर सके। इन सैनिक दलो की संख्या, तैयारी आदि के बारे में निश्चय के लिए परिषद् को उसकी सैनिक स्टाफ समिति मदद देगी। सैन्य स्टाफ समिति की मदद से ही सामूहिक कार्यवाही के लिए योजनाएं बनायी जायेंगी।

जब सुरक्षा परिषद् किसी राष्ट्र के विरुद्ध रोक-थाम की या अपने निर्णयों पर अमल कराने की कोई कार्यवाही कर रही हो, उस समय यह हो सकता है कि किसी दूसरे राष्ट्र के सामने कुछ विशेष आर्थिक समस्याएं उठ खड़ी हो। अतः अनुच्छेद 50 में यह व्यवस्था दी गई है कि ऐसी सूरत में उस राष्ट्र को चाहे वह संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य है या नहीं अपनी समस्याओं को हल करने के लिए सुरक्षा परिषद् में सलाह लेने का अधिकार होगा।

स्थानीय झगड़ो और विवादो के समाधान के लिए सुरक्षा परिषद् प्रादेशिक संगठनों और ऐजेन्सियों को माध्यम के रूप में इस्तेमाल कर सकती है। इसके अतिरिक्त प्रादेशिक संगठन या ऐजेन्सियां अपने क्षेत्रों में शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने की दिशा में जो भी कदम उठाती हैं, उनकी सूचना उन्हे नियमित रूप से सुरक्षा परिषद् को देनी पड़ती है।

सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण क्षेत्रों के सम्बन्ध मे संयुक्त राष्ट्रसंघ ने जो दायित्व ग्रहण किये हैं, उन्हें निभाने का भार भी सुरक्षा परिषद् पर ही है। संरक्षित प्रदेशों को किसी भी राष्ट्र के संरक्षण देते समय संरक्षण सम्बन्धी शर्तें भी सुरक्षा परिषद् द्वारा ही तय की जाती हैं। वही इन शर्तों मे फेर-बदल या संशोधन कर

1. *Cheever and Haviland*: opt cit., p 140.

सकती है। यदि ऐसे कुछ सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण क्षेत्र हों जो संयुक्त राष्ट्रसंघ के संरक्षण में हों तो इन क्षेत्रों की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं शैक्षणिक प्रगति के लिए सुरक्षा परिषद् उनके साथ मिलकर आवश्यक कदम उठा सकती है।

चार्टर ने जहां सुरक्षा परिषद् पर मुख्य दायित्व शान्ति और सुरक्षा के मामलों का डाला है, वहां इसे अपेक्षाकृत कुछ कम महत्वपूर्ण शक्तियों से भी विभूषित किया है जिनमें से अधिकांश का प्रयोग वह महासभा के साथ मिलकर करती है। ये कार्य निर्वाचनात्मक (Elective), प्रेरणात्मक या प्रारम्भिक (Initiatory) और निरीक्षणात्मक (Supervisory) हैं। निर्माताओं द्वारा परिषद् को ये कार्य इस दृष्टि से सौंपे गये हैं कि महाशक्तियाँ महत्वपूर्ण संगठनात्मक मामलों पर अपना कुछ नियन्त्रण रख सकें।[1] महासचिव द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीश के चुनाव में परिषद् का मुख्य हाथ रहता है।

सुरक्षा परिषद् द्वारा की गई कुछ बाध्यकारी (सैनिक) कार्यवाहियां

अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की दृष्टि से परिषद् ने कतिपय अवसरों पर जो बाध्यकारी (सैनिक) कार्यवाहियां की, उनमें से कुछ का उल्लेख करना यहां अप्रासंगिक न होगा।

(1) परिषद् को शान्ति स्थापना के सम्बन्ध में सैन्य कार्यवाही करने का सर्वप्रथम अवसर कोरिया-संघर्ष में मिला। जून, 1950 में उत्तरी कोरिया द्वारा दक्षिणी कोरिया पर आक्रमण कर दिया गया। संयुक्त राज्य अमेरिका ने सुरक्षा परिषद् में कोरिया का प्रश्न रखा। परिषद् द्वारा आदेश दिया गया कि युद्ध अविलम्ब बन्द कर दिया जाय और उत्तरी कोरिया की फौजें 38° के उत्तर में वापस चली जाय। उत्तरी कोरिया द्वारा आदेश की अवहेलना करने पर संयुक्त राज्य अमेरिका ने सुरक्षा परिषद् में उत्तरी कोरिया के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने का प्रस्ताव रखा। रूस की अनुपस्थिति में परिषद् में यह प्रस्ताव पास हो गया। कुछ राज्यों ने संघ को अपनी सेनाएं भी प्रदान की और संयुक्त राज्य अमेरिका इन सेनाओं के साथ दक्षिणी कोरिया की सहायतार्थ पहुंच गया। कोरिया का युद्ध उत्तरी कोरिया के विरुद्ध संयुक्त राष्ट्रसंघ का युद्ध कहा गया। आलोचकों का यह मत रहा है कि व्यवहारतः कोरिया में की गयी कार्यवाही संयुक्त राष्ट्र के नाम पर विशेषतः अमेरिकन कार्यवाही थी। विजय-पराजय के झूले में झूलते हुए अन्ततोगत्वा संयुक्त राष्ट्रसंघीय सेनाओं को सफलता मिली और पर्याप्त विचार-विमर्श के उपरान्त युद्ध विराम हो गया।

वास्तव में सुरक्षा परिषद् की सैन्य कार्यवाही से कोरिया का युद्ध विश्व-युद्ध बनने से रुक गया। क्लार्क आइक बर्गर के अनुसार "कोरिया के विवाद ने विश्व को यह आशा बंधा दी कि यदि बड़ी शक्ति के विरुद्ध नहीं तो कम से कम एक बड़ी शक्ति

1. *Plano and Riggs : opt. cit., p. 95*

के प्रधीन राज्य (Satellite) के विरुद्ध तो निश्चय ही सामूहिक कार्यवाही की जा सकती है।" कोरिया की घटना ने विश्व-संस्था के संचालन की कुछ नवीन परम्पराओं का सूत्रपात किया तथा अनेक महत्वपूर्ण परिणामों को जन्म दिया—

(i) चार्टर के अनुसार सैन्य कार्यवाही के सम्बन्ध में सुरक्षा परिषद् के निर्णय को सदस्य राष्ट्रों के लिए मानना आवश्यक था, पर कोरियाई घटना ने इसे एच्छिक बना दिया अर्थात् विश्व-संस्था को सैनिक सहायता देना सदस्य राष्ट्रों की इच्छा पर होगा। सुरक्षा परिषद् ने सैनिक कार्यवाही करने के संघीय कार्य में सहायता करने की सदस्यों की सिफारिश की थी। इसका स्पष्ट अर्थ था कि यह सदस्यों की इच्छा पर था कि वे संघ को सैनिक सहायता दें। उदाहरणार्थ, भारत ने सेनाएं नहीं भेजकर केवल चिकित्सा सहायता भेजी तथा और भी देशों ने संघीय सैनिक कार्यवाही में भाग नहीं लिया।

(ii) यह स्पष्ट हो गया था कि परिषद् में यदि एक या अधिक स्थायी सदस्य अनुपस्थित हैं, तथा मत नहीं दे रहे हैं तो उनकी अनुपस्थिति परिषद् की कार्यवाही में बाधा नहीं डाल सकती और उनका निषेधाधिकार (Veto-Power) लागू नहीं होता। सोवियत रूस की अनुपस्थिति में सुरक्षा परिषद् द्वारा लिए गए निर्णय ने वीटो के सम्बन्ध में निश्चय ही एक अत्यधिक महत्वपूर्ण स्पष्टीकरण कर दिया।

(iii) यदि रूस ने सुरक्षा परिषद् का बहिष्कार नहीं किया होता तो वह इतनी शीघ्रतापूर्वक प्रभावशाली कार्यवाही करने में सफल नहीं होती। इस कमी को ध्यान में रखते हुए अमेरिका ने 1 नवम्बर, 1950 को महासभा में "शान्ति के लिए एकता" का प्रस्ताव रखा जिसने महासभा को शान्ति-रक्षा के नवीन अधिकार देते हुए उसके गौरव को बढ़ाया।

(iv) यह सिद्ध हो गया कि संघ की सैनिक कार्यवाही की सफलता उसके सदस्यों के सक्रिय सहयोग तथा महाशक्तियों के उत्साह पर आधारित है।

(2) कांगो (1960–64) में संयुक्त राष्ट्रसंघीय फौजें बाध्यकारी कार्यवाही के रूप में नहीं बल्कि बेल्जियम फौजों के लौट जाने के बाद भी इसलिए बनी रहीं कि कांगो का गृह-युद्ध विश्व-शान्ति के लिए कहीं खतरा नहीं बन जाय। सुरक्षा परिषद् की इस कार्यवाही के संचालन, देख-भाल आदि का उत्तर-दायित्व महासचिव पर पड़ा। वास्तव में सम्पूर्ण कार्यवाही चार्टर के अनुच्छेद 7 के अनुसार बाध्यकारी नहीं थी और न ही तत्सम्बन्धी प्रक्रियात्मक औपचारिक एवं आवश्यक व्यवस्थाओं का पालन ही किया गया था। फिर भी 1962–63 में कांगो क्षेत्र के नियन्त्रण के लिए संघीय सैन्य टुकड़ी द्वारा की गई कार्यवाही विशेषत. सैनिक बाध्यकारी पग था। कांगो सुरक्षा में परिषद् द्वारा जो कार्यवाही की गई वह चार्टर के अध्याय 7 के अनुसार थी अथवा नहीं यह प्रश्न आज भी विवादास्पद है। जो भी हो संघीय कार्यवाही ने,

नागो को कोरिया बनने मे बना दिया यदि सघीय फौजें वहा नही हो। साम्यवादियो एव पश्चिमी शक्तियो के सशस्त्र सघर्ष का स्थल बन गया ह

(3) रोडेशिया (1965-66) द्वारा ब्रिटेन से एक तरफा स्वत् निश्चय से उत्पन्न स्थिति से निपटने के लिए कार्यवाही करते हुए सुरक्षा परिषद् को दिसम्बर, 1966 के अपने तीसरे प्रस्ताव में सयुक्त राष्ट्रसघ के इतिहास मे पहली बार प्रादेशात्मक अनुशास्तिया लगायी। रोडेशिया द्वारा एकतरफा स्वतन्त्रता की घोषणा को अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए खतरा माना गया। आलोचको के अनुसार रोडेशिया के मामले मे भी कोरिया के समान ही चार्टर के अनुच्छेद 39–43 के अनुसार कार्य हुआ और साथ ही यह प्रवृत्ति भी स्पष्ट हो गई कि सुरक्षा परिषद् के अधिकार क्षेत्र को गैर-कानूनी ढग से बढ़ाया जाने लगा है। रोडेशियाई मामले मे सघीय कार्यवाही से यह प्रश्न उठ खडा हुआ है कि क्या विद्रोहियो के विरुद्ध अथवा किसी सघ (Federation) की किसी इकाई द्वारा केन्द्र से सघर्ष होने पर सघ (Federation) को यह अधिकार है कि वह सुरक्षा परिषद् से सहायता प्राप्त करे।

निषेधाधिकार की समस्या
(Problem of Veto-Power)

जैसा कि कहा जा चुका है, चार्टर के अनुच्छेद 27 में सुरक्षा परिषद् की मतदान प्रणाली का वर्णन है जिसमे असाधारण अथवा सारभूत (Substantive) मामलों मे परिषद् के 9 सदस्यो के स्वीकारात्मक मतो मे 5 स्थायी सदस्यो का मत शामिल होना आवश्यक है। इन 5 स्थायी सदस्यो मे से कोई भी सदस्य अपनी असहमति प्रकट करे अथवा प्रस्ताव के विरोध मे मतदान करे तो प्रस्ताव को स्वीकृत नही समझा जाता। चार्टर मे परिषद् पर साधारण और असाधारण क्रिया प्रणालियो मे अन्तर करने वाली कोई व्यवस्था नही दी गई है। अतः जब यह प्रश्न उठता है कि कोई साधारण या प्रक्रियात्मक (Procedural) मामला माना जाय अथवा असाधारण (Substantive), तब दोहरे निषेधाधिकार (Double Veto) का प्रयोग होता है,अर्थात् पहले तो निषेधात्मक मतदान द्वारा किसी प्रश्न को असाधारण विषय बनने मे रोका जाता है और तत्पश्चात् प्रस्ताव के दायित्वो (Obligations) के विरोध मे दुबारा मत दिया जाता है। जोन तथा एडवर्ड ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जहा तक सीमावर्ती मामलों का सम्बन्ध है यह प्रारम्भिक प्रश्न है कि क्या विषय साधारण (Procedural) है और स्वत: यह एक निषेधाधिकार का विषय है। वास्तव मे इसी नियमन ने निषेधाधिकार को दोहरे निषेधाधिकार मे बदल दिया है। पहले तो एक नकारात्मक वोट दिया जाता है जिसमे सुरक्षा परिषद् किसी विषय को साधारण नही मान ले और उसके बाद दूसरा वोट दिया जाता है ताकि प्रस्ताव का तत्व ही निष्फल हो जाय।

सुरक्षा परिषद् मे मतदान की प्रक्रिया के अध्ययन से स्पष्ट है कि परिषद् के स्थायी सदस्यो मे कोई भी किसी भी प्रस्ताव के विरोध मे मत देकर उसे पारित

होने से रोक सकता है। इसके केवल दो ही अपवाद हैं—प्रथम, प्रक्रिया सम्बन्धी मामले एवं द्वितीय, वे मामले जिनमें स्वयं विरोध में मत देनेवाली महाशक्ति एक पक्ष हो। आलोचकों का आरोप है कि निषेधाधिकार की व्यवस्था के कारण सुरक्षा परिषद् अपनी सामूहिक सुरक्षा के कार्य में असफल हो गई है। फार्नीस फोस्टर के अनुसार, "निषेधाधिकार का भय सम्पूर्ण व्यवस्था पर छाया हुआ है। ऐसी व्यवस्था के रक्त में ही पक्षाघात है। यह उस कार के समान है जिसका स्टार्टर (Starter) किसी भी समय उसकी अन्त-व्यवस्था में गड़बड़ करके उसके इन्जिन को रोक सकता है।"

पृष्ठभूमि

निषेधाधिकार उचित है या अनुचित—इस प्रश्न की मीमांसा से पूर्व यह उचित होगा कि निषेध-व्यवस्था की पृष्ठभूमि पर विचार कर लिया जाय। जिस समय संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर का निर्माण किया जा रहा था, उस समय निषेधाधिकार पर काफी विचार-विमर्श हुआ था। तत्कालीन अमेरिकन राष्ट्रपति रूजवेल्ट का विचार था कि यदि स्थायी शान्ति की खोज करनी है और संयुक्त राष्ट्र जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था को सफल बनाना है तो यह कार्य महाशक्तियों के एक साथ सहयोग पूर्ण रहने से ही पूरा हो सकेगा। दूरदर्शी रूजवेल्ट ने यह अनुभव कर लिया था कि सोवियत संघ अथवा संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे महान् राष्ट्रों के लिए किसी भी ऐसे संगठन में भाग लेना सम्भव नहीं होगा जिसमें अन्य राष्ट्र केवल अपने बहुमत के बल पर ही महाशक्तियों को कोई कार्य करने के लिए बाध्य कर दें। इस प्रकार की स्थिति को रोकने का एकमात्र उपाय निषेधाधिकार था। यह स्पष्ट था कि महाशक्तियों को उनकी इच्छा के विरुद्ध जबर्दस्ती किसी भी कार्य को करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता था, क्योंकि इसका परिणाम स्वयं अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का समाप्त हो सकता था। अतः इन्हीं सब बातों को सोच-विचार कर संयुक्त राज्य अमेरिका ने यही विचार रखा कि वह निषेधाधिकार से सम्पन्न अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को ही स्वीकार करेगा और यदि इसमें निषेधाधिकार की व्यवस्था नहीं होगी तो इसके लिए संगठन को स्वीकार करना असम्भव होगा। संयुक्त राज्य अमेरिका का स्पष्ट दृष्टिकोण था कि सुरक्षा परिषद् ऐसे निर्णय कर सकती है जिनके अनुसार उसको अपनी सेनाओं का उपयोग करना पड़े, परन्तु इसके लिए यह आवश्यक है कि वह ऐसे उपयोग अपनी इच्छा से करे न कि अन्य राष्ट्रों द्वारा बाध्य होकर। यदि संयुक्त राज्य अमेरिका ऐसे किसी उपयोग से सहमत नहीं है तो इसे इस बात का पूरा अधिकार होना चाहिए कि वह अपनी निषेध-शक्ति द्वारा उस उपयोग के प्रस्ताव को रद्द कर दे।

परन्तु निषेधाधिकार का प्रबल समर्थन करते हुए भी अमेरिका इस अधिकार को सीमित रखना चाहता था। वह इस बात के लिए उद्यत था कि विवादों के

शांतिपूर्ण समाधान और नवीन सदस्यों के संगठन में प्रवेश—इन दोनों बातों के सम्बन्ध में निषेधाधिकार की व्यवस्था न की जाय। लेकिन रूस इसके लिए सहमत नहीं था। वह निषेधाधिकार को असीमित रखना चाहता था। रूस को यह पता था कि पश्चिमी शक्तियों ने विवशता के कारण ही जर्मनी के विरुद्ध रूस से सहयोग किया था, अन्यथा यथार्थतः दोनों के बीच मौलिक सैद्धान्तिक मतभेद थे। रूस को आशंका थी कि यदि आगे चल कर सुरक्षा परिषद् में पश्चिमी शक्तियों का प्रभुत्व होगा तो वे बहुमत के आधार पर स्वेच्छापूर्वक व्यवहार कर सकेंगे। अतः उसने अपने हितों की रक्षा के लिए निषेधाधिकार पर बल दिया और कहा कि या तो सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्यों को यह अधिकार दिया जाय अथवा संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना ही न की जाय। अन्ततः यही निश्चय हुआ कि निषेधाधिकार असीमित रूप से प्रदान किया जाय किन्तु इसका प्रयोग अत्यावश्यक परिस्थितियों में ही हो।

निषेधाधिकार का प्रयोग

चार्टर के निर्माताओं का विचार था कि महाशक्तियों का युद्धकालीन सहयोग विश्व-संस्था के रंगमञ्च पर भी जारी रहेगा लेकिन शीघ्र ही उनकी आशाओं पर तुषारापात हो गया। भयंकर शीतयुद्ध हुआ और महाशक्तियों ने खुलकर अपने निषेधाधिकार का प्रयोग प्रारम्भ कर दिया। एक अध्ययन के अनुसार सन् 1964 तक अकेला सोवियत रूस ही 103 बार निषेधाधिकार का उपयोग कर चुका था जबकि तुलनात्मक रूप से ब्रिटेन, फ्रान्स तथा राष्ट्रवादी चीन ने इस अधिकार का प्रयोग बहुत ही कम किया है और संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा अभी तक कभी भी इसका प्रयोग नहीं किया गया है। सोवियत रूस का तर्क है कि सुरक्षा परिषद् में पश्चिमी शक्तियों के बहुमत के मुकाबले अपने हितों की रक्षा करने का उसके पास एकमात्र उपाय निषेधाधिकार और विरोधी प्रस्तावों को रद्द कर देना ही है।

निषेधाधिकार के विपक्ष में तर्क

(1) पाँच महान् राष्ट्रों को निषेधाधिकार प्रदान करके सभी सदस्यों को समानता का स्तर देने सम्बन्धी संयुक्त राष्ट्रसंघीय सिद्धान्त का प्रसार किया गया है। निषेधाधिकार छोटे राष्ट्रों पर जबर्दस्ती लादा गया। महाशक्तियों के दबाव के कारण उन्हें संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर को निषेधाधिकार के अनुच्छेद सहित स्वीकार करना पड़ा था। न्यूजीलैण्ड के एक प्रतिनिधि के अनुसार, "पाँचों महान् शक्तियों ने सान-फ्रान्सिसको में निषेधाधिकार पर बल दिया अन्य शक्तियों को विवश होकर उसे स्वीकार करना पड़ा। निषेधाधिकार की तुलना ऐसी शादी से की जा सकती है जो बन्दूक के जोर से की गई हो। यदि इस प्रश्न पर सम्मेलन के प्रतिनिधियों के मत स्वतन्त्रता-पूर्वक लिए जाते तो यह अवश्य ही स्वीकार कर लिया जाता।"

(2) निषेधाधिकार के कारण सुरक्षा परिषद् शान्ति एवं सुरक्षा की व्यवस्था में अपने दायित्वों का समुचित रूप से पालन करने में असमर्थ हो गई है। यह

अधिकार अन्तर्राष्ट्रीय विवादो के शांति-पूर्ण समाधान मे सबसे बड़ा बाधक है। राष्ट्रसघ के एक भूतपूर्व महासचिव त्रिवेली ने स्पष्ट कहा था कि विश्व-सस्था "निषेधाधिकार के कारण नपुन्सक है। यह महाशक्तियो के सघर्ष द्वारा पक्षाघातग्रस्त कर दी गई है।"

(3) निषेधाधिकार पृष्ठपोषक राज्यों (Client States) की एक बुरी राजनीतिक व्यवस्था को जन्म दे सकता है। यह सभव है कि प्रत्येक स्थायी सदस्य अपने मित्र-राष्ट्रो को निषेधाधिकार का सरक्षण प्रदान करे। इस प्रकार यह भय उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि सयुक्त राष्ट्रसघ के सदस्य स्थायी-सदस्यो के नेतृत्व म अनेक गुटो मे विभक्त हो जायेंगे। यह भय निराधार नही है। क्योंकि अमेरिका और रूस के नेतृत्व म दो शक्तिशाली गुट पहले ही जन्म ले चुके हैं और लालचीन को सघ में प्रवेश और सुरक्षा परिषद् मे स्थायी सदस्यता प्राप्त होन से वह सभवतः अपने नेतृत्व मे एक तीसरे तेसे गुट को खडा करन से बाज नही आयेगा जो उग्र और विनाशक रवैया अपना कर सयुक्त राष्ट्रसघ के उद्देश्य को ही निरस्त करने का प्रयत्न करेगा।

(4) निषेधाधिकार के कारण सुरक्षा परिषद् में जो गतिरोध उत्पन्न होते रहे हैं, उनसे विश्व राज्यो की सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था की आस्था बुरी तरह डगमगा गई है। यह कहना अमगत न होगा कि भय को सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था की अक्षमता की ओर कर ही नाटो, सीटो जैसे प्रादेशिक सुरक्षा सगठनो को जन्म दिया गया है।

(5) निषेधाधिकार के दुरुपयोग के कारण कोई स्वतन्त्र राष्ट्र अनेक वर्षो तक सयुक्त राष्ट्रसघ के सदस्य न हो पाये और आज भी कुछ राष्ट्रो का सघ मे प्रवेश अटका हुआ है। निषेधाधिकार का दुरुपयोग इस रूप मे भी सभव है कि कोई स्थायी सदस्य किसी सदस्य को हटाये जाने और मुअत्तिल करने से रोक सकता है, महासचिव की नियुक्ति को खटाई मे डाल सकता है तथा चार्टर मे उपयोगी सशोधन को ठुकरा सकता है।

आलोचको का आरोप है कि निषेधाधिकार द्वारा महाशक्तियो को सयुक्त राष्ट्र व्यवस्था पर आधिपत्य प्राप्त हो गया है। हंस केल्सन के अनुसार महाशक्तियो का यह अधिकार अन्य सभी सदस्यो पर कानूनी प्रभुसत्ता स्थापित करता है, यह उनके निरंकुश और स्वच्छन्द शासन का सूचक है। इसके कारण सयुक्त राष्ट्रसघ में वास्तविक और वाछित निर्णय नही हो पाते।

निषेधाधिकार के तर्क

निषेधाधिकार की आलोचनाओ में वजन है तथापि कुछ व्यावहारिक तथ्यो की उपेक्षा की जाना अनुचित है। निषेधाधिकार की व्यवस्था को विसर्जित करने मे जो खतरे निहित हैं वे इस व्यवस्था के बने रहने के खतरो मे कहीं अधिक भयावह हैं। किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय सगठन को सफलता तभी मिल सकती है जब उसे विश्व की महा-शक्तियो का सहयोग प्राप्त हो और ये महाशक्तियां किसी भी ऐसी सस्था में भाग नहीं लेना चाहेंगी जिसमे अन्य देश केवल अपने बहुमत से उन्हें किसी कार्य करन

अथवा न करने के लिए बाध्य करदे। इसे रोकने का एकमात्र उपाय निषेधाधिकार ही है। गुमेल के शब्दों में, "इसके निर्माताओं ने यह स्पष्ट ही समझा था कि यदि सुरक्षा परिषद् किसी महान् राज्य के विचार के विरुद्ध कोई कार्यवाही करती है तो इसका अर्थ विश्व-शांति नहीं वरन् युद्ध होगा।" ए. ई. स्टीवेन्स ने ठीक ही लिखा है कि "मतैक्य के नियम का जन्म अन्तर्राष्ट्रीय जीवन की वास्तविकताओं में होता है। यदि 5 महान् राज्य किसी मामले पर राजी नहीं होते हैं तो उनमें से किसी के विरुद्ध शक्ति का प्रयोग एक बड़े युद्ध को जन्म देगा। संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना इसी संभावना से बचने के लिए हुई थी।"

निषेधाधिकार असहमति-सूचक लक्षण है न कि इसका कारण। अतः निषेध व्यवस्था के समाप्त कर देने से महाशक्तियों के मतभेद दूर नहीं होंगे और न ही इससे कोई बड़ा लाभ होगा। यदि निषेधाधिकार की व्यवस्था न की होती तो भी सुरक्षा परिषद् में गत्यावरोध उत्पन्न करने की दूसरी युक्तियां निकाल ली जातीं और उनका भी उतना ही दुरुपयोग किया जाता जितना कि वर्तमान निषेधाधिकार व्यवस्था का किया जा रहा है। महाशक्तियों की असहमति की उपेक्षा कर देने की व्यवस्था का स्पष्ट परिणाम वही होगा जो राष्ट्रसंघ के साथ हो चुका है अर्थात् कुछ सदस्य संयुक्त राष्ट्रसंघ से त्यागपत्र दे देंगे और तब विश्व-संस्था उसी तरह हो जाएगी जिस तरह पूर्ववर्ती विश्व-संस्था हुई थी। निषेधाधिकार के अभाव में संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थिति एक बिन पहिए के रथ के समान हो जाएगी।

यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण है कि निषेधाधिकार के प्रयोग के फलस्वरूप सुरक्षा परिषद् का काम ठप्प हो गया है। अब तक का अनुभव अधिकांशतः यही सिद्ध करता है कि निषेध-शक्ति का इतना अधिक प्रयोग होने के कारण किसी अन्तर्राष्ट्रीय निर्णय लेने में इसने अधिक बाधा नहीं पहुँचायी है। जिन निर्णयों के लेने में यह बाधा बना है, उनके न लेने पर भी विश्व-शांति को किसी प्रकार का खतरा नहीं पहुंचा है। उल्टे कई बार निषेधाधिकार अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को शांतिपूर्ण उपायों से सुलझाने में सहायक हुआ है। जब काश्मीर के प्रश्न पर सुरक्षा परिषद् में ब्रिटेन व अमेरिका ने खुलकर पाकिस्तान का समर्थन किया और निर्लज्जतापूर्वक न्याय का गला घोंटा तब सोवियत रूस के निषेधाधिकार के प्रयोग ने स्थिति को संभालने में और न्याय की रक्षा करने में सहायता प्रदान की।

वास्तव में निषेधाधिकार संघ के विभिन्न पक्षों में सन्तुलन कायम रखने में सहायक सिद्ध हुआ है। यदि निषेध व्यवस्था नहीं होती तो संयुक्त राष्ट्रसंघ पूरी तरह एक गुट विशेष का शस्त्र बन जाता जिसे अपनी मनमानी करने की पूरी छूट मिल जाती।

पुनश्च, निषेधाधिकार को अनेक स्वस्थ परम्पराओं के विकास और व्यावहारिक कदमों ने पूर्वापेक्षा कुछ कम प्रभावशाली बना दिया है। शांति के लिए एकता का प्रस्ताव पास होने के बाद से अब न तो यह अधिकार कोई नया अन्तर्राष्ट्रीय

संघर्ष उत्पन्न करता है और न उसे आगे बढ़ाता है। इसके होते हुए भी महासभा द्वारा अनेक कार्य सम्पादित किये जाते हैं। शान्ति निरीक्षण-आयोग, सामूहिक उपाय समिति आदि की स्थापना द्वारा महासभा ने सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था को निषेध के दुष्प्रभाव को मुक्त कराने का प्रयास किया है।

निष्कर्ष रूप में उपयोगी यह होगा कि नयी सदस्यता और शान्तिपूर्ण समझौतों के सम्बन्ध में तो निषेधाधिकार आंशिक है अतः समाप्त होने चाहिए। परन्तु शान्ति भंग और आक्रमण की स्थिति में सैनिक कार्यवाही के लिए इस अधिकार का प्रयोग बनाये रखना चाहिए, अन्यथा अनेक गम्भीर और नवीन समस्याएं उत्पन्न हो जायेंगी। निषेधाधिकार के प्रयोग की समस्या को श्री गुडरीच एव हैम्बरो ने ठीक प्रकार आंका है। उन्होंने लिखा है—"राष्ट्रों में जो समझौता नहीं हो रहा है उसके कारण निषेधाधिकार का प्रयोग हो रहा है'। उसके लिये किसको उत्तरदायी ठहराया जाय, यह निर्णय करना कठिन है। वास्तव में यह एक राजनीतिक प्रश्न है। अधिकतर रूस ने इस अधिकार का प्रयोग किया है। परन्तु उसका तर्क है कि विरुद्ध बहुमतों से बचने के लिए ही वह इस अधिकार का प्रयोग करता है। यह स्वीकार करना चाहिए कि महाशक्तियों की सर्व-सम्मति और उनकी समान प्रभुता का ही यह अर्थ है कि उनमें मतभेद और सह-सम्मति संभव है। स्थायी सदस्यों में जो आशा से अधिक मतभेद रहे हैं, उनका मूल कारण उनकी नीतियों का मतभेद है जिसने शान्ति-सन्धियों के मार्ग में रुकावट डाली है तथा क्षतिपूर्ण देशों के युद्धोत्तर पुनर्विकास को रोक दिया है।"

सुरक्षा परिषद् की भावी भूमिका
(Future Role of the Council)

यद्यपि सुरक्षा परिषद् ने कोरिया, कांगो पश्चिमी इरियन, यमन, साइप्रस आदि में उत्पन्न खतरनाक परिस्थितियों का सामना करने में अधिकाधिक रुचि और सक्षमता प्रकट की है और 1965 में भारत-पाक युद्ध को रोकने में तेजी से सफल कार्यवाही करने की ख्याति अर्जित की है तथापि अनेक महत्त्वपूर्ण और जटिल मामलों में उसकी नीति तथा कार्यप्रणाली बहुरंगी, दुमुही और शिथिल रही है। उदाहरण के लिए काश्मीर विवाद में सुरक्षा परिषद् ने न्याय का जिस प्रकार गला घोटा है, वह विश्व-शान्ति के गौरव को क्षीण करने वाला है। 1968 में चेकोस्लोवाकिया के संकट में सुरक्षा परिषद् की निष्क्रिय भूमिका विश्व-संस्था के भविष्य के लिए एक चेतावनी है। पाकिस्तान ने पूर्वी बंगाल (1971) में भीषण नरसंहार करते हुए एक करोड़ के लगभग शरणार्थियों को भारत भूमि में भागने के लिए विवश करके ऐसी विकट स्थिति पैदा कर दी है जिससे भारत—पाकिस्तान के बीच प्रत्यक्ष संघर्ष का संकट उठ खड़ा हुआ है और विश्व-शान्ति को गम्भीर खतरा उत्पन्न हो गया है। लेकिन सुरक्षा परिषद्, महासभा, महासचिव आदि सभी इस दिशा में कोई प्रभावशाली

कार्यवाही करने में अभी तक असमर्थ रहे हैं। विश्व संस्था का ऐसे मामले में मूक दर्शक बने रहना उसके लिए घोर कलंक की बात है।

निष्कर्ष यह है कि अनेक मामलो में प्रभावशाली भूमिका अदा करते हुए भी सुरक्षा परिषद् का कुल इतिहास इसके निर्माताओं की आशा के अनुकूल रहा है। परिषद् महाशक्तियों के हाथों का खिलौना बन कर रह गई है। वास्तव में विश्व-संस्था और सपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय जगत पर सुरक्षा परिषद् का भावी प्रभाव बहुत कुछ इसी बात पर निर्भर रहेगा कि वह शान्ति और सुरक्षा के मामलों में प्रभावशाली कार्यवाही करने में कितनी समर्थ सिद्ध होती है। शीत-युद्ध सयुक्त राष्ट्रसंघीय वित्तीय प्रबन्ध, महासभा के बढ़ते हुए क्षेत्र, परिषद् की सदस्यता-विस्तार के फलस्वरूप बढ़ते हुए गठबन्धन और दबाव आदि अनेक ऐसे तत्व हैं जो परिषद् की भावी भूमिका पर विपरीत प्रभाव डाल सकते हैं। यदि सुरक्षा परिषद् को अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति व सुरक्षा की स्थापना की दिशा में निर्णायक भाग अदा करते हुए देखना है तो यह बहुत कुछ महाशक्तियों के सहयोग पर निर्भर है। यदि परिषद् के स्थायी सदस्य के गौरव को बनाये रखने में सहायक होंगे तभी परिषद् का भविष्य सुरक्षित रह सकेगा। यह अनुपयुक्त नहीं होगा कि परिषद् को शक्तिशाली बनाये रखने के लिए नये सन्दर्भों के प्रकाश में चार्टर में कुछ अनुकूल संशोधन किये जांय।

9

आर्थिक एवं सामाजिक परिषद्, न्यास-परिषद् तथा अन्तर्राष्ट्रीय-न्यायालय

(ECONOMIC AND SOCIAL COUNCIL, TRUSTEESHIP COUNCIL AND INTERNATIONAL COURT OF JUSTICE)

"अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय संयुक्त राष्ट्रसंघ का महत्वपूर्ण अङ्ग है। यद्यपि यह पूर्ण नहीं है, इसके पास वह सत्ता और अधिकार नहीं है जो इसे प्राप्त होने चाहिए, फिर भी यह एक महान् विचार का मूर्त रूप है—एकमात्र यही विचार राष्ट्रों में शान्ति व सद्भावना लाने वाला है। इस विचार के अनुसार जैसे व्यक्ति आपस में विवाद होने पर एक दूसरे का गला काटने को नहीं दौड़ते वैसे ही राष्ट्रों को भी आपस में मतभेद होने पर शस्त्रों का सहारा नहीं लेना चाहिए बल्कि एक स्वतन्त्र और निष्पक्ष न्यायालय के निर्णयों को स्वीकार करना चाहिए।"

—एम सी. दासता

संयुक्त राष्ट्रसंघ के 6 महत्वपूर्ण अंगों में आर्थिक और सामाजिक परिषद, न्यास परिषद् तथा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का अपना विशिष्ट स्थान है। प्रस्तुत अध्याय में हम तीनों अंगों के सारभूत स्वरूप को प्रकट करेंगे।

आर्थिक और सामाजिक परिषद्
(Economic and Social Council)

आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् विश्व के लोगों में आर्थिक, सामाजिक, शैक्षणिक, सांस्कृतिक एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी क्षेत्रों में विभिन्न कार्य करती है। यह अपने सहायक अंगों द्वारा मानव-जीवन के व्यापक क्षेत्रों का अध्ययन करती है और उस आधार पर व्यापक कदम उठाने की सिफारिशें करती है।

संगठन एवं कार्य-प्रणाली

अगस्त, 1965 में चार्टर में संशोधन के उपरान्त इस परिषद् के सदस्यों की संख्या बढ़कर 18 से 27 कर दी गई है जिनमें से 9 सदस्य प्रति तीन वर्ष के लिए

चुने जाते हैं अर्थात् एक तिहाई सदस्य हर तीसरे वर्ष पद-त्याग कर देते हैं। पद-निवृत्त सदस्य तुरन्त पुनः चुनाव में खड़ा हो सकता है। परिषद् में, चार्टर के अनुच्छेद 61 (4) के अनुसार प्रत्येक सदस्य राष्ट्र का एक प्रतिनिधि होता है। इसमें न तो किसी राष्ट्र को निषेधाधिकार प्राप्त है और न ही स्थायी सदस्यता। सदस्यों की योग्यता के सम्बन्ध में कोई लिखित निर्देश नहीं हैं। महासभा अपनी इच्छानुसार किसी भी सदस्य राष्ट्र को इस परिषद् में चुन सकती है। सभी निर्णय उपस्थित सदस्यों के साधारण बहुमत द्वारा किये जाते हैं। गैर-सदस्य राष्ट्र को, यदि परिषद् में प्रस्तुत मामले से वह सम्बन्धित है, विचार-विमर्श में भाग लेने के लिए बुलाया जा सकता है, पर उसे मतदान का अधिकार नहीं होता। इसके अतिरिक्त गैर-सरकारी राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों से भी आवश्यकतानुसार परामर्श लेने की व्यवस्था है, किन्तु ये संगठन परिषद् की बैठकों में शामिल नहीं हो सकते। परिषद् की बैठक वर्ष में प्रायः दो बार न्यूयार्क तथा जेनेवा में होती है। परिषद् अपनी क्रियाविधि के नियम स्वयं ही बनाती है।

कार्य एवं लक्ष्य

आर्थिक एवं सामाजिक परिषद्, महासभा के अधीन संसार से गरीबी और हीनता को मिटाकर एक स्वस्थ एवं समुन्नत विश्व के निर्माण में प्रयत्नशील है। यदि विभिन्न राष्ट्रों के बीच सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि क्षेत्रों में विवाद हो तो परिषद् उन्हें मिटाने का प्रयत्न करती है और विश्व के चहुँमुखी विकास में सभी देशों के सहयोगपूर्ण दृष्टिकोणों को प्रोत्साहन देती है।

पिछड़े हुए देशों के आर्थिक विकास के लिए इस संस्था द्वारा आर्थिक एवं प्राविधिक सहायता योजनाओं की स्थापना की गई है। परिषद् की प्राविधिक सहायता-समिति का मुख्य उद्देश्य ही दुःख और दरिद्रता से मानव-जाति को छुटकारा दिलाना है। यह अर्ध-विकसित देशों को विशेषज्ञ भेजती है और उन्हें मशीनों, यन्त्रों, उपकरणों आदि की पूर्ति के लिए आर्थिक सहयोग देती है। परिषद् का मुख्य लक्ष्य मानव-अधिकारों को प्रोत्साहन देना है। इस दायित्व की पूर्ति के लिए परिषद् द्वारा विभिन्न आयोग स्थापित किये गये हैं। परिषद् ने शरणार्थियों तथा राज्यहीन व्यक्तियों के लिए नियम बनाये हैं। ट्रेड यूनियनों के अधिकारों, दासता और बेगार का अध्ययन किया है। स्त्रियों की स्थिति पर, सूचना एवं ट्रेड्स की स्वतन्त्रता पर आयोग स्थापित किया है तथा इन विषयों में विभिन्न समझौतों के प्रारूप तैयार किये हैं। आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् के कार्य बड़े महत्वपूर्ण, व्यापक और दूरगामी हैं जिन्हें सम्पन्न करने के लिए अनेक आयोगों, विशेषीकृत अभिकरणों तथा समितियों की स्थापना की गई है। परिषद् में आयोगों के दो रूप हैं—कार्यात्मक और प्रादेशात्मक। प्रथम वर्ग में वित्तीय आयोग, जनसंख्या आयोग, सामाजिक आयोग, मानव अधिकारों सम्बन्धी आयोग, स्त्रियों की स्थिति सम्बन्धी आयोग आदि

हैं। प्रादेशिक या क्षेत्रीय आयोगों में यूरोप के लिए आर्थिक आयोग, एशिया तथा सुदूरपूर्व के लिए आर्थिक आयोग आदि उल्लेखनीय हैं। इन आयोगों के अलावा परिषद् में अनेक विशेष अभिकरणों (Specialised Agencies) शामिल हैं। उदाहरण के लिए खाद्य एवं कृषि संगठन, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (I. L. O) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष, विश्व-स्वास्थ्य-संगठन, आदि।

परिषद् की स्थायी समितियों में मुख्य ये हैं—प्राविधिक सहायता समिति, अन्तर्राष्ट्रीय-संस्थाओं से वार्तालाप करने वाली समिति, गैर-सरकारी संगठनों या संस्थाओं से परामर्श की व्यवस्था करने वाली समिति, कार्यावली समिति और बैठकों के कार्यक्रमों की अन्तरिम समिति। इन समितियों में प्राविधिक सहायता समिति सबसे महत्वपूर्ण है।

प्रो. फेनविक का यह मत सही है कि आर्थिक व सामाजिक परिषद् कोई नीति निर्धारित करने वाली संस्था नहीं है वरन् विशिष्ट समिति के समान है जिसका उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक एवं सामाजिक सहयोग के क्षेत्र में व्यावहारिक काम करना है। कुछ समालोचकों का मत है कि यह परिषद् "कानूनी सुरक्षा परिषद् की और कठिन है।"

न्यास परिषद्
(Trusteeship Council)

चार्टर के अध्याय 12 के अनुच्छेद 75 से 85 तक अन्तर्राष्ट्रीय न्यास व्यवस्था (International Trusteeship System) और अध्याय 13 में 1986 से 91 तक न्यास परिषद् के संगठन, कार्य एवं अधिकार, मतदान, कार्यविधि आदि पर प्रकाश डाला गया है। पहले राष्ट्रसंघ में संरक्षण-व्यवस्था (Mandate System) थी और बहुत कुछ इसके स्थान पर न्यास व्यवस्था अपनायी गई है जिसका मुख्य सिद्धान्त यह है कि विश्व में अनेक पिछड़े हुए तथा अविकसित प्रदेश हैं जिनका विकास तभी सम्भव है जबकि सभ्य और उन्नत देश उन्हें सहयोग प्रदान करें। अतः उन्नत देशों का यह कर्तव्य है कि वे अपने आप को न्यासी (Trustee) समझकर अविकसित प्रदेशों के हितों की देख-भाल करते हुए उनके विकास में हर सम्भव सहयोग दें। राष्ट्रसंघ की संरक्षण व्यवस्था और वर्तमान न्यास-व्यवस्था में एक बड़ा अन्तर यह है कि जहाँ संरक्षण व्यवस्था केवल जर्मनी, टर्की आदि से पीड़ित प्रदेशों के लिए थी वहाँ न्यास पद्धति का क्षेत्र उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद द्वारा पराधीन बनाये गये सभी क्षेत्रों के लिए है। न्यास पद्धति के मूल उद्देश्य हैं—(क) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा को बढ़ाना, (ख) न्यास प्रदेशों के निवासियों के, स्वशासन की दिशा में विकास करना, (ग) मानव अधिकारों और मूल स्वतन्त्रताओं के प्रति सम्मान की भावना को प्रोत्साहन देना तथा यह भाव जागृत करना कि संसार के सभी लोग अन्योन्याश्रित हैं, एवं (घ) सामाजिक, आर्थिक वाणिज्यिक मामलों में संयुक्त राष्ट्रसंघ के सब सदस्यों और उनके नागरिकों के प्रति समानता के व्यवहार का विश्वास दिलाना।

न्यास पद्धति के अन्तर्गत आने वाले प्रदेश दो भागों में विभाजित हैं। अस्वशासित प्रदेश (Non-Self Governing Territories), एवं न्यास या संरक्षित प्रदेश (Trust Territories), प्रथम प्रकार के प्रदेश (स्वशासन न करने वाले वे पराधीन प्रदेश तथा उपनिवेश जो सुरक्षित प्रदेश न बना दिये गये हों) ब्रिटेन, फ्रांस आदि पश्चिमी देशों के साम्राज्य के अन्तर्गत आते हैं। दूसरे प्रकार के अर्थात् न्यास प्रदेश वे हैं जो न्यास समझौतों के द्वारा, जो कि सम्बन्धित राज्यों के मध्य होते हैं और जिन पर महासभा की स्वीकृति अनिवार्य है, न्यास प्रदेश बना दिये जाते हैं।

कुछ वर्षों के पूर्व न्यास पद्धति के अन्तर्गत न्यूगिनी, रूआण्डाउरुण्डी, फ्रेन्च कैमरून्स, फ्रेन्च टोगोलैण्ड, पश्चिमी समोआ, टांगानिका, ब्रिटिश कैमरून, नौरू, प्रशान्त महासागर द्वीप, सुमाली लैण्ड, टोगोलैण्ड नामक 11 देश थे जिनमें से अब केवल दो प्रदेश ही न्यास प्रदेश रह गए हैं और वे हैं न्यूगिनी तथा पपुआ।

संगठन एवं कार्य-प्रणाली

न्यास परिषद् का कार्य मार्च, 1947 से जारी है। इस परिषद् में सब में निम्नलिखित सदस्य शामिल हो सकते हैं—

(i) सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्य, चाहे वे न्यास प्रदेश पर प्रशासन करते हैं अथवा नहीं करते हैं।

(ii) संयुक्त राष्ट्रसंघ के वे सदस्य जो न्यास क्षेत्र का प्रशासन करते हों।

(iii) महासभा द्वारा तीन वर्ष के लिए निर्वाचित किए जाने वाले उतने सदस्य जितने न्यास परिषद् में न्यास प्रदेशों पर शासन करने और न करने वाले सदस्यों की संख्या को समान करने के लिए आवश्यक हों।

चार्टर की धारा 9वीं में न्यास परिषद् की मतदान प्रणाली का उल्लेख किया गया है। इसके अनुसार परिषद् के प्रत्येक सदस्य का एक वोट होगा। इसके निर्णय परिषद् में उपस्थित तथा मत देने वाले सदस्यों के बहुमत से किए जायेंगे। न्यास परिषद् अपनी कार्य विधि के नियम स्वयं बनाती है। अपने अध्यक्ष चुनने का तरीका भी वह स्वयं निर्धारित करती है। न्यास परिषद् की बैठकें नियमानुसार की जाती हैं। सदस्यों की प्रार्थना पर विशेष बैठक भी बुलायी जा सकती है। यह परिषद् आवश्यकतानुसार आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् और अन्य संस्थाओं से सहायता ले सकती है। आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् को अधिकार है कि वह सामान्य आर्थिक एवं सामाजिक समस्याओं का अध्ययन करे अथवा उनके विषय में अपनी सिफारिशें प्रस्तुत करे। यदि उस परिषद् को न्यास-प्रदेशों के सम्बन्ध में विशेष सिफारिश करनी हो तो उसे न्यास परिषद् की सम्मति लेनी पड़ेगी। यदि न्यास प्रदेशों के सम्बन्ध में मानव-अधिकारों, महिलाओं की स्थिति आदि के बारे में सिफारिशें हों तो उन पर सब से पहले न्यास परिषद् में विचार किया जायगा।

यह व्यवस्था है कि विशेष अभिकरणों (Specialised Agencies को) संयुक्त राष्ट्र के क्षेत्राधिकार में लाने के लिए जो विचार विमर्श किया जाय उसमें न्यास परिषद् तथा आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् के प्रतिनिधि साथ-साथ सम्मिलित हो सकते हैं। चार्टर के अनुसार महासभा ने न्यास परिषद् को यह अधिकार भी दे रखा है कि वह अपने कार्यों के संबंध में वैधानिक प्रश्नों पर अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय से परामर्श देने के लिए प्रार्थना करे।

कार्य एवं अधिकार

न्यास परिषद् महासभा से आदेश लेती है और न्यास-प्रदेशों के शासन की देख-रेख करती है। प्रशासी अधिकारी अपने प्रतिवेदन प्रति वर्ष न्यास परिषद् के समक्ष रखते हैं जिन पर आवश्यक विचार-विमर्श करने के उपरान्त परिषद्, महासभा और सुरक्षा परिषद् के समक्ष अवसरानुकूल विभिन्न प्रकार की सिफारिशें भेजती है। न्यास परिषद् की सिफारिशें इस प्रकार की रहती हैं, जैसे मूल निवासियों को सरकार के विभिन्न अंगों में स्थान दिया जाय, उनके वेतन एवं जीवन स्तर को बढ़ाया जाय, चिकित्सा तथा अधिक लाभप्रद स्वास्थ्य सेवाएं सुलभ की जायं, दण्ड पद्धति में सुधार हो, सामाजिक कुरीतियों का अन्त करते हुए मूल निवासियों की कला एवं संस्कृति को प्रोत्साहन दिया जाय आदि। न्यास परिषद् ने न्यास भू-भागों में होने वाले अणु विस्फोटों पर भी विचार किया था।

न्यास परिषद् का दूसरा मुख्य कार्य न्यास प्रदेशों के निवासियों के लिखित एवं मौखिक आवेदन-पत्रों पर विचार करना है। यह परिषद् की सर्वाधिक महत्वपूर्ण गतिविधि है जिसके माध्यम से परिषद् और न्यास प्रदेशों की जनता के मध्य सीधा सम्पर्क स्थापित हो जाता है। अपने अल्पकाल में न्यास परिषद् ने विभिन्न प्रश्नों से संबंधित हजारों याचिकाओं पर विचार किया है जिनमें कुछ व्यक्तिगत रही हैं और कुछ साधारण। परिषद् ने सब प्रकार की याचिकाओं पर पूरी तरह ध्यान देने का प्रयत्न किया है।

न्यास परिषद् का तीसरा महत्वपूर्ण कार्य न्यास प्रदेशों को समय-समय पर निरीक्षक मण्डल (Visiting Missions) भेजना है। इन मण्डलों के माध्यम से पराधीन प्रदेशों पर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण रखा जाता है। इनको परिषद् की आँख और कान कहा गया है। न्यास परिषद् के प्रति उत्तरदायी होने के कारण ये स्वतन्त्र और निष्पक्ष अन्वेषण कर सकते हैं। ये न्यास प्रदेशों के आर्थिक विकास, शिक्षा-प्रसार, श्रम-व्यवस्था, सामाजिक-सुधार, भूमि-सुधार आदि से संबंधित नीतियों का अध्ययन करते हैं और सुधार के लिए आवश्यक सुझाव देते हैं। पिछड़े हुए प्रदेशों की जटिल समस्याओं का ज्ञान होने में इन निरीक्षक मण्डलों से बड़ी सहायता मिली है। डब्ल्यू. एच. कोटरल महोदय के अनुसार "जब निरीक्षक मण्डल न्यास भू-भागों का भ्रमण

करता है तो वहां की जनता मे ऐसा लगता है मानो संयुक्त राष्ट्र ही उनके समक्ष आ गया हो।"[1] राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत ऐसा कभी नही होता था।[2]

न्यास परिषद् महत्वपूर्ण निर्णय स्वयं ही करती है तथापि अपने कार्य को तत्परता से सम्पन्न करने अथवा किसी विशेष समस्या को हल करने के लिए समय-समय पर इसने कई समितियां स्थापित की हैं—शिक्षा समिति, ग्रामीण विकास समिति एवं प्रशासी संघ समिति। महासभा की चौथी समिति और स्वयं महासभा ने न्यास पद्धति के विकास में काफी हाथ बंटाया है।

न्यास परिषद् ने अपने 23 वर्ष के कार्यालय में बहुत उपयोगी कार्य किये हैं। महासभा जनरल सी. पी. रोम्युलो के अनुसार "न्यास पद्धति ने शीघ्रता से विकास किया है और यह विकास विश्व में राजनीतिक नैतिकता का ऊंचा मापदण्ड है।"[3] इस परिषद् के गंभीर प्रयासों, महाशक्तियों के सहयोग तथा बदलती हुई राजनीतिक परिस्थितियों के फलस्वरूप आज एक दो को छोड़ कर लगभग सभी न्यास भू-भाग स्वाधीन कर दिये गये हैं और अब वह समय दूर नहीं है जब न्यास पद्धति को समाप्त करना पड़े क्योंकि इसके लिए तब कोई भी कार्य शेष नहीं रह जायगा।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय
(The International Court of Justice)

यह संयुक्त राष्ट्रसंघ का न्यायिक अंग है। यह वही पुराना अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय है जिसे राष्ट्रसंघ ने 1901 में हेग में स्थापित किया था। नवीन न्यायालय अपने पूर्ववर्ती की अपेक्षा कई प्रकार से श्रेष्ठ है। इसकी स्थापना संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर तथा न्यायालय संबंधी परिशिष्ट के आधार पर की गई है। अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय का कार्य-क्षेत्र संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य राज्यों के सभी विवादों तक व्याप्त है। गैर-सदस्य राज्य को भी सुरक्षा-परिषद् की सिफारिश पर अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय का पक्ष बनाया जा सकता है। केवल राज्य ही इस न्यायालय के विचारणीय पक्ष हो सकते हैं, व्यक्ति नहीं।

संगठन एवं कार्य-प्रणाली

इस न्यायालय में केवल 15 न्यायाधीश होते हैं जिनका चुनाव सुरक्षा परिषद् एवं महासभा द्वारा 9 वर्ष के लिए किया जाता है और कार्य विधि की समाप्ति के बाद जो पुनः निर्वाचित हो सकते हैं। न्यायाधीशों का चुनाव करते समय उनकी राष्ट्रीयता पर विचार नहीं किया जाता। एक राज्य से दो न्यायाधीश नहीं लिए जा सकते। यह प्रयत्न किया जाता है कि न्याय-व्यवस्था में विश्व की सभी न्याय व्यवस्थाओं को प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाय। न्यायाधीश पदासीन रहते हुए किसी अन्य व्यवसाय में भाग

1. *The Annals of the American Academy of Political and Social Science*: July, 1956, p. 56.
2. *Foreign Affairs*: Jan., 1957, p. 304.
3. *For Trust Territories* (A U. N. Publication) p. 24.

नहीं ले सकते। न्यायाधीश की पदच्युति भी हो सकती है जब वह सदस्यों की सर्वसम्मति से आवश्यक शर्तों को भंग करने का दोषी पाया जाय। न्यायाधीशों को अनेक विशेषाधिकार और उन्मुक्तियां प्राप्त हैं।

न्यायालय के विधान के अनुसार इसमें 15 न्यायाधीशों के अतिरिक्त अस्थायी न्यायाधीश नियुक्त करने की भी व्यवस्था है। यदि न्यायालय में किसी ऐसे राज्य का मामला विचारणीय है जिसका 15 न्यायाधीशों में प्रतिनिधित्व नहीं है तो वह अपना एक कानूनी विशेषज्ञ मामले की सुनवाई के दौरान अस्थायी न्यायाधीश के रूप में नियुक्त करा सकता है। यह न्यायाधीश मामले की सुनवाई समाप्त होते ही पद से हट जाता है। उससे मामले के सम्बन्ध में कानूनी राय ली जाती है किन्तु निर्णय में उसका कोई हाथ नहीं रहता।

अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय की गणपूर्ति 9 रखी गई है। जब तक इतने न्यायाधीश नहीं होते न्यायालय की कार्यवाही आरम्भ नहीं की जा सकती।

न्यायालय में सभी निर्णय बहुमत से लिए जाते हैं। बहुमत न होने पर सभापति का निर्णायक मत मान्य होता है। न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध कोई अपील नहीं की जा सकती। विशेष परिस्थितियां उत्पन्न होने पर न्यायालय अपने निर्णयों पर पुनर्विचार कर सकता है।

न्यायालय में भाषा फ्रेंच तथा अंग्रेजी है। अन्य भाषाओं को भी अधिकृत रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है। अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय अपनी कार्यविधि और नियमावली स्वयं तैयार करता है। न्यायालय का व्यय महासभा द्वारा तय किये गये अनुपात में संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा उठाया जाता है। अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्याय प्राप्त करने के लिए उपस्थित होने वाले देशों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया गया है—

(1) वे सभी राष्ट्र जो अंतर्राष्ट्रीय सुविधाओं का प्रयोग करने की शक्ति स्वयं ही प्राप्त कर लेते हैं तथा जिन्होंने संघ के चार्टर पर हस्ताक्षर कर दिये हैं। हस्ताक्षर होते ही यह मान लिया जाता है कि संबंधित देश ने अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय संबंधी कानूनी व्यवस्था को स्वीकार कर लिया है।

(2) वे राष्ट्र जिन्होंने अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय संबंधी कानून पर हस्ताक्षर नहीं किये हैं किंतु सुरक्षा परिषद् द्वारा निर्धारित शर्तों पर अपने विवादों में अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय में विचारार्थ उपस्थित किये जाने की बात स्वीकार कर ली है।

(3) वे राष्ट्र जिन्होंने संघ के घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर नहीं किये हैं परन्तु जो अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय संबंधी कानून पर हस्ताक्षर कर न्यायालय की सुविधाओं का उपयोग करने के लिए उत्सुक हैं।

न्यायिक निर्णय का निष्पादन

संयुक्त राष्ट्रसंघ के निर्णयों को क्रियान्वित करने के लिए संघ के चार्टर की धारा 94 में व्यवस्था की गई है। इसके अनुसार संघ का प्रत्येक सदस्य यह प्रतिज्ञा करता है कि वह किसी मामले में विवादी होने पर अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय के फैसले

को मानेगा। यदि एक पक्ष न्यायालय के निर्णय को नहीं मानता तो दूसरा पक्ष सुरक्षा परिषद् का आश्रय ले सकता है। सुरक्षा परिषद् जैसा आवश्यक समझे वैसी सिफारिश अथवा कार्यवाही करेगी। न्यायालय के निर्णय यद्यपि सर्वसम्मति से लिए जाते हैं फिर भी प्रत्येक न्यायाधीश अपना पृथक् विचार निर्णय-पत्र के साथ नत्थी कर सकता है।

न्यायालय के निर्णय को कार्यान्वित कराने के लिए आवश्यक कार्यवाही तय करते समय सुरक्षा-परिषद् के 9 सदस्यों की स्वीकृति आवश्यक है। इसमें से पांच स्थायी सदस्य भी होने चाहिए। क्रियान्विति के उपाय धारा 41 तथा 42 में निर्मित हुए हैं। प्रथम के अनुसार सुरक्षा परिषद् सैनिक बल प्रयोग को छोड़कर ऐसे उपायों का प्रयोग कर सकती है जिसमें आर्थिक सम्बन्ध, रेल, समुद्र, डाक, रेडियो, यातायात के साधन तथा राजनीतिक सम्बन्धों का विच्छेद शामिल है। यदि ये उपाय असफल हो जायें तो धारा 42 के अनुसार सुरक्षा परिषद् जल, स्थल और वायुसेना द्वारा ऐसी कार्यवाही कर सकती है जो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के लिए आवश्यक है।

क्षेत्राधिकार

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का क्षेत्राधिकार तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—ऐच्छिक क्षेत्राधिकार, अनिवार्य क्षेत्राधिकार तथा परामर्शदात्री क्षेत्राधिकार। ऐच्छिक क्षेत्राधिकार (Voluntary Jurisdiction) के अन्तर्गत न्यायालय, अपनी संविधि (Statute) की धारा 36 के अनुसार, उन सभी मामलों पर विचार कर सकता है जिनका सम्बन्ध राज्य न्यायालय के सम्मुख प्रस्तुत करें।

अनिवार्य क्षेत्राधिकार (Obligatory Jurisdiction) के वैकल्पिक आवश्यक क्षेत्राधिकार (Optional Compulsory Jurisdiction) भी कहा जाता है जिसके अनुसार राज्य स्वयं घोषणा करके अग्रांकित क्षेत्रों में न्यायालय के आवश्यक क्षेत्राधिकार को स्वीकार कर लेता है :—सन्धि की व्याख्या, अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र में सम्बन्धित सभी मामले, किसी ऐसे तथ्य का अस्तित्व जिसके सिद्ध होने पर किसी अन्तर्राष्ट्रीय कर्त्तव्य का उल्लंघन समझा जाय तथा किसी अन्तर्राष्ट्रीय विधि के उल्लंघन पर क्षतिपूर्ति का रूप और परिणाम। राज्य घोषणा करते समय कोई भी शर्त लगा सकता है। कभी-कभी तो ऐसी शर्तों के कारण यह घोषणा वास्तविक व्यवहार में निरर्थक बन जाती है। तथापि, सशर्त होते हुए भी वैकल्पिक धारा अनिवार्य न्यायिक निर्णय की सर्वाधिक व्यापक और महत्वपूर्ण व्यवस्था है।

परामर्शदात्री क्षेत्राधिकार (Advisory Jurisdiction) के अन्तर्गत न्यायालय द्वारा परामर्श देने का कार्य सम्पन्न किया जाता है। महासभा अथवा सुरक्षा-परिषद् किसी भी कानूनी प्रश्न पर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का परामर्श मांग सकती हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ के दूसरे अंग तथा विशेष अभिकरण भी उनके अधिकार क्षेत्र में उठने वाले कानूनी प्रश्नों पर न्यायालय का परामर्श प्राप्त कर सकते हैं। परामर्श के लिए न्यायालय के सम्मुख लिखित रूप में प्रार्थना की जाती है। इस प्रार्थना पत्र में सम्बन्धित

प्रश्न का विवरण तथा वे सभी दस्तावेज होते हैं जो उस प्रश्न पर प्रकाश डाल सकते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का परामर्श केवल परामर्श होता है और सिद्धान्त रूप मे सुरक्षा परिषद्, महासभा या अन्य सस्था इसकी अवहेलना कर सकती है, पर व्यवहार मे ऐसा करना सर्वथा कठिन रहा है।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने अनेक महत्वपूर्ण विवादो के समाधान मे सहयोग दिया है। उदाहरण के लिए, मोरक्को का मामला, एग्लो-ईरानियन का मामला, भारतीय प्रदेशों मे से पुर्तगाल को मार्ग देने के अधिकार का विवाद, कोरफू-चेनल विवाद, एग्लो-नार्वेजियन मछलीगाह विवाद आदि को लिया जा सकता है। न्यायालय के कार्य-सचालन मे विभिन्न देशो तथा गुटो ने बाधा डाली है। राज्यों की अवहेलना असहयोगपूर्ण दृष्टिकोण के कारण यह अधिक उपयोगी तथा शक्तिशाली सस्था नहीं बन सकी है।

10

सचिवालय और महासचिव

(THE SECRETARIAT AND THE SECRETARY GENERAL)

"महासचिव ही एक स्रोत है जिसके पास अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के निष्पक्ष विवरण को अपनाने के लिए आँखें उठी रहती हैं। उसके द्वारा निर्धारित नीतियाँ प्रायः अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण तथा अन्तर्राष्ट्रीय हित को दर्शाती हैं।"

—लियोनार्ड

आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का उदय, वास्तविक अर्थ में स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय सचिवालय के निर्माण के साथ हुआ माना जाना चाहिए।[1] एक स्थायी सचिवालय के बहुद्देशीय और बहुपक्षीय कार्यों वाली संस्थाएं समुचित रूप से प्रभावशाली नहीं हो पाती और अपने दायित्व का ठीक प्रकार निर्वहन नहीं कर पाती। स्थायी सचिवालय होने पर ही अन्तर्राष्ट्रीय संगठन में यह सामर्थ्य पैदा हो जाती है कि वह प्राविधिक सहायता के कार्यक्रमों का संचालन कर सके, शान्ति बनाये रखने सम्बन्धी दायित्वों की पूर्ति की दिशा में आगे बढ़ सके तथा सूचना नियमन और सेवा सम्बन्धी विभिन्न कार्यों को निभा सके। स्थायी सचिवालय होने पर ही बहुत कुछ वह क्षमता भी आ जाती है कि संगठन अन्तर्राष्ट्रीय घटनाचक्र पर कुछ स्वतन्त्र प्रभाव भी डाल सके।[2]

संयुक्त राष्ट्र का सचिवालय
(Secretariat of the U. N.)

राष्ट्रसंघ और अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ के अनुभव से लाभ उठाते हुए संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में एक सचिवालय की व्यवस्था की गई है जो अपनी संरचना में एकात्मक (Unitary) है। चार्टर के अनुच्छेद 97 में उल्लिखित है कि "सचिवालय में महासचिव और संघ की आवश्यकतानुसार कर्मचारी वर्ग रहेगा। महासचिव की नियुक्ति सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर महासभा करेगी। वही संघ का प्रमुख

1. *Plano and Riggs*: opt. cit., p. 171.
2. Ibid, p. 171.

प्रशासक (प्रशासकीय अधिकारी) होगा।" अनुच्छेद 101 के अनुसार, महासचिव संघ के पदाधिकारियों अथवा कर्मचारियों की नियुक्ति करता है। यह व्यवस्था है कि आर्थिक और सामाजिक परिषद् तथा न्यास परिषद् को स्थायी रूप में यथोचित कर्मचारी दिये जाएंगे और संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्य अंगों को भी आवश्यकतानुसार कर्मचारी प्रदान किए जाएंगे। ये कर्मचारी सचिवालय का ही एक भाग होंगे। कर्मचारियों के भर्ती होने और उनकी नौकरी की शर्तों को निर्धारित करने में सबसे अधिक ध्यान इस बात पर दिया जाता है जैसे दक्षता, क्षमता और ईमानदारी के ऊंचे से ऊंचे स्तर कायम हो सकें। विश्व के विभिन्न देशों के कर्मचारी भर्ती किये जाते हैं तथा अधिक से अधिक देशों को सचिवालय की सेवाओं में प्रतिनिधित्व मिल सके। जहां राष्ट्रसंघ और अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के कर्मचारी वर्ग की उच्चतम संख्या एक हजार के लगभग रही वहां आज संयुक्त राष्ट्रसंघीय व्यवस्था में 20 हजार से भी अधिक नियमित असैनिक अथवा नागरिक कर्मचारी (Regular Civilian Employees) सेवारत हैं।[1] संघ के कर्मचारी-मण्डल के विस्तृत भौगोलिक आधार का एक स्पष्ट अनुमान 31 अगस्त, 1965 की निम्नांकित स्थिति से लगाया जा सकता है[2] —

Desirable Ranges and Distribution of UN Staff Subject to Geographical Distribution, 31 August, 1965

Region	Desirable Ranges	Number of Staff
Africa	90–199	124
Asia and the Far East	235–233	236
Europe, Eastern	292–233	167
Europe, Western	316–276	343
Latin America	98–149	159
Middle East	36– 74	67
North America and the Caribbean	456–315	352
Sub total	1,525–1,475	1,448
Non member States		43
Total		1,491

Source : Personal questions, composition of the Secretariat, Report of the Secretary–General, United Nations Document A/6077, October 27, 1965, p. 3

1. Ibid, p. 172.
2. Ibid, p. 183.

महासचिव और उसके कर्मचारी केवल संयुक्त राष्ट्र के प्रति निष्ठावादी हैं। अनुच्छेद 100 में स्पष्टतः उल्लिखित है कि "अपने कर्त्तव्यों" की पूर्ति में महासचिव और कर्मचारी वर्ग किसी राज्य से अथवा संघ के बाहर किसी दूसरे अधिकारी से वे सलाह नहीं मांगेंगे और न ही पायेंगे। अन्तर्राष्ट्रीय अधिकारी हैं और केवल संघ के प्रति उत्तरदायी हैं। वे ऐसा कोई काम नहीं करेंगे जिससे उनकी इस हैसियत पर प्रभाव पड़े। तथापि ऐसे उदाहरण हैं जब अनेक बार उपयुक्त आदर्श के विपरीत काम हुआ है। उदाहरणार्थ, कुछ वर्ष पूर्व साम्यवादी विरोधी आन्दोलन बहुत उग्र होने पर संयुक्त राज्य अमेरिका ने अपने प्रभाव का उपयोग करते हुए महासचिव की सहायता से संघ में कार्य करने वाले लेकिन साम्यवादी प्रवृत्ति वाले कुछ अमेरिकनों को सचिवालय से निष्कासित किया था।

अनुच्छेद 100 (2) के अनुसार संयुक्त राष्ट्रसंघ का प्रत्येक सदस्य वचन-बद्ध है कि वह महासचिव तथा उसके कर्मचारियों के दायित्वों के पूर्ण स्वरूप को मानेगा और उन दायित्वों के निर्वाह में किसी प्रकार का प्रभाव डालने का प्रयत्न नहीं करेगा।

संरचना की दृष्टि से सचिवालय अनेक भागों में बटा हुआ है जो इस प्रकार हैं—

आर्थिक विषय सम्बन्धी विभाग, सामाजिक कार्य सम्बन्धी विभाग, न्याय तथा अस्वाधारित क्षेत्रों से सूचना सम्बन्धी विभाग, सम्मेलन एवं सामान्य सेवाएं, प्रशासकीय एवं वित्तीय सेवाएं, तथा वैधानिक या कानूनी विभाग। महासचिव की सहायता के लिए एक कार्यकारिणी सहायक और एक टेक्नीकल सहायता प्रशासन भी होता है। टेक्नीकल सहायता प्रशासन एक महासंचालक की देख-रेख में कार्य करता है। 1 जनवरी, 1955 से महासचिव का कार्य-भार कम करने के लिए 7 अवर सचिवों की भी नियुक्ति की गई है। महासचिव के कार्यालयों से अनेक कार्यालय सम्बन्धित हैं, जैसे महासचिव का कार्यकारी कार्यालय, वैधिक विषयों का कार्यालय, नियन्त्रक का कार्यालय, सेवी वर्ग कार्यालय तथा विशेष राजनीतिक कार्यों के लिए उपसचिव के कार्यालय। सचिवालय के प्रशासी और कर्मचारी वर्ग में अर्थशास्त्री, समाजशास्त्री, वैज्ञानिक, दुभाषिए, अनुवादक, पुस्तकालयाध्यक्ष, प्रशासक, सपादक, वित्तीय अधिकारी, विधिवेत्ता, फोटोग्राफर, सेवी वर्ग के अधिकारी तथा विशेषज्ञ, सरकारी और संयुक्त राष्ट्र को भेजे गए विदेशी सेवा अधिकारी आदि सम्मिलित हैं।

सचिवालय का प्रधान कार्यालय न्यूयार्क तथा जेनेवा में है किन्तु क्षेत्रीय सेवाओं, प्रादेशिक आयोगों तथा सूचना केन्द्रों के लिए इसके कर्मचारी विश्व के कई भागों में बिखरे रहते हैं। सचिवालय द्वारा बड़े महत्वपूर्ण एवं आवश्यक कार्य सम्पन्न किये जाते हैं। यह संघ के अंगों एवं अभिकरणों की मीटिंग के लिए अनेक सेवाएं प्रदान करता है। यह इन मीटिंगों के लिए अध्ययन करता है तथा पृष्ठभूमि तैयार करता है। यह अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को छोड़कर संघ के अन्य अंगों के लिए सचिवालय सम्बन्धी सेवाएं प्रदान करता है तथा एक कार्यकारिणी की भांति व्यवहार करता है। संयुक्त राष्ट्रसंघ की कार्यवाही के लक्ष्य को ध्यान में रखकर यह प्रत्येक साधन द्वारा हर प्रकार की सूचना एकत्रित करता है।

United Nations Secretariat, 1966.

	Sec.-Gen and Under-Secs.	Directors and Principal Officers	Other Professional Level Staff	General Principal Level	Service Other Levels	Manual Workers	Local Level Positions	Total
Controller	1	9	80	25	81	—	—	196
Legal Affairs	1	5	29	5	24	—	—	64
Personnel	1	7	41	13	79	—	—	141
Int. Staff and Pension Brd. & U. N. Pension Comm.	—	1	4	3	12	—	—	20
Executive Office	2	5	16	4	22	—	—	49
Division of Human Rights	—	2	33	—	21	—	—	56
Office of Under-Secs. for special Pol. Affairs.	2	2	6	2	10	—	—	22
Geneva Office	1	13	225	18	471	75	—	803
Political & Security Affairs	1	9	51	3	27	—	—	91
Trusteeship & Nonself Governing Terr.	1	3	29	3	17	—	14	67
Economic & Social Affairs	4	42	424	41	332	—	—	843
ECE	1	8	87	2	100	—	—	198
ECAFE	1	9	120	—	—	—	205	335
ECLA	1	9	124	—	—	—	235	369
ECA	1	7	133	—	—	—	242	383
Conference Services	1	15	499	79	486	28	—	1108
General Services	1	8	60	48	483	175	—	775
Public Information	1	13	155	16	106	—	230	521
Total	21	167	2116	262	2271	278	926	6041

महासचिव
(The Secretary General)

जैसा कि कहा जा चुका है, महासचिव संघ का प्रमुख प्रशासनिक अधिकारी है जिसकी नियुक्ति सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर महासभा द्वारा की जाती है। महासभा में मत देने वाले और उपस्थित सदस्यों का बहुमत ही उसके चुनाव के लिए काफी है। सुरक्षा परिषद् में मनोनीत होने के लिए 9 सदस्यों का समर्थन जरूरी है। इनमें से 5 स्थायी सदस्यों की सहमति होना आवश्यक है। महासचिव का कार्यकाल 5 वर्ष का होता है तथापि उसका पुनर्निर्वाचन भी किया जा सकता है।

अभी तक के महासचिव

अभी तक महासचिव के पद पर तीन व्यक्तियों ने कार्य किया है—ट्रिग्वेली हैमर शोल्ड तथा ऊ थाण्ट। 1 फरवरी, 1946 को नार्वे के श्री ट्रिग्वेली 5 वर्ष के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रथम महासचिव चुने गए थे। 1950 में जब महासचिव के नाम पर सुरक्षा परिषद् में सहमति न हो सकी तो महासभा ने 1 नवम्बर, 1950 को उनके कार्यकाल को तीन वर्ष के लिए और बढ़ा दिया। किन्तु पुनः निर्वाचन होने के दो वर्ष बाद ही 10 नवम्बर, 1952 को श्री ट्रिग्वेली ने त्याग-पत्र दे दिया। श्री ट्रिग्वेली ने अपने कार्यकाल में महासचिव के अधिकारों को व्यापक बनाया और समय समय पर उनका प्रभावशाली ढंग से प्रयोग किया। कहा जाता है कि श्री ट्रिग्वेली आगे चलकर पश्चिमी गुट की ओर झुक गए।

श्री ट्रिग्वेली के बाद 1953 में स्वीडन के श्री डाग हैमरशोल्ड की नियुक्ति की गई। 16 सितम्बर, 1957 को उन्हें 5 वर्ष के लिए फिर चुन लिया गया। डाग हैमरशोल्ड ने संयुक्त राष्ट्र संघ के कार्यों में बड़ा सक्रिय भाग लिया और शान्तिपूर्ण राजनय की पद्धति को अपनाया। विश्व के अनेक राष्ट्रों ने उनकी योग्यता पर गर्व प्रकट किया। यह कहा गया है कि संकट के समय संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रति उनकी सेवाएं बहुमूल्य रही हैं। न्यूजीलैण्ड के सर लेसली मुनरो ने कहा कि स्वेज नहर संकट के समय श्री हैमर शोल्ड ने जो अन्तर्राष्ट्रीय आपातकालीन सेना संगठित की उसके कारण इतिहास में उनका स्थान बहुत ऊँचा उठ गया है। श्री हैमर शोल्ड ने बहुमुखी राजनय पर बल दिया तथापि कांगो समस्या के फलस्वरूप कतिपय क्षेत्रों में वे बदनाम और अलोकप्रिय हो गए। यह आरोप लगाया गया कि उन्होंने खुले रूप से पश्चिमी राष्ट्रों का पक्ष लिया तथा शोम्बे को अप्रत्यक्ष रूप से सहायता प्रदान की। कांगो के प्रथम लोकप्रिय प्रधानमन्त्री श्री पैट्रिस लुमुम्बा के साथ श्री हैमर शोल्ड का व्यवहार निष्पक्ष और सहानुभूतिपूर्ण नहीं रहा। अनेक राजनीतिज्ञ

यह आवाज उठायी गई कि महासचिव की असावधानी के कारण ही लुमुम्बा की हत्या हो गयी। महासचिव की शिथिल नीति ने कांगो समस्या को अधिक गंभीर बना दिया। उन्होंने शोम्बे तथा उसके समर्थकों के प्रति आवश्यकता से अधिक तुष्टिकरण की नीति अपनायी। यदि महासचिव कठोर और सुदृढ नीति का आश्रय लेते तो संभवतः अल्पकाल में ही कांगो में कटंगा का एकीकरण हो जाता। सोवियत रूस ने श्री डाग हैमर शोल्ड की नीतियों की कटु आलोचना की और उन पर अपनी शक्ति का दुरुपयोग करने का आरोप लगाया। तत्कालीन सोवियत प्रधान मन्त्री श्री निकिता ख्रुश्चेव ने सुझाव दिया कि महासचिव के वर्तमान पद को समाप्त करके उसके स्थान पर ट्रियम्वीरेट (Triumvirate) की स्थापना कर दी जाय जो सोवियत रूस, संयुक्त राज्य अमेरिका तथा असंलग्न देशों का प्रतिनिधित्व करे। दूसरे शब्दों में रूस की इस ट्रोइका योजना (Troika Plan) का आशय यह था कि संयुक्त राष्ट्र के तीन महासचिव नियुक्त हों—एक पश्चिमी राष्ट्रों से लिया जाय, एक साम्यवादी राष्ट्रों से और एक तटस्थ देशों से। वस्तुतः श्री हैमर शोल्ड का विरोध करने के लिए ही यह योजना बनायी गई थी जो अपने उद्देश्यों में सफल नहीं हो सकी।

18 सितम्बर 1961 को कांगो में एक हवाई दुर्घटना में महासचिव श्री हैमर शोल्ड की मृत्यु हो गई और तब नवम्बर, 1961 में बर्मा के श्री ऊथाण्ट को कार्यकारी महासचिव नियुक्त किया गया। 30 नवम्बर, 1962 को सुरक्षा परिषद् ने सिफारिश की कि महासभा उन्हें पद के बचे हुए कार्यकाल के लिए अर्थात् 3 नवम्बर, 1966 तक महासचिव नियुक्त कर दे। महासभा द्वारा सुरक्षा परिषद् की सिफारिश स्वीकार कर ली गई। श्री ऊथाण्ट अभी तक बड़ी निष्पक्षता और निष्ठा के साथ अपना कार्यभार सभाले हुए हैं। संघ के लगभग सभी सदस्य राष्ट्र उनके कार्यों से सन्तुष्ट हैं। श्री ऊथाण्ट सभी देशों के विश्वास-पात्र हैं और उन्होंने अपने अधिकारों तथा शक्तियों का पूरा प्रयोग किया है। महासचिव विभिन्न देशों की सरकारों से गुप्त वार्तालाप करके समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न करते हैं और श्री ऊथाण्ट ने इस प्रकार के राजनय का प्रयोग बड़े प्रभावशाली ढंग से किया है। महासचिव के इन गुप्त वार्तालापों को प्रकाशित नहीं किया जाता। श्री ऊथाण्ट एक दृढ निश्चयी महासचिव सिद्ध हुए हैं जिन्होंने महाशक्तियों और विभिन्न देशों के दोगले व्यवहार पर अनेक अवसरों पर बड़ी निर्भीक भाषा में प्रहार किया है। उदाहरणार्थ कुछ वर्षों पूर्व अपने पैसिम इन टोरिम के भाषण में उन्होंने कहा था कि "संसार में अनेक दूसरे स्थानों पर भी भय की स्थिति है और वहां खुले संघर्ष की सम्भावना है अथवा अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को गम्भीर खतरा है। मेरे व्यक्तिगत विचारानुसार इन सब संकटों में एक सामान्य तत्व विद्यमान है और वह है व्यवहार तथा सिद्धान्त का अन्तर। उदाहरणार्थ जिन पक्षों के बीच ये संघर्ष हुए हैं वे सब संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य हैं

और उनका कर्त्तव्य है कि वे संघ के सिद्धान्तों का पालन करें। लेकिन नाममात्र के लिए ही वे इन सिद्धान्तों की ओर श्रद्धा प्रदर्शित करते हैं। मुझे यही प्रतीत होता है कि अपने अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में जब वे यह देखते हैं कि महत्वपूर्ण हितों को किसी प्रकार की ठेस पहुंचने की सम्भावना है तो वे अपने स्वयं के मार्ग को अपनाते हैं तथा चार्टर में निहित उत्तरदायित्वों और प्रतिबन्धों को भूल जाते हैं। पवित्र अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्वों की अवहेलना करना एक भयावह नीति है। सन्धियों की उपेक्षा करने और उन्हें व्यर्थ के लेख्य समझने के कारण ही दो विश्व-युद्ध हो चुके हैं। आज भी मैं सरकारों के बीच इस प्रकार की प्रवृत्तियां देखता हूं। वे अपने राष्ट्रीय हितों में व्यस्त रहते हैं तथा अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्वों की कोई परवाह नहीं करते, चाहे वे उत्तरदायित्व चार्टर द्वारा निर्धारित किए गए हों अथवा किसी समझौते या प्रस्ताव के फलस्वरूप मान्य हों। इन उत्तरदायित्वों की अवहेलना जान-बूझकर नहीं की जाती। अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्वों को टालने की नीति तभी अपनायी जाती है जब यह सुविधाजनक होता है। जब वे अवहेलना को स्वयं स्वीकार कर लेते हैं तब वे दोगली घोखेभरी भाषा द्वारा उसे न्यायोचित ठहराने का प्रयत्न करते हैं। मैं इन दोगली धोखेभरी नीतियों को भयावह समझता हूं क्योंकि इनके कारण तृतीय महायुद्ध की सम्भावना है।"

स्पष्ट है कि कोई भी उत्तरदायी अन्तर्राष्ट्रीय अधिकारी शक्ति-राजनीति का खुला प्रदर्शन इससे अधिक स्पष्ट भाषा में नहीं कर सकता। श्री ऊथान्ट न केवल अपने भाषणों से बल्कि व्यवहार में भी महासचिव के उत्तरदायित्वों को निभाने में आगे रहे हैं। उन्होंने पश्चिमी एशिया में, क्यूबा और कांगो की अखण्डता को स्थापित रखने की समस्याओं के समाधान में बड़ी बुद्धिमत्ता प्रदर्शित की है। 1965 के भारत-पाक युद्ध को रोकने में भी ऊथान्ट की भूमिका बहुत प्रभावशाली रही थी।

महासचिव के कार्य और महत्व

महासचिव का पद बड़े महत्व का है और उसे न केवल प्रशासनिक अपितु राजनीतिक कार्य भी करने पड़ते हैं। महासचिव को "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिज्ञ" कहा गया है। उसकी तुलना सुरक्षा परिषद् के ऐसे अतिरिक्त सदस्य से की गई है जिसे न तो मताधिकार प्राप्त होता है और न निषेधाधिकार। महासचिव को विश्व-प्रथम नागरिक अर्थात् विश्व नेता बताया गया है। भूतपूर्व प्रथम महासचिव श्री ट्रिग्वेली का कहना था कि विश्व-शान्ति और सभ्यता की आशाएं महासचिव के पद में निहित हैं। राजनीतिक क्षेत्रों में यह स्वीकार किया जाता है कि संयुक्त राष्ट्र संगठन का भाग्य बहुत-कुछ इस बात पर निर्भर है कि महासचिव बुद्धि-बल और चरित्र-बल में कितना समर्थ है।

चार्टर के 15वें अध्याय में अनुच्छेद 97, 98 व 99 महासचिव के कार्य तथा उसकी स्थिति पर प्रकाश डालते हैं। वस्तुतः महासचिव की शक्तियां अनुच्छेद 99 में केन्द्रीभूत हैं जिसके अनुसार महासचिव को यह अधिकार है कि वह स्वयं सुरक्षा

किसी का ध्यान किसी ऐसे विवाद की ओर आकर्षित करे जिसके परिणाम स्वरूप अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा के भंग होने का खतरा हो। इस प्रकार का अधिकार राष्ट्रसंघ (League of Nations) के महासचिव को प्राप्त नहीं था। अधिकारी विद्वान स्टीफन एम. श्वेवल ने संयुक्त राष्ट्रसंघ के सन्दर्भ में अनुच्छेद 99 पर सर्वाधिक बल दिया है। श्री श्वेवल के अनुसार इस अनुच्छेद के फलस्वरूप महासचिव को निम्नलिखित 7 महत्वपूर्ण शक्तियां प्राप्त हो गई हैं—[1]

(1) महासचिव किसी भी विवाद, झगड़े अथवा स्थिति को सुरक्षा परिषद् की अस्थायी कार्यावलि में रख सकता है। यद्यपि इस अधिकार के प्रयोग के अवसर महासचिव को यदा-कदा ही मिल पाते हैं तथापि इस अधिकार के अस्तित्व से उसके पद की प्रतिष्ठा तथा उसके नैतिक प्रभाव में पर्याप्त वृद्धि हुई है।

(2) महासचिव को राजनीतिक शक्तियां प्राप्त हुई हैं। वह इस अनुच्छेद के आधार पर राजनीतिक निर्णयों को ले सकता है।

(3) इस अनुच्छेद के अधीन महासचिव सुरक्षा परिषद् के सामने उन आर्थिक और सामाजिक घटनाओं को रख सकता है जिनके राजनीतिक परिणाम निकलने की संभावना हो। तात्पर्य यह हुआ कि महासचिव सुरक्षा परिषद् और संयुक्त राष्ट्रसंघ के विभिन्न अंगों के बीच एक "महत्वपूर्ण कड़ी" का कार्य करने में सक्षम है।

(4) इस अनुच्छेद से महासचिव को यह अधिकार मिल गया है कि वह अपनी शक्तियों का प्रयोग करने से पूर्व आवश्यक पूछताछ या खोजबीन कर लें।

(5) महासचिव को स्वयं यह निश्चय करने का अधिकार मिल गया है कि वह अमुक अन्तर्राष्ट्रीय समस्या को किस समय सुरक्षा परिषद् के सामने रखे। उसे अधिकार है कि परिषद् के सम्मुख मामला पेश करने से पूर्व वह सविस्तार अनौपचारिक रूप से गुप्त वार्तालाप भी कर ले। गुप्त वार्तालाप की शक्ति के प्रयोग में महासचिव स्वतन्त्र है और इस आधार पर उसकी कोई भी आलोचना की जाना अनुचित है। इन गुप्त वार्तालापों को कभी प्रकाशित नहीं किया जाता और यही उनकी विशेषता है। वियतनाम और इजराइल की समस्या को सुलझाने के लिए वर्तमान महासचिव श्री ऊथाण्ट ने इस प्रकार के राजनय का प्रयोग किया है।

(6) इस अनुच्छेद के अन्तर्गत महासचिव को अपने कर्त्तव्यों के निर्वहन के लिए आवश्यक घोषणा करने और सुझाव रखने का भी अधिकार है। वह चाहे तो सुरक्षा परिषद् के विचारार्थ प्रारूप-प्रस्ताव भी रख सकता है। अनेक ऐसे अवसर आये हैं जब सुरक्षा परिषद् की कार्यवाही के बीच महासचिव ने उसके समक्ष विचारार्थ अपने प्रारूप-प्रस्ताव पेश किये हैं। उदाहरणार्थ, कोरिया-युद्ध के समय जून, 1950 की सुरक्षा परिषद् की बैठकों में महासचिव ने ऐसे अनेक सुझाव प्रस्तुत किये थे। महासचिव को, इस अनुच्छेद के अन्तर्गत अनेक राजनीतिक कार्यों में भाग लेने और तत्सम्बन्धी अपने सुझाव अथवा प्रस्ताव रखने का भी अधिकार है।

1. *Stephen M. Schwebel* : The Secy. General of the United Nations, p. 23-26

(7) अनुच्छेद 99 के अधीन महासचिव सुरक्षा परिषद् के मंच से विश्व लोकमत को सम्बोधित करते हुए शान्ति के लिए अपील कर सकता है। उचित समय पर की गई अपील निश्चय ही बड़ी प्रभावकारी सिद्ध होती है।

स्पष्ट है कि अनुच्छेद 99 महासचिव की विपुल शक्तियों का स्रोत है। इस अनुच्छेद की आड़ लेकर न केवल वह अपने प्रभाव में भारी वृद्धि कर सकता है वरन् दुराग्रही होकर अपनी शक्तियों का अनुचित प्रयोग भी कर सकता है। यह अनुच्छेद विश्व राजनीति के क्षेत्र में महासचिव को अन्तर्राष्ट्रीय हितों का प्रवक्ता सिद्ध करने में पूर्ण सहायक है। इस अनुच्छेद के बल पर वह राजनीतिक कार्यों में बहुत बड़ी भूमिका अदा कर सकता है।

अनुच्छेद 97 के अनुसार महासचिव अन्तर्राष्ट्रीय संयुक्त राष्ट्रसंघ का प्रमुख प्रशासकीय अधिकारी है। सचिवालय में सम्पूर्ण कार्य के लिए अन्तिम रूप से केवल महासचिव ही संघ के प्रति उत्तरदायी है। इस अर्थ में महासचिव को संयुक्त राष्ट्रसंघ का एक मुख्य अंग समझा जा सकता है और फलस्वरूप उसके पद के गौरव में चार चाँद लग जाते हैं। इस स्थिति का एक और भी महत्वपूर्ण परिणाम निकलता है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के लक्ष्यों की पूर्ति का उत्तरदायित्व मुख्यत उसके अंगों पर ही है। जब महासचिव को संघ का एक मुख्य अंग मान लिया जाता है तो यह भी स्वीकार करना होता है कि "सदस्य राज्यों के संवैधानिक व्यवहार का उत्तरदायित्व निभाने में उसका हाथ है। संघ के प्रमुख प्रशासकीय अधिकारी के नाते महासचिव ही लेखों, प्रारूप रिपोर्टों तथा अन्य आवश्यक पत्रों को तैयार करता है। इस शक्ति के बल पर महासचिव ऐसे कार्य करने में समर्थ है जो अप्रत्यक्ष रूप से अन्तिम निर्णयों को प्रभावित करें।"

अनुच्छेद 98 के अन्तर्गत भी महासचिव को काफी शक्तियाँ प्राप्त हैं। वह महासभा, सुरक्षा परिषद्, आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् तथा न्यास परिषद् की बैठकों में महासचिव का कार्य संपन्न करता है और ऐसे कार्यों को करने का उत्तरदायित्व भी उस पर है जो इन अंगों द्वारा आवश्यकता पड़ने पर उसे सौंपे जायें। वही महासभा और सुरक्षा परिषद् की अस्थायी कार्यावलि तैयार करता है तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ के कार्य पर महासभा को एक वार्षिक रिपोर्ट प्रस्तुत करता है।

महासचिव की रिपोर्ट, जो महासभा के अन्तिम सत्र में प्रस्तुत की जाती है, बड़ी महत्वपूर्ण होती है। इन रिपोर्टों में न केवल संघ के कार्यों का ब्यौरेवार वर्णन रहता है बल्कि यह भी बताया जाता है कि संघ के विभिन्न अंगों द्वारा स्वीकृत प्रस्तावों तथा निर्णयों पर कहाँ तक अमल किया गया है। इन रिपोर्टों में महासचिव का व्यक्तित्व बोलता है, अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर उसके दृष्टिकोण व्यक्त होते हैं। रिपोर्टों की प्रस्तावना विशेष महत्वपूर्ण होती है जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक स्थिति और घटनाओं पर प्रकाश डाला जाता है और साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय तनाव

को कम करने के लिए सुझाव भी दिये जाते हैं। महासचिव की रिपोर्ट की प्रस्तावना वास्तव में संयुक्त राष्ट्रसंघ की सफलताओं-विफलताओं का सन्तुलन-विवरण (Balance Sheet) बन गयी है। लियोनार्ड के अनुसार महासचिव की वार्षिक रिपोर्ट अमरिका के राष्ट्रपति के सन्देशों के समान प्रभावशाली है। अमेरिकन राष्ट्रपति अपने सन्देशों को 'कांग्रेस के सम्मुख देश की स्थिति और नीतियों पर प्रकाश डालते हैं और उसी प्रकार महासचिव अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति और घटनाओं का विवेचन करते हुए उनके सन्दर्भ में अपने सुझाव प्रस्तुत करता है। महासचिव अपनी वार्षिक रिपोर्टों में सदस्य राष्ट्रों की नीतियों पर अपना मत व्यक्त करते रहे हैं और इस बारे में सुझाव देते रहे हैं कि नीतियों में क्या सुधार अपेक्षित हैं।

वार्षिक रिपोर्टों में महासचिव की चिन्तनधारा स्पष्ट होती है। उदाहरणार्थ, 1948 की वार्षिक रिपोर्ट में तत्कालीन महासचिव श्री ट्रिग्वेली ने अपना स्पष्ट मत व्यक्त किया था कि विश्व किसी भी अकेली आर्थिक पद्धति को स्वीकार नहीं कर सकता चाहे वह साम्यवादी सिद्धान्त पर आधारित हो या पूंजीवादी सिद्धान्त पर। उन्होंने स्पष्टतः चुनौती दी कि वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों और बदलते हुए युग में किसी भी राज्य के लिए यह आकांक्षा करना भयावह होगा कि वह आर्थिक अथवा सैनिक शक्ति के आधार पर अपना एक नया साम्राज्य कायम कर ले। 1949 की अपनी रिपोर्ट में श्री ट्रिग्वेली ने क्षेत्रीय सुरक्षा संगठनों पर प्रहार किया और कहा कि हम किसी महान् राष्ट्र की अवहेलना करके विश्व में स्थायी शांति की स्थापना की आशा नहीं कर सकते। महासचिव ने इजराइल राज्य की स्थापना पर प्रसन्नता व्यक्त करते हुए उसे तत्कालीन सैद्धान्तिक संघर्ष की तुलना में युग परिवर्तक घटना माना। अगले वर्ष की रिपोर्ट में उन्होंने विश्व को चेतावनी दी कि अन्तर्राष्ट्रीय जगत के लिए यह खतरनाक होगा कि वह दो युद्धरत खेमों में विभाजित हो जाय। श्री ली ने यह भी महत्वपूर्ण सुझाव दिया कि विश्व के राजनीतिज्ञ अपनी समस्याओं को हल करने के लिए गोलमेज सम्मेलन करते रहें।[1] वर्तमान महासचिव ऊथान्ट अपनी सभी वार्षिक रिपोर्टों में आग्रह करते रहे हैं कि विश्व के सब राष्ट्रों को संघ की सदस्यता मिलनी चाहिए और इस सम्बन्ध में राजनीतिक कठिनाइयों की उपेक्षा कर दी जानी चाहिए। ऐसा होने पर ही विश्व के छोटे-बड़े सभी राष्ट्रों को अन्तर्राष्ट्रीय हलचलों में भाग लेने का अवसर मिलेगा। सन् 1966 की रिपोर्ट में ऊथान्ट ने स्पष्ट रूप से कहा था कि जब तक मानव जाति के एक चौथाई भाग को (साम्यवादी चीन को) संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य नहीं बनाया जाता तब तक यह संगठन वांछित सफलता के साथ कार्य नहीं कर सकेगा। 1967 की रिपोर्ट में श्री ऊथान्ट ने पुनः यह बात दोहरायी कि संयुक्त राष्ट्रसंघ में विश्व की विभिन्न संस्कृतियों एवं सभ्यताओं को स्थान मिलना चाहिए। उन्होंने

1. *Leonard* : opt. cit., p 245.

यह भी कहा कि दक्षिण-पूर्वी एशिया और निःशस्त्रीकरण की समस्याओं का समाधान तभी हो सकेगा जब सभी सम्बन्धित देश विश्व-संस्था के सदस्य बनाये जाय। वियतनाम-संघर्ष के सम्बन्ध में उन्होंने बारबार कहा कि जेनेवा सम्मेलन के आधार पर ही समस्या का समाधान किया जाना चाहिए। किसी भी महाशक्ति के दबाव से मुक्त रहते हुए श्री ऊथान्ट ने निर्भीकतापूर्वक कहा कि वियतनाम समस्या का कोई भी सैनिक समझौता नहीं निकल सकता और वियतकांग को किसी भी प्रकार उत्तरी वियतनाम की कठपुतली नहीं कहा जा सकता। महासचिव ने अमेरिकन राष्ट्रपति को वियतनाम की समस्या के हल करने के बारे में अनेक सुझाव भी दिए और यह विश्वास प्रकट किया कि उत्तरी वियतनाम पर अमेरिकन बमवर्षा बन्द कर देने से थोड़े ही समय में दोनों पक्षों के मध्य वार्ता शुरू हो सकती है। भावी घटनाओं ने महासचिव की दूरदर्शिता को ही सिद्ध किया।

महासभा में पेश किये जाने वाले प्रस्तावों को तैयार करने में महासचिव का उल्लेखनीय सहयोग रहता है। उदाहरणार्थ, महासभा के चौथे सत्र में लगभग 30% प्रस्ताव महासचिव के निर्देशन पर ही तैयार हुए थे और लगभग सभी प्रस्तावों में किसी न किसी रूप में सचिवालय का हाथ था।[1] महासभा के विभिन्न शिष्ट-मण्डलों के बीच होने वाली वार्ता में भी महासचिव सहायक होते हैं। महासभा के अंगों और समितियों के अध्यक्ष के चयन में भी महासचिव का हाथ होता है। वास्तव में महासचिव और महासभा में जो घनिष्ठ तथा प्रभावशाली सम्बन्ध हैं उनके फलस्वरूप महासचिव के राजनीतिक कार्यों को बड़ा सम्बल मिलता है। वह समयानुसार सुरक्षा परिषद् को वैधानिक प्रश्नों पर सलाह दे सकता है तथा चार्टर की भाषा में, अधिकारी प्रवक्ता के रूप में, स्पष्ट कर सकता है। विश्व की समस्याओं पर महासचिव के विचारों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। विविध आयोगों और समितियों में अध्यक्षों तथा सदस्यों के मनोनयन का दायित्व भी उसे निभाना पड़ता है। उदाहरणार्थ, काश्मीर समस्या के समाधानार्थ महासचिव द्वारा अनेक बार विशेष प्रतिनिधि चुने गए और कांगो-समस्या के सम्बन्ध में श्री हैमर शोल्ड ने भारत के श्री राजेश्वर दयाल को विशेष प्रतिनिधि चुना था। संयुक्त राष्ट्रसंघीय आपातकालीन सेना के मुख्य अधिकारी भी महासचिव द्वारा नियुक्त किये जाते रहे हैं। कोरिया में चुनाव कराने के लिए अधिकारियों की नियुक्ति भी महासचिव की इच्छानुसार ही हुई थी। पश्चिमी इरियन के शासन को कुछ समय तक चलाने के लिए स्वयं महासचिव द्वारा अधिकारी नियुक्त किये गए थे।

वस्तुतः महासचिव को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करने के महान् अवसर मिलते हैं। महासचिव का विभिन्न देशों के प्रतिनिधि मण्डलों के साथ निरन्तर सम्पर्क रहता है अतः उसकी स्थिति ऐसी होती है कि वह संयुक्त राष्ट्रसंघ के उद्देश्यों

1. *Schwebel, Stephen M.:* opt. cit., p. 78–79

की प्राप्ति के लिए सरकारों को प्रभावित कर सके। उसे यह स्वतन्त्रता होती है कि वह सदस्य राज्यों के विदेश मन्त्रालयों में जा सके और स्वतन्त्रतापूर्वक सलाह-मशविरा कर सके। उसे सार्वजनिक भाषण देने का भी अधिकार होता है जिसके द्वारा वह संसार के जनमत को प्रभावित कर सकता है। वह विश्वसंस्था की त्रुटियों को सुधारने देता है, व्यक्तिगत सम्मेलनों, सभाओं तथा भोजों में सम्मलित होता है, विश्व-संस्था के संबंध में भाषण देता है जिनमें संयुक्त राष्ट्रसंघ की उपयोगिता पर पर्याप्त प्रकाश डाला जाता है और निर्भीकता के साथ अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति का विवरण किया जाता है। मई, 1967 में पेसिम इन टेरिस कन्वोकेशन के सम्मुख दिये एक भाषण में महासचिव ऊथान्ट ने विश्व को चेताया कि आधुनिक जगत में शान्ति अनिवार्य है और एकमात्र संयुक्त राष्ट्रसंघ ही वह अन्तर्राष्ट्रीय संगठन है जिसका प्रथम तथा सर्वोपरि उद्देश्य भावी पीढ़ियों को युद्ध की विभीषिका और भय से बचाना है। अतः हमारा कर्तव्य है कि हम शान्ति के पक्ष में अन्तर्राष्ट्रीय समाज की आवाज ऊँची उठायें।

किन्हीं अवसरों पर महासचिव को कुछ ऐसे कार्य भी करने पड़ते हैं, जिनका सुरक्षा राष्ट्रसंघ से कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं होता। उदाहरणार्थ, 1964 की अपनी वार्षिक रिपोर्ट में श्री ऊथान्ट ने बताया था कि कम्बोडिया और थाईलैण्ड की सरकारों की प्रार्थना पर उन्होंने उनकी कठिनाइयों को दूर करने के लिए एक विशेष प्रतिनिधि नियुक्त किया था। इसी प्रकार मलयेशिया की स्थापना के सम्बन्ध में जब मलयेशिया और इण्डोनेशिया के बीच मतभेद पैदा हो गए तो दोनों राष्ट्रों ने महासचिव से प्रार्थना की कि वे साबाहा तथा सारवाक की जनता का मन जानने की व्यवस्था करें। महासचिव ने प्रार्थना स्वीकार करते हुए वहां अपनी इच्छानुसार एक संयुक्त राष्ट्रसंघीय मिशन भेज दिया जिसने निर्णय किया कि साबाहा तथा सारवाक की जनता मलयेशिया की स्थापना के पक्ष में है। महासचिव ने स्वयं इस निर्णय के पक्ष में अपनी सहमति प्रकट की। कच्छ के रन का विवाद (भारत पाकिस्तान के बीच) जब एक अन्तर्राष्ट्रीय विवाचन न्यायाधिकरण को सौंपा गया तो अध्यक्ष के सम्बन्ध में मतभेद होने से मामला संयुक्त राष्ट्र में महासचिव को सौंप दिया गया जिसने न्यायाधिकरण के लिए एक अध्यक्ष मनोनीत कर दिया। स्पष्ट है कि सरकारों की प्रार्थना पर महासचिव अनेक महत्वपूर्ण कार्य करता है जिनके द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से समस्याओं के शान्तिपूर्ण निपटारे में सहयोग मिलता है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ में महासचिव का पद बहुत ही गौरवपूर्ण और महत्वपूर्ण है। संघ के सदस्यों का सहयोग और विश्वास प्राप्त करके वह विश्व-शांति तथा सुरक्षा के संवर्धन में बड़ा सहायक हो सकता है। महासचिव की स्थिति ऐसी नहीं है कि चार्टर द्वारा प्राप्त स्वयं की शक्ति से ही वह शक्तिशाली बन जाय और सब कार्यों का सफलतापूर्वक निर्वहन कर ले। सदस्यों का सहयोग ही वह पूंजी है जो महासचिव को असफल व सफल बना सकती है। महासचिव हिटलर, नैपोलियन, लिंकन, रूजवेल्ट या लार्ड जार्ज नहीं बन सकता।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्यों के विश्वास और सहयोग के अनुपात में ही उसकी शक्ति घट-बढ़ सकती है। पर साथ ही उसके स्वयं के व्यक्तित्व का भी कम महत्व नहीं है। वह महासचिव, जो बुद्धि, चातुर्य तथा राजनीतिक दावपेंचों में धनी हो, सदस्यों का अधिकाधिक सहयोग पाने में सफल हो सकता है। लियोनार्ड ने ठीक ही लिखा है कि "महासचिव अपनी अनुपम राजनीतिक शक्तियों के प्रयोग में महान् उत्तरदायित्व धारण किए हुए हैं। यदि उनका वह प्रयोग करे तो वह शांति स्थापना की दृष्टि से महत्वपूर्ण सिद्ध हो सकती है। यदि ऐसा नहीं होता तो सदस्य सरकारें महासचिव के अधिकारों को सीमित करने की चेष्टा करेंगी जिससे सम्पूर्ण संगठन को हानि होगी।"[1] महासचिव एक निष्पक्ष अधिकारी समझा जाता है। वह एक अन्तर्राष्ट्रीय प्रशासनिक सेवक तथा विश्व-संस्था का प्रवक्ता है। वह एक ऐसा स्रोत है जिसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के विवरण को जानने के लिए आँखें उठी रहती हैं। उसके द्वारा निर्धारित नीतियाँ अवश्य ही अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण तथा अन्तर्राष्ट्रीय हित को दर्शाती हैं।[2]

1. *Leonard* : opt. cit., p. 252.
2. Ibid, p. 252.

11

शांतिपूर्ण समाधान की प्रक्रिया, प्रतिरोधात्मक अथवा बल-प्रयोग की प्रक्रिया, अनुशास्तियां, शांति-स्थापना एवं पुलिस तथा संयुक्त राष्ट्र की शांति-सेनाएं

(Procedures for Peaceful Settlement, Procedures for Coercive Settlement, Sanctions, Peace-keeping and Police, U. N. Peace-forces)

"इस पृथ्वी-ग्रह के निवासी मेरे बन्धुओं ! आओ, हम संयुक्त राष्ट्र की इस महासभा में अपना स्पष्ट शांति-मन्तव्य प्रकट करें और यह देखें कि क्या हम अपने ही युग में विश्व को न्यायपूर्ण तथा स्थायी शांति प्रदान करने की दिशा में अग्रसर कर सकते हैं।"

—जॉन एफ. कैनेडी

संघ का मूल उद्देश्य अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को बनाये रखना है चार्टर के अंतर्गत यह दायित्व सुरक्षा-परिषद् को सौंपा गया है और विशेष परिस्थितियों में महासभा भी इस कार्य में प्रभावपूर्ण योगदान कर सकती है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य, चार्टर की धारा 2 के अनुसार, इस बात के लिए वचनबद्ध हैं कि वे "वर्तमान चार्टर के अनुसार सुरक्षा परिषद् के सभी निर्णयों को स्वीकार करेंगे और उनका पालन करेंगे।" चार्टर के अध्याय 6 और 7 में उन रीतियों का उल्लेख है जिनके द्वारा अंतर्राष्ट्रीय विवादों के समाधान के प्रयास किये जायेंगे।

चार्टर की वर्तमान व्यवस्था के अनुसार अंतर्राष्ट्रीय विवादों के समाधान और इस प्रकार अंतर्राष्ट्रीय शांति तथा सुरक्षा को बनाये रखने के लिए मुख्यतः दो रीतियां अथवा प्रक्रियाएं व्यवहार में लायी जाती हैं—

(1) शांतिपूर्ण समाधान की प्रक्रियाएं (*Procedures for Peaceful Settlement*) एवं

(2) बल प्रयोगकारी अथवा बाध्यकारी प्रक्रियाएं (Procedures for Coercive Settlement)

बलप्रयोग अथवा प्रतिरोधात्मक कार्यवाही में सैनिक और असैनिक दोनों प्रकार के प्रतिबन्ध व अनुशास्तियां (Sanctions) सम्मिलित हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघीय शांति सेनाओं (U. N. Peace Forces) का प्रभावशाली उपयोग इस कार्यवाही के अंतर्गत सम्भव है।

शांतिपूर्ण समाधान की प्रक्रियाएं (Procedures for Peaceful Settlement)

संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में अनुच्छेद 33 से 38 तक अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शांतिपूर्ण समाधान की प्रक्रियाएं दी गई हैं। अनुच्छेद 33 में उल्लेख है कि यदि किसी विवाद से विश्व-शांति और सुरक्षा को खतरा हो और सम्बंधित पक्ष अपना झगड़ा स्वयं निपटाने में असफल रहें तो सुरक्षा परिषद् विवादी से वार्ता (Negotiation), जाँच (Enquiry), मध्यस्थता (Mediation), सौमनस्य या संराधन (Conciliation), पंच निर्णय (Arbitration), न्यायिक समझौतों (Judicial Decisions), प्रादेशिक संस्थाओं या व्यवस्थाओं (Regional agencies or arrangements) अथवा अपनी इच्छानुसार शांतिपूर्ण उपायों (Other peaceful means of their own choice) द्वारा विवादों को निपटाने के लिए कह सकती है।

विवादों के शांतिपूर्ण समाधान के लिए अनुच्छेद 33 में जो विभिन्न उपाय सुझाए गए हैं वे इस बात की ओर संकेत करते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय जगत में सभी विवादों की प्रकृति एक सी नहीं हो सकती और न ही किसी एक उपाय द्वारा सभी विवादों को सुलझाना सम्भव है। प्रायः सभी विवाद एक दूसरे से न्यूनाधिक भिन्न होते हैं। अपवादस्वरूप ही किन्हीं दो विवादों में समानता पायी जा सकती है। अतः यह सर्वथा उपयुक्त है कि प्रत्येक विवाद का आवश्यकतानुसार एक, दो या अधिक उपायों द्वारा समाधान किया जाय।

विगत वर्षों में संयुक्त राष्ट्रसंघ के समक्ष लाए गए विवादों के मुख्य तीन रूप रहे हैं—

(क) तथ्यमूलक विवाद (Issues of Fact)—इनमें विवादी पक्ष प्रायः एक दूसरे पर अनुचित कार्यवाही करने का दोषारोपण करते हैं। सन् 1960 में रूस और अमेरिका के RB-47 विमान को मार गिराना तथ्यमूलक विवाद हो था।

(ख) न्याय अथवा कानून सम्बन्धी विवाद (Issues of Law)—इन विवादों में वैधानिक अधिकारों तथा कर्त्तव्यों के प्रश्न निहित होते हैं। आइसलैण्ड और ब्रिटेन के मध्य का विवाद न्याय सम्बन्धी विवाद का उदाहरण है।

(ग) नीति सम्बन्धी विवाद (Issues of Policy):—इस प्रकार के विवाद होते हैं जिनमें विवादी पक्षों की नीतियों में टकराहट होती है। बर्लिन की स्थिति सम्बन्धी समस्या एक नीति सम्बन्धी विवाद है जिसमें सोवियत संघ और मित्र राष्ट्रों की नीतियों में टकराहट है।

उपर्युक्त तीनों प्रकार के विवादों में नीति सम्बन्धी विवाद प्रायः सबसे जटिल और लम्बे चलने वाले होते हैं तथा शीत-युद्ध को सबसे अधिक जीवित रखते हैं। इन विवादों में सैद्धान्तिक संघर्ष भी अन्तर्निहित रह सकते हैं। कभी-कभी ऐसे जटिल विवाद भी उपस्थित हो जाते हैं जिनमें तथ्यमूलक न्याय विषयक और नीति सम्बन्धी तीनों प्रकार के प्रश्न उलझे होते हैं। प्लानो एवं रिग्स (Plano & Riggs) ने संयुक्त राष्ट्रसंघ के सम्मुख प्रस्तुत होने वाले विवादों को इन पाँच शीर्षकों में बाँटा है[1]—
(1) Territorial and Boundary Questions, (2) Cold War Questions, (3) *Independence Questions*, (4) Domestic Questions, and (5) *Intervention Questions*.

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों और संयुक्त राष्ट्र विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान की दिशा में जो विभिन्न उपाय बरते जाते रहे हैं, उन पर कुछ विस्तार से उल्लेख आवश्यक है।

वार्ता
(Negotiation)

दूसरे शब्दों में यह "कूटनीति" (Diplomacy) का साधन है। मैब्रोमैटिस पैलेस्टाइन कन्सेशन के विवाद के प्रसंग में न्यायाधीश मूर ने कहा था "अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अर्थ में वार्ता एक वैधानिक, व्यवस्थित तथा प्रशासनात्मक प्रक्रिया है जिसकी सहायता से राज्य सरकारें अपनी सदिग्ध शक्तियों का प्रयोग करते हुए एक दूसरे के साथ अपने सम्बन्धों का संचालन करती हैं और मतभेदों पर विचार-विमर्श, उनका व्यवस्थापन तथा समाधान करती हैं।" विवादी पक्षों के बीच, विवाद के समाधानार्थ, वार्ता या तो शीर्षस्थ स्तर पर सीधे राज्याध्यक्षों द्वारा की जाती है अथवा उनके द्वारा नियुक्त या प्रमाणित अभिकर्ताओं द्वारा विवाद के समाधान की दृष्टि से दो पक्षों के बीच होने वाले पत्र-व्यवहार में भी वार्ता का ही अंग माना जाता है। इस प्रक्रिया का आधार कोई विशेष कानूनी उत्तरदायित्व न होकर व्यावहारिक सुविधा होती है। राज्य सद्विश्वास में कार्य करते हैं। 19वीं शताब्दी के युद्ध इतने जोखिम पूर्ण बन चुके थे कि प्रत्येक राज्य विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान के लिए भरसक प्रयास करता था। अपवादस्वरूप मामलों में, जहाँ राज्यों की सैनिक शक्ति में भारी असमानता होती थी, वहाँ समझौता-वार्ता टूट जाती थी।

---

1. *Plano and Riggs* : opt. cit., p. 208.

भारत और पाकिस्तान के बीच "अल्पसंख्यकों की समस्या" और "नहरी-पानी विवाद" को "वार्ता" द्वारा ही सुलझाया गया था। नहरी-पानी विवाद में भारत पाकिस्तान से वार्ता के लिए तैयार हो गया था और दोनों राष्ट्रों की सहमति से यह विवाद मध्यस्थता के लिए विश्व बैंक को सौंप दिया गया था जिसके प्रयत्नों से 19 सितम्बर, 1960 को भारत-पाक में सिन्ध-बेसिन के पानी को दोनों राष्ट्रों में समान बटवारे के लिए "नहरी-पानी समझौता" (Indo-Pak Canal Water Treatises) हुआ। इस समझौते द्वारा यह निश्चय किया गया कि 10 वर्ष की मार्न्तरिक अवधि के बाद जो पाकिस्तान की प्रार्थना पर 3 वर्ष के लिए बढ़ायी जा सकेगी, तीनों पूर्वी नदियों का पानी भारत के अधिकार में रहेगा जबकि तीनों पश्चिमी नदियों का पानी पाकिस्तान के अधिकार में; केवल इनकी सीमाओं का पानी उत्तर की ओर के जम्मू और काश्मीर प्रान्त में प्रयोग किया जायगा। यह तय हुआ कि 10 वर्ष तक भारत पूर्वी नदियों (सतलज, रावी और व्यास) से पाकिस्तान को प्रत्येक वर्ष घटती हुई मात्रा में पानी देगा और जोड़ने वाली नहरों के निर्माण के लिए पाकिस्तान को आवश्यक मात्रा में धन भी दिया जायगा। यदि पाकिस्तान भारत से पानी देने वाली अवधि में 3 वर्ष के लिए प्रार्थना करेगा तो प्रार्थना स्वीकृत होने पर उसी अनुपात में भारत द्वारा पाकिस्तान को दी जाने वाली धनराशि में कटौती कर दी जायगी। भारत-पाकिस्तान सम्बन्धों की दिशा में नहरी-पानी समझौता भारत की ओर से एक अत्यन्त आशापूर्ण कदम था। लेकिन पाकिस्तान ने भारत की इस उदारता का कोई आदर नहीं किया और उसके बाद के आक्रामक इतिहास ने श्री नेहरू की इस आशा को झुठला दिया कि इस समझौते के बाद से भारत-पाक सम्बन्धों का एक नया और सुखपूर्ण अध्याय प्रारम्भ होगा।

वास्तव में "वार्ता" के उपाय की सफलता दोनों पक्षों द्वारा समस्याओं के समाधान की लगन और ईमानदारी पर निर्भर है। अनेक बार ऐसा होता है कि विवादी पक्ष वार्ता का ढोंग रचकर विश्व-जनमत को अनुचित रूप से अपने अनुकूल बनाने की चेष्टा करते हैं। बड़े कूटनीतिक और प्रचारात्मक ढंग से विश्व के सामने यह प्रस्तुत किया जाता है कि वे तो समझौते के लिए उद्यत थे पर दूसरे पक्ष के दुराग्रह के कारण समस्या हल नहीं हो सकी और जब उनके हितों को बड़ा खतरा पैदा हो गया तो विवश होकर उन्होंने *आक्रामक कार्यवाही का आश्रय लिया है।*

वाद-विवाद
(Discussion)

सुरक्षा परिषद् अथवा महासभा, कोई भी सिफारिश करने से पूर्व, विवादी पक्षों के प्रतिनिधियों को लिखित या मौखिक रूप से अपने दावे प्रस्तुत करने को आमन्त्रित करती है और इस प्रकार उन्हें एक ऐसा मंच प्रदान करती है जहाँ वे मुक्त रूप से अपनी शिकायतें रखते हैं तथा द्विपक्षीय कूटनीति (Bilateral

Diplomacy) के माध्यम से ऐसी स्थिति में पहुंच सकते हैं जहां विवाद के समाधानार्थ कोई समझौता हो सके।[1] यह भी सम्भव है कि विवादी पक्ष, विवाद को सुलझाने की भावना की उपेक्षा करते हुए, अन्तर्राष्ट्रीय मंच का उपयोग केवल विश्व जनमत को अपने अनुकूल करने की दृष्टि से करें अथवा दोनों पक्षों के बीच मतभेदों की खाई पूर्वापेक्षा अधिक चौड़ी हो जाय।[1] इस बात की भी पूर्ण आशंका रहती है कि विवाद (Dispute) कूटनीतिक दावपेचों और राजनीतिक वाद-विवाद के भंवर में फंसकर शीत-युद्ध का अंग बन जाये और लम्बे अर्से तक चलता रहे, जैसे कि काश्मीर का विवाद। परिषद् अथवा महासभा में वाद-विवाद का यह सुपरिणाम अवश्य निकलता है कि संयुक्त राष्ट्र के सदस्य विवादी पक्षों के दावों और स्थिति से परिचित हो जाते हैं और अनेक ऐसे तथ्य एवं क्षेत्र प्रकाश में आ जाते हैं जिनका आश्रय लेते हुए दोनों पक्षों में समझौते की प्रभावी एवं फलप्रद चेष्टा की जा सकती है।[2]

5) सत्सेवा एवं मध्यस्थता
(Good offices and Mediation)

जब विवादयुक्त पक्ष समझौता वार्ता द्वारा अपने मतभेदों को नहीं सुलझाना चाहते या इस कार्य में असफल हो जाते हैं तो तीसरा मित्र राज्य अपनी सत्सेवा या मध्यस्थता द्वारा इन मतभेदों को मित्रतापूर्ण तरीके से दूर करने में मदद कर सकता है। यह स्थिति प्रायः तब आती है जब विवादशील पक्ष अपने स्वार्थों के कारण उचित और अनुचित का अन्तर खो देते हैं। तीसरा राज्य अपने प्रभाव द्वारा सत्सेवा के इस कार्य को सम्पन्न करता है और दोनों पक्षों के बीच शांतिपूर्ण समझौता करा देता है। सद्भावना (Good offices) का प्रयोग करने वाला राज्य विवाद के दोनों पक्षों से मित्रतापूर्ण सम्बन्ध रखता है। वह उनको एक साथ बैठाकर मन्त्रणा अथवा सुझाव देता है। इस मन्त्रणा या सुझाव को कोई पक्ष इन्कार भी कर सकता है। ऐसा करना कानून विरोधी अथवा अमैत्रीपूर्ण नहीं माना जायगा। 1951 में भारत-पाक तनातनी के समय आस्ट्रेलिया ने अपने सद्भाव कार्यालय का उपयोग करना चाहा ताकि तत्कालीन विवादों को दूर किया जा सके। भारत के तत्कालीन प्रधानमंत्री स्व॰ श्री जवाहरलाल नेहरू ने इस सम्बन्ध में कहा कि उन परिस्थितियों में आस्ट्रेलिया के इस प्रयत्न का कोई लाभ नहीं होगा।

सत्सेवा और मध्यस्थता के बीच केवल मात्रा का अन्तर है। सत्सेवा में तीसरा राज्य दोनों पक्षों को एक साथ बैठाता है और विवाद को सुलझाने के लिए सुझाव देता है। वह विवाद से सम्बन्धित विषयों में पूछताछ कर सकता है किन्तु इस समय तीसरा राज्य वास्तविक समझौता-वार्ता में भाग नहीं लेता। मध्यस्थता के समय हस्तक्षेपकर्त्ता राष्ट्र स्वयं वार्ता में भाग लेता है। वह अपनी ओर से सुझाव देता

1. Ibid, p 226.
2 Ibid, p 227

है और सभी विचार-विमर्शों में सक्रिय रूप से भाग लेता है। कभी-कभी विवादपूर्ण पक्ष यह मान लेते हैं कि मध्यस्थ द्वारा जो सुझाव दिया जायेगा उसे भी स्वीकार कर लेंगे किन्तु प्रायः ऐसा नहीं होता और मध्यस्थ प्रस्ताव को मानना या न मानना दोनों पक्षों की इच्छा पर निर्भर करता है।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं जब तीसरे राज्यों की ओर से दो राज्यों के विवादों को सुलझाने के लिए हस्तक्षेप किया गया है। कभी-कभी यह हस्तक्षेप सशस्त्र सेनाओं द्वारा होता है। ऐसी स्थिति में हस्तक्षेप करने वाला राज्य विवाद में एक नया तत्व और जोड़ देता है। दूसरी ओर हस्तक्षेप मित्रतापूर्ण एवं गैर-दबावकारी प्रकृति का होता है। इसमें दोनों पक्षों को विवाद मिटाने के लिए कुछ सुझाव दिये जाते हैं और उनको स्वीकार करने या न करने की स्वतन्त्रता दी जाती है।

1899 के हेग सम्मेलन में सम्बन्धित पक्ष सामान्य शांति की स्थापना के लिए मैत्रीपूर्ण हस्तक्षेप के महत्व से प्रभावित हुए थे। अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शांतिपूर्ण समाधान के अभिसमय में यह कहा गया था कि शस्त्रों से काम लेने से पूर्व एक या दो मित्रतापूर्ण शक्तियों की मध्यस्थता अथवा सत्सेवा का प्रयोग किया जाये। अभिसमय की आगे की धारा में यह भी कहा गया है कि तीसरी शक्तियां स्वयं पहल करके अपनी सत्सेवा एवं मध्यस्थता का प्रयोग कर सकती हैं। ऐसा मनमुटाव के समय भी किया जा सकता है। इसे अमैत्रीपूर्ण कार्य नहीं माना जायगा। सम्बन्धित पक्ष तीसरे राज्य के सुझाव को मानने के लिए स्वतन्त्र है। हेग अभिसमय की धारा 6 के अनुसार ये उपाय केवल परामर्शात्मक प्रकृति के होते हैं, बाध्यकारी नहीं होते। यदि एक राज्य ने मध्यस्थता स्वीकार की है तो इसका अर्थ यह कदापि नहीं होता कि वह आवश्यक समझने पर युद्ध न छेड़ सके।

मध्यस्थता करने वाला राज्य विवाद-कर्त्ता राज्यों में उत्पन्न नाराजगी के भावों को दूर करता है। वह विरोधी दावों में समन्वय स्थापित करता है। कई बार यह युद्ध की सम्भावनाओं को दूर करता है। राज्यों के उल्लेखनीय विवाद तीसरे राज्यों की मध्यस्थता से मिट जाते हैं।

सत्सेवा या मध्यस्थता करने वाला पक्ष एक व्यक्ति या अन्तर्राष्ट्रीय निकाय भी हो सकता है। ऊपर सत्सेवा तथा मध्यस्थता के बीच जो अन्तर दिखाया गया है वह प्रायः संयुक्त राष्ट्रसंघ के व्यवहार में दिखाई नहीं देता। 1947 में सुरक्षा परिषद् ने इण्डोनेशिया के लिए जो संयुक्त राष्ट्रसंघ की सत्सेवा समिति नियुक्त की थी उसके कार्य सत्सेवा से अधिक थे। इसी प्रकार 1951 में संघ की महासभा द्वारा कोरिया-संघर्ष के समय नियुक्त समिति भी व्यापक कार्यों से युक्त थी। राजनयिक व्यवहार एवं सन्धियां हमेशा इन दोनों के बीच अन्तर नहीं करतीं। इसीलिए इनको अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के निपटारे का प्रायः एक ही तरीका माना जाता है।

प्लानो एवं रिग्ज (Plano and Riggs) ने लिखा है कि विवाद की समाधान-प्रक्रियाओं (Settlement procedures) हेतु जो सिफारिशें (Recommendations) सुरक्षा परिषद् या महासभा द्वारा की जाती हैं उनमे अधिकारियो के उच्चतर स्तर पर द्विपक्षीय पुनर्वार्ताएँ (Renewed bilateral negotiations), सलाह-मशविरा (Consultation) किसी सयुक्त राष्ट्रीय आयोग द्वारा जाच एव मध्यस्थता (En uiry and mediation by a U. N. Commission), किसी सयुक्त राष्ट्र सघीय प्रतिनिधि या मध्यस्थ की नियुक्ति (Appointment of a United Nations Representative or Mediator) किसी क्षेत्रीय अभिकरण को निर्दिष्ट या सन्दर्भित करना (Referral to Regional Agency), पंच निर्णय (Arbitration), न्यायिक निर्णय कराना (Adjudication) आदि सम्मिलित हैं।[1] समाधान की शर्तें (Terms of settlement), जनमत सग्रह कराके आत्म-निर्णय द्वारा समाधान (A Solution by self-determination through the holding of a plebiscite), सीमा-रेखाओ के पुनर्निर्धारण (A new demarcation of boundry lines), विवाद-ग्रस्त क्षेत्र के विभाजन (Partition of a disputed territory), किसी विवादग्रस्त क्षेत्र का सयुक्त-राष्ट्रीय प्रशासन के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीयकरण (Internationalization of a controversial area under U N. administration), आदि का रूप भी ले सकती है।[2] पर यह आवश्यक है कि समाधान किये जाने वाले प्रयास यथा-साध्य ऐसे हो जिनको दोनों पक्षो द्वारा मान्य होने की सम्भावनायें प्रबल हो।

यद्यपि सलेक्षा और मध्यस्थता के सयुक्त राष्ट्रसघीय प्रयत्नो की सफलता की सम्भावना रहती है, तथापि सम्पादन की शर्तें या सुझाव प्रस्तावित करने मे यह खतरा भी बना रहता है कि वहा परिषद् या महासभा ने एक बार "न्यायपूर्ण" (Just) समाधान का निर्णय किया वहीं सयुक्त राष्ट्रसघ के दृष्टिकोण और व्यवहार का लचीलापन समाप्त हो जाता है।[3] उदाहरण के लिये काश्मीर-विवाद मे सुरक्षा परिषद् ने दृढ़तापूर्वक अपने इस पूर्व-निर्णय को बदलने से बारम्बार इन्कार कर दिया है कि भारत एव पाकिस्तान के बीच इस विवाद का समाधान राज्य मे जनमत-सग्रह (Plebiscite) द्वारा किया जाय। पाश्चात्य राजनीतिज्ञ पक्षपात एव दुराग्रह का परिचय देते हुए प्रायः यह आरोप लगाते हैं कि 1949 मे भारत और पाकिस्तान दोनों ही काश्मीर मे जनमत-सग्रह के लिये सहमत हो गये थे, लेकिन आगे चलकर भारत ने इस समझौते के क्रियान्वयन से इन्कार कर दिया। यह आश्चर्य की बात है कि आलोचक इस तथ्य को भुला देते हैं कि "जनमत-सग्रह कराने का प्रश्न स्पष्टतः इस शर्त के साथ जुड़ा हुआ था कि पाकिस्तान काश्मीर से अपनी फौजें

1. Ibid, p 228.
2. Ibid, p. 228.
3. Ibid, p 228.

हटा लेगा।" पर पाकिस्तान ने वर्षों बाद तक इस शर्त को पूरा नहीं किया और उस बीच काश्मीर का स्वरूप बिल्कुल बदल गया तथा 1954 में काश्मीर की संविधान सभा ने वैधानिक तौर पर काश्मीर के भारत में विलय का अनुमोदन कर दिया। पश्चिमी महाशक्तियों की कुटिल राजनीति का शिकार बनते हुए सुरक्षा परिषद् ने न केवल आक्रमणकारी पाकिस्तान को भारत के समान दर्जा दिया वरन् सेनाओं को काश्मीर से हटाने सम्बन्धी व्यवस्था के पाकिस्तान द्वारा पालन न किये जाने के तथ्य की भी उपेक्षा कर दी। फिर, इस तथ्य को भी ध्यान में रखा जाना चाहिये कि काश्मीर पर आक्रमण का प्रश्न ही सुरक्षा परिषद् के अधिकार-क्षेत्र में आता है, भारत में काश्मीर के विलय का प्रश्न नहीं।

सौमनस्य या सराधन
(Conciliation)

विवादों के निपटारे का यह एक अन्य साधन है। इसमें वे विभिन्न प्रणालियां शामिल हैं जो तीसरे पक्ष द्वारा दो या अधिक राज्यों के विवादों को शांतिपूर्वक हल करने के लिए अपनायी जाती हैं। प्रो० ओपेनहीम के अनुसार—"यह विवाद के समाधान की ऐसी प्रक्रिया है जिसमें यह कार्य कुछ व्यक्तियों के आयोग को सौंप दिया जाता है। यह आयोग दोनों पक्षों का विवरण सुनता है तथा विवाद को तय करने की दृष्टि से तथ्यों के प्रकाश में अपना प्रतिवेदन देता है। इनमें विवाद के समाधानार्थ कुछ प्रस्ताव होते हैं। ये प्रस्ताव किसी पंचाट या अदालती निर्णय की भांति अनिवार्य रूप से मान्य नहीं होते।"

1899 और 1907 के हेग अभिसमय में सराधन के आयोगों द्वारा झगड़ों का शान्तिपूर्ण निपटारा अनुबन्धित है। प्रो. हडसन ने लिखा है कि—"सराधन की प्रक्रिया में तथ्यों का अन्वेषण और विरोधी दावों का समन्वय किया जाता है। उसके पश्चात् विवाद के समाधान के लिए प्रस्ताव बनाये जाते हैं। इन प्रस्तावों को स्वीकार करने अथवा न करने की स्वतन्त्रता दोनों पक्षों की होती है।"

इस प्रकार कहा जा सकता है कि सराधन की प्रक्रिया में तीन बातें आती हैं—तथ्यों की जांच, मध्यस्थता एवं विवाद के लिए प्रस्तावों का प्रेषण। इस प्रक्रिया का विकास हेग अभिसमय के बाद हुआ।

सराधन पंच निर्णय से भिन्न है। सराधन के अन्तर्गत विभिन्न पक्ष इसके प्रस्तावों को स्वीकार करने या न करने के लिए पूर्णरूप से स्वतन्त्र होते हैं। दूसरी ओर पंच-निर्णय के अन्तर्गत सम्बन्धी पक्षों को पंचाट द्वारा निर्धारित निर्णय मानना ही पड़ेगा। सराधन आयोग के महत्व के सम्बन्ध में सन्देह नहीं किया जा सकता। राष्ट्रसंघ की परिषद् ने अनेक अवसरों पर इस प्रणाली का उपयोग किया था। यह जांच के अन्तर्राष्ट्रीय आयोग तथा पंच-निर्णय के बीच की प्रक्रिया है।

संराधन और मध्यस्थता के बीच भी अन्तर है। प्रथम के अन्तर्गत दोनों पक्ष अपना विवाद दूसरे व्यक्तियों को इसलिए सौंपते हैं ताकि वे तथ्यों की निष्पक्ष जांच

के बाद इसके समाधान के प्रस्ताव उपस्थित करें। यहा पहल विवाद के पक्षो द्वारा की जाती है। मध्यस्थता मे पहल-कर्त्ता तीसरा राज्य ही होता है। यह स्वय विवाद के पक्षो के बीच वार्ता चलाकर विवाद को हल करना चाहता है।

जांच
(Enquiry)

अनुच्छेद 34 और 36 के अन्तर्गत यह व्यवस्था है कि सुरक्षा परिषद् किसी ऐसे झगडे अथवा स्थिति की जांच-पडताल कर सकती है जो अन्तर्राष्ट्रीय सघर्ष का रूप ले सकता हो अथवा जिससे कोई दूसरा झगडा उठ खडा हो। सुरक्षा परिषद् इस बात का भी निश्चय करती है कि यदि झगडा अथवा स्थिति जारी रहे तो विश्व की शांति व सुरक्षा को कोई खतरा पैदा हो सकता है। ऐसे झगडे या इस प्रकार की कोई स्थिति पैदा हो जाने पर सुरक्षा परिषद् किसी भी समय उसके लिए उचित कार्यवाही करने या सुलझाने के उपायो की सिफारिश कर सकती है। इस प्रकार की सिफारिशें करते समय सुरक्षा-परिषद् को इस बात का विचार करना चाहिए कि सामान्य रूप से कानूनी झगडो को अन्तर्राष्ट्रीय अदालत के विधान के उपबन्धो के अनुसार पेश किया जाय।

जांच या खोजबीन का उद्देश्य वस्तुत उन तथ्यो को ज्ञात करना अथवा ढूढ निकालना होता है जिनसे विवादी पक्षो के बीच भ्रान्ति, अज्ञान या मतभेद दूर हो कर शान्ति स्थापित हो सकती है। हेग अभिसमय की धारा 9 के अन्तर्गत भी इस प्रकार की व्यवस्था की गई थी कि तथ्य-मूलक विवाद की जांच के लिए दोनो पक्षो द्वारा चुने गए व्यक्तियो का एक अन्तर्राष्ट्रीय आयोग बनाया जाय। सन् 1924 मे वाशिंगटन मे हुए समझौते के अनुसार भी जाच का एक आयोग स्थापित करने का निश्चय किया गया था।

अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाएं सौमनस्य एव जांच आयोग (Conciliation and Enquiry Commission) के माध्यम से अनेक समस्याओ को सुलझाने की चेष्टा करती रही है। उदाहरण के लिए सन् 1931 मे मन्चूरिया काण्ड के लिए राष्ट्रसघ लिटन आयोग नियुक्त किया गया था। फिलिस्तीन मे अरब देशो और इजराइल के बीच स्थायी शांति स्थापित करवाने के उद्देश्य से भी एक सौमनस्य आयोग बैठाया गया था। इन्डोनेशियाई और काश्मीर-विवाद मे भी सयुक्त राष्ट्रसघीय आयोगो ने बडी श्रमसाध्य भूमिका अदा की थी। प्लानो एव रिग्ज (Plano & Riggs) ने लिखा है कि सामान्यत दोनो कार्य—तथ्यान्वेषण और मध्यस्थता (Fact-finding and mediation) जांच एव मध्यस्थता आयोग को सौंपे जाते हैं और राष्ट्रसघ की तरह ही सयुक्त राष्ट्रसघ भी अपने क्षेत्राधिकार मे आने वाले महत्वपूर्ण विवादों मे जांच एव मध्यस्थता आयोग (A Commission of Enquiry and Mediation)

नियुक्त करता रहा है।[1] यद्यपि विवादों के समाधान में संयुक्त राष्ट्रीय आयोगों का प्रभाव विविधरूपी अथवा भिन्न-भिन्न रहा है तथापि कुल मिलाकर उनकी भूमिका प्रभावशाली रही है। यदि आयोग कोई समझौता कराने में असफल भी रहे हैं तो भी विवादी पक्षों से निरन्तर सम्पर्क रखकर स्थिति अथवा विवादी पक्षों के दृष्टिकोण में आने वाले परिवर्तनों पर पैनी नजर रखकर, तथा संयुक्त राष्ट्रसंघीय "उपस्थिति" (A United Nations "presence") के माध्यम से सर्यमित प्रभाव जमाकर उन्होंने बड़ा उपयोगी कार्य किया है।[2]

पंच-निर्णय
(Arbitration)

वार्ता, मध्यस्थता, सौमनस्य, जाँच आदि जो उपाय हैं उन्हें प्रायः निर्णयेतर (Non-decisional) उपाय कहा जाता है क्योंकि विवादी पक्ष इस बात के लिए बाध्य नहीं होते कि वे इन उपायों द्वारा सामने लाये गये सुझावों अथवा निर्णयों को स्वीकार करें। इन्हें प्रभावशाली बनाने के लिए कुछ अन्य उपाय विकसित किये गए हैं जिनमें दिये गये निर्णयों को दोनों पक्षों को मानना आवश्यक होता है। ये निर्णयात्मक (Decisional) उपाय मुख्यतः दो हैं—पंच-निर्णय (Arbitration) तथा *न्यायिक निर्णय अथवा अधिनिर्णय (Judicial Decisions or Adjudications)* ।

पंच-निर्णय की प्रक्रिया अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रारम्भिक दिनों में ही शुरू हो चुकी थी। 19वीं शताब्दी में पंच-निर्णय की प्रक्रिया विवादों के न्यायपूर्ण तथा समानता-पूर्ण समाधान का सम्मान-जनक साधन बन गई। 1872 में ग्रेट ब्रिटेन तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के बीच अलवामा के दावों सम्बन्धी विवाद में जेनेवा में पंच-निर्णय किया गया। इसकी सफलता ने इस तरीके को पूरी लोकप्रियता दी। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नवोदित संस्थान ने 1875 में पंच-निर्णय की प्रक्रिया के लिए कुछ नियम बनाये।

पंच-निर्णय का अर्थ अनेक विचारकों तथा राजनीतिज्ञों द्वारा समय-समय पर दिया गया है। *प्रो. ओपेनहीम लिखते हैं "पंच-निर्णय का अर्थ है कि राज्यों के मतभेद का समाधान कानूनी निर्णय द्वारा किया जाये। यह निर्णय दोनों पक्षों द्वारा निर्वाचित एक या अनेक पंचों के न्यायाधिकरण द्वारा होता है जो अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से भिन्न होता है।"* पंच-निर्णय का कार्य या तो किसी ऐसे राज्याध्यक्ष को सौंपा जा सकता है जो गैर-न्यायिक अथवा कानून की जानकारी न रखने वाला व्यक्ति है या किसी न्यायाधिकरण को। व्यापार-सन्धि या ऐसी ही दूसरी सन्धियों में सम्बन्धित पक्ष यह निर्णय ले सकते हैं कि सन्धि द्वारा विनियमित विषयों में

1. Ibid, p. 229.
2. Ibid, p. 230.

सम्बन्धित किसी विवाद का समाधान वे पच-निर्णय करेंगे। दो या अधिक राज्य भी पच-निर्णय की एक सामान्य सन्धि कर सकते हैं जिसके अनुसार उनके सभी या कुछ प्रकार के विवाद पच-फैसले के लिए सौंपे जायें। ऐसी सन्धियों में प्राय: उन सिद्धान्तों का उल्लेख कर दिया जाता है जिनके अनुरूप पच-निर्णय दिया जायेगा। ये सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सामान्य नियम हैं। यदि पक्ष चाहे तो वे समन्याय को नियमों को भी लागू कर सकते हैं। ब्रायर्ली के कथनानुसार—"पच तथा न्यायाधीश कानून के नियमों के अनुसार निर्णय लेने के लिए बाध्य है। वे कानून की अवहेलना करने की स्वेच्छाचारी शक्ति नहीं रखते।"

पच-निर्णय न केवल तथ्यों की खोज करते हैं वरन् कानूनी मसलों को भी सुलझाते हैं। इनको अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्तों को अपनाने का विशेष निर्देश दिया जाता है। 19वीं शताब्दी में पच-निर्णय के सम्बन्ध में एक सामान्य धारा (Clause) यह जोड़ी गयी कि न्यायाधिकरण अपना निर्णय अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुरूप देगा तथा पूर्ववर्ती न्यायाधिकरणों के व्यवहार और न्याय-शास्त्र का सम्मान करेगा।

सामान्य रूप से पच-निर्णय में दिया गया पचाट दोनों पक्षों को अनिवार्य रूप से स्वीकार करना पड़ता है। कोई राज्य अपना विवाद पचों को सौंपने के लिए बाध्य नहीं है किन्तु यदि एक बार ऐसा कर लिया गया तो उसके निर्णय को मानने के लिए वह बाध्य होगा। यदि निर्णय देते समय पंचों ने धोखे, दबाव, भ्रम या गलत-फहमी से कार्य किया है तो सम्बन्धित पक्षों को इसे स्वीकार करना अनिवार्य नहीं होगा। यदि निर्णय अधिकारों का अतिक्रमण करके दिया गया है तो भी यह बाध्यकारी नहीं माना जायेगा।

यदि पच-निर्णय के फैसले को एक पक्ष स्वीकार करले और दूसरा पक्ष न करे तो उसे स्वीकार कराने के लिए सभी उपाय अपनाये जा सकते हैं। विश्व जनमत और अन्तर्राष्ट्रीय कानून ऐसे पक्ष के विपरीत हो जाता है। 1951 में काश्मीर का प्रश्न पच-निर्णय को सौंपने का प्रस्ताव भारत के सामने आया किन्तु उसने इसे स्वीकार नहीं किया क्योंकि वह इसे महाशक्तियों का खेल नहीं बनाना चाहता था। आगे चलकर कच्छ के रन (The Rann of Kutch) का जो विवाद दोनों राष्ट्रों के बीच उठा, उसे पच-निर्णय द्वारा सुलझाया गया पर दुर्भाग्यवश 30 जून, 1965 को होने वाले कच्छ समझौते की स्याही सूख भी नहीं पायी थी कि 1 सितम्बर, 1965 को पाकिस्तान ने भारत पर आक्रमण करके एक बार पुनः यह सिद्ध कर दिया कि उसके लिए भारत की उदारता और सौजन्य का कोई मूल्य नहीं है।

न्यायिक समाधान
(Judicial Settlement)

विवादों का न्यायिक समाधान अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के माध्यम से होता है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णय मान्य हो, इसके लिए सयुक्त राष्ट्रसघ के चार्टर में

अनुच्छेद 94 में यह स्पष्ट व्यवस्था दी गई है कि "संघ का प्रत्येक सदस्य प्रतिज्ञा करता है कि वह किसी मामले में विवादी होकर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के फैसले को मानेगा।" यह भी उल्लेख है कि "न्यायालय के फैसले के अनुसार किसी विवादी के जो दायित्व हो जाते हैं यदि वह उनको पूर्ण न करे तो दूसरा विवादी या पक्षकार सुरक्षा परिषद् का आश्रय ले सकता है। सुरक्षा परिषद् जैसा भी ठीक समझे, उस फैसले पर अमल कराने के लिए सिफारिशें कर सकती है अथवा दूसरी कोई कार्यवाही कर सकती है।"

संयुक्त राष्ट्रसंघ के सभी सदस्य स्वतः ही अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की संविधि के सदस्य बन जाते हैं। इनके अतिरिक्त दूसरे राज्य भी इसके सदस्य बने बिना कोई एक पक्ष बन सकते हैं। इसके लिए प्रत्येक मामले में महासभा सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर आवश्यक शर्तें निर्धारित करती है। यद्यपि न्यायालय आवश्यक और सार्वभौमिक क्षेत्राधिकार नहीं रखता किन्तु इसके निर्णय उन पक्षों पर बाध्यकारी होते हैं जो इसके न्यायाधिकरण को स्वेच्छा से स्वीकार करते हैं। कोरफूचैनल विवाद (1949), हयाडेला टोरे विवाद (1951), एम्बेटेलियो का मामला, संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता के लिए किसी राज्य का प्रवेश (1948) आदि मामले अथवा विवाद न्यायिक फैसले के आधार पर ही सुलझाए गए थे।

मध्यस्थ या प्रतिनिधि
(Mediator or Representative)

कुछ ऐसे विवाद होते हैं जिनके समाधान में सुरक्षा परिषद्, महासभा अथवा आयोग के दमिस्पत कोई अकेला व्यक्ति (A single individual) मध्यस्थ या प्रतिनिधि के रूप में अधिक उपयोगी सिद्ध होता है। परिषद् और महासभा के सभापतियों तथा महासचिव ने इस दृष्टि से अनेक अवसरों पर प्रभावशाली भूमिका निभाई है। किसी तटस्थ सभा-स्थल पर, अथवा विपक्षी दलों की राजधानियों में या विवाद-स्थल पर संयुक्त राष्ट्रीय मध्यस्थ अथवा प्रतिनिधि ने विवाद के समाधान अथवा मतभेदों को कम करने या मिटाने की दिशा में अपनी महती उपयोगिता सिद्ध की है।[1] उदाहरणार्थ, फिलस्तीन के मामले में विभाजन-योजना पर अरबों और यहूदियों में गतिरोध दूर करने तथा खूनी साम्प्रदायिक युद्ध को रोकने के लिये महासभा ने काउण्ट फॉक बर्नेडोट (Count Folke Bernadotte) की नियुक्ति की थी। उग्रवादी तत्वों द्वारा बर्नेडोट की हत्या कर देने के उपरान्त उनके मुख्य सहायक डॉ० राल्फ बुंच (Dr. Ralph Bunche of the U. N Secretariat) ने एक मध्यस्थ के रूप में कार्यभार सम्भाला और अन्त में एक सन्धि करवाने में सफलता अर्जित की। इसी प्रकार काश्मीर विवाद में सुरक्षा परिषद् ने सर ओवन डिक्सन (Sir Owen Dixon) तथा डॉ० फ्रैंक ग्राहम (Dr. Frank Graham) आदि

1. Ibid, p. 230.

को संयुक्त राष्ट्रीय प्रतिनिधि नियुक्त किया था जो विविध कारणोंवश दोनों पक्षों में कोई समझौता नहीं करा सके।

सन् 1953 में महासचिव-पद पर डाग हैमरशोल्ड की नियुक्ति के बाद विशेष रूप से नियुक्त किये जाने वाले संयुक्त राष्ट्रीय मध्यस्थों और प्रतिनिधियों का महत्व कुछ कम होगया क्योंकि नये महासचिव ने अपने पद की शक्तियों की व्यापक व्याख्यायें की और सुरक्षा परिषद् तथा महासभा ने भी महासचिव के अधिक गुरुतर दायित्वों को स्वीकार करने की प्रवृत्ति दिखाई। अब संयुक्त राष्ट्रीय प्रतिनिधि या मध्यस्थ के रूप में महासचिव की भूमिका क्रमशः बढ़ने लगी और आज भी यही स्थिति जारी है। वर्तमान महासचिव ऊ-थाण्ट ने यह प्रदर्शित किया है कि महासचिव द्वारा नियुक्त विशेष प्रतिनिधि और सुरक्षा-परिषद् द्वारा नियुक्त संयुक्त राष्ट्रीय मध्यस्थ मिलकर सहयोग से कार्य करते हुए विवादों के समाधान की दिशा में काफी प्रभावकारी सिद्ध हो सकते हैं। साइप्रस के मामले में ऐसा ही हुआ था। 1965 के भारत-पाक युद्ध को रोकने में महासचिव ऊथाण्ट के स्वयं के प्रयासों का विशेष योग था।

अवरोधक कूटनीति
(Preventive Diplomacy)

विशेष रूप में डाग हैमरशोल्ड द्वारा विकसित "अवरोधक कूटनीति" की धारणा का महत्व शीत-युद्ध की स्थितियों को मर्यादित और शान्त बनाये रखने में है।[1] अवरोधक कूटनीति का उपाय शान्तिपूर्ण समाधान का पूरक (*Complementary to Peaceful settlement*) है जिसका उद्देश्य विवाद में तनाव को कम करना तथा स्थिति को बिगड़ने से बचाना होता है। आज महासभा में निर्गुट राष्ट्र (Uncommitted Nations) शान्ति बनाये रखने की दिशा में जो नवीन भूमिका निभा रहे हैं और शीत-युद्ध के क्षेत्र को सीमित करने का जो प्रयत्न कर रहे —ये अवरोधक कूटनीति (*Preventive Diplomacy*) की ही विशेषतायें हैं।

प्लानो एवं रिग्ज ने संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा अपनायी जाने वाली अवरोधक कूटनीति के उपायों को मोटे रूप में चार श्रेणियों में बाटा है[2]—(1) निरीक्षक ग्रुप जो युद्ध-विराम विसैन्यीकृत क्षेत्र तथा अस्थायी युद्ध-विराम रेखाओं या सन्धि-सीमाओं का निरीक्षण करते है (Observer groups that supervise cease-fires, demilitarized zones and truce lines), (2) युद्धरत पक्षों के मध्य रखी गई संयुक्त राष्ट्रीय सेनाएं (UN forces interposed between belligerents), (3) आन्तरिक संघर्ष का दमन करने और घरेलू-व्यवस्था बनाये रखने में प्रयुक्त की जाने वाली संयुक्त राष्ट्रीय सेनाएं (*UN forces used to quell internal*

1. Ibid, p 230
2. Ibid, p 231.

conflict and maintain domestic order), तथा (4) साम्प्रदायिक समूहों में सशस्त्र संघर्ष को रोकने या सीमित करने में प्रयुक्त संयुक्त राष्ट्रीय फौजें (UN forces used to prevent or curtail armed conflict between communal groups)।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के निरीक्षक समूहों (UN Observer groups) की बाल्कान प्रदेश में (1946–54), इन्डोनेशिया में (1947–49) काश्मीर में, लेबनान में (1958), पश्चिमी इरियन में, (1962–63) तथा यमन (1963–64) बड़ी उपयोगी भूमिका रही है। अवरोधक कूटनीति का सार उपर्युक्त अन्तिम तीन श्रेणियों में निहित है जिनमें संयुक्त राष्ट्रसंघीय सेना का शांति रक्षण या शांति बनाये रखने के लिये प्रयोग होता है। 1956 में मध्यपूर्व में 1960 में कांगो में तथा 1964 में साइप्रस में इन उपायों का प्रयोग किया गया था। वास्तव में संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा "अवरोधक कूटनीति" का प्रयोग विगत कुछ वर्षों से प्रभावशाली रूप में किया जाने लगा है।

जैसा कि कहा जा चुका है, संयुक्त राष्ट्रसंघ का मौलिक उद्देश्य विवादों का शान्तिपूर्ण समाधान तथा युद्ध को रोकना है। विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान के सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्रसंघ का आधारभूत सिद्धान्त यह है कि राष्ट्रों को चाहिए कि वे अपने सभी विवाद समझौता-वार्ता, पंच-निर्णय, न्यायिक समझौतों, जांच, मध्यस्थता, सौमनस्य आदि उपायों द्वारा सुलझा लें। यदि फिर भी मतभेद बने रहें तो विवाद को सुरक्षा परिषद् अथवा महासभा के सम्मुख लाया जा सकता है। सुरक्षा परिषद् अथवा महासभा में आने के उपरान्त विवाद को परिषद् या सभा की कार्यसूची में शामिल कर लिया जाता है और तत्पश्चात् विवाद के सभी पहलुओं पर विचार-विमर्श होता है। विवादी पक्ष स्वतन्त्रतापूर्वक विचार व्यक्त कर सकते हैं। चार्टर के अनुच्छेद 32 के अनुसार जब कोई मामला सुरक्षा परिषद् में पेश हो तो संयुक्त राष्ट्रसंघ का वह सदस्य जो सुरक्षा परिषद् का सदस्य नहीं है, अथवा वह राज्य जो संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य नहीं है, यदि वह विवादी पक्ष है तो बहस में भाग लेने के लिए बुलाया जा सकता है, परन्तु ऐसे सदस्य को वोट देने का अधिकार नहीं होता। सुरक्षा परिषद् अपनी बहसों में ऐसे राष्ट्र को भाग लेने के लिए जो संघ का सदस्य न हो, न्याय-सम्मत नियम बनाने का अधिकार रखती है। यदि परिषद् निषेधात्मक अथवा आदेश-सूचक कार्यवाही करने जा रही हो तो दोनों पक्षों के लिए मतदान का निषेध नहीं है। चार्टर के 24वें अनुच्छेद के अनुसार संघ के सदस्य राज्य इस बात के लिए वचनबद्ध हैं कि वे सुरक्षा परिषद् के निर्णयों का पालन करेंगे, उसके प्रतिनिधित्व को मानेंगे, चाहे परिषद् में उनका कोई प्रतिनिधित्व न हो। विवादों के समाधान की दिशा में यह बड़ी कमजोरी है कि यदि कोई राष्ट्र परिषद् के निर्णयों के विरुद्ध आचरण करे तो उसके विरुद्ध अविलम्ब कोई कार्यवाही की जाने के प्रश्न पर अनेक जटिल और बाह्य समस्याएं उठ खड़ी होती हैं।

स्मरणीय है कि विवाद के सम्बन्ध मे सुरक्षा परिषद् अथवा महासभा को, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की भाँति निर्णय देने का अधिकार नहीं है। केवल प्रस्ताव पारित करके सम्बन्धित राष्ट्रों से यह सिफारिश की जा सकती है कि वे इन प्रस्ताव को आधार मानकर हुए बातचीत द्वारा समस्याओं को सुलझा लें। चार्टर की धारा 14 महासभा को यह अधिकार देती है कि वह स्थिति के शांतिपूर्ण समायोजन के लिए सुझाव दे जो राष्ट्रों के सामान्य कल्याणकारी अथवा मित्रतापूर्ण सम्बन्धों को आघात न पहुँचाने वाले हों। परिषद् और महासभा को मौके की जाँच के लिए आयोग नियुक्त करने अथवा महासचिव को भेजने का अधिकार है ताकि विवाद के सम्बन्ध मे सयुक्त राष्ट्र सघ को वास्तविक जानकारी हासिल हो सके और यदि सशस्त्र सघर्ष छिड़ गया हो तो प्रभावशाली ढंग से अविलम्ब "युद्ध विराम" की स्थिति पैदा की जा सके। सुरक्षा परिषद् को जो शक्तियाँ दी गई हैं उनके बल पर महासभा की अपेक्षा अधिक जल्दी कार्यवाही कर सकती है।

अपने सीमित साधनों और परिस्थितियों के अन्तर्गत तथा राष्ट्रों के प्रभुसत्ता सिद्धांत को ध्यान मे रखते हुए सयुक्त राष्ट्रसघ ने विवादों के शांतिपूर्ण समाधान के लिए अभी तक अनेक उल्लेखनीय प्रयास किये हैं जिनमे से बहुतों को उसमें सफलता मिली है और महाशक्तियों की गुट बंदी तथा सदस्य राष्ट्रों की राजनीतिक अखाड़ेबाजी के कारण अनेक बार उसे असफल भी होना पड़ा है। फिर भी यह स्वीकार करना होगा कि कुल मिलाकर अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा बनाये रखने मे सयुक्त राष्ट्रसघ को उत्साहवर्धक सफलता मिली है। सघ के सद्प्रयास तृतीय महायुद्ध के विस्फोट को रोकने मे अभी तक बहुत कुछ सहायक हुए हैं। सघ द्वारा विभिन्न मुख्य विवादों के शांतिपूर्ण समाधान के जो प्रयत्न किये गये हैं, उनका अगले एक अध्याय मे पृथक से विवरण दिया गया है।

प्रतिरोधात्मक अथवा बल-प्रयोग की प्रक्रियाएं
(Procedures for Co-ercive Settlement)

चार्टर के अध्याय 7 मे जो व्यवस्थाएं दी गई हैं, तदनुसार विश्व-शांति की सुरक्षा के लिए सकट उत्पन्न होने, शांति भग होने अथवा विश्व के किसी भी क्षेत्र मे सशस्त्र आक्रमण होने की सूरत मे सयुक्त राष्ट्रसघ शांति एवं व्यवस्था की पुनर्स्थापना के खातिर यदि आवश्यक समझे तो बल प्रयोग कर सकता है अथवा प्रतिरोधात्मक उपायों का आश्रय ले सकता है। सघ बल प्रयोग द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का समाधान दो प्रकार से करने की चेष्टा करता है—प्रथम, जिसमे सशस्त्र सेना के प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती, एवं द्वितीय, जिसमे सशस्त्र सैन्य बल प्रयोग जरूरी हो जाता है।

अनुच्छेद 39 के अनुसार सुरक्षा परिषद् ही इस बात का निर्णय करती है कि कौन-सी चेष्टाएं शांति को खतरे मे डालने वाली, शांति भग करने वाली अथवा आक्रमण की चेष्टाएं समझी जा सकती हैं। इस अनुच्छेद के अनुसार परिषद् ही

सिफारिश करेगी और तय करेगी कि अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा कायम करने अथवा फिर से स्थापित करने के लिए कौन सी कार्यवाही की जानी चाहिए। अनुच्छेद 40 यह व्यवस्था देता है कि किसी स्थिति को बिगड़ने से बचाने के लिए सुरक्षा परिषद् अपनी सिफारिशें करने अथवा किसी कार्यवाही का निश्चय करने से पूर्व विवादी पक्षों से ऐसी अस्थायी कार्यवाहियां करने की मांग करेगी जिन्हें वह उचित या आवश्यक समझे। इन अस्थायी कार्यवाहियों से विवादी पक्ष के अधिकारों दावों या उनकी हैसियत का कोई अहित नहीं होगा। यदि कोई पक्ष इस प्रकार की अस्थायी कार्यवाहियां नहीं करता है तो सुरक्षा परिषद् इसका भी विधिवत् ध्यान रखेगी।

बल-प्रयोग के उपर्युक्त दोनों उपाय (जिसमें सशस्त्र सेना के प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती, तथा दूसरे, जिसमें इस प्रकार की आवश्यकता होती है) सुरक्षा परिषद् के आदेशानुसार संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्यों को मान्य होते हैं तथा वही इनका संचालन भी करती है। इस प्रसंग में उल्लेखनीय है कि चार्टर में कहीं भी "आक्रमण", "शांतिभंग", "शांति के लिए संकट", "घरेलू मामला" आदि वाक्यों की व्याख्या नहीं की गई है। एक राष्ट्र की दृष्टि में जो "आक्रमण" हो सकता है वही दूसरे राष्ट्र की दृष्टि में 'घरेलू मामला' होता है। इस प्रकार के सभी मामलों के निर्णय के लिए परिषद् के 5 स्थायी सदस्यों के मतों सहित कुल 9 सदस्यों के स्वीकारात्मक मत आवश्यक होते हैं और राजनीतिक गुटबन्दी के कारण यह कोई सरल कार्य नहीं है। अतः सुरक्षा परिषद् ऐसे मामलों में प्रायः अविलम्ब कोई निर्णय नहीं ले पाती, यह सुरक्षा परिषद् की एक बड़ी कमजोरी है किन्तु एक बार इस निश्चय पर पहुंच जाने पर कि शांति के लिए संकट है अथवा शांति भंग हुई है, अथवा आक्रमण का कार्य हुआ है— सुरक्षा परिषद् तुरन्त कार्यवाही कर सकती है (अनुच्छेद 48)। इस प्रकार की कार्यवाही में सैनिक और असैनिक दोनों प्रकार की अनुशास्तियां (Sanctions) निहित हैं और संघ के सभी सदस्य परिषद् के निर्णयों पर अमल करने के लिए, संघ के विधान के अनुसार बाध्य हैं। जब विवाद में सशस्त्र संघर्ष भड़क उठता है तो संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के सामने सर्वाधिक गम्भीर चुनौती आ जाती है। सिद्धान्ततः चार्टर के अनुच्छेद 7 के अनुसार विवादी पक्षों पर अनुशास्तियां (Sanctions) लगाने की व्यवस्था है, तथापि संयुक्त राष्ट्रसंघ सामान्यतः बलप्रयोग या प्रतिरोध के उपायों से बचने की चेष्टा करता है और कूटनीतिक, राजनीतिक तथा वैधानिक उपायों से समस्या को सुलझाने का प्रयास करता है। सशस्त्र संघर्ष को रोकने के लिए यद्यपि चार्टर में स्पष्ट शब्दों में युद्ध-विराम आदेश (Cease-fire orders) का कोई उल्लेख नहीं है, तथापि अनुच्छेद 40 की व्यापक व्याख्या करते हुए सुरक्षा परिषद् संघर्षरत पक्षों को युद्ध-विराम के आदेश दे सकती है जो वास्तव में "सिफारिशों" (Recommendations) की प्रकृति के लिए होते हैं। अनेक मामलों में विवादी पक्ष युद्ध-विराम के लिए सहमत हो जाते हैं लेकिन

इस बात की भी पूर्ण सम्भावना रहती है कि परिषद् के आदेश अथवा सिफारिश को ठुकरा दिया जाय। इण्डोनेशियाइयों और डचों, यहूदियों तथा अरबों, साइप्रस के यूनानियों तथा अरबों, साइप्रस के यूनानियों और तुर्कों तथा दो अवसरों पर भारतीयों और पाकिस्तानियों के बीच युद्ध को रोकने में सुरक्षा परिषद् के युद्ध-विराम आदेश प्रभावकारी सिद्ध हुए हैं।

अनुच्छेद 41 यह व्यवस्था करता है कि सुरक्षा परिषद् अपने निर्णयों पर अमल कराने के लिए ऐसी कोई भी कार्यवाही निश्चय कर सकती है जिसमें सशस्त्र सेना का प्रयोग न हो। वह संघ के सदस्यों से इस प्रकार की कार्यवाहियां करने की मांग कर सकती है। इन कार्यवाहियों के अनुसार आर्थिक सम्बन्ध पूर्णतः अथवा आंशिक रूप से समाप्त किये जा सकते हैं, समुद्र, वायु, डाक-तार, रेडियो और यातायात के अन्य साधन बन्द किये जा सकते हैं और कूटनीतिक सम्बन्धों का विच्छेद किया जा सकता है।

अनुच्छेद 42 में उल्लेख है कि यदि अनुच्छेद 41 में बतलायी गई उपर्युक्त कार्यवाहियाँ सुरक्षा परिषद् की दृष्टि में अपर्याप्त हों अथवा अपर्याप्त सिद्ध हो गई हों तो अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा बनाये रखने के लिए या फिर से शांति स्थापित करने के लिए, वह जल, थल और वायु सेनाओं द्वारा आवश्यक कार्यवाही कर सकती है। इस कार्यवाही में विरोध-प्रदर्शन (Demonstration), नाकेबन्दी (Blockade) तथा संघ के सदस्य राष्ट्रों की जल, थल और वायु सेनाओं द्वारा की जाने वाली कोई भी कार्यवाही सम्मिलित है।

अनुच्छेद 43 के अनुसार परिषद् ही इस बात का निश्चय करती है कि उपर्युक्त कार्यवाही संघ के कुछ सदस्यों द्वारा की जाय अथवा सभी सदस्यों द्वारा की जाय, तथा जो कार्यवाही की जाय वह स्वतन्त्र रूप से हो अथवा प्रत्यक्ष हो, अथवा अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के माध्यम से। सदस्य राष्ट्रों का यह कर्तव्य है कि वे सुरक्षा परिषद् के मांगने पर और विशेष समझौते अथवा समझौतों के अनुसार अपनी सशस्त्र सेनाएं, सहायता तथा अन्य सुविधा (जिसमें मार्ग अधिकार, अर्थात् देश में होकर जाने का अधिकार भी सम्मिलित होगा) मुहय्या करेंगे। व्यवस्था के अनुसार इस प्रकार के समझौते सुरक्षा परिषद् द्वारा आरम्भ किये जाकर यथा शीघ्र कर लिये जाने थे और समझौतों द्वारा यह निश्चय किया जाना था कि संघ का प्रत्येक सदस्य कितनी शक्ति जुटायेगा, सेनाएं कैसे उपलब्ध होंगी, वह अविलम्ब कार्यवाही करने के लिए कैसे तैयार होगी तथा प्रत्येक सदस्य किस प्रकार अन्य सुविधाएं प्रदान करेगा, पर ऐसे समझौते अभी तक किये नहीं जा सके हैं। अनुच्छेद में व्यवस्था दी गई है कि "जब सुरक्षा परिषद् बल प्रयोग करने का निश्चय कर ले तो किसी ऐसे सदस्य से, जिसे इसमें प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं है, सशस्त्र सेनाएं जुटाने के लिए कहने से पूर्व वह, उस देश को यदि वह सदस्य चाहे तो

उस देश को सशस्त्र सेनाओं के प्रयोग से सम्बन्धित निर्णयों में भाग लेने को आमन्त्रित करेगी।"

अनुच्छेद 45 में लिखा गया है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य सामूहिक अन्तर्राष्ट्रीय कार्यवाही (Combined International enforcement action) के लिए अपनी-अपनी अन्तर्राष्ट्रीय वायु सेना के दल जल्दी से जल्दी उपलब्ध करायेंगे ताकि संघ तुरन्त सैनिक कार्यवाही कर सके। यह भी स्पष्ट किया गया है कि इन सैनिक दलों की तैयारी आदि के बारे में सुरक्षा परिषद् अपनी सैन्य स्टाफ समिति (Military Staff Committee) की मदद लेगी। अनुच्छेद 46 के अनुसार सैन्य स्टाफ समिति की मदद से सशस्त्र सेना को काम में लेने की योजनाएं बनायी जायेंगी। व्यवस्था के अनुसार परिषद् को अधिकार है कि वह निम्न विषयों पर सैन्य स्टाफ समिति का परामर्श और सहयोग प्राप्त करे—(1) अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा परिषद् की सैन्य आवश्यकताएं, (2) परिषद् के अधीन सेनाओं का प्रयोग और उनकी कमान, (3) शस्त्रों का नियन्त्रण, तथा (4) सम्भावित निःशस्त्रीकरण सैन्य स्टाफ समिति सुरक्षा परिषद् के अधीन रखी गई है और सशस्त्र फौजों के सामरिक दृष्टिकोण से संचालन के लिए उत्तरदायी है।

चार्टर की इन व्यवस्थाओं से स्पष्ट है कि विश्व-शांति और सुरक्षा बनाये रखने अथवा पुनः स्थापित करने के लिए परिषद् को संवैधानिक दृष्टि से शक्तिशाली बनाया गया है, तथापि कुछ ऐसी संवैधानिक दुर्बलताएं और जटिलताएं विद्यमान हैं जिनके कारण परिषद् व्यवहार में आशानुकूल सफल निकाय सिद्ध नहीं हुई है। अनियात्मक मामलों को छोड़कर शेष विषयों में निर्णय के लिए 5 स्थायी सदस्यों की सहमति अनिवार्य है। इसका आशय यह हुआ कि कोई भी स्थायी सदस्य किसी भी उचित किन्तु अपने विरोधी दावे को निषेधाधिकार के प्रयोग से अमान्य ठहरा सकता है अथवा विश्व में शांति एवं सुरक्षा को स्थापित करने की दिशा में परिषद् की प्रभावकारी कार्यवाहियों में अवरोध उत्पन्न कर सकता है। और तो और, स्थिति को यथावत् रखने के उपायों में भी स्थायी सदस्यों की सहमति अनिवार्य है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि चाहे कोई स्थायी सदस्य स्वयं शांति भंग अथवा आक्रामक कार्यवाही का दोषी हो तो भी शांति एवं सुरक्षा की स्थापना की दृष्टि से बल प्रयोग के या प्रतिरोधात्मक उपाय व्यवहार में नहीं लाये जा सकते। अब तक का इतिहास बतलाता है कि बड़े राष्ट्र, जो परिषद् के स्थायी सदस्य हैं, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से बड़े झगड़ों के पीछे होते हैं, अतः परिषद् कोई कारगर उपाय प्रायः तब तक व्यवहार में नहीं ला पाती जब तक उसे सभी बड़े राष्ट्रों से सहयोग नहीं मिले। पुनश्च, चार्टर में "आत्मरक्षा" एवं "आक्रमण" का भेद स्पष्ट शब्दों में उल्लिखित नहीं है। इसी अस्पष्टता का लाभ उठाते हुए उत्तरी कोरिया पर आक्रमण करने के मामले में भी केवल 16 राष्ट्रों ने ही संयुक्त राष्ट्रसंघ को सैनिक सहायता दी थी।

अनुशास्तियां
(Sanctions)

चार्टर में सैनिक और असैनिक दोनों प्रकार की अनुशास्तियो (Both Military and Non-military Sanctions) की व्यवस्था है। सैनिक अनुशास्तियों, उसके मार्ग में वैधानिक और व्यावहारिक कठिनाइयो आदि का उल्लेख विस्तार में पूर्व-पृष्ठो में किया जा चुका है। असैनिक अनुशास्तियो का, जिनका सांकेतिक रूप मे वर्णन किया जा चुका है, यहाँ कुछ विस्तार से उल्लेख आवश्यक है।

चार्टर में, विशेषकर अत्यधिक स्पष्ट रूप से अनुच्छेद 41 में, असैनिक अनुशास्तियो (Non-military Sanctions) की व्यवस्था है। इस अनुच्छेद के तहत सुरक्षा परिषद् अपने फैसलों पर अमल कराने के लिये ऐसी कार्यवाहिया निश्चित कर सकती है जिनमें सशस्त्र सेना का प्रयोग न हो। वह स॰ रा॰ के सदस्य राष्ट्रों से इस प्रकार की कार्यवाहिया करने की माग कर सकती है जिनके अनुसार—"(1) आर्थिक सम्बन्ध पूर्णत या अशत॰ समाप्त किये जा सकते हैं (Complete or partial interuption of economic relations), (2) समुद्र, वायु, डाक, तार, रेडियो और यातायात के अन्य साधन पूर्णत या अशतः बन्द किये जा सकते हैं (Complete or partial interuption of rail, sea, air, postal, telegraphic, radio and other means of Communication), तथा (3) कूटनीतिक सम्बन्ध विच्छेद किया जा सकता है (The severance of diplomatic relations)।" नैतिक निन्दा (Moral Condemnation) को यद्यपि पृथक् से अनुशास्ति का कोई प्रकार या रूप नही बनाया गया है तथापि यह भी एक दण्ड (penalty) है जो सयुक्त राष्ट्र सघ द्वारा उन राज्यो को दिया जा सकता है जो उसके निर्णयों या सिफारिशो पर कोई ध्यान न दें।[1]

सयुक्त राष्ट्रसघ ने अपने जीवन काल मे उपर्युक्त लगभग सभी अनुशास्तियो का प्रयोग किया है। पर दुर्भाग्यवश कोई भी अनुशास्ति वाछित सयुक्त राष्ट्रीय लक्ष्यों को प्राप्त करने मे सफल नही हो सकी है। नैतिक निन्दा (Moral Condemnation) का उपाय तो लगभग प्रभावहीन रहा है। ऐसा कोई भी राज्य, जो सयुक्त राष्ट्रसघ के दबाव को न मानने की जिद पर अड़ा हो, सघ के निन्दा-प्रस्तावो की प्राय॰ कोई परवाह नही करता। जहा राष्ट्रीय हितों को गहरी ठेस पहुचने की सम्भावना हो, वहा सघ की नैतिक निन्दा प्रायः अप्रभावी रहती है, उल्टे इससे तनाव का क्षेत्र बढ जाता है। इस प्रकार की निन्दा (Condemnation) सोवियत सघ को 1956 में हगरी की क्रांति को कुचलने से नही रोक सकी थी, और न ही 1949 तथा 1950 में टर्की, बल्गेरिया, और रूमानिया को अपने राजनीतिक एवं धार्मिक नेताओं की हत्या से विमुख कर सकी थी।[2] कोरिया-युद्ध मे चीनी हस्तक्षेप की निन्दा का पेकिंग पर

1. Ibid, p. 260.
2. Ibid, p. 260.

कोई प्रभाव नहीं पड़ा था। ढेर सारे निन्दा-प्रस्तावों (Condemnatory resolutions) से भी दक्षिण अफ्रीका के कानों में जूँ भी नहीं रेंगी है और वह रंग-भेद तथा जाति-भेद की अमानवीय नीति पर दृढ़तापूर्वक चलते हुए विश्व जनमत को ठुकरा रहा है।

कूटनीतिक और आर्थिक अनुशास्तियाँ (Diplomatic and Economic Sanctions) भी अधिक प्रभावकारी नहीं रही हैं। 1966 तक तो सुरक्षा परिषद् ने आदेशात्मक अनुशास्तियों (Mandatory Sanctiors) की शक्ति का प्रयोग ही नहीं किया था केवल रोडेशियाई मामले में एक अपवाद को छोड़कर संयुक्त राष्ट्रसंघ की सभी असैनिक अनुशास्तियाँ प्राय: सिफारिशों के रूप में रही हैं जिन्हें सदस्य राष्ट्र स्वीकार करने या ठुकराने में वैधानिक रूप से स्वतन्त्र होते हैं। 1946 में महासभा ने स्पेन से राजदूतों और मन्त्रियों को हटा लेने की सिफारिश की थी। साथ ही संयुक्त राष्ट्रसंघीय अभिकरणों में स्पेन की सदस्यता का मार्ग भी अवरुद्ध किया था। महासभा को आशा थी कि इन उपायों से फासिस्ट फ्रांको-शासन के घुटने टिकाए जा सकेंगे। पर फ्रांको पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। आगे चलकर 1950 में कूटनीतिक प्रतिबन्ध हटा लिये गये और 1955 में संयुक्त राष्ट्रसंघ में भी स्पेन को प्रवेश दे दिया गया। सुरक्षा परिषद् द्वारा इजराइल और अरब राष्ट्रों को शस्त्रास्त्र लेने जाने वाले जहाजों पर रोक (Embargo on shipment of arms) की सिफारिश का 1955 तक तो बहुत कुछ अनुपालन किया गया लेकिन उसी वर्ष रूस-मिस्र शस्त्र-समझौते तथा इजराइल और बगदाद पैक्ट के सदस्यों को अमेरिकन सहायता के कारण मध्यपूर्व में शस्त्रों की एक नयी दौड़ शुरू हो गई। 1949 में महासभा ने अल्बानिया और बल्गेरिया को शस्त्रास्त्र न भेजे जाने के लिये पोतावरोध (Embargo) लगाया था। इस पोतावरोध का उद्देश्य यूनानी विद्रोहियों को जाने वाली सहायता को अवरुद्ध करना था। पर यह अवरोध पूर्णतः अप्रभावकारी रहा। साम्यवादी देशों ने, जो मुख्यतः शस्त्र-सहायता देते थे, पोतावरोध या अविरोध को मानने से इन्कार कर दिया।[1] इसी प्रकार 1951 में महासभा ने यह प्रतिबन्ध (Ban) लगाया कि जहाजों द्वारा चीन को युद्ध-सामग्री न पहुँचाई जाय, पर अनेक देशों द्वारा इस प्रतिबन्ध की अवहेलना की गई।[2]

सन् 1962 में महासभा ने दक्षिण अफ्रीका से आर्थिक और कूटनीतिक सम्बन्ध विच्छेद की सिफारिश की ताकि उसे रंग-भेद की अमानवीय नीति के परित्याग के लिए विवश किया जा सके। लेकिन संयुक्त राज्य अमेरिका ब्रिटेन, तथा अनेक देशों ने जिनके दक्षिण अफ्रीका में व्यापक हित हैं, महासभा की सिफारिश पर कोई अमल नहीं किया। फिर भी 1963 में महासभा और सुरक्षा परिषद् दोनों

1. Ibid, p. 260.
2. Ibid, p. 261.

के द्वारा समर्थित शस्त्रास्त्रों के पोतावरोध (*Embargo on arms* and *war materials*) पर काफी अमल किया गया।

नवम्बर, 1965 में दक्षिण रोडेशिया द्वारा ब्रिटेन से एक-पक्षीय स्वतन्त्रता की घोषणा (Unilateral declaration of independence) देने पर संयुक्त राष्ट्र-संघ ने आदेशात्मक असैनिक अनुशास्तियाँ (Mandatory non-military sanctions) लगाने का ऐतिहासिक निर्णय किया। महासभा ने एक प्रस्ताव द्वारा दक्षिण रोडेशिया सरकार के कार्यों की घोर निन्दा करते हुए सदस्य राष्ट्रों से अनुरोध किया कि वे इयान स्मिथ की सरकार को मान्यता (Recognition) प्रदान नहीं करें तथा उसके साथ व्यापार करना बन्द कर दें। महासभा ने यह प्रस्ताव 106 मतों के बहुमत से स्वीकार किया। विरोध में केवल पुर्तगाल और दक्षिण अफ्रीका दो ही राष्ट्र थे। अफ्रीकी-एकता-संगठन (*Organisation of African Unity*) ने भी दक्षिण रोडेशिया से कोई आर्थिक सम्बन्ध नहीं रखने का निश्चय किया। पर इन सभी आर्थिक प्रतिबन्धों का कोई परिणाम नहीं निकला क्योंकि संयुक्त राज्य अमेरिका और ब्रिटेन के साम्राज्यवादी पूंजीपतियों की सहानुभूति स्मिथ-सरकार को प्राप्त होती रही। दक्षिण अफ्रीकन संघ और पुर्तगाल के दक्षिण अफ्रीकन उपनिवेशों की सीमाएं दक्षिण रोडेशिया से मिली हुई हैं, अतः वहां से भी उसे हर तरह से सामान प्राप्त होता रहा। दिसम्बर 1966 में, ब्रिटेन और दक्षिण रोडेशिया की समझौता वार्ता भंग हो जाने के बाद, सुरक्षा परिषद ने शस्त्रों, तेल और मोटर-गाड़ियों के आदेशात्मक अवरोध (A mandatory embargo of arms, oil and motor vehicles) तथा रोडेशिया के मुख्य निर्यातों के बहिष्कार (Mandatory boycott) का आदेश दिया पर सभी प्रतिबन्ध असफल सिद्ध हुए। नवम्बर, 1967 में महासभा ने इस मामले में शक्ति-प्रयोग करने पर बल दिया किन्तु ब्रिटेन ने इस सिफारिश पर कोई अमल नहीं किया। वास्तव में रोडेशिया के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने के ब्रिटिश प्रस्ताव भी प्रदर्शनात्मक ही अधिक थे। अप्रैल, 1968 में सुरक्षा-परिषद् ने रोडेशिया के विरुद्ध पूर्ण नाकेबन्दी के प्रश्न पर विचार किया और मई, 1960 में इस प्रस्ताव को पारित भी कर दिया लेकिन गुप्त रूप से सभी आवश्यक सामग्री मिलते रहने के कारण रोडेशिया की अर्थ-व्यवस्था पर इस नाकेबन्दी का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा।

इन सभी उदाहरणों के प्रकाश में यह कहना अनुचित नहीं होगा कि निन्दा और कूटनीतिक तथा आर्थिक अनुशास्तियों का इतिहास संयुक्त राष्ट्र संघ के जीवन काल में अब तक असफलता की कहानी ही रहा है।

संयुक्त राष्ट्रसंघीय आपातकालीन सेना
(*UN Emergency Force—UNEF*)

संयुक्त राष्ट्रसंघ के इतिहास में संयुक्त राष्ट्रीय आपातकालीन सेना एक नवीन प्रवर्तन थी। 1956 में स्वेज नहर विवाद के समय इस आपातकालीन सेना

के विचार को कुछ साकार रूप प्राप्त हुआ। 29 अक्टूबर, 1956 को मिस्र पर इजराइल के भीषण आकस्मिक हमले और तत्पश्चात् तुरन्त ही ब्रिटेन और फ्रांस द्वारा इजराइल के पक्ष में सैनिक हस्तक्षेप ने अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के लिए भयानक संकट उपस्थित कर दिया। विवाद में प्रत्यक्ष रूप से ... के महाशक्तियों के लिप्त होने से महायुद्ध का खतरा उत्पन्न हो गया।

30 अक्टूबर, को सुरक्षा-परिषद् में सब राष्ट्रों से मिस्र में सेना का प्रयोग न करने की प्रार्थना करने वाला प्रस्ताव फ्रांस और ब्रिटेन के वीटो के कारण पास नहीं हो सका। अमेरिका द्वारा प्रस्तुत इस प्रस्ताव के रद्द हो जाने पर 'शान्ति के लिए एकता" (Uniting for Peace) प्रस्ताव के अन्तर्गत महासभा की तत्कालीन बैठक बुलाई गई। ब्रिटिश विरोध के बावजूद 2 नवम्बर, 1956 को महासभा ने अमेरिका का एक प्रस्ताव प्रबल बहुमत से पारित कर दिया जिसमें स्वेज नहर के प्रदेश में ब्रिटिश, फ्रांस और इजराइल सैनिक कार्यवाही पर गम्भीर चिन्ता व्यक्त की गई तथा अविलम्ब युद्ध बन्द करने और फौजें हटा लेने पर बल दिया गया। तत्पश्चात् 4 नवम्बर को महासभा ने कनाडा का यह प्रस्ताव पास किया कि महासचिव श्री डाग हैमरशोल्ड मिस्र में युद्ध बन्द कराने तथा युद्ध-विराम की देख-भाल के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ की एक आपात्कालीन सेना (UN Emergency Force—UNEF) की योजना प्रस्तुत करें।

श्री हैमरशोल्ड ने जो योजना प्रस्तुत की उस पर 7 नवम्बर, 1956 को महासभा ने अपनी स्वीकृति की मोहर लगादी। जनरल बर्न्स और उनका कर्मचारी वर्ग आपात्कालीन सेना की प्रथम टुकड़ियों (The First units) को सम्भालने के लिए Capodichino पहले पहुंच चुके थे। 10 नवम्बर को आपात्कालीन सेना की प्रथम टुकड़ियां आ पहुंची और ठीक पांच दिन बाद संयुक्त राष्ट्रसंघीय सेना का पहला दस्ता इस्माइलिया के 10 मील पश्चिम में अबूसुवेर (Abu Suweir) हवाई क्षेत्र में उतर गया। इतनी देरी भी इसीलिए हुई कि संयुक्त राष्ट्रसंघीय आपात्कालीन सैनिक दस्तों के प्रवेश के बारे में मिस्र की अनुमति पर्याप्त कठिनाई के बाद मिल सकी। कुल मिला कर 10 देशों की सैनिक टुकड़ियों से बनी 6 हजार सैनिकों की अन्तर्राष्ट्रीय सेना शान्ति स्थापना के लिए मिस्र भेजी गई।

यह उल्लेखनीय है कि अन्तर्राष्ट्रीय आपात्कालीन सेना के प्रस्ताव को ब्रिटेन और फ्रांस ने मानने से आना-कानी की थी। स्वेज-काण्ड में इन दोनों राष्ट्रों का रुख संघ को शान्ति-कार्यों में सहयोग न देने का था। इस पर 5 नवम्बर को सोवियत संघ ने आक्रमणकारियों को स्पष्ट शब्दों में यह चेतावनी देदी थी कि यदि एक निश्चित समय तक मिस्र पर हमला बन्द नहीं किया गया तो सोवियत संघ नवीनतम शस्त्रों के साथ इस संकट में हस्तक्षेप करेगा। अमेरिका ने भी मिस्र में फ्रांस और ब्रिटेन की सैनिक कार्यवाही का समर्थन नहीं किया और खुले तौर पर उनके कार्य को गलत बताया। इन परिस्थितियों में ब्रिटेन और फ्रांस अपनी सैनिक

कार्यवाही रोकने के लिए बाध्य हो गये तथा 5 नवम्बर को महासचिव ने संघ को यह सूचित किया कि 6–7 नवम्बर की मध्य-रात्रि में ऐंग्लो-फ्रेंच फौजें युद्ध बन्द कर देंगी। इसके तुरन्त बाद 7 नवम्बर को महासभा में एशिया-अफ्रीका के देशों का एक प्रस्ताव पास हो गया कि आक्रमणकारी फौजें मिस्र की भूमि से हट जाय तथा स्वेज नहर के क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस की व्यवस्था की जाय। मिस्र ने इस आश्वासन पर कि संयुक्त राष्ट्रसंघीय सेना के रहने पर उसकी प्रभुसत्ता को कोई आंच नहीं आयेगी अफ्रो-एशियायी देशों का प्रस्ताव मान लिया। इस प्रस्ताव के अनुरूप अन्तर्राष्ट्रीय आपातकालीन सेना का आयोजन करने के लिए ब्राजील, कनाडा, श्रीलंका, कोलम्बिया, भारत, नार्वे और पाकिस्तान–इन देशों की एक समिति बनायी गई। इस सम्पूर्ण कार्यवाही के बाद ही 15 नवम्बर को आपातकालीन सेना का पहला दस्ता मिस्र पहुँचा।

संयुक्त राष्ट्रसंघ की अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति सेना गाजा और मिस्र की अन्तर्राष्ट्रीय सीमा पर तैनात हो गई ताकि इजरायल और अरब में पुनः किसी संघर्ष का सूत्रपात न हो जाय। पर दुर्भाग्यवश इजरायल और अरब राष्ट्रों के बीच तनातनी तब विशेष रूप से विस्फोटक हो गई जब 18 मई, 1967 को संयुक्त अरब गणराज्य के स्व० राष्ट्रपति नासिर ने महासचिव ऊथान्ट से गाजा और मिस्र की अन्तर्राष्ट्रीय सीमा से सभी संघीय सैनिक हटा लेने की मांग की। चूंकि यह मिस्र की प्रभुसत्ता का मामला था अतः सम्भावित खतरे को समझते हुए भी, 19 मई को महासचिव मिस्र की सीमा से अन्तर्राष्ट्रीय सेना हटाने को सहमत हो गये और इस निश्चय के अनुरूप सेना को हटाने की कार्यवाही भी शुरू कर दी गई। महासचिव ऊथांट ने सम्पूर्ण स्थिति का सही मूल्यांकन करते हुए कहा—"सेनाओं को वहां से हटाने का मतलब स्पष्ट रूप से यह होगा कि संयुक्त अरब गणराज्य और इजरायल की सेनाएं एक दूसरे के आमने-सामने हो जायेंगी और आज तक जो शक्ति दोनों के बीच शान्ति बनाये हुए थी, वह हट जायेगी। मुझे इस बात का दुःख है, मगर इसके सिवाय मेरे पास कोई चारा नहीं है।"

1956 में सिनाई मरुस्थल में इजरायल और संयुक्त अरब गणराज्य के बीच एक असैनिक क्षेत्र की स्थापना की गई थी और इस क्षेत्र में शान्ति बनाये रखने के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघीय आपातकालीन सेना नियुक्त की गई थी जिसने भारत के जनरल इन्द्रजीत रिखी के नेतृत्व में शान्ति स्थापना में महत्वपूर्ण योग दिया था, लेकिन राष्ट्रपति नासिर की मांग पर उसके विघटन से इस क्षेत्र में पुनः अनिश्चय और अस्थिरता व्याप्त हो गई और तब 5 जून, 1967 को अरब राष्ट्रों तथा इजरायल के बीच पुनः घमासान युद्ध छिड़ गया जिसमें इजरायल ने अरबों को बुरी तरह पराजित किया। अन्त में 8-9 जून को युद्ध विराम हो गया संयुक्त राष्ट्रसंघ ने दोनों पक्षों से युद्ध-विराम का यथोचित रूप से पालन करने की अपील की। 10 जुलाई को स्वेज के किनारे संयुक्त राष्ट्रसंघीय प्रेक्षक रखने पर संयुक्त अरब

गणराज्य सहमत हो गया और 16 जुलाई से स्वेज नहर क्षेत्र में संघ के पर्यवेक्षकों की देख-रेख में युद्ध-विराम लागू हो गया।

नवम्बर, 1956 में संयुक्त राष्ट्रसंघीय आपातकालीन सेना की स्थापना के लिए तत्कालीन महासचिव हैमरशोल्ड ने जो योजना रखी थी, उसमें इस सेना के सगठन और कार्यों को अनुशासित करने की दृष्टि से कुछ आधारभूत सिद्धान्त भी गिनाये गये थे। इन सिद्धान्तों में प्रमुख इस प्रकार थे।[1]

(1) आपातकालीन सेना में हिस्सा बटाने से महाशक्तियों को दूर रखा जाय।

(2) सेना का राजनीतिक नियन्त्रण महासचिव के हाथों में रहे जिसे एक सैनिक परामर्श-दात्री समिति द्वारा आवश्यक सहायता मिलती रहे। इस समिति में मुख्यतः उन्हीं राज्यों के प्रतिनिधि हों जो आपातकालीन सेना में हिस्सा लें।

(3) आपातकालीन सेना असैनिक अथवा अयौद्धिक कार्यों तक ही अपने को सीमित रखे।

(4) सेना की राजनीतिक तटस्थता बनाये रखी जाय और उसके कार्यों को भली प्रकार परिभाषित किया जाय ताकि संघर्ष या युद्ध छिड़ने से पहले के राजनीतिक सन्तुलन की पुनर्स्थापना करना सुगम हो।

(5) सेना के संगठन और कार्य का निर्धारण करने का अधिकार संघ को हो, तथापि अपने क्षेत्र में आपातकालीन सेना को रखने के बारे में मेहमानवाज देश (Host Country) की सहमति अनिवार्य हो।

(6) वेतन और साज-सज्जा के व्यय का भार सेना में हिस्सा बटाने वाले देश वहन करें तथा सेना के अन्य सब खर्चे संयुक्त राष्ट्रसंघ के सामान्य बजट से बाहर, सभी सदस्य राज्यों पर विशेष चन्दे द्वारा जुटाये जायं।

1956 के बाद संयुक्त राष्ट्रसंघीय आपात् सेना के व्यावहारिक प्रयोग के अनुभव के आधार पर उपर्युक्त सिद्धान्तों में न्यूनाधिक परिवर्तन और सुधार किये जाते रहे हैं। व्यवहार में महासचिव ने संयुक्त राष्ट्रसंघ के किसी भी ऐसे सदस्य राज्य की सेना टुकड़ी को संयुक्त राष्ट्रीय आपातकालीन सेना में स्थान नहीं दिया जिसका विवाद में कोई विशेष हित अथवा स्वार्थ निहित हो। सन् 1958 में श्री हैमरशोल्ड ने आपातकालीन सेना पर जो रिपोर्ट प्रस्तुत की उसमें प्रभावी संयुक्त राष्ट्रसंघीय शान्ति-रक्षक सेनाओं (U.N. Peace-keeping Forces) के सम्भावित कार्यों के बारे में कुछ और भी निष्कर्ष निकाले गये,[2] यथा—

(1) शान्ति सेना को अपनी पैतृक निकाय (Parent body) के प्रति प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी रहना चाहिए, किन्तु प्रशासकीय दृष्टि से उसे महासचिव के निर्देशों के तहत संयुक्त राष्ट्रसंघीय सचिवालय के साथ एकीकृत होना चाहिए।

1. *Plano and Riggs* : opt. cit., p. 266.
2. Ibid. p. 267.

(2) परामर्श-दात्री समिति को चाहिए कि वह महासचिव को अपने उत्तर-दायित्वों के प्रयोग में केवल परामर्श दे। वह महासचिव को नियन्त्रित करने का प्रयत्न न करे।

(3) शान्ति सेना के लिए आवश्यक है कि वह आन्तरिक संघर्षों में कोई पक्ष (पार्टी) न बने। जो संघर्ष अथवा विवाद अपनी प्रकृति में आवश्यक रूप से आन्तरिक हो, उनमें शान्ति सेना को नहीं फंसाना चाहिए। किसी विशिष्ट राजनीतिक समाधान को लागू करने के लिए अथवा ऐसे समाधान में निर्णायक राजनीतिक सन्तुलन को प्रभावित करने के लिए शान्ति सेनाओं का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए।

(4) यद्यपि शान्ति सेना को शस्त्र-संघर्ष में नहीं उलझना चाहिए तथापि आत्म-रक्षा का अधिकार होना चाहिए। गोली-वर्षा में शान्ति सेना को पहल नहीं करनी चाहिए वरन् आत्म-रक्षा के खातिर ही गोली-वर्षा का जवाब देना चाहिए।

(5) यदि सैनिक टुकड़ियां राष्ट्रीय सेवा में रहें तो सेना देने वाले राज्यों (*Participating states*) को व्यय वहन करना चाहिए। अन्य समस्त व्यय संयुक्त राष्ट्रसंघ के सभी सदस्य राज्यों द्वारा संयुक्त राष्ट्रसंघीय चन्दे के सामान्य अनुपात में वहन करना चाहिए।

महासभा यह नहीं चाहती थी कि वह कोई भी ऐसा कार्य कर बैठे जिससे भविष्य में शान्ति रक्षक सेनाओं की भरती के बारे में संयुक्त राष्ट्रसंघ वचनबद्ध हो जाये। इसीलिए यह निःसंदिग्ध है कि नवम्बर, 1956 और 1958 के सिद्धान्तों ने कांगो, पश्चिमी न्यूगिनी तथा साइप्रस में नियुक्त की गई शान्ति रक्षक सेनाओं के लिए राजनीतिक मार्गदर्शन प्रदान किया। व्यय सम्बन्धी समस्या को छोड़कर अधिकांश मामलों में यह सिद्धान्त निश्चित रूप से वह आधार-भूमि प्रदान करते हैं जिन पर भावी संयुक्त राष्ट्रसंघीय सेनाओं की नियुक्ति की जा सकेगी।

कांगो में संयुक्त राष्ट्रीय सेना (ONUC)

संयुक्त राष्ट्रीय आपातकालीन सेना (UNEF) की बहुत कुछ स्पष्ट छाप कांगो में संयुक्त राष्ट्रीय कार्यवाही में देखी जा सकती है जिसे सामान्यतया फ्रेन्च प्रयोग ONUC के नाम से जाना जाता है। तकनीकी रूप में ONUC का प्रयोग विस्तृत असैनिक अथवा नागरिक कार्यवाही (*Extensive Civilian Operation*) के लिए भी किया जाता है तथापि प्रस्तुत सन्दर्भ में इसका प्रयोग कांगो में संयुक्त राष्ट्रीय सेना के लिए किया गया है। प्लानो एवं रिग्ज (Plano & Riggs) के अनुसार ONUC में UNEF से निम्नांकित बातों में बहुत कुछ समानताएं पाई गई थीं—

1. सेना में महाशक्तियों की सैनिक टुकड़ियां सम्मिलित नहीं की गई थीं।

2. *सेना का राजनीतिक नियन्त्रण महासचिव के हाथों में था जिसकी सहायता* के लिए एक परामर्शदात्री समिति थी और महासचिव का दायित्व सुरक्षा-परिषद् तथा महासभा की अनुमति अथवा आदेश तक सीमित था।

3. सेना में योगदान देने वाले राज्यों का चुनाव कांगो की सरकार के परामर्श से किया गया था।

4. सेना ने कांगोली सरकार की सहमति से कांगो में प्रवेश किया (यद्यपि अनेक अवसरों पर यह निश्चित करना कठिन हो गया कि संयुक्त राष्ट्रीय कार्यवाहियों पर सहमति लेने के लिए कौन-सी सरकार अधिकारिक थी)।

5. सेना का व्यय-भार वहन करने के सम्बन्ध में बहुत कुछ UNEF का ही तरीका अपनाया गया।

6. ONUC ने भी UNEF की भांति ही एक अ-योद्धिक सेना (Non-fighting Force) की भूमिका निभाने की ही कोशिश की तथापि नागरिक व्यवस्था बनाये रखने की गम्भीर आवश्यकता, आत्मरक्षा आदि की दृष्टि से इस भूमिका अथवा लक्ष्य पर टिके रहना असम्भव हो गया।

यद्यपि बाह्य शक्तियों के सन्दर्भ में ONUC में आश्चर्यजनक रूप से राजनीतिक तटस्थता (Political Neutrality) बनाए रखी गई तथापि आन्तरिक अथवा घरेलू रूप में (Domestically) संयुक्त राष्ट्रीय सेना की प्रवृत्ति कटंगा के पृथकतावादी राज्य के विरुद्ध लियोपोल्डविले की केन्द्रीय सरकार के समर्थन की रही और एक ऐसा कठिन अवसर भी उपस्थित हुआ जब उसे राष्ट्रपति कासावुबु, कर्नल मोबुतु तथा प्रधानमन्त्री लुमुम्बा के आन्तरिक संघर्ष में कासावुबु और मोबुतु का पक्ष लेना पड़ा। यह स्थिति 1958 में महासचिव हैमरशोल्ड के इस विचार से मेल नहीं खाती थी कि संयुक्त राष्ट्रसंघीय शान्ति रक्षकों को किसी भी रूप में आन्तरिक संघर्ष में एक पक्ष (A party to internal conflicts) नहीं बनने दिया जा सकता और उनकी भूमिका राजनीतिक स्थिति के बाह्य पक्षों अथवा पहलुओं तक ही सीमित रहनी चाहिए।[1] वास्तव में कांगो में घरेलू स्थिति (Domestic situation) इतनी विषम हो गई थी कि ONUC के लिए ऐसा कोई भी कार्य करना कठिन हो गया जो निष्पक्ष प्रतीत हो। कांगो में संयुक्त राष्ट्रीय अधिकारियों को यह आदेश था कि वे घरेलू संघर्षों में पूर्णतः तटस्थ रहें, लेकिन स्थिति की जटिलता के सन्दर्भ में यह असम्भव था कि संयुक्त राष्ट्रीय कार्यवाही पक्षपात के आरोप से बच पाती।

वास्तव में जून, 1960 में स्वतन्त्र कांगो का जन्म ही बड़े अशुभ नक्षत्र में हुआ था। देश का शासन और वहां की अर्थ-व्यवस्था चलाने वाले हजारों बेल्जियम स्वतन्त्र गणराज्य में अपनी स्थिति असुरक्षित समझ कर, स्वदेश लौट गये और कांगो के छहों प्रान्त स्वार्थी तथा महत्वाकांक्षी नेताओं के बहकावे में आकर स्वतन्त्र होने का प्रयत्न करने लगे। 6 जुलाई, 1960 को लियोपोल्डविले में अचानक ही सैनिक विद्रोह हो गया और 9 जुलाई को बेल्जियम ने कांगो में अपने देशवासियों की सुरक्षा के बहाने सेना भेज दी। प्रधानमन्त्री लुमुम्बा ने बेल्जियम पर "आक्रमण करने" तथा "कटंगा

1. *Plano and Riggs : opt. cit., p. 263.*

को पृथक राज्य बनाने के लिए भड़काने" का आरोप लगाते हुए 12 जुलाई को संयुक्त राष्ट्रसंघ से सैनिक सहायता की प्रार्थना की। कांगो को पूर्व और पश्चिम के संघर्ष का अखाड़ा बनाने से रोकने के लिए 13 जुलाई, 1960 की रात को ही महासचिव हैमरशोल्ड द्वारा सुरक्षा परिषद् की विशेष बैठक बुलाई गई जिसमे कांगो सरकार को अविलम्ब सैनिक सहायता भेजने की प्रार्थना की गई। 14 जुलाई को सुरक्षा परिषद् ने ट्यूनिसिया का यह प्रस्ताव स्वीकृत किया कि बेल्जियम की सेनाएं कांगो से वापस चली जाय और महासचिव को यह अधिकार दिया जाय कि "जब तक कांगो की रक्षा करने वाली सेना अपने कार्य मे समर्थ न हो तब तक आवश्यक समझी जाने वाली सैनिक सहायता दी जाय।"

उपर्युक्त प्रस्ताव के अनुपालन मे संयुक्त राष्ट्रसंघीय सेना को कांगो में भेजने सम्बन्धी आवश्यक कार्यवाही तेजी से शुरू हो गई। जुलाई के अन्त तक संयुक्त राष्ट्रीय सेना के 10 हजार से भी अधिक सैनिक कटगा को छोड़कर कांगो के सभी प्रान्तों में पहुंच गये। अधिकांश सैनिक घाना, इथोपिया, गिनी, मोरक्को और ट्यूनिसिया के थे। इन्होने बेल्जियम और कांगोली सैनिकों का संघर्ष बन्द कराया और कांगो के हवाई अड्डों पर अधिकार कर लिया ताकि विदेशी शक्ति द्वारा उनका दुरुपयोग न किया जा सके। कांगो मे सैनिक शक्ति के प्रयोग के साथ ही संयुक्त राष्ट्रसंघ ने कांगो सरकार को अविलम्ब प्राविधिक सहायता और सरकारी कांगोली सेना को फौजी प्रशिक्षण देना भी शुरू किया ताकि सरकार विद्रोही तत्वों का सफलतापूर्वक दमन कर सके।

ONUC और UNEF मे जिन सैद्धान्तिक समानताओं का संकेत ऊपर किया गया है, उनके अतिरिक्त कुछ और भी व्यावहारिक समानताएं थीं[1]—

1. जिस प्रकार जनरल बर्नस और उनके UNTSO स्टाफ को स्वेज शांति सेना की कमान सभालने के लिए फिलिस्तीन से बुलाया गया था, इसी प्रकार ONUC की प्रारम्भिक कमान बर्नस के उत्तराधिकारी मेजर जनरल कार्ल कार्लसन वान हार्न (Carl Carlsson Von Horn) को सौंपी गई।

2. UNEF के समान ही कांगो मे भी संयुक्त राष्ट्रीय सेना (ONUC) को भेजने मे तेजी से कार्यवाही हुई। 14 जुलाई को सुरक्षा-परिषद् द्वारा कांगो मे सैनिक भेजे जाने का प्रस्ताव पास होने के बाद 48 घंटो से भी कम समय मे संयुक्त राष्ट्रीय सेनाएं कांगो पहुंचने लगीं। इस बार वैसा कोई-कूटनीतिक अवरोध (Diplomatic resistence) पैदा नहीं हुआ जैसा 1956 मे मिस्र के साथ संयुक्त राष्ट्रीय वार्ता मे हुआ था।

3. सैनिक और सामग्री ले जाने के सम्बन्ध मे वायु-यातायात सुविधाओं की दृष्टि से पुनः कठिनाई उपस्थित हुई और भय उत्पन्न हो गया कि संयुक्त राज्य

1. Ibid, p. 269.

अमेरिका की वायु-शक्ति की सहायता के बिना संयुक्त राष्ट्रसंघ सैनिक मिशन की स्थापना किस प्रकार कर सकेगा। भारत, नार्वे, स्वीडन, यूगोस्लाविया, ब्राजील तथा अर्जेण्टाइना ने संयुक्त राष्ट्रीय सैनिकों को हवाई जहाजों से पहुंचाने में बड़ी मदद दी।

यद्यपि UNEF और ONUC में महत्वपूर्ण समानताएं थीं, तथापि प्रत्येक सेना अपने आप में कुछ विशेषताएं लिए हुई थी और यह स्वीकार करना होगा कि कांगो में संयुक्त राष्ट्रीय कार्यवाही अनेक दृष्टियों से विशेष कठिन सिद्ध हुई। प्लानो एवं रिग्स के अनुसार UNEF में निम्नलिखित महत्वपूर्ण भिन्नताएं स्पष्ट रूप से विद्यमान थीं—

(1) UNEF की तुलना में ONUC बड़ी थी। इसमें संयुक्त राष्ट्रीय लोगों की अधिकतम संख्या 20 हजार तक रही और लगभग सम्पूर्ण कार्यवाही के दौरान 29 देशों का सैनिक योगदान रहा।

(2) कांगो में संयुक्त राष्ट्रसंघ के सामने जो परिस्थितियां आयीं वे UNEF के सामने उपस्थित परिस्थितियों से कहीं अधिक जटिल थीं। यद्यपि सितम्बर, 1960 तक बेल्जियम सेनाओं की वापिसी की औपचारिक कार्यवाही पूरी हो गई, तथापि बड़ी संख्या में बेल्जियम सैनिक "परामर्श दाता" और अन्य विदेशी तत्व कांगो में अपना अड्डा जमाये रहे। कांगो में सुरक्षा और व्यवस्था कायम करने के लिए इन लोगों को हटाया जाना भी जरूरी था। प्रारम्भ में तो सुरक्षा-परिषद् का यही आदेश था कि ONUC बेल्जियम सेनाओं की वापिसी का कार्य करें, लेकिन बाद में यह आदेश भी दे दिया गया कि वह सभी बेल्जियम सैनिकों, परामर्श दाताओं तथा विदेशी सैनिक तत्वों से कांगो को मुक्त करायें।

(3) UNEF की तुलना में ONUC पर यह कठिन भार आ पड़ा था कि वह कांगो में गृह-युद्ध को रोकने के लिए सभी सम्भव उपाय अपनाये। इस दृष्टि से ONUC को युद्ध-विराम का प्रबन्ध करने, सैनिक कार्यवाहियों को रोकने, सैनिक झड़पों को समाप्त करने और अन्तिम उपाय के रूप में सैनिक शक्ति का प्रयोग करने का गुरुतर भार वहन करना पड़ा। ONUC के लिए यह कोई छोटा अथवा गौण आदेश नहीं था क्योंकि उसे यह सब व्यवस्था एक इतने बड़े क्षेत्र के लिए करनी थी जो फ्रान्स से चौगुना बड़ा था और जिसमें यातायात और संचार के साधन अपर्याप्त एवं छिन्न-भिन्न थे।

(4) बेल्जियम के सैनिक हस्तक्षेप ने, सोवियत हस्तक्षेप की धमकी ने तथा कुछ अफ्रीकन राज्यों द्वारा राजनीतिक हस्तक्षेप के अनवरत प्रयत्नों ने कांगो संकट को पूर्णतः अन्तर्राष्ट्रीय बना दिया था। सुरक्षा-परिषद् और महासभा में सदस्य राज्यों के आपसी मतभेदों और कूटनीतिक दाव-पेचों ने महासचिव को बाध्य कर दिया था कि वह सुदृढ़ समर्थन और निर्देशन के अभाव में भी नीति-निर्णय करे।

(5) एक बड़ी कठिनाई इस व्यवस्था से थी कि कांगो में संयुक्त राष्ट्रीय कार्यवाही से किसी भी रूप में असहमत होने पर सरकारें अल्पकालीन सूचना (Short-notice) देकर ONUC से अपने सैनिक वापस बुला सकती थी।

(6) कांगो में सैनिक कार्यवाही के साथ ही प्राविधिक सहायता और सरकारी कांगोली सेना को फौजी प्रशिक्षण का विशाल कार्यक्रम भी शुरू किया गया था।

कांगो में ONUC ने अपने उत्तरदायित्वों का भली प्रकार निर्वाह किया। कांगो में शान्ति स्थापित करदी गई और संयुक्त राष्ट्रसंघ का शान्ति स्थापना का प्रधान कार्य कांगो के एकीकरण के साथ समाप्त हुआ। कांगो में संयुक्त राष्ट्रीय सेना को भारी वित्तीय कठिनाइयों का सामना करना पड़ा और 1964 के मध्य में यह कांगो से हट गई। चाहे अत्यधिक विषम परिस्थितियों के दौरान ONUC की कार्यवाही कुछ दोषपूर्ण रही हो, तथापि उसने बेल्जियम फौजों और विदेशी सैनिक परामर्श-दाताओं को कांगो से हटाने, कटंगा तथा अन्य प्रान्तों के कांगो से पृथक्करण को रोकने, कांगो में शान्ति और व्यवस्था कायम करने का महत्वपूर्ण कार्य किया। यद्यपि कांगो में संयुक्त राष्ट्रीय कार्य-चालन का सैनिक पक्ष समाप्त हो चुका है, तथापि वहां के शासन को पूर्ण स्थिरता प्रदान कर वहां शैक्षणिक, आर्थिक, प्रशासनिक, वैज्ञानिक और प्राविधिक क्षेत्रों में उन्नति लाने का नागरिक सहायता-कार्य आज भी चल रहा है। इतना विशाल सहायता कार्यक्रम संयुक्त राष्ट्र एवं उसके अभिकरणों द्वारा पहले कभी नहीं किया गया था। अब यह कार्यक्रम समाप्त प्राय है।

पश्चिमी न्यूगिनी और साइप्रस में संयुक्त राष्ट्रीय सेनाएं
(UN Forces in West New Guinea and Cyprus-UNSF and UNFICYP)

पश्चिमी न्यूगिनी और साइप्रस में संयुक्त राष्ट्र शान्ति निरीक्षक सेनाओं की नियुक्ति भी अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा के क्षेत्र में एक बड़ा कदम था। थोड़ी बहुत भिन्नता लिए हुए भी इन संयुक्त राष्ट्रीय सेनाओं ने संगठन, कार्य-संचालन की स्वतन्त्रता, सुरक्षा परिषद् अथवा महासभा की सहमति के अन्तर्गत महासचिव के राजनीतिक नियन्त्रण, प्रादेशिक प्रभु की सहमति, राजनीतिक तटस्थता बनाये रखने के प्रयास, अ-यौद्धिक कार्यों में सेना के प्रयोग आदि की दृष्टि से UNEF का ही अनुसरण किया। फिर भी परिस्थितियों में पश्चिमी न्यूगिनी और साइप्रस में संयुक्त राष्ट्रीय सेनाओं का प्रयोग हुआ वे "अपनी प्रकृति में विशेष रूप से आन्तरिक" (Essentially internal in nature) थीं। इन देशों में संयुक्त राष्ट्रीय कार्यवाही के खर्च की व्यवस्था भी UNEF तथा ONUC की व्यय-व्यवस्था से भिन्न रही। *पश्चिमी न्यूगिनी के विवाद से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध दोनों ही पक्षों—नीदरलैण्ड्स तथा* इण्डोनेशिया ने सम्पूर्ण राष्ट्रीय व्यय में बराबर का भागीदार होना स्वीकार किया, और साइप्रस में संयुक्त राष्ट्रीय सेना के व्यय की पूर्ति पूर्णतः स्वैच्छिक योगदानों

द्वारा की गई जिसमें अधिकांश योगदान अटलान्टिक समुदाय के राज्यों से प्राप्त हुआ।

अन्य तीन संयुक्त राष्ट्रीय सेनाओं के विपरीत पश्चिमी न्यूगिनी में संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा सेना मुख्य विवादी पक्षों के बीच एक पूर्व राजनीतिक समाधान के फलस्वरूप अस्तित्व में आयी। अगस्त, 1962 में नीदरलैण्ड्स और इण्डोनेशिया के बीच संयुक्त राष्ट्र प्रधान कार्यालय में यह तय हुआ कि 1 मई, 1963 को पश्चिमी इरियन का प्रशासन इण्डोनेशिया के हाथ में आ जायेगा। तब तक वहाँ संयुक्त राष्ट्र का प्रशासन रहेगा और उपनिवेश में रहने वाले लोग 1969 की समाप्ति से पहले एक जनमत संग्रह द्वारा अपने राजनीतिक भाग्य का निर्धारण स्वयं करेंगे। सितम्बर, 1962 में महासभा ने इस समझौते को स्वीकार कर लिया और 1 अक्टूबर, 1962 को संयुक्त राष्ट्र ने पश्चिमी इरियन का प्रशासन नीदरलैण्ड्स से अपने हाथ में ले लिया। संघ द्वारा वहाँ एक कार्यकारी अधिकारी (*UN Temporary Executive* Authority—UNTEA) की नियुक्ति कर दी गई। दिसम्बर के प्रारम्भ तक संयुक्त राष्ट्र के 1596 व्यक्तियों की सुरक्षा–सेना पश्चिमी इरियन में तैनात हो गई। इसमें 1485 पाकिस्तानी, 99 अमेरिकन तथा 11 कनेडियन थे। अमरिकनों की उपस्थिति इस सिद्धान्त का उल्लंघन था कि संयुक्त राष्ट्रीय शान्ति सेना में महाशक्तियाँ सदस्य नहीं होंगी, किन्तु विवाद के राजनीतिक समाधान ने शीतयुद्ध की प्रभावशीलता कम करदी थी और सुविधा की दृष्टि से अमेरिकन हवाबाजों की सेवा सभी पक्षों को स्वीकार्य हो गई थी।[1]

संयुक्त राष्ट्रसंघ ने 1 मई, 1963 को पश्चिमी इरियन का प्रशासन इण्डोनेशिया को सौंप दिया। संयुक्त राष्ट्रीय प्रशासन की समाप्ति पर जब संयुक्त राष्ट्रीय सुरक्षा सेना को हटाया गया तो वह अपने उद्देश्य को पूरी तरह प्राप्त कर चुका था और यह इसीलिए सम्भव हो सका था कि सेना नियुक्त किए जाने से पहले ही विवाद राजनीतिक ढंग से निपटाया जा चुका था।[2]

साइप्रस में संयुक्त सेना (UNFICYP) का प्रयोग भी कुछ ही वर्ष पूर्व की घटना है। 13 अगस्त, 1960 को साइप्रस ब्रिटिश प्रभुसत्ता से मुक्त होकर स्वतन्त्र गणराज्य बना और कुछ ही समय बाद राष्ट्रपति मकारियोस ने संविधान में संशोधन के कुछ ऐसे प्रस्ताव रखे जो साइप्रस की दोनों मुख्य जातियों–यूनानियों और तुर्कों को मान्य नहीं थे। फलस्वरूप राजनीतिक संघर्ष और गृह–युद्ध का सूत्रपात हुआ। साइप्रस में शान्ति–स्थापना के बहाने अपने खोये प्रभाव को प्रभाव को कायम करने के लिए जब ब्रिटेन वहाँ नाटो सेनायें भेजने का सुझाव रखने लगा तो राष्ट्रपति मकारियोस ने 27 दिसम्बर, 1963 को सारा मामला सुरक्षा परिषद् में पेश कर

1. Ibid, p. 272.
2. Ibid, p. 273.

दिया और सयुक्त राष्ट्रीय प्रेक्षक भेजने तथा स्थिति को संभालने के लिए सघ के हस्तक्षेप की माग की।

पर्याप्त विचार-विमर्श के बाद सुरक्षा-परिषद् मे 4 मार्च, 1964 को एक पच-राष्ट्रीय प्रस्ताव पास किया गया जिसके द्वारा साइप्रस मे शान्ति स्थापना हेतु सयुक्त राष्ट्रसघीय शान्ति सेना (UNFICYP) भेजने का निर्णय लिया गया। सदस्य राष्ट्रो से अनुरोध किया गया कि वह कोई ऐसा काम न करे जिससे स्थिति में अधिक बिगाड़ हो। सयुक्त राष्ट्रीय सेना के आकार और सगठन का निर्धारण महासचिव द्वारा साइप्रस, यूनान, टर्की और ब्रिटेन की सरकारों से परामर्श करके किया जाना था। इसके कमाण्डर की नियुक्ति महासचिव द्वारा की जानी थी और उसे महासचिव को ही रिपोर्ट देनी थी। साइप्रस मे सयुक्त राष्ट्रीय सेना का उद्देश्य किसी भी सम्भावित सघर्ष को रोकना और शान्ति एव सुरक्षा की व्यवस्था बनाये रखना था। सेना का व्यय सैनिक टुकडिया देने वाले देशो, साइप्रस तथा स्वैच्छिक योगदानो द्वारा पूरा किया जाना था। सयुक्त राष्ट्रीय सेना रखने का प्रारम्भिक आदेश 4 मार्च, 1964 से अगले तीन महिनों के लिए था।

प्रथम तीन माह मे सयुक्त राष्ट्रीय सेना मे कनाडा, आयरलैण्ड, फिनलैण्ड डेनमार्क, आस्ट्रेलिया, स्वीडन और ब्रिटेन के लगभग 7 हजार सैनिक थे। यद्यपि ब्रिटिश सैनिकों का सम्मिलित किया जाना इस सामान्य नियम का उल्लंघन था कि सयुक्त राष्ट्रीय सेना मे सुरक्षा-परिषद् के स्थायी सदस्यों का भाग नहीं होगा, तथापि ब्रिटेन द्वारा सेना देने का प्रस्ताव सभी पक्षो को स्वीकार था और सुरक्षा-परिषद् के प्रस्ताव मे भी इस बात का निषेध नहीं किया गया था। सैनिक टुकड़ियों के अतिरिक्त 173 नागरिक पुलिस जवान (Civilian police) भी साइप्रस मे भेजे गये। ये पुलिस जवान, आस्ट्रिया, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, डेनमार्क और स्वीडन के थे। साइप्रस मे अन्तर्राष्ट्रीय सेना की कमान भारत के ले० जनरल ज्ञानी के हाथ मे थी और जनवरी, 1964 मे एक अन्य पद पर उनकी नियुक्ति के बाद यह कमान भारत के जनरल थिमैया ने सम्भाली जो अपनी मृत्यु-पर्यन्त दिसम्बर, 1965 तक बने रहे। सेना का सयुक्त राष्ट्रीय व्यय 7 मिलियन डालर से भी अधिक आया जिसकी पूर्ति साइप्रस, यूनान, टर्की, और ब्रिटेन द्वारा तथा अन्य 17 देशों के स्वैच्छिक योगदान द्वारा की गई।

साइप्रस मे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति सेना ने कानून और व्यवस्था बनाये रखने में उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की। इस शान्ति सेना की अवधि अनेक बार बढ़ाई गई और आज भी इस सेना के जवान साइप्रस के कलह-ग्रस्त इलाकों में तैनात हैं। प्लानो एव रिग्ज के अनुसार UNFICYP "अस्थायी" (Temporary) शान्ति सेना का उदाहरण है जो अन्तर्राष्ट्रीय इच्छाशक्ति का एक स्थायी भाग बनती जा रही है।

संयुक्तराष्ट्रीय शान्ति सेना : सिंहावलोकन और संभावना
(The UN Peace Force : Retrospect and Prospect)

पिछले पृष्ठों में हमने UNEF, ONUC, UNSF तथा UNFICYP के रूप में संयुक्त राष्ट्रसंघ की शान्ति-रक्षक सेनाओं की स्थापना और उनके कार्यकलापों की समीक्षा की है। शान्ति रक्षक सेनाओं की अब तक की नियुक्ति चार्टर की इस धारणा को बल प्रदान करती है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ की सैनिक भुजा का प्रयोग किसी महाशक्ति को दबाने के लिए नहीं किया जाना चाहिए।[1] यह भी बारम्बार स्पष्ट हो गया है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ किसी भी बड़े या छोटे देश के विरुद्ध सैनिक अनुशास्तियों (Military Sanctions) का संगठन करने की दृष्टि से अभी तक अक्षम है। वास्तव में चार्टर के निर्माताओं ने यह मान लिया था कि यदि संयुक्त राष्ट्रसंघ बड़े राष्ट्रों या महाशक्तियों के सामान्य युद्ध में प्रभावशाली हस्तक्षेप का प्रयत्न करेगा अथवा उनके विरुद्ध किसी प्रबल प्रतिक्रियात्मक शक्ति के रूप में उभरने की कोशिश करेगा तो उसके अस्तित्व के लिए खतरा पैदा हो जायेगा। इसीलिए, संयुक्त राष्ट्रसंघ को ऐसी भूमिका निभाने से रोकने की दृष्टि से, सुरक्षा-परिषद् में वीटो (Veto) की व्यवस्था की गई है।[2] अब तक का इतिहास इसी तथ्य की पुष्टि करता है कि जब कभी किसी विवाद के समाधान अथवा किसी क्षेत्र में शांति एवं सुरक्षा की स्थापना या पुनर्स्थापना में रूस और अमेरिका की सामान्य रुचि रही है तभी अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा के मामलों में संयुक्त राष्ट्रसंघ रचनात्मक भूमिका निभा पाया है, अन्यथा नहीं।

इस बात की सम्भावना की जा सकती है कि ज्यों-ज्यों शक्ति के नये केन्द्रों का विकास होता जायेगा, त्यों-त्यों केवल संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत रूस ही शान्ति और सुरक्षा की स्थापना के ठेकेदार नहीं रहेंगे। उभरते हुए नवीन अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की रूपरेखा अभी तक सुस्पष्ट और सुनिश्चित नहीं है, तथापि यह निर्विवाद है कि वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय जगत की प्रवृत्ति बहुकेन्द्रीयवाद (Polycentrism) की ओर है। पश्चिमी यूरोप, भारत और साम्यवादी चीन शक्ति के नये शक्तिशाली केन्द्रों के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर छाते जा रहे हैं और निकट भविष्य में महाशक्तियों के आपसी सम्बन्धों को झकझोर सकते हैं। यदि नये शक्ति केन्द्र संयुक्त राष्ट्रसंघ को रूस और अमेरिका के वर्तमान प्रभाव से मुक्त करके अधिक शक्तिशाली बनाने में सहयोगी हो तो यह आशा की जा सकती है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ महाशक्तियों की इच्छा के विरुद्ध भी एक प्रभावशाली प्रतिक्रिया का काम करे। फिर भी अधिक सम्भावना यही है कि संयुक्त राष्ट्रीय सेना स्थानीय पुलिस शक्ति के

---

1. Ibid, p. 273.
2. Ibid, p. 273.

रूप मे ही शान्ति स्थापना के कार्यों मे अधिक सबल सिद्ध हो सकेगी, एक सुदृढ़ सैनिक शक्ति के रूप मे नही ।

संयुक्त राष्ट्रीय शान्ति सेनाओ के मार्ग मे अभी तक विभिन्न कठिनाइयां रही हैं और भविष्य मे भी इन्हें विविध समस्याओ का सामना करना पड़ेगा । ये कठिनाइयां अथवा समस्यायें सारभूत रूप मे निम्नलिखित हैं—

(1) शान्ति सेनाओ के लिए वित्तीय प्रबन्ध की कठिन समस्या है । UNEF, ONUC, आदि पिछली सभी अन्तर्राष्ट्रीय सेनाओ को भारी वित्तीय कठिनाइयां झेलनी पड़ी थी । 1964 मे कांगो से संयुक्त राष्ट्रीय सेना को इसीलिए हटना और विघटित करना पड़ा था कि उसके वित्तीय स्रोत सूख गये थे, अन्यथा उपयोगिता की दृष्टि से उसे आगे भी बने रहना चाहिए था । महाशक्तियां और समर्थ राष्ट्र भी अन्तर्राष्ट्रीय सेनाओ के व्यय-भार को उठाने मे खुले दिल से आगे नहीं आते । शस्त्र और सैन्य बल पर अरबो डालर प्रतिवर्ष व्यय कर दिया जाता है लेकिन संयुक्त राष्ट्रसंघ का खर्चा चलाने के लिए सामान्य चन्दा देने मे भी राष्ट्रों को जोर आता है ।

(2) यह वित्तीय संकट वस्तुतः इस राजनीतिक समस्या की उपज है कि संयुक्त राष्ट्रीय शान्ति रक्षक कार्यवाहियो का नियन्त्रण कौन करे । फ्रांस और सोवियत संघ का यह विचार रहा है कि अन्तर्राष्ट्रीय सेनाओं का पूर्ण नियन्त्रण सुरक्षा-परिषद् के हाथ मे रहना चाहिए, जहां पर पांचो स्थायी सदस्यो को निषेधाधिकार प्राप्त है । इस प्रकार का विचार महासभा द्वारा अधिकृत संयुक्त राष्ट्रीय कार्यवाही का व्यय वहन करने से इन्कार करने का वैधानिक आधार प्रस्तुत करता है । साथ ही इस सुझाव मे यह इच्छा भी निहित है कि स्थायी सदस्यो की सहमति के बिना संयुक्त राष्ट्रीय सेनाओं का प्रयोग नही किया जा सके ।

(3) अन्तर्राष्ट्रीय सेना का प्रयोग राष्ट्रीय सम्प्रभुता के सिद्धान्त से भी टकराता है । मिस्र ने इसी आधार पर अपने क्षेत्र मे संयुक्त राष्ट्रीय शान्ति सेना के प्रवेश पर प्रारम्भिक आपत्ति की थी । इसी प्रकार कांगोली सरकार की अनुमति से ही कांगो मे शान्ति सेना गई थी ।

(4) यदि किसी विवाद के समाधान मे महाशक्तियो की प्रतिस्पर्द्धा/मतभेदबाजी चले तो संयुक्त राष्ट्रीय शान्ति सेना की सफलता बड़ी हद तक संदिग्ध है । विश्व-संस्था की राजनीतिक सैनिक क्षेत्र मे सफलता पूर्णतः इस बात पर निर्भर है कि महाशक्तियां उसे कहां तक सहयोग देती हैं ।

(5) संयुक्त राष्ट्रीय शान्ति सेना के विघटन अथवा क्षय का खतरा हर समय बना रहता है क्योंकि सदस्य राज्य अपना यह अधिकार सुरक्षित रखते हैं कि यदि वे

संयुक्त राष्ट्रीय कार्यवाही से असहमत होंगे तो शान्ति सेना में भेजे गये अपने सैनिकों को वापस बुला लेंगे।

पर इन कठिनाइयों के बावजूद संयुक्त राष्ट्रीय शान्ति सेनाओं का भविष्य अंधकारमय नहीं है। सन् 1963 में नार्वे, डेनमार्क और स्वीडन के स्केन्डिनेवियन देशों ने अपना यह निर्णय घोषित किया था कि वे संयुक्त राष्ट्रसंघ के अ-सैनिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए तीन हजार व्यक्तियों की सेना स्थायी आधार पर उपलब्ध करा सकते हैं।[1] महासचिव ऊथान्ट ने अन्य सदस्य राष्ट्रों से अपील की थी कि वे इस मामले में स्केन्डिनेवियन देशों के निर्णय के अनुकूल स्वयं भी आगे बढ़ने की तत्परता दिखायें ताकि स्थायी आधार पर संयुक्त राष्ट्रीय शान्ति निरीक्षक सेना का निर्माण किया जा सके। यद्यपि अभी तक इस दिशा में कोई उल्लेखनीय सफलता नहीं मिली है, तथापि विकास की ये नयी प्रवृत्तियां संयुक्त राष्ट्रीय शान्ति सेनाओं के भविष्य को आशामय बनाती हैं। किन्तु पिछले अनुभवों के आधार पर सम्भावना है कि निकट भविष्य में शान्ति सेनाओं को स्वेच्छिक योगदान पर ही निर्भर करना होगा, इस बारे में कोई जोर-जबरदस्ती नहीं चल सकेगी।

12

निःशस्त्रीकरण एवं शस्त्र-नियंत्रण

(DISARMAMENT AND ARMS CONTROL)



"……इस प्रकार प्रत्येक पशु ने बारी-बारी से उन शस्त्रों को समाप्त करने का प्रस्ताव रखा जो उसके पास नहीं थे जब तक कि भालू नहीं उठ खड़ा हुआ और उसने मधुर युक्ति-युक्तता के स्वर में कहा—कामरेडों! हमें सब चीजों को समाप्त कर लेने दो—सब चीजों को सिवाय सर्वव्यापी आलिंगन के।"

—सालवेडार डी मेड्रियागा

निःशस्त्रीकरण की समस्या उतनी ही पुरानी है जितनी विश्व शान्ति की समस्या। आधुनिक युग में यह समस्या हमारे जीवन-मरण की समस्या है और इसके उचित समाधान पर ही मानव-जाति का भविष्य निर्भर करता है। यह समस्या इतनी महत्वपूर्ण, इतनी निर्णायक और इतनी तात्कालिक पहले कभी नहीं थी जितनी आज है। आधुनिक शस्त्रों की संहारक शक्ति प्रथम महायुद्ध में ही इतनी बढ़ गई थी कि समस्त विश्व उससे काँप उठा था, परन्तु द्वितीय महायुद्ध में अणुबम के प्रयोग और उसके पश्चात् हाइड्रोजन बमों, अन्तर महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्रों, न्यूट्रॉन आदि के विकास ने युद्ध को एक भयावह कल्पना बना दिया है। अब यह स्पष्ट हो गया है कि यदि तृतीय महा युद्ध हुआ तो सम्पूर्ण मानवता का ही विनाश हो जायगा, विजित और विजेता का कोई अन्तर अवशिष्ट नहीं रहेगा। लार्ड ग्रे का यह कथन अक्षरशः ठीक है कि "यदि सभ्यता शस्त्रास्त्रों का नाश नहीं कर सकती है तो शस्त्रास्त्र सभ्यता का नाश कर देंगे।"

शस्त्रास्त्रों के इस भयावह खतरे के बावजूद शस्त्रीकरण की होड़ इसीलिए जारी है कि आज राष्ट्रों के सम्बन्ध पारस्परिक अविश्वास और दूसरे राष्ट्रों के इरादों के बारे में निरन्तर भय से परिपूर्ण हैं। निःशस्त्रीकरण और शस्त्र नियन्त्रण आज अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की उन गतिविधियों में से हैं जिन पर विचार तो समस्या के

हल के रूप मे किया जा रहा है लेकिन जो स्वय गभीरतम समस्या बन गई है। अनवरत प्रयासो के बावजूद शस्त्रीकरण की होड तेजी से जारी है।

निःशस्त्रीकरण : अर्थ एवं प्रकार
(Disarmament : Its Meaning and Types)

सामान्य अर्थ मे निःशस्त्रीकरण वह कार्यक्रम है जिसका उद्देश्य शस्त्रो के अस्तित्व और उनकी प्रकृति से उत्पन्न कुछ विशिष्ट खतरो को कम अथवा समाप्त कर देना है। शस्त्रीकरण पर सीमा या रोक लगाकर ही विश्व-शान्ति के सपने सजोए जा सकते हैं। प्रो. मार्गेन्थो के अनुसार "नि शस्त्रीकरण से आशय शस्त्रों की होड को समाप्त करने के लिए कुछ अथवा सभी शस्त्रों को कम या समाप्त कर देने से है।"

निःशस्त्रीकरण सामान्य (General), स्थानीय (Local), मात्रात्मक (Quantitative), गुणात्मक (Qualitative) कैसा भी हो सकता है। सामान्य नि.शस्त्रीकरण मे, लगभग सभी राष्ट्र भाग लेते हैं जैसे 1932 का विश्व निःशस्त्रीकरण सम्मेलन। स्थानीय नि शस्त्रीकरण मे कुछ ही राष्ट्र भाग लेते हैं तथा प्रभावित होते हैं। कनाडा और अमेरिका के बीच 1817 का रसबेगाट (Rush Bagot) समझौता इसका उदाहरण है। मात्रात्मक नि शस्त्रीकरण का तात्पर्य सभी प्रकार के शस्त्रो पर नियन्त्रण से है जबकि गुणात्मक निःशस्त्रीकरण के अनुसार किन्हीं विशेष प्रकार के शस्त्रो को कम अथवा समाप्त करने की सिफारिश की जाती है। जब हम पूर्ण निःशस्त्रीकरण की बात करते है तो इसका अर्थ वर्तमान मे उपलब्ध सभी प्रकार के शस्त्रो पर प्रतिबन्ध लगाने से है।

निःशस्त्रीकरण कार्यक्रम को कतिपय क्षेत्रो मे "शस्त्र-नियंत्रण" (Arms Control) कार्यक्रम कहा गया है। यह माना गया है कि नि शस्त्रीकरण के अनुसार तो राष्ट्रो के पास शस्त्र ही नही होने चाहिए। पर चूँकि पूर्ण नि शस्त्रीकरण कोई नहीं चाहता क्योंकि 'आतरिक व्यवस्था, अप्रत्याशित वाह्य आक्रमण से रक्षा तथा अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वो के निर्वहन के लिए कुछ शस्त्र एव सैन्य-बल अपेक्षित है, अतः समस्या "शस्त्र-नियन्त्रण" (Arms Control) की है, पूर्ण नि शस्त्रीकरण की नही। मूल बात यह है कि विश्व पूर्ण नि.शस्त्रीकरण नही बल्कि शस्त्रो पर नियन्त्रण चाहता है ताकि राष्ट्रीय युद्धो की आशंका नहीं रहे। शस्त्र-नियन्त्रण के अन्तर्गत उपलब्ध विशिष्ट प्रकार के शस्त्रो पर नियन्त्रण के अलावा भविष्य मे बनने वाले शस्त्रो पर नियन्त्रण भी शामिल है। शस्त्र-नियन्त्रण का प्रयास शस्त्रो की होड को रोकना है। इसी प्रकार नि.शस्त्रीकरण और शस्त्र-नियन्त्रण एक दूसरे के पूरक हैं। प्रस्तुत सदर्भ मे दोनो का आशय उस "स्थिति" से है जहा भविष्य मे अतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध युद्ध के बनिस्पत शान्ति पर आधारित होगे। व्यावहारिक रूप मे हमे विभिन्न देशो को शस्त्रो की दृष्टि से उस सीमा तक निरस्त्र कर देना है जिससे युद्धो और महायुद्धो की सभावनाएं समाप्त अथवा लगभग समाप्त हो जाय। वेजले पोस्वार (Wesley W. Posvar) ने अपने लेख "The New Meaning of Arms Control" मे लिखा है कि

"नि:शस्त्रीकरण का अभिप्राय सेनाओं और शस्त्रों (Military forces and weapons) को घटा देना या समाप्त कर देना (Reduction or elimination) है जबकि शस्त्र-नियन्त्रण में वे सभी उपाय (Measures) सम्मिलित हैं जिनका उद्देश्य युद्ध के सम्भावित और विनाशकारी परिणामों (The likelihood and destructive consequences) को कम करना (विशेषकर आणविक युद्ध के परिणामों को) है। इसमें सेनाओं तथा शस्त्रों का घटाने या न घटाने का विशेष महत्त्व नहीं है।"[1]

नि:शस्त्रीकरण क्यों ?
(Why Disarmament?)

नि:शस्त्रीकरण की आवश्यकता और महत्ता अनेक कारणों और दृष्टियों से व्यक्त की गई है—

शांति की स्थापना के लिए

अपने सामान्य और सार रूप में नि:शस्त्रीकरण की धारणा में विश्वशांति और सुरक्षा की सम्भावनायें निहित हैं। नि:शस्त्रीकरण इस सद्‌विचार पर आधारित है कि शस्त्रीकरण से विनाश की सीमा का विस्तार होता है तथा युद्ध की सम्भावनाएं बढ़ती हैं। एक उस विश्व में जहां हथियारों की दौड़ लगी हो, स्थायी शांति की आशा नहीं की जा सकती। इनिस क्लाड के शब्दों में "शस्त्र-सज्जा राजमर्मज्ञों को युद्ध लड़ने के लिए लालायित कर देता है।"[2] शस्त्रास्त्र एक राष्ट्र की विदेश नीति को सैनिक दृष्टिकोण प्रदान करते हैं जिससे युद्ध और संघर्ष की सम्भावनाएं सदा जीवित, जागृत और प्रबल रहती हैं। श्री कोहन के अनुसार "नि:शस्त्रीकरण द्वारा राष्ट्रों के बीच भय और मतभेद को कम करके शांतिपूर्ण समझौतों की प्रक्रिया को सुविधामय तथा शक्तिशाली बनाया जा सकता है।" यदि शस्त्रीकरण की अन्धी दौड़ समाप्त हो जाय तो अंतर्राष्ट्रीय तनाव, भय और असुरक्षा की भावना शनैः-शनैः मिट जायगी, राष्ट्रों के मन के मैल धुलने लगेंगे और तब ऐसी मन स्थिति का निर्माण हो सकेगा जिससे राष्ट्रों में आपसी विश्वास पनपेगा।

पर यह विचार कि शस्त्रीकरण के कारण ही युद्ध होते हैं, बहुत कुछ एक पक्षीय है। श्री हेडलेबुल के इस तर्क में पर्याप्त बल है कि अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिद्वन्दिता और तनावपूर्ण स्थितियां ही युद्ध के वास्तविक कारण हैं क्योंकि इनसे ही शस्त्रास्त्रों की भीषण प्रतिस्पर्धा शुरू होती है जिसका अन्तिम परिणाम युद्ध और विनाश होता है।[3] प्रो० शू मैन के अनुसार भी संघर्ष की आशंका ही शस्त्रीकरण की होड़ को जन्म देती है तथा युद्ध की संभावना से शस्त्र निकलते हैं। यह मानना कि शस्त्रों के कारण युद्ध

1. *William C. Olson & Fred A. Soudermann* : The Theory and Practice of International Relations, p. 407.
2. *Inis L. Claude* : opt. cit., p. 298.
3. *Hedley Bull*. The control of the Arms Race, pp. 7–8.

होते हैं, गाड़ी को घोड़े के आगे खड़ा करना है।[1] कुछ विद्वानों का यह मत है कि शस्त्रीकरण की प्रतिस्पर्धा के फलस्वरूप अनिवार्यतः युद्ध नहीं होते। साथ ही यह भी आवश्यक नहीं है कि निःशस्त्रीकरण के अवश्यम्भावी रूप से शांति और सुरक्षा की स्थापना हो सकेगी। निःशस्त्रीकरण अतर्राष्ट्रीय तनावों तथा झगड़ों और राष्ट्रों के पारस्परिक अविश्वास को समाप्त करने की एकमात्र रामबाण औषधि नहीं है। मूल समस्या तो अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना की है। जब तक राष्ट्रों में परस्पर उदार दृष्टिकोण और सहृदयता का विकास नहीं होगा तब तक शस्त्रास्त्रों के निर्माण पर अकुश नहीं लग सकेगा और सुरक्षा तथा नि शस्त्रीकरण की सभी आवाजें नक्कारखाने में तूती की आवाज की तरह लुप्त हो जायेंगी।

क्विन्सी राइट जैसे विख्यात राजनीतिक दार्शनिक ने तो एकदम विपरीत विचार प्रकट किया है। उनका मत है कि नि.शस्त्रीकरण को हम शांति तथा सुरक्षा की समस्या का समाधान नहीं मान सकते। नि.शस्त्रीकरण से तो युद्ध की बारम्बारता (Frequency) बढ़ जाती है। शस्त्रास्त्रों के अभाव में राज्य दूसरे राज्यों के आक्रामक कार्यों और इरादों का मुकाबला नहीं कर पाते। प्रथम और द्वितीय महायुद्ध मुख्यतः इसीलिए हुए थे कि बड़े राष्ट्रों ने शस्त्रीकरण की प्रतिस्पर्धा से बचने का प्रयास किया था।[2]

नि.शस्त्रीकरण के सम्बन्ध मे उपर्युक्त विरोधी विचारों से स्पष्ट है कि यह विषय कितना जटिल और विवादास्पद है। हमें यह स्वीकार करना होगा कि नि.शस्त्रीकरण अथवा शस्त्रीकरण को ही हम युद्धों और संघर्षों का एकमात्र कारण अथवा परिणाम नहीं मान सकते। इनका सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक स्थिति के विभिन्न पहलुओं से है तथापि सैद्धान्तिक रूप से इस बात से इन्कार करना कठिन है कि नि.शस्त्रीकरण समय की माग है और इनके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग तथा विश्वास के नये द्वार खोले जा सकते हैं। एक सफल नि.शस्त्रीकरण व्यवस्था के लिए सर्वाधिक आवश्यकता इस बात की है कि जनता के व्यवहार में शांति के प्रति रचनात्मक दृष्टिकोण विकसित हो।

आर्थिक कल्याण और पुनर्निर्माण के विस्तार के लिए

निःशस्त्रीकरण के पक्ष मे यह आर्थिक तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि शस्त्रास्त्रों पर नियन्त्रण से विपुल धनराशि की बचत होगी जिसे आर्थिक कल्याण एवं पुनर्निर्माण के ऐसे कार्यों में व्यय किया जा सकेगा और ससार की आर्थिक विषमता कम हो सकेगी। "शस्त्रों की दौड़" के स्थान पर "शांति के लिए दौड़" शुरू होने पर मानव समाज की समृद्धि का मार्ग अधिक प्रशस्त तथा विश्व के औद्योगीकरण और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के नये युग का सूत्रपात होगा। सन् 1951 में तत्कालीन महासचिव श्री ट्रिग्वेली ने बतलाया था कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के 60 सदस्य राष्ट्र शस्त्रास्त्रों के

1. *F. L. Shuman* : International Politics, p. 251.
2. *Quincy Wright* : A Study of War, p. 811.

निर्माण पर प्रति सप्ताह लगभग दो अरब डालर खर्च कर रहे थे जबकि संयुक्त राष्ट्रसंघ का वार्षिक बजट केवल 5 करोड़ डालर था। सन् 1964 में लगभग 120 अरब डालर सैनिक तैयारियों पर व्यय किये जा रहे थे जो विश्व में व्यय किये जाने वाले सम्पूर्ण धन का लगभग आधा था। जरा कल्पना कीजिए कि यदि इस विपुल धनराशि का सदुपयोग विश्व की पीड़ित और अभावग्रस्त जनता के लिए किया जाय तो मानवता का कितना भला होगा।

निःशस्त्रीकरण के पक्ष में दिये गए उपर्युक्त आर्थिक तर्कों को कतिपय क्षेत्रों में चुनौती दी गई है। यह कहा जाता है कि निःशस्त्रीकरण के फलस्वरूप मन्दी (Depression) का दौर शुरू होगा जिसके भीषण परिणाम लोगों को भुगतने पड़ेंगे। इसके अतिरिक्त वैज्ञानिक और तकनीकी विकास में भी बाधा पहुँचेगी। इस प्रकार की आशंकाएं अधिक बल नहीं रखतीं। निःशस्त्रीकरण के फलस्वरूप जो रचनात्मक वातावरण पनपेगा, उसमें वैज्ञानिक और तकनीकी विकास की सम्भावनाएं अवरुद्ध नहीं होंगी, उल्टे आर्थिक समृद्धि के इतने विशाल स्रोत उन्मुक्त हो जाएंगे जिनकी आज हम कल्पना भी नहीं करते। हाँ, यह सावधानी अवश्य रखनी होगी कि शस्त्रास्त्रों पर की गई कटौती से प्राप्त साधनों से वांछित और स्वस्थ दिशा में ही व्यय किया जाय। एक बड़ी समस्या "शस्त्रीकृत अर्थ-व्यवस्था (Armament economy) को निःशस्त्रीकृत अर्थ-व्यवस्था में (Disarmament economy) में परिवर्तित करने की होगी।"[1]

समस्याओं के शांतिपूर्ण समाधान के लिए

निःशस्त्रीकरण अथवा शस्त्रों पर नियन्त्रण से विश्व राज्य के निर्माण की सम्भावनाएं बढ़ेंगी, महायुद्ध का सम्भावित खतरा टल जायगा तथा राष्ट्रों के पारस्परिक झगड़े आपसी बातचीत द्वारा सुलझाने का मार्ग प्रशस्त हो जायगा। काश्मीर, वियतनाम, जर्मनी के एकीकरण, भारत-चीन सीमा विवाद आदि कोई भी समस्या ऐसी नहीं रह जायगी जिसके समाधान के लिए शस्त्रास्त्रों का मार्ग खुला रहे। निःशस्त्रीकरण की व्यवस्था के फलस्वरूप शीत-युद्ध का ज्वार कम हो जायगा, मानव के बादल छट जायेंगे और राष्ट्रों के झगड़े बड़ी सीमा तक गोलमेज सम्मेलनों में तय होने लगेंगे।

नैतिक वातावरण की सृष्टि के लिए

निःशस्त्रीकरण को नैतिक दृष्टि से भी आवश्यक ठहराया जाता है। जब समाज में व्यक्ति की हत्या अपराध है तो युद्ध के सामूहिक हत्याकाण्ड को नैतिक किस रूप में माना जा सकता है। भारतीय राजनीतिज्ञ राजगोपालाचारी के शब्दों में "किसी राष्ट्र को कोई अधिकार नहीं होता कि वह अपनी सुरक्षा के लिए अन्य राष्ट्रों की वर्तमान और भावी पीढ़ियों के स्वास्थ्य तथा जीवन को रेडियो सक्रिय

1. b. N. Gangui in his Economic Consequences of Disarmament, pp. 16-32.

मूल तथा सामरिक तैयारी द्वारा अनेक खतरों में डाले।" कुछ विद्वानों का तर्क है कि इकतरफा निःशस्त्रीकरण (Unilateral disarmament) आक्रमण के विरुद्ध गारण्टी है तथा इकतरफा निःशस्त्रीकरण की घोषणा करने वाले राज्य कभी पराजित नहीं हो सकते।

सैद्धान्तिक रूप से नैतिक आधार पर निःशस्त्रीकरण की वकालत ठीक है लेकिन यथार्थवादी राष्ट्रीय राजनीति में यह विशेष बल नहीं रखती। उदाहरण के लिए भारत जैसे शान्तिप्रिय राष्ट्र के प्रति चीन और पाकिस्तान का जो रवैया है उसे देखते हुए इकतरफा निःशस्त्रीकरण का कोई भी पग उठाना देश के लिए आत्मघातक होगा। आज के मेकियावलीय राजनीति के युग में सभी राष्ट्रों द्वारा निःशस्त्रीकरण की दिशा में आगे बढ़ना स्वीकार्य हो सकता है, एक या दो राष्ट्रों द्वारा इकतरफा निःशस्त्रीकरण तो उनके लिए आत्मघाती ही होगा।

आणविक संकट से बचने के लिए

यह कहा जाता है कि आज के युग में आणविक युद्ध एवं विनाश से बचने का एकमात्र मार्ग निःशस्त्रीकरण अथवा शस्त्रों पर प्रभावशाली नियन्त्रण ही है। खतरनाक शस्त्रों पर रोक लगाने तथा उन्हें सीमित कर देने से आक्रमण यदि रोके नहीं भी गए तो भी उनको कम, मर्यादित और अपेक्षाकृत बहुत थोड़ा विध्वंसक बनाया जा सकेगा। निःशस्त्रीकरण के फलस्वरूप प्रथम तो कोई भी राष्ट्र तुरन्त एवं व्यवस्थित रूप से युद्ध छेड़ने में असमर्थ बन जायगा और दूसरे, राष्ट्रों के मध्य द्वेषपूर्ण सम्बन्ध घटकर, राष्ट्रीय हितों के पारस्परिक समायोजन के अनुकूल वातावरण बन जायगा। हथियारों के उत्पादन और फैलाव पर प्रभावकारी रोक लगाने से शक्ति का भूखा कोई भी राष्ट्र खतरनाक शस्त्रों का प्रयोग करके, अचानक ही सभ्यता और संस्कृति को धूल में मिलाने से रुका रहेगा। नाभिकीय तथा आणविक शस्त्रास्त्र ही आज राष्ट्रों के मनों को आतंकित किये हुए हैं। अतः उपलब्ध नाभिकीय तथा आणविक हथियारों को नष्ट करने तथा भविष्य में इनके निर्माण पर प्रतिबन्ध लगाने से आत्मघाती महायुद्ध की संभावना बहुत कुछ शिथिल की जा सकेगी।

दूसरी ओर यह तर्क भी दिया जाता है कि आज महाशक्तियों की नाभिकीय एवं आणविक शक्ति ने आतंक का जो सन्तुलन बना रखा है उसी से विश्व में शान्ति स्थापित है, अन्यथा कभी का तृतीय महायुद्ध छिड़ गया होता। इस तर्क में वजन है यद्यपि यह स्वीकार करना होगा कि युद्ध की निरंतर संभावनाओं और आशंकाओं से बचने का रास्ता निःशस्त्रीकरण और शस्त्र-नियन्त्रण का है, शस्त्रीकरण का नहीं।

निष्कर्ष रूप में यह कहना होगा कि आधुनिक परिस्थितियों में विश्व के राष्ट्रों के लिए एक मध्यवर्ती मार्ग अपनाना अधिक उपयोगी तथा व्यावहारिक होगा। यदि पूर्ण निःशस्त्रीकरण किया गया तो उसे लागू करना कठिन होगा क्योंकि कोई

भी देश चोरी-छिपे अपनी शस्त्र-क्षमता को आवश्यकता से अधिक बनाये रख सकेगा और इस प्रकार वे देश नुकसान में रहेंगे जिन्होंने ईमानदारी के साथ सभी शस्त्रों को नष्ट कर दिया है। अतः उपयोगी यही होगा कि सीमित निःशस्त्रीकरण किया जाय ताकि एक देश यदि निश्चित सीमा से कुछ हथियार छिपा रखे तो भी कोई विशेष परेशानी पैदा नहीं हो सके। जीवन और मरण तो प्रकृति का नियम है। युद्ध और शांति का चक्र न कभी मिटा है और न कभी संभवतः मिट ही सकेगा। अतः प्रयत्न इस दिशा में होना चाहिए कि युद्ध की विनाश शक्ति घट जाय। इस दृष्टि से नाभिकीय तथा आणविक हथियारों के भावी निर्माण पर ईमानदारी से पूर्ण प्रतिबन्ध लगाना चाहिए और इस प्रकार के उपलब्ध हथियारों को विनष्ट कर देना चाहिए। यह कार्य जोर-जबर्दस्ती का नहीं है। यह तो स्वेच्छा का है और इसके लिए सभी राष्ट्रों को ईमानदारी के साथ परस्पर सहयोग करना चाहिए।

दो महायुद्धों के बीच निःशस्त्रीकरण के प्रयास
(Disarmament Efforts between the two World Wars)

मार्गेन्थो ने ठीक ही लिखा है कि "निःशस्त्रीकरण प्रयासों का इतिहास अनेक असफलताओं तथा कुछ सफलताओं की कहानी है।" विगत लगभग 150 वर्षों से निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी विभिन्न प्रयास होते रहे हैं। सन् 1817 में ब्रिटेन तथा अमेरिका के मध्य हुए रश-बगोट समझौते द्वारा अमेरिका-कनाडा को विसैन्यीकृत घोषित किया गया था, 1831 में फ्रांस में कई बार नैपोलियन तृतीय ने और 1870 में ब्रिटेन ने सामान्य निःशस्त्रीकरण के प्रस्ताव दूसरे देशों के सम्मुख रखे थे, लेकिन रूस के जार निकोलस द्वितीय द्वारा सन् 1899 में बुलाया गया हेग-सम्मेलन ऐसा प्रथम महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन था जिसमें सभी बड़ी शक्तियों सहित 28 राष्ट्रों ने भाग लिया और हथियारों में कमी करने का प्रयास किया गया। इस सम्मेलन का उद्देश्य शस्त्रों द्वारा सैनिक बजट को सीमित करना था। सभी राष्ट्रों ने इस बात पर सहमति प्रकट की थी कि मानवता के नैतिक तथा भौतिक उत्थान के लिए शस्त्रों पर बढ़ते हुए व्यय को कम करना आवश्यक है। अनेक तकनीकी कठिनाइयों के कारण यह सम्मेलन सफल न हो सका और दूसरा इसी प्रकार का सम्मेलन हेग में सन् 1960 में बुलाया गया जिसमें 44 राष्ट्रों ने भाग लिया। यह सम्मेलन भी अपने अग्रज की भाँति विशेष फलप्रद नहीं हो सका। दोनों ही हेग सम्मेलनों में निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी कोई ठोस परिणाम नहीं निकल सके तथापि युद्ध संचालन और युद्ध में बर्बरता कम करने सम्बन्धी नियमों की आधारशिला अवश्य रखी जा सकी।

प्रथम महायुद्ध के विनाश के बाद निःशस्त्रीकरण के लिए पुनः उपयुक्त वातावरण तैयार हुआ और राष्ट्रसंघ की स्थापना से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में एक नये युग का सूत्रपात हुआ। विश्व के राजनीतिज्ञों ने विशेषकर अमेरिकन राष्ट्रपति विल्सन ने इस तथ्य को समझा कि "राष्ट्रीय शस्त्रों को केवल आतरिक

शान्ति तक ही सीमित कर देना चाहिए।" *लगभग सभी राष्ट्रों ने इस निश्चय को* प्रकट किया कि राष्ट्रसंघ का यह प्रथम कर्त्तव्य होना चाहिए कि वह विश्व-शान्ति की स्थापना के लिए शस्त्रों को सीमित करे।

उपरोक्त निश्चय के अनुसार संघ के प्रसंविदा के 8वें अनुच्छेद द्वारा सदस्य राष्ट्रों ने यह माना कि "राष्ट्रीय सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए किसी भी राष्ट्र के *शस्त्रास्त्रों की निम्नतम सीमा निर्धारित* करना शान्ति बनाये रखने के लिए आवश्यक है।" इस स्वीकृति के अनुसार एक तरफ तो मित्र राष्ट्रों ने नैतिक रूप में जर्मनी को यह वचन दिया कि जर्मनी का नि:शस्त्रीकरण कर दिये जाने के बाद व्यापक नि:शस्त्रीकरण किया जायगा, और दूसरी तरफ उन्होंने शस्त्रास्त्रों की कमी को "राष्ट्रीय सुरक्षा" से सर्वप्रमुख मान लिया। इसका अभिप्राय यही था कि मित्र-राष्ट्र अपनी सुरक्षा का ख्याल रखते हुए अपना नि:शस्त्रीकरण करेंगे। वास्तव में ये दोनों ही बातें कुछ परस्पर विरोधी थीं और इन दोनों सिद्धान्तों में संघर्ष ही *नि:शस्त्रीकरण की समस्या बन गया। यह समस्या जटिल से जटिलतर होती गई* क्योंकि पराजित राष्ट्र भी गुप्त रूप से अपनी सैनिक शक्ति को दृढ़ देखना चाहते थे।

नि:शस्त्रीकरण की समस्या कितनी भी विकट रही हो किन्तु 1919 से 1939 तक इसका समाधान ढूंढने के निरन्तर प्रयास राष्ट्रसंघ के बाहर किये जाते रहे।

राष्ट्रसंघ द्वारा नि:शस्त्रीकरण के प्रयास

राष्ट्रसंघीय नि:शस्त्रीकरण प्रयासों का प्रासंगिक रूप में विवेचन राष्ट्रसंघ सम्बन्धी एक पूर्ववर्ती अध्याय में किया जा चुका है। राष्ट्रसंघ के संविदा के नि:शस्त्रीकरण सम्बन्धी आठवें अनुच्छेद के पालन में नि:शस्त्रीकरण की दिशा में अनेक प्रयास किये गये लेकिन सभी निष्फल सिद्ध हुए। राष्ट्रसंघ द्वारा संसार के नि:शस्त्रीकरण का प्रारम्भ जर्मनी के एकपक्षीय नि:शस्त्रीकरण से हुआ और जर्मनी के एक पक्षीय पुनः शस्त्रीकरण से ही इन प्रयासों का अन्त हो गया।

जनवरी, 1920 में राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत एक स्थायी परामर्शदाता आयोग (Permanent Advisory Commission) गठित किया गया जिसमें सैनिक विशेषज्ञ ही सदस्य थे। *नवम्बर, 1920 में आयोग में 6 असैनिक व्यक्ति बढ़ाकर* उसे अस्थायी मिश्रित आयोग (Temporary Mixed Commission) के रूप में पुनः निर्मित किया गया। इस मिश्रित आयोग को नि:शस्त्रीकरण की सन्धि का मसविदा तैयार करने का काम सौंपा गया। अनेक असफलताओं के बाद आयोग ने पारस्परिक सहायता सन्धि का प्रारूप तैयार किया जिसमें नि:शस्त्रीकरण को सामूहिक सुरक्षा का मूलाधार बताया गया। अस्थायी मिश्रित आयोग एवं परामर्शदात्री आयोग ने नि:शस्त्रीकरण समस्या के हल के लिये चार सामान्य सिद्धान्तों का

प्रतिपादन किया जिन्हे 1922 में सघ की तीसरी असेम्बली ने स्वीकार कर लिया। वे सिद्धान्त इस प्रकार थे—

(1) नि शस्त्रीकरण की कोई भी योजना तब तक सफल नही हो सकती जब तक कि वह व्यापक रूप से सब पर लागू न हो।

(2) अनेक राज्य अपने शस्त्रास्त्रो मे कमी करने की स्थिति मे तब तक नही आ सकते जब तक उन्हे सुरक्षा के लिये पर्याप्त आश्वासन न मिल जाय।

(3) ऐसे आश्वासन की व्यवस्था एक ऐसी प्रतिरक्षात्मक सन्धि द्वारा की जा सकती है जिसमे प्रत्येक राज्य एक दूसरे को सुरक्षा का आश्वासन तो दे ही लेकिन यह आश्वासन भी दे कि आक्रमण की स्थिति मे प्रत्येक राज्य आक्रान्त देश की रक्षा के लिये युद्ध करेगा।

(4) इस आश्वासन की क्रियान्विति केवल तभी सम्भव है जबकि सामान्य योजनानुसार शस्त्रास्त्रो मे कमी की जा चुकी है।

पारस्परिक सहायता-सन्धि के प्रारूप (Draft Treaty of Mutual Assistance) की असफलता के बाद मध्यस्थता (Arbitration) के उपाय से सुरक्षा की समस्या हल करने का प्रयत्न किया गया। घूमेन के शब्दो मे मध्यस्थता से सुरक्षा और सुरक्षा से नि.शस्त्रीकरण का नया मार्ग ढूढा न गया।

नि शस्त्रीकरण के सामान्य उपायों के विफल होने पर अक्टूबर, 1924 के बाद से अस्थायी मिश्रित आयोग ने काम करना बन्द कर दिया। अब नि शस्त्रीकरण सम्मेलन के लिए सज्जीकरण आयोग (Preparatory Commission for the Disarmament Conference) का गठन हुआ। इस आयोग की प्रथम बैठक मई, 1926 मे हुई और दिसम्बर, 1930 तक यह अस्तित्व मे रहा। 9 दिसम्बर, 1930 को आयोग ने नि शस्त्रीकरण की योजना का एक स्थायी प्रारूप प्रस्ताव (Dummy Draft Convention) पास करने मे सफलता अर्जित की जिसकी मुख्य व्यवस्थाए थी—

(1) बजट द्वारा स्थल युद्ध की रण-सामग्री पर नियन्त्रण किया जाय।

(2) सैनिको की सख्या बिना किसी भेद-भाव के नियन्त्रित की जाय और प्रशिक्षित सुरक्षित सैनिको (Trained Reserves) का विचार न किया जाय।

(3) अनिवार्य सैनिक सेवा के वर्षों की अवधि घटायी जाय।

(4) नौ-सैनिक जहाजो पर 1922 के वाशिगटन सम्मेलन की तथा 1930 के लन्दन सम्मेलन की व्यवस्थाओ को लागू किया जाय।

(5) हवाई अस्त्रो का नियन्त्रण अश्व-शक्ति (Horse-Power) के आधार पर हो।

(6) रासायनिक एव जीवाणु फैलाने वाले (Bacteriological) युद्धों को रोका जाय।

(7) एक स्थायी निःशस्त्रीकरण आयोग की रचना की जाय जो नि:शस्त्रीकरण की प्रगति के बारे में समय-समय पर अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करता रहे।

सज्जीकरण आयोग के इस प्रस्ताव का व्यावहारिक मूल्य बहुत कम था और फरवरी, 1932 में होने वाले नि शस्त्रीकरण सम्मेलन ने इसका कोई उपयोग भी नहीं किया। फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह प्रस्ताव विश्व नि.शस्त्रीकरण सम्मेलन का आधार-स्तम्भ बना। इससे नि शस्त्रीकरण सम्बन्धी वे मूलभूत मतभेद सामने आ गये जिनका सामना सम्मेलन को करना पड़ सकता था। इस प्रस्ताव को मुख्य आधार मानकर जेनेवा में 3 फरवरी, 1932 को नि शस्त्रीकरण सम्मेलन आयोजित किया गया।

यह नि शस्त्रीकरण सम्मेलन नि शस्त्रीकरण की दिशा में राष्ट्रसंघ का एक महत्वपूर्ण प्रयास था। यह विश्व नि शस्त्रीकरण सम्मेलन 3 फरवरी, 1932 को प्रारम्भ हुआ। इसमें 61 देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। जिन दिनों सम्मेलन चल रहा था पृथ्वी के दूसरे भाग में लड़ाई पर जापान द्वारा बमबारी की जा रही थी। सम्मेलन में वाद-विवाद का विषय भारी परिश्रम के बाद तय किया गया था। विचार-विमर्श के दौरान अनेक नये सुझाव प्रस्तुत किये गये। लीग के अधीन एक पुलिस शक्ति की रचना की सिफारिश की गई जिसका कि वमवर्षकों पर एकाधिकार हो। आक्रामक को कठोरता से दण्ड देने एवं पंच-फैसले (Arbitration) को आवश्यक बनाने की बात कही गई। किसी असमुलझे अन्तर्राष्ट्रीय झगड़े पर अन्तिम रूप से कानूनी निर्णय देने पर जोर दिया गया। फ्रांस का कहना था कि आक्रमणकारी हथियारों को राष्ट्रसंघ के अधीन कर देना चाहिए। किन्तु आक्रमणकारी हथियार (Offensive Weapons) क्या है इसके ऊपर उन लोगों में मतभेद बना रहा। इसी प्रकार जब तोपों पर विचार किया गया तो लोगों ने स्वीकार किया कि इनका रक्षा एवं आक्रमण दोनों के लिए उपयोग किया जा सकता था। किन्तु जिसमें इनका उपयोग किया जायगा यह उनकी प्रभावशीलता (Effectiveness) पर निर्भर करता था।

अस्त्र-शस्त्र एवं मानव शक्ति के जितने भी रूपों पर विवाद हुआ उनमें सबसे अधिक सहमति रासायनिक एवं वानस्पतिक हथियारों की आक्रमणकारी प्रकृति पर हो सकी। यह सम्मेलन अधिक सफलता प्राप्त न कर सका, इसका एक कारण तो यह था कि पश्चिमी देशों को सोवियत रूस की भावी विदेश नीति के बारे में डर था। दूसरे फ्रांस व जर्मनी किसी भी बात पर एकमत नहीं हो सके थे। जर्मनी वारसा की सन्धि के प्रतिबन्धों को मानने को तैयार न था और इधर फ्रांस उसे किसी भी कीमत पर बराबर का स्तर न देने को कमर कसे बैठा था। साथ ही जर्मनी भी बराबर के स्तर से कम कुछ भी लेने को तैयार नहीं था। दिसम्बर, 1932 में फ्रांस ने जर्मनी को इस शर्त पर बराबर का स्तर देना स्वीकार कर लिया कि उसे सामूहिक सुरक्षा-यन्त्र द्वारा रक्षा का आश्वासन दिया जाये। मार्च 1933 में रेम्जे मैकडानल्ड (Ramsay Macdonald) द्वारा एक नयी योजना प्रस्तुत की गई। किन्तु जर्मनी में

हिटलर द्वारा शासन सत्ता सभालने के बाद यह योजना कारगर न हो सकी। 14 अक्टूबर, 1933 को जर्मनी ने सम्मेलन छोड़ने की घोषणा कर दी। उसके एक सप्ताह बाद ही उसने राष्ट्रसघ को भी छोड़ दिया। 16 मार्च, 1935 को जर्मनी ने वारसा की सन्धि के नि शस्त्रीकरण से सम्बन्धित उपबन्धों को खुले रूप से अप्रभावकारी घोषित कर दिया। इस घोषणा के साथ ही युद्ध के नवीन दृश्यो का प्रदर्शन करने के लिए रगमञ्च का पर्दा उठा। शूमा का यह विचार सत्य ही है कि असफल नि शस्त्रीकरण सम्मेलन से तो कोई सम्मेलन न होना ही अच्छा है क्योंकि इसकी सफलता से मनमुटाव और गलतफहमी बढ़ती है।

राष्ट्रसंघ के बाहर नि शस्त्रीकरण के प्रयास

राष्ट्रसघ के बाहर भी नि.शस्त्रीकरण के लिए अनेक प्रयत्न किए गये। यहा भी अन्य अनेक प्रश्नो की ही भाति महाशक्तियो में विभिन्न मतभेद अपना प्रभाव जमाये रहे। राष्ट्रसघ के बाहर नि शस्त्रीकरण के लिए मुख्य प्रयास निम्नलिखित हुए—

(1) वाशिंगटन सम्मेलन (Washington Conference), 1921–22.
(2) जेनेवा नौ-सैनिक सम्मेलन (Geneva Naval Conference), 1927.
(3) लन्दन नौ-सैनिक सम्मेलन (London Naval Conference), 1930.
(4) *द्वितीय लन्दन नौ-सैनिक सम्मेलन (London Naval Conference),* 1935

वाशिंगटन सम्मेलन (1921–22)—राष्ट्रसघ ने जिस समय अपना *नि शस्त्रीकरण कार्य प्रारम्भ किया, उस समय वाशिंगटन मे राष्ट्रसघ से सर्वथा पृथक* एक नौ-सेना नि शस्त्रीकरण सम्बन्धी सम्मेलन नवम्बर, 1921 मे आयोजित किया गया। इसमे 9 राष्ट्रो ने भाग लिया। जिनके सुदरपूर्व मे हित निहित थे। इसकी *अध्यक्षता राज्य सचिव ह्यूजेश* (Hughes) द्वारा की गई थी। ह्यूजेस ने अपने उद्घाटन भाषण मे जल-सेना की शक्ति को सीमित रखने के लिए एक सूत्र (Formula) रखा जिसके अनुसार अमरीका, ब्रिटेन, जापान, फ्रास व इटली के क्रमश. 5 : 5 : 3 : 1 : 67 : और 1 : 67 के अनुपात के रख दिया जाना था। किन्तु यह अनुपात केवल लड़ाई के जहाजो तथा लड़ाई के क्रूजर्स पर ही लागू होता था। हवाई जहाजो को लादने वाले पोतो (*Aircrafts-Carrier Tonnage*) को किसी अन्य आधार पर सीमित करते हुए इनकी मात्रा को 35000 टन अमेरिका एव ब्रिटेन के लिए 81,000 जापान के लिए तथा 60,000 फ्रास के लिए तथा इतना ही इटली के *लिए निश्चित किया गया। इसके अतिरिक्त दस वर्ष तक कोई बड़ा जहाज (Capital Ship)* नही बनाया जा सकता था, केवल मरम्मत की जा सकती थी। वाशिंगटन सन्धि के अनुच्छेद XIX के अनुसार अमरीका, ब्रिटेन व जापान इस बात पर सहमत

हो गये कि कुछ अपवादों के अतिरिक्त प्रशान्त महासागर में जो यथास्थिति (Status-quo) थी उसे ज्यों का त्यों बनाये रखा जाय। वाशिंगटन सन्धि के रूप एवं व्यवहार पर विचार करने के बाद यह कहा जाता है कि यह एक आंशिक सफलता रही थी। इसने नि शस्त्रीकरण के स्थान पर स्थायित्व की स्थापना की तथा शस्त्रों की दौड़ को रोकने में कुछ कार्य किया किन्तु यह इस दौड़ को न तो समाप्त ही कर सकी और न ही इसने दौड़ को पीछे की ओर ही ढकेला। क्रूजर पनडुब्बी तथा विध्वंसकों (Destroyers) को सीमित करने की समस्या पर यह पूरी तरह से असफल रही। इस सन्धि द्वारा जल-सेना के बजट में थोड़ी कमी की गई किन्तु बाद में जल-सेना शक्ति की प्रतिद्वन्द्विता उन विषयों पर केन्द्रित हो गई जिनको कि सन्धि द्वारा मर्यादित नहीं किया गया था।

जेनेवा नौ समझौता, 1927—नौ-शस्त्रों पर भी सीमा लगाने के लिए 1927 में जेनेवा जल-सेना सम्मेलन बुलाया गया। फ्रांस तथा इटली ने इस सम्मेलन में यह कह कर उपस्थित होना अस्वीकार कर दिया कि जल-सेना तो एक भाग मात्र है, इस पर सम्पूर्ण शस्त्र-समस्या को इकाई के रूप में विचार करना चाहिए। ब्रिटेन, जापान व अमेरिका ने इसमें भाग लिया। क्रूजर्स के बारे में अमेरिका व ब्रिटेन के बीच कोई समझौता नहीं हो पाया और यह सम्मेलन असफल हो गया।

लन्दन नौ सैनिक समझौता—इस समस्या पर पुनर्विचार के लिए 1930 में लन्दन में जल-सेना सम्मेलन बुलाया गया। इस सम्मेलन में अमेरिका व ब्रिटेन युद्ध-पोतों, विध्वंसकों एवं पनडुब्बियों की अधिक से अधिक संख्या के बारे में एकमत हो गये। किन्तु आगामी पांच वर्षों तक ये दोनों ही देश अपनी जल-सेना को स्वीकृत सीमा तक रखने में असमर्थ रहे और 1935 में दूसरा लन्दन सम्मेलन बुलाया गया।

द्वितीय लन्दन नौ समझौता—द्वितीय लन्दन सम्मेलन के समय तक जापान 1922 की सन्धि तोड़ने की घोषणा कर चुका था और ब्रिटेन ने नाजी जर्मनी के साथ जल-सेना के सम्बन्ध में एक सन्धि कर ली थी। इस सम्मेलन में जापान की उस माग पर विचार किया गया जिसमें उसने जल-सेना के सभी प्रकार के शस्त्रों में बराबरी के स्तर की माग की थी। अपनी माग के अस्वीकृत हो जाने पर जापान ने सम्मेलन को छोड़ दिया। यह सम्मेलन प्रथम सम्मेलन की भांति स्थायित्व बनाये रखने में भी सफलता प्राप्त न कर सका। 1937 में जर्मनी व रूस ने स्वीकृत सीमा पार कर दी और 1938 में एक अफवाह के आधार पर सन्धि के तीन मूल हस्ताक्षर-कर्त्ताओं ने लड़ाकू जहाजों की सीमा 40000 टन कर दी और इस प्रकार जल-सेना नि.शस्त्रीकरण का अन्त कर दिया गया।

निष्कर्षतः 1919 से 1935 के मध्य निःशस्त्रीकरण की समस्या को हल करने के लिए राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत और इसके बाहर जो भी प्रयत्न किये गये, वे असफल रहे और अन्ततोगत्वा संसार को दूसरा महायुद्ध लड़ना पड़ा। शूमा के शब्दों में निःशस्त्रीकरण केवल एक याद रह गया।"""वारसा के बाद दो दशाब्दियों में

[illegible] निःशस्त्रीकरण सम्मेलन के द्वारों पर बड़े अक्षरों में अंकित 'समझौता' के अक्षर पश्चिमी संसार के आगामी विनाश के अक्षर हो गये।

निःशस्त्रीकरण के प्रयासों की विफलता के कारण

प्रथम महायुद्ध के बाद निःशस्त्रीकरण के प्रयास मुख्यतः निम्नलिखित कारणों से असफल हुए—

(1) संसार के विभिन्न राष्ट्रों की वास्तविक शान्ति में कोई आस्था न थी। हर राष्ट्र अपने शस्त्रास्त्रों के उत्पादन को "राष्ट्रीय सुरक्षा" का जामा पहनाता था और जब दूसरा राष्ट्र शस्त्रों की वृद्धि करता तो उसे युद्ध लिप्सु कहता था।

(2) विभिन्न राष्ट्रों के दृष्टिकोणों में उग्र मतभेद थे। उदाहरणार्थ, फ्रांस निःशस्त्रीकरण से पहले सुरक्षा की स्थापना आवश्यक मानता था और राष्ट्रसंघ की अध्यक्षता में शान्ति एवं सुरक्षा के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सेना का पक्षपाती था। इसके विपरीत ग्रेट ब्रिटेन का कहना था कि शस्त्रास्त्रों की उपस्थिति में सुरक्षा का वातावरण कभी सम्भव नहीं हो सकता, अतः पहले निःशस्त्रीकरण की समस्या का समाधान होना चाहिए और तब सुरक्षा का प्रश्न उठना चाहिए।

(3) महाशक्तियों ने निःशस्त्रीकरण के सिद्धान्त में अविश्वास और पक्षपात-पूर्ण व्यवहार का नग्न प्रदर्शन किया। उदाहरणार्थ प्रथम महायुद्ध के विजेताओं ने जर्मनी पर निःशस्त्रीकरण को बलपूर्वक थोप दिया, किन्तु वचनबद्ध होने पर भी वे अपने निःशस्त्रीकरण को बराबर टालते रहे। जब उन्हें स्वयं को निःशस्त्रीकरण में अविश्वास था तो फिर वे उसे सफल भी कैसे बना सकते थे।"

(4) शस्त्रास्त्रों का निर्माण करने वाली कम्पनियों ने निःशस्त्रीकरण सम्मेलनों को विफल बनाने का पुरजोर प्रयास किया।

(5) शस्त्रीकरण की यथार्थ व्याख्या और स्वरूप निर्धारण के बारे में विभिन्न राष्ट्रों में मतैक्य नहीं था। राष्ट्रों में इस प्रश्न पर गम्भीर मतभेद था कि रक्षात्मक अथवा आक्रमणकारी शस्त्रों के बीच क्या विभेद है।

(6) विभिन्न राष्ट्रों की युद्ध सम्बन्धी मनोवृत्ति में मौलिक मतभेद था। कुछ राष्ट्र युद्ध का सहारा लेने को उत्सुक थे तो कुछ शान्ति के उपासक। कुछ लोग ऐसे भी थे जो सत्ता हड़पने के लिए अपने देश के नागरिकों का ध्यान विदेश नीति में ही उलझाना चाहते थे ताकि उन्हें अपने देश की आन्तरिक वस्तुस्थिति का पता न लग सके। ऐसे नेताओं का तर्क था कि अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान शान्तिमय तरीकों से करने की बात सोचना निरी बेवकूफी है। फासिस्ट इटली और नाजी जर्मनी के नेता युद्ध को मानव जाति के लिए न केवल आवश्यक अपितु गौरवपूर्ण मानते हुए उसे शौर्य, साहस, वीरता, त्याग और बलिदान आदि श्रेष्ठ गुणों को विकसित करने वाला समझते थे।

(7) उपनिवेशों की सुरक्षा का प्रश्न निःशस्त्रीकरण-प्रयासों के मार्ग में बाधक रहा।

(8) निःशस्त्रीकरण-प्रयासों एवं सम्मेलनों की मौत का आठवां प्रमुख कारण यह था कि समस्या को सुलझाने का प्रयत्न मौलिक रूप से नहीं, वरन् ऊपरी तौर से तथा प्राविधिक रूप से किया गया था।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के बाद निःशस्त्रीकरण के प्रयास
(Disarmament Attempts after U. N. O.)

द्वितीय महायुद्ध के बाद संयुक्त राष्ट्रसंघ का जन्म हुआ जो विश्व में शान्ति और राष्ट्रों के बीच सहयोग की भावना का विकास करने में संलग्न हो गया। दो महायुद्धों के बाद मानवता इतनी त्रस्त हो चुकी थी कि महायुद्ध की पुनरावृत्ति करके अपना अस्तित्व खोने को वह तैयार न थी। फलत निःशस्त्रीकरण की समस्या एक बार फिर गम्भीर विचार का विषय बन गई। इस बार अणु शक्ति के आविष्कार ने इस समस्या को अधिक जटिल किन्तु महत्वपूर्ण रूप प्रदान कर दिया। दुर्भाग्यवश समय बीतने के साथ-साथ नि.शस्त्रीकरण की समस्या अधिकाधिक जटिल होती गई और आज तो यह जटिलतम रूप लिये है। यह दुर्भाग्य की बात है कि अब तक जो भी प्रयास इस समस्या को सुलझाने के लिये किये गये हैं वे अधिकांशः असफलता का इतिहास दोहराते हैं। यदि कुछ सफलता मिली भी है तो उसे नगण्य ही कहना चाहिए।

द्वितीय महायुद्ध के बाद नि.शस्त्रीकरण के सम्बन्ध में जो वार्ताएँ सम्पन्न हुई उनके इतिहास को हम मोटे रूप में दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—प्रथम भाग के अन्तर्गत उस समय तक की वार्तायें सम्मिलित हैं जब केवल अमेरिका ही अणु-बम का स्वामी था, द्वितीय भाग का आरम्भ तब से माना जा सकता है जब सोवियत संघ ने भी अणु-बम का निर्माण कर लिया। नि.शस्त्रीकरण के सम्बन्ध में पूंजीवादी और साम्यवादी दोनों ही खेमों में विरोधी दृष्टिकोण मिलता है और इस दिशा में किये जाने वाले प्रयासों का क्षेत्र संयुक्त राष्ट्रसंघ भी है तथा निजी वार्ताएं भी। द्वितीय महायुद्ध के बाद निःशस्त्रीकरण की दिशा में जो भी प्रयास किये गये हैं उन्हें निम्नलिखित शीर्षकों में प्रकट करना उपयुक्त होगा—

(1) संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में नि.शस्त्रीकरण की व्यवस्था—यद्यपि राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत नि शस्त्रीकरण के प्रयास असफल रहे थे, किन्तु विश्व के राजनीतिज्ञों ने नि.शस्त्रीकरण की आशा न त्यागते हुए संयुक्त राष्ट्र द्वारा नि.शस्त्रीकरण के प्रयास जारी रखे। संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में नि.शस्त्रीकरण सम्बन्धी व्यवस्थायें की गई हैं जो आज भी यथापूर्ण प्रभावी हैं। संघ का चार्टर नि.शस्त्रीकरण को महासभा और सुरक्षा परिषद् दोनों ही की कर्तव्य-सूची में सम्मिलित करता है। अनुच्छेद 11 में कहा गया है—"महासभा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने में सहयोग के सामान्य सिद्धान्तों पर विचार कर सकती है, इनमें निःशस्त्रीकरण और शस्त्र-नियन्त्रण के सिद्धान्त भी शामिल होंगे......।" अनुच्छेद 26 में उल्लिखित है—"अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को ऐसे ढंग से स्थापना करने और ऐसे ढंग से उसे बनाये रखने के लिए कि जिसमें संसार की जन-शक्ति और आर्थिक साधनों को कम

1 कम मात्रा शस्त्रों पर खर्च हो, सुरक्षा परिषद् पर यह भार होगा कि वह अनुच्छेद 17 में बताई सैनिक हमला समिति की सहायता से ऐसी योजनाओं को संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्यों के सामने रखे, जिनसे शस्त्र-नियन्त्रण की एक पद्धति स्थापित हो सके।"

आगे चल कर चार्टर का अनुच्छेद 47 इस बात की व्यवस्था करता है कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की स्थापना और अभिवृद्धि के लिए सुरक्षा परिषद् सैन्य-स्टाफ समिति की सहायता से ऐसी योजनायें बनाने के लिए उत्तरदायी होगी, जिससे संसार के मनुष्यों के आर्थिक साधनों का उपयोग शस्त्रीकरण के लिए कम से कम हो। ये योजनायें संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों के सामने पेश की जायेंगी जिससे कि वे शस्त्रों के नियम की समुचित व्यवस्था स्थापित कर सकें।

संयुक्त राष्ट्रसंघ ने प्रारम्भ से ही नि:शस्त्रीकरण की समस्या पर ध्यान देना शुरू कर दिया। 24 जनवरी, 1946 को संघ द्वारा परमाणु शक्ति आयोग (Atomic Energy Commission) की स्थापना की गई जिसका प्रधान उद्देश्य था—

"एक ऐसी योजना का निर्माण जिसके अन्तर्गत राष्ट्र परमाणु शक्ति के उत्पादन को अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण के अन्तर्गत रखने को तैयार हो जाय, ताकि केवल शान्तिपूर्ण उद्देश्यों के लिए इसके उपयोग की निश्चित व्यवस्था की जा सके और आणविक तथा सामूहिक विनाश के अन्य सभी शस्त्रों का पूर्ण निषेध किया जा सके।"

अणु शक्ति आयोग कार्य करता रहा, किन्तु इसे वांछित सफलता प्राप्त नहीं हुई। 14 दिसम्बर, 1946 को महासभा ने सर्वसम्मति से एक प्रस्ताव पारित किया जिसमें अणुशक्ति आयोग के कार्य को बढ़ाने तथा सुरक्षा परिषद् को शस्त्रों को सीमित एवं मर्यादित करने की सिफारिश की गयी। दूसरे शब्दों में इस प्रस्ताव का आशय था कि अणुशक्ति आयोग अपने कार्य में तीव्रता लावे तथा सुरक्षा परिषद् शीघ्रतापूर्वक शस्त्रों के घटाने और उनका नियमन करने की व्यावहारिक योजनायें बनाये। इस प्रस्ताव के पारित होने के लगभग तीन मास बाद सुरक्षा परिषद् ने 'परम्परागत हथियारों के आयोग' (The Commission for Conventional Armaments) की रचना की। इस आयोग में सुरक्षा परिषद् के सभी सदस्य थे। इस आयोग का कार्य केवल परम्परागत शस्त्रों को सीमित एवं नियमित करने के प्रस्ताव रखना ही था, अणु शस्त्रों एवं विनाश के व्यापक साधनों से इसका सम्बन्ध न था। इस कार्य के लिए परिषद् द्वारा अणुशक्ति आयोग की स्थापना पहले ही की जा चुकी थी, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

नि:शस्त्रीकरण के सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा उपरोक्त दो आयोगों की स्थापना भी हो गई और महाशक्तियों द्वारा विभिन्न प्रस्ताव भी रखे गये लेकिन इन सब प्रयासों का नतीजा कुल मिला कर शून्य रहा। शान्ति की दिशा में बढ़ने के विपरीत उल्टे इन प्रयासों ने शीत-युद्ध को प्रोत्साहन दिया। नि:शस्त्रीकरण-वार्तालाप में कोई

प्रगति नहीं हो सकी। महाशक्तियां अपने प्रस्ताव-प्रति प्रस्ताव रखती रहीं और विश्व-शान्ति का भविष्य अन्धकार में भटकता रहा।

19 नवम्बर, 1951 को पश्चिमी देशों ने राष्ट्रपति ट्रूमैन के इस सुझाव को अपने प्रस्ताव द्वारा समर्थन दिया कि "अणु शक्ति आयोग" और "परम्परागत हथियारों के आयोग" को मिलाकर उनके स्थान पर "संयुक्त नि:शस्त्रीकरण आयोग" (Disarmament Commission) की स्थापना की जाय और उसे यह काम सौंपा जाय कि वह एक ऐसी सन्धि का प्रारूप तैयार करे जिसमें समस्त सशस्त्र सेनाओं और शस्त्रास्त्रों का इस दृष्टि से नियमन हो, जिससे प्रत्येक देश के पास सुरक्षा के लिए तो पर्याप्त साधन रह जायं परन्तु वे साधन आक्रमण की दृष्टि से पर्याप्त न हों। इस प्रस्ताव में यह भी उल्लिखित था कि आयोग विभिन्न देशों के पास शस्त्रास्त्रों का पता लगाने के लिए प्रभावशाली अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण की व्यवस्था की योजना बनाये। 19 दिसम्बर, 1951 को महासभा की 'राजनीतिक और सुरक्षा' समिति ने पश्चिमी देशों के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। यद्यपि अणु शक्ति आयोग की स्थापना हो सकी किन्तु सोवियत विरोध के कारण आयोग द्वारा पेश किये जाने वाले प्रस्तावों को क्रियान्वित नहीं किया जा सका।

8 दिसम्बर 1953 को संयुक्त राष्ट्र संघीय महासभा के समक्ष अपने भाषण में तत्कालीन अमेरिकन राष्ट्रपति आइजन होवर ने कल्याणकारी कार्यों के लिए अणु सामग्री का अन्तर्राष्ट्रीय संग्रह स्थापित करने की अपील की जिसके परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय अणुशक्ति एजेन्सी (International Atomic Energy Agency) अस्तित्व में आई।

अप्रैल 1954 में नि:शस्त्रीकरण समस्या पर विचार करने के लिए नि:शस्त्रीकरण आयोग की एक पंच राष्ट्रीय उप समिति की स्थापना की गई। अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, कनाडा और रूस इसके सदस्य बने। नि:शस्त्रीकरण के कार्य में प्रगति के लिए इस उप समिति की अनेक बैठकें हुईं किन्तु कोई नतीजा नहीं निकल पाया। 1965 तक पूरी तरह यह स्थिति ही चलती रही कि एक पक्ष की ओर से नि:शस्त्रीकरण के जो प्रस्ताव आते, दूसरे पक्ष की ओर से ठुकरा दिये जाते।

जेनेवा सम्मेलन, 1955 तथा उन्मुक्त आकाश योजना—जुलाई, 1955 में जेनेवा में अमेरिका के राष्ट्रपति तथा रूस, ब्रिटेन एवं फ्रांस के प्रधान मन्त्रियों का सम्मेलन बुलाया गया। इस सम्मेलन में राष्ट्रपति आइजनहोवर द्वारा मुक्त आकाश की योजना (Open Skies Plan) प्रस्तुत की गई। इस योजना के अनुसार यह प्रस्ताव रखा गया कि रूस व अमरीका एक दूसरे को अपनी सैनिक गतिविधियों से अवगत कराते रहें और एक देश को दूसरे देश के आकाश पर निरीक्षण करने का अधिकार दिया जाये। इस प्रकार से नि:शस्त्रीकरण को सम्भव बनाने के लिए प्रभावशाली निरीक्षण पद्धति को शुरू किया जा सकता है। सोवियत प्रधान मन्त्री द्वारा इस योजना की कड़ी आलोचना की गई। यह उनको किसी भी प्रकार स्वीकार्य

न था। कारण यह था कि अमरीका के सैनिक अड्डे सारे विश्व में तिरोहित हो रहे थे जबकि सोवियत रूस के उसके अपने ही देश में थे। इस हालत में अमरीका तो रूस का सारा भेद जान जाता किन्तु सोवियत रूस अमेरिका की शक्ति के बारे में कुछ भी नहीं जान पाता। इसलिये सोवियत प्रधानमन्त्री बुल्गानिन ने एक दूसरा ही प्रस्ताव सम्मेलन के सामने रखा वह यह कि निःशस्त्रीकरण को क्रियान्वित करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण अभिकरण की स्थापना की जाय जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर निरीक्षकों की नियुक्ति की जाये—सभी देशों से विदेशी अड्डों को खत्म कर दिया जाये—आणविक शस्त्रों के परीक्षण पर पाबन्दी लगा दी जाय और परम्परागत शस्त्रों की कमी की जाय। यह प्रस्ताव पश्चिम को मान्य न हुआ। शिखर सम्मेलन में मतभेद बने रहे और इन मतभेदों के कारण ही अक्टूबर, 1955 में होने वाला विदेश मन्त्रियों का सम्मेलन भी इसी प्रकार असफल हो गया। दिसम्बर, 1955 में भारत ने आणविक शस्त्रों के परीक्षण पर पाबन्दी लगाने की माग की तथा शस्त्रों से सम्बन्धित एक अल्पकालीन सन्धि का सुझाव दिया किन्तु अमरीका को यह स्वीकार न हो सका।

(६) लन्दन सम्मेलन, 1956 (London Conference)—निःशस्त्रीकरण उपसमिति की बैठकों में पैदा हुए गतिरोध को मिटाने के लिये 14 जून, 1956 को लन्दन में निःशस्त्रीकरण आयोग की उपसमिति की बैठक हुई। रूस द्वारा इस सम्मेलन में त्रिसूत्री कार्यक्रम प्रस्तुत किया गया जो इस प्रकार था—

(1) दो वर्ष के लिये आणविक परीक्षण बन्द कर दिये जायें।

(2) आणविक परीक्षण की इस पाबन्दी को क्रियान्वित करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय आयोग की स्थापना की जाय।

(3) उपयुक्त वैज्ञानिक यन्त्रों के सहित अमरीका, रूस तथा ब्रिटेन को मिलाकर प्रशान्त महासागर में नियन्त्रण चौकियां स्थापित की जायें ताकि इस समझौते के क्रियान्वित रूप पर निगरानी रखी जा सके। ये प्रस्ताव पश्चिम को मान्य नहीं हुए। इसके स्थान पर दूसरे प्रस्ताव रखे गये। आइजन होवर ने खुले आकाश वाला अपना प्रस्ताव दुहराया। सोवियत प्रतिनिधि जेरिन ने अपने पक्ष के समर्थन में बहुत कुछ कहा किन्तु सब कुछ अरण्य-रोदन की भांति बेकार गया। 6 सितम्बर, 1957 को उपसमिति ने सम्मेलन की असफलता घोषित कर दी। तत्पश्चात् इसकी बैठक बन्द हो गई।

(७) निःशस्त्रीकरण आयोग का विस्तार एवं स्पुतनिक कूटनीति—निःशस्त्रीकरण उपसमिति की असफलता के बाद महासभा के बारहवें अधिवेशन में संयुक्त राज्य अमेरिका ने निःशस्त्रीकरण की दिशा में सीमित किन्तु स्पष्ट कदम उठाने पर अधिक बल दिया। इधर सोवियत संघ निःशस्त्रीकरण आयोग की सदस्य संख्या बढ़ाने पर जोर दे रहा था। उसका कहना था कि महासभा के सभी सदस्य राष्ट्रों को उसमें स्थान दिया जाय। 26 सितम्बर, 1957 को भारत द्वारा महासभा में एक प्रस्ताव पेश

करके यह मांग की गई कि निःशस्त्रीकरण आयोग और उसकी उप समिति में सदस्यों की संख्या बढ़ाई जाय। इस प्रस्ताव में और भी कई सुझाव दिये गये थे जिनमें आणविक शस्त्रास्त्रों को खत्म करने पर अधिक जोर दिया गया। सोवियत संघ ने भारत का समर्थन करते हुए आयोग के सदस्यों को बढ़ाने का जोरदार आग्रह किया। कहीं इस बात को लेकर निःशस्त्रीकरण वार्ता ही न टूट जाय, इसलिए आयोग के सदस्यों की नवम्बर, 1957 में संख्या बढ़ाकर 25 कर दी गयी किन्तु रूस इतने में ही सन्तुष्ट न हुआ उसने स्पष्ट कह दिया कि जब तक नि.शस्त्रीकरण आयोग में उसकी मांग के अनुसार विस्तार नहीं किया जायगा, वह आयोग की किसी बैठक में शामिल नहीं होगा। वास्तव में सोवियत संघ की इस हठ के पीछे उस समय उसकी सैनिक कूटनीति काम कर रही थी। 26 अगस्त, 1957 को रूस ने यह दावा करके पश्चिमी राष्ट्रों में भय और सन्देह उत्पन्न कर दिया था कि उसने अन्तर-महाद्वीपीय प्रक्षेपणास्त्र (Inter Continental Ballistic Missile–ICBM)—का सफल परीक्षण कर लिया है और इसमें विध्वंसक बम के गोले को दुनिया के किसी भी हिस्से में, एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप में फेंका जा सकता है। पश्चिम को पहले तो रूस की इस घोषणा पर विश्वास नहीं हुआ लेकिन जब 4 अक्टूबर, 1957 को रूस ने पृथ्वी के चारों ओर घूमने वाला एक कृत्रिम उपग्रह (Sputnik) छोड़ दिया तो सम्पूर्ण पश्चिमी जगत रूस की इस वैज्ञानिक प्रगति से स्तम्भ रह गये और निःशस्त्रीकरण की आवश्यकता तीव्रता से अनुभव की जाने लगी। चूंकि इस समय शस्त्रों की दौड़ में सोवियत संघ का पलड़ा भारी हो चुका था, अतः निःशस्त्रीकरण के प्रति वह कड़े रुख का अवलम्बन करने लगा।

(4) बुल्गानिन योजना—यद्यपि दोनों ही पक्षों की ओर से प्रस्तावों को प्रस्तुत एवं अस्वीकृत किये जाने का क्रम जारी रहा तो भी प्रस्तावकों ने हार न मानी। 3 फरवरी 1958 को रूसी प्रधानमन्त्री बुल्गानिन द्वारा राष्ट्रपति आइजन होवर के सम्मुख निःशस्त्रीकरण की एक विस्तृत योजना रखी गई। इस योजना के मुख्य पहलू निम्न प्रकार थे—

(1) अणु बमों के परीक्षणों को बन्द किया जाये।
(2) अमरीका, रूस व ब्रिटेन आणविक शस्त्रों का परित्याग कर दें।
(3) जर्मनी तथा अन्य यूरोपीय देशों में विदेशी सेनाओं को घटाया जाए।
(4) नाटो तथा वारसा-पैक्ट के देशों में अनाक्रमण समझौता हो।
(5) आकस्मिक आक्रमणों को रोका जाए।

15 मार्च, 1958 को इन्हीं प्रस्तावों के आधार पर सोवियत विदेश मन्त्रालय द्वारा कुछ अन्य प्रस्ताव भी रखे गये। जैसे सैनिक प्रयोजनों के लिए बाह्य आकाश (Outer Space) के प्रयोग का निषेध तथा संयुक्त राष्ट्र की देखरेख में एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था द्वारा उपरोक्त निषेध के पालन का निरीक्षण किया जाये। अमरीकी गुट द्वारा इसका भी कोई संतोषजनक जवाब न दिया गया।

रापाकी योजना (Rapaki Plan)—इसी समय पोलैण्ड के विदेशमन्त्री ने एक योजना प्रस्तुत की। इस योजना में यूरोप में सुरक्षा और शान्ति बनाये रखने के लिए पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, पश्चिमी और पूर्वी जर्मनी को अणुविहीन क्षेत्र बनाने का सुझाव दिया गया था अर्थात् इन देशों में आणविक अस्त्रों का निर्माण, संग्रह एवं उपयोग न किया जाए। सोवियत संघ द्वारा इस प्रस्ताव का समर्थन किया गया किन्तु अमरीका की कोई सन्तोषजनक प्रतिक्रिया न हुई।

सोवियत संघ के विविध प्रस्तावों की इस तरह अवहेलना होती रहने पर 31 मार्च, 1958 को उसने एकतरफा काम किया जिसे उस समय अत्यन्त सराहनीय माना गया। उस दिन सुप्रीम सोवियत ने सर्व-सम्मति से एक प्रस्ताव पास किया जिसमें यह कहा गया कि सोवियत संघ ने इस आशा से सभी प्रकार के आणविक परीक्षण बन्द कर दिये हैं कि अन्य देश भी उसका अनुसरण करेंगे। किन्तु यदि दूसरे देशों द्वारा आणविक परीक्षण बन्द न किये गए तो वह भी उनको पुनः आरम्भ कर सकता है।

आइजन हॉवर की प्रतिक्रिया—अमरीकी प्रशासन सोवियत संघ के कूटनीतिक कूटनीति से तंग आ गया था अतः 2 अप्रैल, 1958 को राष्ट्रपति आइजन हॉवर ने रूस को इन प्रस्तावों का जवाब भेजा। उसमें कहा गया कि सोवियत संघ के सभी प्रस्ताव एवं आणविक परीक्षण का स्थगन आदि प्रचारात्मक कार्य हैं। राष्ट्रपति द्वारा रूस के उन कार्यों का वर्णन किया गया जिनके कारण निःशस्त्रीकरण के अब तक के प्रयास सफल नहीं हो सके थे। बाद में यह घोषणा की गई कि 'एनी वी टोक' में चल रहे अमरीकी आणविक परीक्षण के समाप्त होने पर अमरीका को यह निश्चित हो गया कि रूस ने सचमुच परीक्षण बन्द कर दिये हैं तो अमरीका भी उनको बन्द करने की बात पर गम्भीरतापूर्वक विचार करेगा।

जेनेवा सम्मेलन, 1958 (Geneva Conference)—31 अक्टूबर, 1958 से जेनवा में निःशस्त्रीकरण पर अनेक प्रस्ताव पास किये गये। रूस का कहना था कि ये परीक्षण सदा के लिए बन्द कर दिये जायें, किन्तु अमरीका व ब्रिटेन प्रारम्भ में इनको एक वर्ष के लिए बन्द करने के पक्ष में थे। कुछ बातों पर दोनों पक्ष सहमत थे किन्तु फिर भी मतभेद की खाई इतनी चौड़ी थी कि दोनों किनारे मिल न पाये। इसमें कोई उपयोगी समझौता न किया जा सका।

ख्रुश्चेव का प्रस्ताव—सन् 1959 में सोवियत रूस के प्रधानमन्त्री द्वारा संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा में पूर्ण निःशस्त्रीकरण का प्रस्ताव रखा गया। उन्होंने यह सुझाव दिया कि चार वर्ष की अवधि में सभी राज्यों को पूर्ण निःशस्त्रीकरण कर लेना चाहिए ताकि किसी राज्य के पास युद्ध करने का कोई साधन न रह जाए। राज्यों को सब प्रकार की सशस्त्र सेना का परित्याग करना था केवल शान्ति एवं व्यवस्था की स्थापना के लिए कुछ पुलिस शक्ति रखी जा सकती थी। ख्रुश्चेव की इस पूर्ण निःशस्त्रीकरण की योजना को शायद दूसरे गुट वाले स्वीकार नहीं करते, इसी

कारण उन्होंने प्रांशिक निःशस्त्रीकरण की योजना भी प्रस्तुत की जिसके निम्न सूत्र थे—

(1) नाटो संगठन के सदस्य एवं पश्चिमी राज्यों के साथ वारसा पैक्ट के राज्यों की अनाक्रमण सन्धि हो,

(2) एक राज्य दूसरे राज्य पर आकस्मिक आक्रमण रोकने के विषय में समझौता करे,

(3) यूरोपीय राज्यों से सभी विदेशी सेनायें हटाई जायें,

(4) मध्य यूरोप में आणविक आयुधों से रहित क्षेत्र (Nuclear Free Zone) कायम किया जाए,

(5) आकस्मिक आक्रमणों को रोका जाए।

ख़ुश्चेव का विचार था कि निःशस्त्रीकरण का समझौता हो जाने के बाद उसे कार्यान्वित करने के लिए कठोर नियन्त्रण रखा जाय किन्तु निःशस्त्रीकरण के बिना नियन्त्रण का कोई प्रश्न ही खड़ा नहीं होता। रूसी प्रधानमन्त्री के इस प्रस्ताव का सब देशों द्वारा स्वागत किया गया किन्तु पश्चिमी शक्तियों द्वारा इसे मजाक का विषय बना दिया गया और इस प्रकार गतिरोध बना ही रहा।

जेनेवा सम्मेलन (Geneva Conference), 1960—निःशस्त्रीकरण आयोग पर विचार करने के लिए पुनः 1960 में जेनेवा में एक सम्मेलन बुलाया गया। इस बार एक ही समय दो सम्मेलन चल रहे थे—एक तो दस राष्ट्रों का निःशस्त्रीकरण सम्मेलन और दूसरा था आणविक बम्ब के तीन सदस्यों की वार्ता जिसका लक्ष्य था आणविक परीक्षणों को रोक देना। ये दोनों ही सम्मेलन आशाजनक रूप से सफलता प्राप्त न कर सके। 29 जून, 1960 को दस राष्ट्रों का निःशस्त्रीकरण सम्मेलन भंग हो गया।

जुलाई 1960 से मई 1963 तक का काल (The period between 1960 to 1963)—निःशस्त्रीकरण से सम्बन्धित प्रश्न पर रूसी एवं अमरीकी गुट के बीच कई बातों पर मतभेद हैं। उदाहरण के लिए आणविक परीक्षण, नियन्त्रण, आणविक आयु, सैनिकों की संख्या, खुला आकाश, बाह्य अन्तरिक्ष आदि। दिसम्बर, 1960 में 10 राष्ट्रों के निःशस्त्रीकरण आयोग का रूस ने इस आधार पर बहिष्कार किया कि वह संघ के सभी सदस्यों का एक आयोग बनाने की माग कर रहा था। 1961 में 18 सदस्यों का एक आयोग स्थापित किया गया किन्तु फ्रांस ने इसका प्रारम्भ में बहिष्कार किया और केवल 17 सदस्य शेष रह गये। 1961 में महासभा के मना करने पर भी सोवियत रूस द्वारा 50 मेगाटन बम का परीक्षण किया गया। नवम्बर 3, 1961 को महासभा की राजनैतिक समिति में पांच अन्य राष्ट्रों के साथ मिलकर भारत द्वारा यह प्रस्ताव रखा गया कि आणविक परीक्षणों पर जब तक कोई समझौता नहीं हो सकता है तब तक इनको बन्द ही रखा जाय। ब्रिटेन, फ्रांस, अमरीका व रूस चारों ही शक्तियों ने इसका विरोध किया किन्तु यह प्रस्ताव बहुमत

से पास हो गया। बाद में साधारण सभा ने भी इसे स्वीकार कर लिया। साधारण सभा द्वारा एक और अन्य प्रस्ताव भी स्वीकार किया गया जिसमें यह कहा गया था कि यदि किसी देश द्वारा अणुशस्त्रों का प्रयोग किया गया तो इसे संघ के चार्टर का खुला उल्लंघन माना जायगा। प्रस्ताव ने अमरीका में आणविक परीक्षण न करने की बात कही। रूस ने इस प्रस्ताव का समर्थन किया जबकि पश्चिमी शक्तियों का मत इसके विरोध में था।

मार्च, 1962 में विदेश मन्त्रियों का सम्मेलन हुआ किन्तु वह अधिक सफल न रहा। इसी समय जेनेवा में नि:शस्त्रीकरण आयोग का सम्मेलन प्रारम्भ हुआ। भारत का यह प्रस्ताव था कि आणविक परीक्षणों का पता लगाने के लिए तटस्थ राष्ट्रों के स्टेशन कायम किये जायें। अप्रेल में अमरीका द्वारा आणविक परीक्षण किया गया तथा जुलाई में सोवियत संघ द्वारा भी ऐसा ही किया गया। इन सबके कारण निःशस्त्रीकरण की सारी आशायें लुप्त हो गयीं। 12 फरवरी, 1963 को जेनेवा में नि:शस्त्रीकरण सम्मेलन प्रारम्भ होने पर रूस ने यह प्रस्ताव रखा कि दोनों ही पक्ष यह समझौता कर लें कि दूसरे देशों की भूमि में तीन महान् आणविक शक्तियाँ आणविक अड्डे कायम नहीं करेंगी। इस प्रस्ताव को पश्चिमी गुट द्वारा ठुकरा दिया गया।

अणु परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि, 1963—कैनेडी और ख्रुश्चेव के प्रयत्नों से नि:शस्त्रीकरण वार्ता में और प्रगति हुई। 14 जुलाई, 1963 को मास्को में ब्रिटेन, रूस और अमेरिका के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन हुआ और 25 जुलाई, 1963 को तीनों देशों ने "सीमित परमाणु प्रतिबन्ध सन्धि" पर हस्ताक्षर कर दिये।

वाशिंगटन, लन्दन तथा मास्को में संपुष्टि-पत्रों के आदान-प्रदान के साथ 10 अक्टूबर, 1963 को यह संधि लागू हो गयी। उस समय तक लगभग 100 राष्ट्र इस सन्धि पर हस्ताक्षर कर चुके थे।

इस सन्धि के द्वारा भू-गर्भ में परीक्षणों को छोड़कर बाह्य आकाश, जल और वायु-मण्डल में अणु-परीक्षण करने पर रोक लग गयी। 1955 की आस्ट्रिया की शान्ति सन्धि के बाद पूर्व और पश्चिम का यह सबसे बड़ा समझौता था। इसका विश्व में सर्वत्र स्वागत हुआ। भारत ने इस सन्धि पर अन्य राष्ट्रों में प्रथम हस्ताक्षर किये। फ्रांस ने अब तक इस पर हस्ताक्षर नहीं किये हैं और साम्यवादी चीन इस सन्धि का विरोधी रहा है।

अणु-परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि 5 धाराओं की छोटी सी, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में असाधारण महत्व रखने वाली सन्धि है। इसकी प्रस्तावना में तीनों देशों (ब्रिटेन, रूस व अमेरिका) ने यह घोषणा की है कि उनका प्रधान उद्देश्य—

"संयुक्त राष्ट्रसंघ के लक्ष्यों के अनुसार कठोर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण में एक सामान्य और पूर्ण नि:शस्त्रीकरण का समझौता यथा सम्भव शीघ्र ही कराना है ताकि शस्त्रों के उत्पादन और निर्माण की प्रतिस्पर्द्धा बन्द हो सके।"

सन्धि की पाचों धारायें साराश रूप मे इस प्रकार हैं—

पहली धारा मे तीनो देशो द्वारा यह निश्चय किया गया कि वे अपने अधिकार क्षेत्र और नियन्त्रण मे विद्यमान किसी भी प्रदेश के वायुमण्डल मे, उसकी सीमाओं मे, बाह्य अन्तरिक्ष में, प्रादेशिक अथवा महासमुद्रो के जल मे कोई भी आणविक विस्फोट नहीं करेंगे और इस प्रकार के आणविक विस्फोटो को रोक देंगे।

दूसरी धारा मे सन्धि के संशोधन की व्यवस्था है। सन्धि मे संशोधन का प्रस्ताव किसी भी सरकार द्वारा रखा जा सकता है और हस्ताक्षरकर्त्ता राज्यो मे यदि एक-तिहाई प्रस्ताव के पक्ष मे हो तो संशोधनों पर विचार हो सकता है।

तीसरी धारा के अनुसार इस सन्धि पर सब देश हस्ताक्षर कर सकते हैं। यह व्यवस्था है कि हस्ताक्षरकर्त्ता देश इस पर अपनी संसद अथवा राष्ट्रीय परिषद् से इसकी पुष्टि करेंगे और इन पुष्टियो या अपुष्टियो को उन्हें रूस, अमेरिका एवं ग्रेट-ब्रिटेन के पास जमा करना पड़ेगा।

चौथी धारा मे उल्लिखित है कि यह सन्धि असीमित अवधि (Unlimited duration) के लिए है हालांकि हस्ताक्षरकर्त्ता प्रत्येक देश को यह अधिकार होगा कि वह अपनी राष्ट्रीय प्रभुसत्ता का प्रयोग करते हुए उस समय स्वय को इस सन्धि की बाध्यताओ से मुक्त कर ले, जब वह यह निर्णय करे कि इस सन्धि से सम्बन्धित ऐसी असामान्य घटना घटित हुई है कि उससे उस देश का सर्वोच्च हित सकट मे पड़ गया है। इस धारा मे कहा गया है कि उपरोक्त अवस्था मे सन्धि से हटने की इच्छा करने वाले देश सन्धि पर हस्ताक्षर करने वाले अन्य देशो को तीन महीने पहले अपने पृथक् होने का नोटिस दे देगा।

पाचवी धारा मे यह कहा गया है कि इस सन्धि की रूसी भाषा के तथा अंग्रेजी के दोनों रूप समान रूप से प्रामाणिक समझे जायेंगे।

अणु परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि का ससार के अधिकांशत, सभी छोटे-बड़े राष्ट्रो ने पूर्ण स्वागत किया। यह सन्धि केवल निःशस्त्रीकरण के क्षेत्र मे ही एक महान् घटना नही थी, वरन् यह शीत-युद्ध की समाप्ति की दिशा मे भी एक प्रभावशाली शुरुआत थी जिसके कारण विश्व इतिहास मे एक नये अध्याय का प्रारम्भ हुआ।

निःशस्त्रीकरण की दिशा में 1963 के उपरान्त किये गये प्रयास

1963 मे राष्ट्रपति कैनेडी की हत्या हो गई। नये अमेरिकन राष्ट्रपति लिण्डन बी. जानसन को शुभ-कामना सन्देश भेजते हुए रूसी प्रधानमन्त्री ख्रुश्चेव ने इस बात पर बल दिया कि निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी प्रयासो के साथ-साथ सघर्षों के कारणों को दूर करने के और सीमा सघर्षों के कारण को मिटाने के तथा सीमा विवादो को हल करने के लिये बल-प्रयोग न करने की प्रभावशाली अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की जाय। श्री ख्रुश्चेव ने सुझाया कि एक ऐसी सन्धि की जानी चाहिये जिसके अन्तर्गत सीमा सघर्षों के समाधान के लिए बल-प्रयोग करना वर्जित कर दिया जाय।

मार्च, 1964 मे जेनेवा मे निःशस्त्रीकरण सम्मेलन पुनः आरम्भ हुआ। जिसमे अमेरिका और रूस की तरफ से प्रस्ताव प्रति-प्रस्ताव प्रस्तुत किये गये। किन्तु

इन प्रयत्नों का कोई मधुर फल नहीं निकला। सितम्बर में निःशस्त्रीकरण सम्मेलन कुछ काल के लिए स्थगित कर दिया गया और इसी के कुछ दिनों बाद 5 अक्टूबर 1964 को काहिरा में तटस्थ राष्ट्रों का एक सम्मेलन हुआ। इसमें भारतीय प्रधानमन्त्री स्वर्गीय श्री लालबहादुर शास्त्री और मिस्र के राष्ट्रपति कर्नल नासिर ने संयुक्त विज्ञप्ति में पूर्ण निःशस्त्रीकरण पर बल दिया।

कुछ ही दिनों बाद चीन ने अपने प्रथम अणुबम का परीक्षण कर लिया। 1963 के जेनेवा समझौते का यह प्रथम उल्लंघन था। सारे संसार में इसकी बड़ी आलोचना हुई। 29 नवम्बर, 1964 को संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा ने एक प्रस्ताव पास करके निःशस्त्रीकरण आयोग से आग्रह किया कि परमाणुविक आयुधों के सम्बन्ध में शीघ्रतापूर्वक किसी प्रकार का समझौता अवश्य होना चाहिए।

27 जुलाई, 1965 को जेनेवा में निःशस्त्रीकरण के आयोग की बैठक फिर बुलाई गई। सम्मेलन के प्रारम्भ होने के समय ही रूसी और अमेरिकन मतभेद तेजी से उभर आये। दोनों पक्षों के प्रतिनिधियों ने ऐसे-ऐसे भाषण दिये कि सम्मेलन के भाग्य का फैसला हो गया। यद्यपि दोनों ही पक्षों में आणविक आयुधों की भयानकता के सम्बन्ध में कोई मतभेद न था; लेकिन इन आयुधों को नियन्त्रित करने के तरीकों के बीच स्पष्टतः तीव्र मौलिक मतभेद थे।

तटस्थ राष्ट्रों के प्रयत्नों से 17 राष्ट्रों का (भारत सहित) निःशस्त्रीकरण सम्मेलन पुनः जेनेवा में प्रारम्भ हुआ जो जनवरी 1966 से अगस्त तक पूरे 7 महीने चलता रहा। सम्मेलन में दोनों ही शक्तियाँ अपनी हठवादी प्रवृत्ति का प्रदर्शन करती रहीं जिसका स्वाभाविक परिणाम यह निकला कि यह सम्मेलन भी बिना किसी प्रकार महत्वपूर्ण निर्णय के ही समाप्त हो गया।

1968 की परमाणु अस्त्र विरोधी संधि (The Non-Proliferation Treaty, 1968)—*निःशस्त्रीकरण की दिशा में तथा परमाणु अस्त्रों पर रोक लगाने* के लिए प्रयासों का क्रम चलता रहा और 1968 में जेनेवा में पुनः अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ। यह सम्मेलन भी लगभग ऊबते ऊबाते सा चला ही था कि अगस्त के अन्तिम सप्ताह में अमेरिकन और रूसी प्रतिनिधियों ने यह घोषणा की कि परमाणु-अस्त्र-सन्धि के मसविदे के बारे में दोनों महाशक्तियों में मोटे तौर पर एक समझौता हो गया है।

इस प्रस्तावित सन्धि अथवा समझौते का मसविदा बड़ा लम्बा चौड़ा था यद्यपि साराशतः उसकी मूल बातें निम्नानुसार थीं—

मसविदे के पहले अनुच्छेद में यह कहा गया है कि परमाणु-अस्त्र सम्पन्न राष्ट्र परमाणु-अस्त्र-विहीन राष्ट्रों को परमाणु अस्त्र प्राप्त करने में किसी प्रकार की सहायता नहीं देंगे।

दूसरे अनुच्छेद में कहा गया था कि हस्ताक्षर करने वाले परमाणु अस्त्रविहीन राष्ट्र परमाणु अस्त्र बनाने की कोई कोशिश नहीं करेंगे।

तीसरा अनुच्छेद परमाणु अस्त्रों के परीक्षण पर रोक लगाने की अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के सम्बन्ध में था। इस अनुच्छेद में कुल एक पंक्ति है। अभी इस विषय में कोई समझौता नहीं हो सकता है।

चौथा अनुच्छेद उन राष्ट्रों को आश्वस्त करने के लिए रखा गया है जिन्होंने अपने यहाँ आणविक उद्योग का काफी विकास कर लिया है। इसमें कहा गया है कि हस्ताक्षर करने वाले राष्ट्रों को असैनिक कार्यों के लिए परमाणु शक्ति का विकास करने में पूरी छूट रहेगी।

पाचवें, छठे और सातवें अनुच्छेद कार्यविधि-सम्बन्धी व्यवस्थाएं थीं—लेकिन संधि में कहीं भी यह नहीं बताया गया कि अगर किसी परमाणु अस्त्र-विहीन राष्ट्र पर कोई परमाणु अस्त्रधारी राष्ट्र हमला करता है तो हस्ताक्षर करने वाले देश उसके बचाव की क्या-व्यवस्था करेंगे? तीसरे अनुच्छेद के बारे में कोई समझौता न हो सकने के कारण फिलहाल किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की परिकल्पना भी नहीं हो सकी है जो किसी परमाणु अस्त्रविहीन राष्ट्र को परमाणु-अस्त्र बनाने से रोक सके, जो विभिन्न देशों के परमाणु-शक्ति के विकास के कार्यक्रमों का निरीक्षण और नियन्त्रण करके यह गारन्टी दे सके कि असैनिक उपयोग के नाम पर जो कुछ हो रहा है वह सैनिक उपयोग में नहीं आयेगा और जो हस्ताक्षर करने वाले परमाणु शक्ति-विहीन राष्ट्रों को शान्तिपूर्ण उपयोगों के लिए परमाणु शक्ति सम्पन्न राष्ट्रों से परमाणु शक्ति के बारे में आवश्यक जानकारी और सामग्री दिला सके।

स्पष्ट है कि उपर्युक्त व्यवस्थाओं के अभाव में प्रस्तावित संधि का कोई महत्व नहीं रह गया और इसीलिए परमाणु अस्त्र-विहीन राष्ट्रों ने मसविदे की जमकर आलोचना की। फ्रांस, पश्चिमी जर्मनी, इटली और भारत ने सन्धि पर बहुत अधिक आपत्ति की। पश्चिमी जर्मनी, इटली और ब्रिटेन ने यह महसूस किया कि परमाणु शस्त्र-सम्पन्न सोवियत संघ, फ्रांस और ब्रिटेन के सामने वे यूरोप में बौने होकर रह जायेंगे। भारत को परमाणु-अस्त्र-सम्पन्न चीन से जबरदस्त खतरा है और प्रस्तावित सन्धि इस खतरे को दूर नहीं कर सकती।

अनेक राष्ट्रों द्वारा विभिन्न आपत्तियों के बावजूद भी 24 अप्रैल, 1968 को संयुक्त राष्ट्रसंघ महासभा के विशेष अधिवेशन में इस प्रस्तावित सन्धि पर विचार प्रारम्भ हुआ और राजनीति समिति में काफी विचार-विमर्श होने के उपरान्त 13 जून, 1968 को महासभा ने प्रबल सहमति से सन्धि पर अपनी स्वीकृति दे दी। विपक्ष में फ्रांस ने मतदान में भाग नहीं लिया और भारत भी मतदान में भाग लेने वाले 21 सदस्यों में से एक था। साम्यवादी चीन भी इस सन्धि से बाध्य नहीं होगा। अल्बानिया ने, जो साम्यवादी चीन का समर्थक है, सन्धि के विरोध में वोट दिया। क्यूबा, रूमानिया और जाम्बिया के भी विपक्ष में वोट पड़े।

जो भी हो यह नि:संदिग्ध है कि नि:शस्त्रीकरण की दिशा में यह परमाणविक आयुध प्रसार प्रतिबन्ध सन्धि अगस्त, 1963 की परमाणविक प्रतिबन्ध सन्धि के बाद एक दूसरा ऐतिहासिक कदम था जिससे पूर्वापेक्षा नि:शस्त्रीकरण के अन्य पहलुओं के समाधान की सम्भावना अब अधिक बढ़ गई है। यह सन्धि इस दृष्टिकोण को बल

प्रदान करती है कि यदि महाशक्तियां परस्पर मिलजुल कर प्रयास करें तो संसार की सभी समस्यायें सुगमतापूर्वक सुलझ सकती हैं। वैसे यह सन्धि कुछ दृष्टियों से बड़ी दोषपूर्ण है। इसकी सबसे बड़ी कमी यह है कि एक ओर तो यह प्रतिबन्ध थोपा गया है कि जो राष्ट्र अब तक परमाणु बम नहीं बना पाये हैं वे भविष्य में भी इस ओर कदम नहीं बढ़ायेंगे और दूसरी ओर उन्हें परमाणु आक्रमण से बचने के लिये यह आश्वासन दिया गया है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के माध्यम से उनको अणु-आयुधों से सहायता की जायेगी और यह सहायता देने का निर्णय सुरक्षा परिषद् करेगी। स्पष्ट है कि सुरक्षा-परिषद् महाशक्तियों के हाथ का खिलौना है फिर इस आश्वासन का तब कोई महत्व नहीं रह जाता है जब सुरक्षा परिषद् के किसी भी स्थायी सदस्य को किसी भी प्रस्ताव को वीटो करने का अधिकार है। इसके अतिरिक्त संयुक्त राष्ट्रसंघ ने 'आक्रमण' शब्द की व्याख्या नहीं की है। अतः यह भ्रम बने रहने की सम्भावना है कि परिषद् किस हालत में किसको आक्रमणकारी समझेगी।

निःशस्त्रीकरण की समस्यायें
(Problems of Disarmament)

निःशस्त्रीकरण के इतिहास में इन पृष्ठों को पलटने से यह ज्ञात हो जाता है कि इनमें से बहुत थोड़े से सफल हो सके थे तथा अधिकांश को असफल होना पड़ा। इस निरन्तर असफलता के पीछे अनेक ऐसी समस्यायें हैं जो किसी भी समझौते को सर्वमान्य नहीं बनने देती। मार्गेन्थो (Morgenthau) महोदय ने निःशस्त्रीकरण की चार समस्याओं का वर्णन किया है।[1] वे निम्न प्रकार हैं—

(1) विभिन्न राष्ट्रों के शस्त्रों के बीच परिमाण सम्बन्ध (Ratio) कितना रहेगा?

(2) वह मापदण्ड क्या है जिसके अनुसार इस परिमाण सम्बन्ध के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार एवं गुणों के शस्त्र विभिन्न देशों के लिए निर्धारित किये जायेंगे?

(3) जब उक्त दो प्रश्नों का जवाब दे दिया जाता है तो देखना यह है कि इन दो उत्तरों का हथियारों की सोची गई कमी पर वास्तविक प्रभाव क्या पड़ेगा?

(4) निःशस्त्रीकरण का अन्तर्राष्ट्रीय शांति और व्यवस्था के विषयों पर क्या प्रभाव पड़ेगा?

मार्गेन्थो का कहना है कि निःशस्त्रीकरण के किसी भी प्रयास की सफलता जानने के लिए हमें इन चार प्रश्नों पर ही उसको कसना चाहिए। इन प्रश्नों के जैसे उत्तर दिये जायेंगे उनसे यह जाना जा सकता है कि उनमें सफलता एवं असफलता की मात्रा कितनी कितनी थी।

निःशस्त्रीकरण के मार्ग की कठिनाइयां
(The Difficulties in the way of Disarmament)

निःशस्त्रीकरण सफल होने के मार्ग में अनेक कठिनाइयां हैं जिनमें से मुख्य मुख्य निम्नलिखित हैं—

---

1. *Morgenthau* : Politics Among Nations, p p. 371–72.

(1) अणु-शक्ति सम्पन्न राष्ट्रों के बीच के सम्बन्धों का निर्धारण अनेक आन्तरिक एवं बाह्य तत्वों से प्रभावित होता है। एक देश पहले अपने राष्ट्रीय-पन की ओर दृष्टि डालता है तथा बाद में वह अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति व हित को देखता है। इसी आधार पर फ्रांस ने परीक्षण प्रतिरोध सन्धि का समर्थन न किया। दो या अधिक राष्ट्रों के बीच के सम्बन्ध आज इतने अस्थिर हैं कि कल का मित्र आज का दुश्मन बन जाता है। इन परिस्थितियों में अणु-आयुधों के रहने से आक्रमणकारी पर प्रतिबन्ध लग जाता है और वह तुरन्त युद्ध छेड़ने का साहस नहीं कर पाता क्योंकि दूसरे देश की शक्ति उसका भी विनाश कर सकती है। अस्थिर सम्बन्धों का भय तथा इसमें निहित खतरे और सामान्य की भावनायें शस्त्रों को सीमित करने के मार्ग में बाधक बन जाती हैं। आजकल सैनिक तकनीकी का इतना विकास हो चुका है कि नि:शस्त्रीकरण का नाम लेकर किसी को भी आप धोखा दे सकते हैं। शक्तिशाली शस्त्रों को छुपाकर, ऊपरी सेना घटाकर नि:शस्त्रीकरण का दिखावा किया जा सकता है। जब तक यह भय दोनों पक्षों के मन में रहेगा तब तक नि:शस्त्रीकरण का भविष्य उज्ज्वल नहीं है।

(2) राष्ट्रवाद एवं सम्प्रभुता की भावना के कारण एक देश यह स्वीकार नहीं करता कि उसकी नि:शस्त्रीकरण की क्रियान्विति की जाँच के लिए कोई अन्तर्राष्ट्रीय संस्था बनाई जाये। इस प्रकार के निरीक्षण द्वारा एक देश की स्वतन्त्रता पर जो अंकुश लगता है उसे स्वीकार करने को कोई तैयार नहीं होता। यही कारण है कि नि:शस्त्रीकरण योजना की सफलता से पूर्व विश्व सरकार की स्थापना का समर्थन किया जाता है।

(3) नि:शस्त्रीकरण के कारण एक देश की अर्थ-व्यवस्था पर भारी प्रभाव पड़ता है। शस्त्रों के निर्माण पर व्यय होने वाली भारी राशि का शस्त्र निर्माण बन्द कर देने पर रचनात्मक कार्यों में कैसे उपयोग किया जायगा, उससे अर्थ-व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जायगी आदि भय रहते हैं तथा यह आशा भी रहती है कि इसे अर्द्ध-विकसित देशों के विकास के लिए प्रयोग में लाया जा सकता है। यह भी सम्भव है कि नि:शस्त्रीकरण के आर्थिक परिणामों का भय एवं आशा अवास्तविक है। इस आशा एवं भय का पश्चिमी सम्पन्न समाज पर क्या असर होता है यह भी अनुमान का विषय है।

(4) नि:शस्त्रीकरण करते समय देशों के शस्त्रों का जो अनुपात निर्धारित किया जाता है उसके कारण देशों के बीच मन-मुटाव व अविश्वास की भावना पैदा होती है। शस्त्रों की सीमा निर्धारण के समय प्रत्येक देश को दूसरे देश के प्रति यह शंका रहती है कि शायद वह अपनी शक्ति को बढ़ाने तथा विरोधी पक्ष की शक्ति घटाने का प्रयत्न कर रहा है। प्रत्येक देश उस शक्ति को कम करना चाहता है जो उसके लिए घातक है। 1946 में अणु-शस्त्रों को मिटाने के लिए रूस एवं अमेरिका दोनों ही देशों द्वारा दिए गए प्रस्ताव एक पक्षीय थे। तकनीकी रूप से यह बड़ा

कठिन काम है कि एक देश की सैनिक आवश्यकता को देखा जाय तथा उसी अनुपात मे उसकी सैनिक शक्ति को घटाया जाय । जान फोस्टर डलेस के मतानुसार इसी समस्या के कारण आज तक अमेरिका द्वारा निःशस्त्रीकरण की योजनाओं का समर्थन सच्चे दिल से न किया जा सका । इस समस्या के दो सुझाव प्रस्तुत किये जाते हैं—(i) पूर्ण रूप से नि शस्त्रीकरण कर दिया जाये, (ii) अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस शक्ति द्वारा देशों को सामूहिक सुरक्षा की गारण्टी दी जाए । किन्तु ये सुझाव भी तब तक सफल नहीं हो सकते जब तक कि पहले शस्त्रो को कम न किया जाये इसलिए अनुपात की समस्या मूल है ।

(5) यह कहा जाता है कि अविश्वासपूर्ण वातावरण मे निःशस्त्रीकरण और शस्त्रो का नियन्त्रण तथा अन्य राजनैतिक समस्याओं का समाधान सम्भव नहीं है । यदि देशो के बीच विश्वास रहे तो शस्त्रो की आवश्यकता ही न रहे और नि शस्त्रीकरण की समस्या भी पैदा न हो । किन्तु पूर्ण अविश्वास का रहना भी अराजकता एव पूर्ण तानाशाही मे से एक को स्थापित कर देगा । यह आशा की जाती है कि नि.शस्त्रीकरण की समस्या के सुलझने के बाद दोनो गुटो मे विश्वास की भावना आ सकती है । अविश्वास के कारण कोई समझौता नहीं हो पाता, होता भी है तो सच्चे रूप से क्रियान्वित नहीं हो पाता ।

(6) समस्या यह उठ खडी होती है कि पहले राजनैतिक समस्याओं को हल किया जाये या निःशस्त्रीकरण किया जाये । ये दोनो एक दूसरे के मार्ग मे बाधा डालते हैं और एक के हल हो जाने पर दूसरे का हल हो जाना सुगम है । यह सोचा जाता है कि शस्त्र झगडो का कारण है और इनको घटाने से अन्तर्राष्ट्रीय प्रेम और मैत्री बढेगी । किन्तु यह प्रयास एक पक्षीय होगा । होना यह चाहिए कि मनमुटाव, अविश्वास एव प्रतिद्विन्दिता को दूर करने के लिए हर दिशा मे प्रयास करना चाहिए । मडारियागा के शब्दो मे निःशस्त्रीकरण की समस्या का समाधान इस समस्या में ही नहीं खोजा जा सकता किन्तु इसके बाहर ही खोजा जा सकता है । "असल में नि.शस्त्रीकरण की समस्या निःशस्त्रीकरण की समस्या नहीं है, यह वास्तव मे विश्व समुदाय के संगठन की समस्या है ।[1]

---

1. *Madariaga*, Disarmament, p. 56.

13

सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था, प्रदेशवाद और प्रकार्यवाद के क्षेत्र में संयुक्त राष्ट्रसंघ

(The United Nations in the Sphere of Peace and Security—the Collective Security System, Regionalism and Functionalism)



"सामूहिक सुरक्षा की एक सफल व्यवस्था के लिए राष्ट्रीय स्वतन्त्रता या राष्ट्रीय-व्यक्तित्व का सम्पूर्णतः अन्त करना अनिवार्य नहीं होता, तथापि उसके लिए यह आवश्यक है कि राष्ट्रों की निजी इच्छायें सामूहिक-निश्चयों के सामने आत्म-समर्पण करें, तथा सामूहिक सुरक्षा के प्रभावशाली होने के लिए यह वांछनीय है कि सैनिक शक्तियों और महत्वपूर्ण शस्त्रास्त्र पर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण लगाया जाय। परन्तु यह तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि राष्ट्रीय प्रभुता पर कठोर नियन्त्रण न लगाया जाय।"

—प्रो० फ्रीडमेन

अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति को मर्यादित करने का सम्भवतः सर्वाधिक प्रभावशाली साधन सामूहिक सुरक्षा है जिसमें विभिन्न राष्ट्र सामूहिक रूप से संयुक्त होकर किसी सम्भावित आक्रमण का विरोध करने के लिए कृत-संकल्प हो जाते हैं। शक्ति-सन्तुलन की व्यवस्था में जो सन्धियां की जाती हैं उनका लक्ष्य एक अथवा कुछ देशों के गुट का विरोध करना, उन पर आक्रमण करना या उनके आक्रमण से अपनी रक्षा करना होता है लेकिन सामूहिक-सुरक्षा व्यवस्था में विरोधी अस्पष्ट और सम्भावित होता है तथा सन्धि में यह व्यवस्था की जाती है कि किसी भी एक इकाई पर आने वाला संकट या आक्रमण सन्धिबद्ध सभी इकाइयों के विरुद्ध *आक्रमण* समझा जायेगा और सामूहिक रूप से ही उसका विरोध किया जायेगा। सामूहिक सुरक्षा की इस व्यवस्था को अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और संरक्षण का अभिवर्धक माना जाता है। इनिसक्लाडे ने लिखा है कि यदि केन्द्रीकरण की दृष्टि से देखा जाय तो

उं पायेंगे कि सामूहिक सुरक्षा मध्यवर्ती अथवा बीच की व्यवस्था है जिसमें शक्ति-सन्तुलन से अधिक केन्द्रीकृत प्रबन्ध होता है किन्तु विश्व सरकार की मान्यता से यह कम रहता है।[1]

सामूहिक सुरक्षा का अर्थ एवं आधारभूत मान्यतायें
(The Meaning and Fundamental Assumptions of Collective Security)

सामूहिक सुरक्षा, जैसा कि नाम से ही प्रकट है, विवाद देशो द्वारा सुरक्षा के लिए किये गये सामूहिक प्रयत्नो से सम्बन्धित है। प्रत्येक राष्ट्र अपने सुरक्षा प्रयत्नो मे सचेत रहता है, किन्तु यदि उस पर सकट आता है अथवा आक्रमण किया जाता है तो सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था से बन्धे सभी राष्ट्र उसकी सुरक्षा के लिए सामूहिक रूप से सगठित हो जाते हैं।

सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था को जॉन स्वजेंन बर्गर (John Schwazen Berger) ने एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के विरुद्ध आक्रमण को रोकने अथवा उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया करने के लिए किये गये सयुक्त कार्यों की मशीनरी कहा है। साम्राज्यवादी तथा युद्ध-प्रिय देश विश्व-शान्ति को चुनौती देते रहे हैं। सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था का लक्ष्य है कि इस प्रकार की चुनौतियों का सक्षम मुकाबला सामूहिक रूप से किया जाय। मार्गेन्थो के अनुसार सामूहिक सुरक्षा की कार्यकारी व्यवस्था मे सुरक्षा की समस्या किसी अकेले राष्ट्र की समस्या नही होती वरन् उन सभी राष्ट्रो की समस्या होती है जो इस व्यवस्था के अन्तर्गत आपस में बन्धे होते हैं। "एक सबके लिए और सब एक के लिए" (One for all and all for one)—यह सामूहिक सुरक्षा का नारा है।[2] कुछ अशो मे यह व्यवस्था शक्ति-सन्तुलन का विस्तृत रूप कहा जा सकता है, लेकिन दोनो मे आधारभूत अन्तर निश्चित रूप से है।

युद्ध को रोकने तथा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की अभिवृद्धि करने के प्रभावकारी साधन के रूप मे सामूहिक सुरक्षा का विचार कुछ आधारभूत मान्यताओं पर आधित है—

प्रथम, सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था इस रूप मे पर्याप्त शक्ति-सम्पन्न हो कि वह आक्रमणकारी राज्य का मुकाबला कर सके। यह व्यवस्था प्रत्येक अवसर पर इतनी जबरदस्त शक्ति-सचय करने की स्थिति मे हो कि आक्रामक राष्ट्र आक्रमण करने का दुस्साहस न करे।

द्वितीय, सामूहिक रूप से आक्रमण का मुकाबला करने को सहमत राष्ट्रों की सुरक्षा सम्बन्धी मान्यताओं और नीतियों मे यथासम्भव समानता हो।

तृतीय, ऐसे सभी राष्ट्र अपने परस्पर-विरोधी राजनीतिक हितों (Conflicting political interests) को सामूहिक सुरक्षात्मक कार्यवाही के हितार्थ बलिदान करने को तत्पर रहें।

1. *Inis L. Claude* : Power and International Relations, p. 94.
2. *Morgenthau* : Politics among Nations, p. p. 412-413.

चतुर्थ, सभी सम्बन्धित राष्ट्र यथास्थिति को बनाये रखना अपने राष्ट्रीय हित में समझें।

सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था इस धारणा पर आधारित है कि शक्तियुक्त एकता का विरोध करने से पूर्व कोई भी आक्रमणकारी राज्य भली प्रकार सोच-विचार कर लेंगे। इस व्यवस्था में प्रत्येक देश को अपनी सम्प्रभुता को कुछ मर्यादित करना पड़ता है। व्यक्तिगत राष्ट्रीय सकल्प (National Will) का सामूहिक निर्णय के लिए समर्पण कर दिया जाता है। सफल सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था में सैन्य एवं शस्त्रबल पर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण रखना आवश्यक होता है। इस व्यवस्था का लक्ष्य केवल सामान्य शत्रु अथवा आक्रमण को चुनौती का सामना करना ही नहीं होता बल्कि इसमें भी आगे यह इकाइयों के विकास को बाधायी पद्य द्वारा भी प्रभावित करती है। सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था में सभी अथवा अधिक से अधिक संख्या में बड़ी शक्तियों को सम्मिलित करना होता है क्योंकि किसी भी विरुद्ध सकट का सामना करने की शक्ति उनमें ही होती है। सामूहिक सुरक्षा सिद्धान्त की पृष्ठभूमि में ये पूर्व-धारणायें विद्यमान रहती हैं कि युद्ध की सम्भावनाएं सदा विद्यमान रहेंगी तथा आक्रामक शक्तियों को युद्ध करने से तभी रोका जा सकता है जब उनके लिए जबरदस्त शक्ति और विरोध का भय पैदा कर दिया जाय। इस प्रकार "युद्ध" और निवारण के रूप में "शक्ति"—ये दोनों तत्व अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की वास्तविकता के रूप में स्वीकार किये गये हैं।

सामूहिक सुरक्षा के विचार का विकास
(Development of the Collective Security Idea)

सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में लोकप्रिय बनाने का श्रेय भूतपूर्व अमेरिकन राष्ट्रपति वुड्रोविल्सन को दिया जाता है, यद्यपि इस विचार का आरम्भ 17वीं शताब्दी की ओस्नेब्रूक (Osnabruck) की सन्धि से माना जाता है। इस सन्धि की 17वीं धारा में किसी भी सम्भावित शत्रु के विरुद्ध सामूहिक कदम की बात कही गई थी। 19वीं शताब्दी में विलियम पेन तथा विलियम्पिट ने यूरोप में शान्ति और सुव्यवस्था बनाये रखने के लिए सामूहिक सुरक्षा जैसी व्यवस्था का विचार प्रकाशित किया। विलियम्पिट ने यूरोपीय महाशक्तियों को सुझाव दिया कि वे भविष्य में शान्ति एवं व्यवस्था को समाप्त करने वाले किसी भी आक्रमण का सामूहिक रूप से विरोध करने की एक प्रभावी योजना बनालें।

सामूहिक सुरक्षा पद्धति का वास्तविक रूप 20वीं शताब्दी में प्रकट हुआ। 1910 में तत्कालीन अमेरिकन राष्ट्रपति थियोडोर रूजवेल्ट ने कहा कि शान्ति-प्रिय महाशक्तियां एक शान्ति संघ (League of Peace) का निर्माण करें ताकि न केवल उनके बीच शान्ति रहे वरन् किसी दूसरे राष्ट्र द्वारा भी यदि शान्ति भंग की कार्यवाही हो तो समुचित शक्ति द्वारा उसे रोका जा सके। 1910 में ही एक अन्य विचारक वान वुलेनहोवन (Von Wollenhoven) ने भी इसी प्रकार की एक

अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का सुझाव दिया जिसका अमेरिकन कांग्रेस द्वारा समर्थन किया गया।

सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था के अभियान को विशेष लोकप्रिय बनाने मे प्रथम महायुद्ध काल के दौरान राष्ट्रपति विल्सन की भूमिका महत्वपूर्ण रही। दिसम्बर, 1916 मे राष्ट्रपति विल्सन ने सम्पूर्ण विश्व मे शान्ति एव न्याय की सुरक्षा के लिए एक *अन्तर्राष्ट्रीय सघ की स्थापना का सुझाव* रखा और 22 जनवरी, 1917 को अमेरिकन सीनेट के समक्ष 'शान्ति के लिए विश्व सघ' (World League for Peace) के बारे मे विचार प्रकट करते हुए कहा कि "आज के बाद ससार मे शान्ति स्थापित करना तभी सम्भव है जब हम एक नयी और ठोस कूटनीति को अपनायें और विश्व के सभी बडे राष्ट्र किसी भी आपसी समझौते को मानलें। शान्ति स्थापित करने के मूलभूत आधारो के विरुद्ध जब कोई गुट युद्ध द्वारा कार्यवाही करने लग तो उस पर तुरन्त सामूहिक कार्यवाही की जा सके।"

राष्ट्रपति विल्सन ने शान्ति स्थापना के लिए "सामूहिक व्यवस्था" की जबरदस्त वकालत की और विशेषत: उन्ही के प्रयत्नो से पहली बार अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सगठित रूप मे सामूहिक सुरक्षा को व्यावहारिक रूप देने का प्रयास राष्ट्रसघ की स्थापना के साथ किया गया। वैसे भी, सामूहिक सुरक्षा को साकार बनाने के लिए युद्ध निर्णय लिये जाने से पूर्व ही सामूहिक सुरक्षा का विचार विभिन्न स्रोतों से अन्तर्राष्ट्रीय जगत का एक प्रमुख सिद्धान्त बन चुका था। राष्ट्रसघ के निर्माण के लिए पैरिस मे जो शान्ति-समझौता हुआ उसमे सामूहिक सुरक्षा के विचार को मान्यता दी गई तथा इसे राष्ट्रसघ का आधार मान लिया गया। राष्ट्रसघ आयोग की पाचवी बैठक मे सघ के सविदा अथवा विधान के 16वे अनुच्छेद को, जो सामूहिक सुरक्षा से सम्बन्धित था, *बिना किसी वाद-विवाद के स्वीकार कर लिया गया।* 16वे अनुच्छेद द्वारा एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय पद्धति को मान्यता मिली जिसमे राष्ट्र सामूहिक रूप से सगठित होकर शान्ति बनाये रखन का प्रयत्न करें। सविदा की अवहेलना करके युद्ध छेडने वाले राष्ट्र के लिए अनुच्छेद 16 मे स्पष्टत: यह व्यवस्था की गई कि राष्ट्रसघ अन्य सदस्य राष्ट्रो को आक्रान्ता देश के साथ सभी प्रकार के आर्थिक और वैयक्तिक सम्बन्ध तोडने के लिए बाध्य कर सकता था। यह भी व्यवस्था थी कि परिषद् सघ के सदस्यो से यह सिफारिश करे कि वे सविदा की व्यवस्था बनाये रखने हेतु प्रभावकारी सैनिक, नौ-सैनिक और वायु-शक्ति का प्रयोग करें। वस्तुत: राष्ट्रसघ के रूप मे पहली बार सामूहिक सुरक्षा पद्धति ने एक सगठनात्मक रूप धारण किया और इसीलिए राष्ट्रसघ को *बहुधा सामूहिक सुरक्षा सिद्धान्त का "सस्थात्मक अभिव्यक्तिकरण" भी कह दिया जाता है।*

दुर्भाग्यवश राष्ट्रसघ की सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था विभिन्न कारणो वश असफल सिद्ध हुई। तथापि सामूहिक सुरक्षा का विचार द्वितीय महायुद्ध काल मे ही और भी सजीव हो गया तथा नवीन विश्व-संस्था अर्थात् सयुक्त राष्ट्रसघ मे

राजनीतिज्ञों और विश्व-नेताओं ने और भी मजबूती के साथ सामूहिक सुरक्षा को प्रतिष्ठित किया। चार्टर के अध्याय 7 तथा महासभा के "शान्ति के लिए एकता" प्रस्ताव द्वारा सामूहिक सुरक्षा-पद्धति का विकास किया गया। वर्तमान विश्व-संस्था के अन्तर्गत सामूहिक सुरक्षा पद्धति निश्चित रूप से राष्ट्रसंघ की तुलना में श्रेष्ठतर व्यवस्था है।

सामूहिक सुरक्षा और राष्ट्रसंघ
(Collective Security and the League of Nations)

राष्ट्रसंघ का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बनाये रखना तथा अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शान्तिपूर्ण ढंग से समाधान करना था। इसका स्पष्ट अभिप्राय विश्व को किसी भी भावी विनाश से बचाने का था। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए संघ के संविदा (Covenant) में अनेक व्यवस्थायें की गई थीं जिनमें सामूहिक सुरक्षा (Collective Security) प्रमुख थी। संघ के सदस्यों को कुछ ऐसी कानूनी बाध्यताओं तथा ऐसे उत्तरदायित्वों को स्वीकार करने के लिए कहा गया था जिनमें उनके युद्ध प्रारम्भ करने की शक्ति एक बड़ी सीमा तक मर्यादित हो जाती थी।

संविदा के अनुच्छेद 10 में व्यवस्था थी कि "संघ के सदस्य उसके सभी सदस्यों की प्रादेशिक एकता और राजनीतिक स्वतन्त्रता का सम्मान करने तथा उन्हें बाह्य आक्रमण के विरुद्ध सुरक्षित रखने का वचन देते हैं। इस प्रकार के किसी आक्रमण के होने अथवा इस प्रकार के आक्रमण की धमकी अथवा भय उत्पन्न होने की अवस्था में परिषद् उन साधनों के बारे में परामर्श देगी जिनसे इस उत्तरदायित्व को पूरा किया जा सके।" राष्ट्रसंघ का, इस अनुच्छेद में प्रख्यापित, यही प्रसिद्ध "सामूहिक सुरक्षा" का सिद्धान्त था। अनुच्छेद 1 के अन्तर्गत सदस्य राष्ट्र आवश्यकता पड़ने पर सामूहिक सुरक्षा के लिए उपयुक्त कदम उठाने को वचनबद्ध थे। यह अलग बात है कि यथार्थ में इस अनुच्छेद को कभी क्रियान्वित नहीं किया गया।

वस्तुतः अनेक संगठनात्मक और व्यावहारिक कारणों से राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था सफलतापूर्वक कार्य नहीं कर सकी। कुछ प्रमुख कारण निम्नवत् थे—

1. राष्ट्रसंघ के निर्माताओं की धारणा थी कि वे राष्ट्रों के आक्रमण के विरुद्ध कुछ राष्ट्रों का एक संगठन नहीं बना रहे हैं अपितु सामान्य हित की दृष्टि से यथासमय विश्व के सभी देशों का एक संघ बना रहे हैं। स्पष्ट है कि इस धारणा में सामूहिक सुरक्षा की दृष्टि से पर्याप्त दुर्बलता अन्तर्निहित थी।

2. संयुक्त राज्य अमेरिका जैसी महाशक्ति ने राष्ट्रसंघ की सदस्यता स्वीकार नहीं की और सोवियत रूस भी बहुत कुछ इसके बाहर ही रहा। कुछ और भी बड़े राष्ट्रों ने संघ की सदस्यता का जल्दी या देर से परित्याग कर दिया। इन परिस्थितियों

में राष्ट्रसंघ के लिए यह कठिन हो गया कि वह सामूहिक सुरक्षा के क्षेत्र में प्रभावकारी कदम उठा सके।

3. राष्ट्रसंघ के प्रति महान् राष्ट्रों के दृष्टिकोणों में प्रारम्भ में इतना मतभेद रहा कि सामूहिक सुरक्षा की पद्धति किसी भी रूप में कभी भी प्रभावशाली नहीं बन सकी। फ्रांस के लिए राष्ट्रसंघ तभी स्वागत योग्य था जबकि वह सामूहिक सुरक्षा द्वारा राष्ट्रीय सुरक्षा की एक महत्वपूर्ण प्रत्याभूति (Guarantee) सिद्ध हो। इसीलिए उसने संघ की सुरक्षा-व्यवस्था का उत्साहपूर्ण समर्थन किया। उसने अन्य उपायों से भी अपने सुरक्षा-साधनों को मजबूत बनाने के प्रयास किये। लेकिन ब्रिटेन ने राष्ट्रसंघ की सुरक्षा-व्यवस्था में कोई विशेष दिलचस्पी नहीं दिखाई। वह राष्ट्रसंघ को अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के समाधान, आर्थिक पुनर्निर्माण, सामाजिक सहयोग और अन्तर्राष्ट्रीय सन्तुलन बनाये रखने का एक उपयोगी साधन मानता था, किन्तु वह यह नहीं चाहता था कि संघ की सुरक्षा-व्यवस्थाओं को और अधिक शक्तिशाली बनाया जाय। वह उन राज्यों की सुरक्षा के झंझट में पड़ने के प्रति उदासीन था जिनमें उसकी कोई रुचि नहीं थी। उसकी दिलचस्पी इस बात में थी कि वह राष्ट्रसंघ को अपनी विदेश-नीति का एक मोहरा बनाये। रूस, जो बहुत बाद में संघ का सदस्य बना, सामूहिक सुरक्षा के लिए नहीं बल्कि फासीवाद के प्रसार के विरुद्ध सुरक्षा के लिए चिन्तित था।

4. संविदा के अनुसार सैनिक कार्यवाही के लिए परिषद् की निर्विरोधी सिफारिश आवश्यक थी। पर ऐसी सिफारिश की आशा कम ही की जा सकती थी।

उपर्युक्त सभी कारणों का यह संयुक्त प्रभाव रहा कि राष्ट्रसंघ की सामूहिक सुरक्षा-पद्धति पूरी तरह निष्प्रभावी रही। यद्यपि प्रारम्भिक वर्षों में उसे कुछ अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने में सहायता मिली, तथापि महत्वपूर्ण समस्याओं पर विचार करते समय महाशक्तियों ने इस पर प्रहार किये और संघ की सुरक्षा-पद्धति उन प्रहारों को झेल न सकी। मार्गेन्थो के शब्दों में "जहां तक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के निर्माण और शान्ति की रक्षा तथा उसे कायम रखने का प्रश्न है, संघ को केवल किसी-किसी अवसर पर ही सफलता प्राप्त हो सकी—वह भी ऐसे अवसरों पर जहां कि इसके सदस्य बड़ी शक्तियों के हित परस्पर टकराते नहीं थे अथवा इसके प्रभावशील सदस्यों में से अधिकांश के हित भंग नहीं होते थे।"

राष्ट्रसंघ के सम्मुख कोर्फू (Corfu, 1923) का ऐसा प्रथम विवाद आया जिसमें एक बड़ी शक्ति सलग्न थी और जिसने संघ की वास्तविक कमजोरी को स्पष्ट कर दिया। यह विवाद इटली और यूनान के मध्य था। 1923 में जब इटली ने यूनान के कोर्फू टापू पर बमवर्षा करके कब्जा जमा लिया तो यूनान ने राष्ट्रसंघ के संविदा के अनुच्छेद 16 के अन्तर्गत इटली के विरुद्ध अपील की। इटली ने तर्क दिया कि उसने कोई आक्रमणकारी कार्य नहीं किया है, अतः उस पर अनुच्छेद 16 लागू नहीं होता। परिषद् ने समस्या के समाधान के लिए राजदूतों का एक सम्मेलन बुलाने

का आदेश दिया। समस्या का समाधान पूरी तरह पक्षपातपूर्ण रहा। यूनान को निर्बल होने का दण्ड मिला और यद्यपि इटली ने कोर्फू पर बमवर्षा की थी, फिर भी मुआवजे के रूप में उसे पुरस्कार मिला। इससे जाहिर हो गया कि राष्ट्रसंघ बड़े देश के खिलाफ विश्वास और दृढ़ता से कार्य नहीं कर सकता। यह सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त और संघ के नियमों की पहली प्रबल अवहेलना थी।

1931 में राष्ट्रसंघ के समक्ष भीषण संकट—मंचूरिया का संकट उपस्थित हुआ। यह संकट ऐसा था जिसमें सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त की वास्तविक जाँच होने वाली थी। सितम्बर, 1931 में जापान ने अचानक ही चीनियों पर आक्रमण करके मुकदन (मन्चूरिया) पर कब्जा जमा लिया। कुछ ही दिनों में मन्चूरिया का अधिकांश भाग उसके कब्जे में आ गया। चीन ने ग्यारहवें अनुच्छेद के अन्तर्गत अपील करते हुए राष्ट्रसंघ से जापान के विरुद्ध सहायता की याचना की। परिषद् में यह प्रस्ताव पारित किया गया कि जापानी सरकार शीघ्र ही अपनी सेनाएं वापस लौटाले ताकि "यथास्थिति" पुनर्स्थापित हो सके। जापान ने परिषद् की पूर्ण उपेक्षा की। संकट बढ़ता गया और जापानियों ने जनवरी, 1932 में शघाई पर कब्जा कर लिया। चीन ने 29 जनवरी, 1932 को यह माग की कि राष्ट्रसंघ के विधान की 10वीं, 15वीं और 16वीं धारायें जापान के विरुद्ध लागू की जाय तथा सभा (Assembly) के विशेष अधिवेशन में समस्या पर विचार हो। चीन का विचार था कि परिषद् में केवल बड़े राष्ट्रों का ही प्रतिनिधित्व है जो जापान के विरुद्ध कठोर कार्यवाही नहीं करना चाहते जब कि सभा में छोटे राष्ट्रों का बहुमत जापान के विरुद्ध कड़ी से कड़ी कार्यवाही का समर्थन करेगा। लेकिन सभा के अधिवेशन में विश्व-शान्ति और सामूहिक सुरक्षा जैसे विषयों पर आकर्षक भाषण देने के अतिरिक्त कोई व्यावहारिक और ठोस काम नहीं किया गया। वास्तव में केवल बड़े राष्ट्रों के समर्थन से ही जापान के विरुद्ध कोई कार्यवाही की जा सकती थी। बड़े राष्ट्रों में रूस और अमेरिका जिनकी पूर्वी एशिया की राजनीति में दिलचस्पी थी, संघ के सदस्य नहीं थे और ब्रिटेन जापान के अनैतिक कार्य का नैतिक समर्थन कर रहा था। अन्त में हुआ यह कि जापान ने लगभग सम्पूर्ण दक्षिणी मन्चूरिया पर अधिकार कर लिया। सभा जापान के कार्य की निन्दा करने के अलावा कोई ठोस कार्य नहीं कर सकी और सभा के इस कार्य के विरोध में जापानी प्रतिनिधि मण्डल सभा-स्थल से उठकर चला गया तथा 27 मार्च, 1933 को जापान ने संघ की सदस्यता त्याग दी। इस प्रकार राष्ट्रसंघ जापानी आक्रमण से चीन की रक्षा करने में सर्वथा असमर्थ रहा। मन्चूरिया काण्ड ने राष्ट्रसंघ और सामूहिक सुरक्षा के मृत्यु-पट्टे (Death Warrant) पर हस्ताक्षर कर दिये।

इटली-एबीसीनिया-युद्ध (1934–37) ने राष्ट्रसंघ के सामूहिक सुरक्षा सिद्धान्त को हमेशा के लिए पलीता लगा दिया और राष्ट्रसंघ की बची-खुची महत्ता को सदा सर्वदा के लिए खत्म कर दिया। इटली ने राष्ट्रसंघ के विधान का उल्लंघन और अन्य अनेक सन्धियों की अवहेलना करते हुए एबीसीनिया पर कब्जा कर लिया।

इटली के समस्त अनैतिक कार्य राष्ट्रसंघ की नजरों के नीचे होते रहे। सभा (A sembly) में स्वयं एबीसीनिया के सम्राट हैलसिलासी ने 30 जून, 1936 को इटली की बर्बरता का रोमांचकारी वर्णन किया और सहायता की अपील की। लेकिन सोवियत प्रतिनिधि को छोड़कर किसी ने एबीसीनिया का समर्थन नहीं किया। 15 जुलाई, 1936 को इटली के विरुद्ध लगाये गये आर्थिक प्रतिबन्ध भी हटा लिये गये। इस प्रकार सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त का तिरस्कार कर दिया गया और एबीसीनिया को उसके भाग्य पर छोड़ दिया गया। इतना ही नहीं ब्रिटेन और फ्रांस के प्रयास से एबीसीनिया राष्ट्रसंघ से निकाल दिया गया। राष्ट्रसंघ के मौलिक सिद्धान्त मिट्टी में मिल गये। राष्ट्रसंघ के इतिहास में पहली बार युद्ध रोकने के लिए विधान की 16वीं धारा के अनुसार प्रतिबन्ध लगाये गये थे, लेकिन वे सफल नहीं हो सके और संघ ने स्वयं को पूरी तरह बड़े राष्ट्रों के हाथ का खिलौना बना लिया।

निष्कर्षत., राष्ट्रसंघ की यह सबसे बड़ी कमजोरी थी कि उसके पास "सामूहिक इच्छा" (Collective Will) को मनवाने की शक्ति का अभाव रहा। वह केवल सामान्य सहमति प्राप्त करने के लिए अवसर दे सकता था। एक ओर तो उसे प्रगतिशील विचारों को गोद लेने का कार्य निभाना था तथा दूसरी ओर उसे उन सरकारों की इच्छाओं का ध्यान रखना था जिनके लिए उसका निर्माण किया गया था। इसीलिए अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के शान्तिपूर्ण समाधान में वह कभी सफल नहीं हो सका। पामर एवं परकिन्स (Palmer and Perkins) ने ठीक ही लिखा है "सामूहिक सुरक्षा के विकास और उसे लागू करने के साधन के रूप में राष्ट्रसंघ बुरी तरह दुविधा-ग्रस्त था, तथा वस्तुतः प्रारम्भ से ही शक्तिहीन था।"[1]

सामूहिक सुरक्षा और संयुक्त राष्ट्रसंघ
(Collective Security and the United Nations)

राष्ट्रसंघ की भांति ही संयुक्त राष्ट्रसंघ के विधान में भी सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था की गई है तथापि यह अपने पूर्ववर्ती की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली है। राष्ट्रसंघ की परिषद् की अपेक्षा सुरक्षा-परिषद् को निवारक-कार्य (Preventive action) और प्रवर्तन-कार्य (Enforcement action) करने की अधिक शक्तियाँ प्राप्त है। नार्मन बेंटविच के अनुसार राष्ट्रसंघ की पद्धति की अपेक्षा, कम से कम योजना के रूप में, संयुक्त राष्ट्र की व्यवस्था अधिक अच्छी है। जहाँ राष्ट्रसंघ संकट के समय ही आक्रमणकारी के विरुद्ध कार्यवाही करने की सोचता था वहाँ संयुक्त राष्ट्र के अन्तर्गत आक्रमण को रोकने के लिए पहले से ही योजना तैयार करने की व्यवस्था है। कहा जाता है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के पास अब दांत हैं—परि?

1. *Palmer and Perkins : opt. cit., p. 271.*

प्राकृतिक दांत नहीं हैं तो कम से कम बने हुए दांत अवश्य हैं और यदि वे हमेशा अच्छी तरह प्रयोग में न लाये जा सकें तो भी कम से कम उनमें काटने की शक्ति तो है ही।[1]

संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के अनुच्छेद 43 के अन्तर्गत यह व्यवस्था है कि शांति स्थापना के लिए, जब जैसी आवश्यकता हो तब, सदस्य राष्ट्र सुरक्षा-परिषद् की सहायता के लिए अपनी सशस्त्र सेनायें, सहायता और अन्य सुविधायें, जिनमें मार्ग-अधिकार भी शामिल होंगे, सुरक्षा-परिषद् को मुहय्या करेंगे। अनुच्छेद में यह भी उल्लिखित है कि सेनाओं की संख्या उनके प्रकार, उनकी तैयारी और स्थिति के बारे में निश्चय, समझौते एवं समझौतों से किये जायेंगे जिनकी बातचीत सुरक्षा-परिषद् की प्रेरणा से जल्दी आरम्भ की जानी चाहिए (किन्तु महाशक्तियों के आपसी मत-भेद के फलस्वरूप इस विषय पर अभी कोई समझौते नहीं हो सके हैं)। यह भी लिखा गया है कि सदस्य सामूहिक अन्तर्राष्ट्रीय कार्यवाही के लिए अपनी-अपनी राष्ट्रीय वायु-सेना के दल जल्दी से जल्दी उपलब्ध करायेंगे ताकि संयुक्त राष्ट्रसंघ तुरन्त सैनिक कार्यवाही कर सके।

यद्यपि शान्ति स्थापित रखना सुरक्षा-परिषद् का प्रथम उत्तरदायित्व है, तथापि 'शान्ति के लिए एकता' (Uniting for Peace) के प्रस्ताव द्वारा यह व्यवस्था भी करदी गई है कि यदि कभी शान्ति के लिए संकट पैदा हो जाय अथवा शान्ति-भंग हो, अथवा आक्रमण हो जाय और सुरक्षा-परिषद् पारस्परिक मतभेदों के कारण इस दिशा में अपने कर्त्तव्य का पालन न कर सके, तो महासभा अपना संकटकालीन अधिवेशन बुलाकर तुरन्त मामला अपने हाथ में ले सकती है और स्थिति का मुकाबला करने के लिए सामूहिक कार्यवाही का सुझाव दे सकती है। महासभा को अधिकार है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने के लिए सैनिक कार्यवाही का भी निर्देश दे। प्रस्ताव में अन्तर्राष्ट्रीय तनाव वाले क्षेत्रों में स्थिति का निरीक्षण करने और रिपोर्ट देने के लिए एक शान्ति निरीक्षण (आयोग) की भी व्यवस्था की गई है। प्रस्ताव में सदस्य-राष्ट्रों से यह भी निवेदन किया गया है कि वे आवश्यकता पड़ने पर महासभा अथवा सुरक्षा-परिषद् की सिफारिश पर संघ के अधीन कार्यवाही करने के लिए सशस्त्र सुशिक्षित सेना प्रदान करें। शान्ति के लिए एकता के इस महत्वपूर्ण प्रस्ताव पर बोलते हुए कनाडा के प्रधानमन्त्री ने कहा था कि हम सामूहिक सुरक्षा को संगठित करने की दिशा में एक नया कदम उठा रहे हैं जो कि हमारा लक्ष्य है। नवम्बर, 1956 में मिस्र पर इजराइल, ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस का संयुक्त आक्रमण होने पर महासभा के विशिष्ट अधिवेशन में इस प्रस्ताव के अनुसार कार्य करते हुए ही सफलतापूर्वक शांति स्थापित की थी।

राष्ट्रसंघ और संयुक्त राष्ट्रसंघ की सामूहिक सुरक्षा पद्धति में अन्तर

यदि हम राष्ट्रसंघ और संयुक्त राष्ट्रसंघ की सामूहिक सुरक्षा पद्धति की तुलना करें तो अधोलिखित महत्वपूर्ण अन्तर स्पष्ट होते हैं।

1. *Andrew Martin* : Collective Security, p. 135.

1. संयुक्त राष्ट्रसंघ को आवश्यकता पड़ने पर अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की स्थापना अथवा पुनर्स्थापना के लिए, सशस्त्र बल प्रयोग का अधिकार है। यह अधिकार राष्ट्रसंघ को प्राप्त नहीं था।

2. चार्टर ने अनुशास्ति और अन्य सहायताओं में भेद मिटा दिया है। सुरक्षा-परिषद् आवश्यक पग उठाने के लिए स्वतन्त्र है। आघात-काल में संगठन को आवश्यक कार्यवाही करने की पर्याप्त स्वतन्त्रता है, अतः सदस्य-राष्ट्र मानसिक रूप से स्वयं को कुछ आश्वस्त पाते हैं। जिस प्रकार 1935 और 1936 में इथोपिया को आर्थिक अनुशास्ति की प्रतीक्षा करनी पड़ी थी, उस प्रकार संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के अन्तर्गत नहीं करना पड़ता है।

3. राष्ट्रसंघीय पद्धति में प्रत्येक राज्य को आक्रमणकारी के विरुद्ध व्यक्तिगत रूप से कार्य करना पड़ता था। प्रत्येक सदस्य राज्य को स्वयं यह निश्चय करना पड़ता था कि आक्रमण हुआ है या नहीं और यदि आक्रमण हुआ है तो कौनसा राज्य आक्रमणकारी है। जब कोई सदस्य राज्य आक्रान्त राज्य की सहायता करता था तो वह सहायता उस राज्य को ही दी जाती थी, राष्ट्रसंघ को नहीं। वर्तमान चार्टर में सुरक्षा-परिषद् यह निश्चय करती है कि शान्ति को खतरा, शान्ति भंग अथवा आक्रमण हुआ है या नहीं, और इस सम्बन्ध में आवश्यक सिफारिशें करने या आवश्यक कदम उठाने में वह सक्षम है। परिषद् जो भी कार्यवाही करती है वह संयुक्त राष्ट्र के सब सदस्यों की ओर से करती है। सदस्य-देशों का कर्तव्य है कि वे सुरक्षा-परिषद् की सहायता करें। यह निश्चय राष्ट्रसंघ की भाँति व्यक्तिगत सदस्यों पर नहीं छोड़ा गया है। एण्ड्रयू मार्टिन के अनुसार 'सुरक्षा-परिषद् को निश्चय पर कार्य करने की इतनी व्यापक शक्तियाँ मिली हुई हैं जिनके कारण संगठन को महान् प्रत्यक्ष शक्ति प्राप्त हो जाती है।'[1]

4. सामूहिक सुरक्षा की कार्यवाही को सफल बनाने के लिए चार्टर के अन्तर्गत महाशक्तियों को निषेधाधिकार प्रदान करके विशेष रूप से उत्तरदायी बनाया गया है। राष्ट्रसंघ में ऐसी व्यवस्था नहीं थी।

5. चार्टर के 51वें अनुच्छेद द्वारा सदस्य देशों को स्पष्ट रूप से व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूप से अपनी रक्षा करने का अधिकार दिया गया है। राष्ट्रसंघ के प्रसंविदा में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं थी।

6. सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था को दृढ़तर बनाने के लिए चार्टर में प्रादेशिक संगठनों की स्थापना को उचित बताया गया है और सदस्य देशों को ऐसे संगठन बनाने की अनुमति दी गई है। राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत इस प्रकार की व्यवस्था नहीं थी।

चार्टर की सामूहिक सुरक्षा-पद्धति कसौटी पर

(1) संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था की परीक्षा का अवसर पहली बार सन् 1950 में आया जब दक्षिणी कोरिया पर उत्तरी कोरिया द्वारा

1. Ibid p. 136

किये गये आक्रमण के सामने जो राष्ट्रसंघ ने अपने हाथ में लिया। इस आक्रमण की सूचना संघ को कोरिया में स्थित संयुक्त राष्ट्र आयोग द्वारा प्राप्त हुई। यह सूचना इतनी विस्तृत और पूर्ण थी कि 25, जून, 1950 को जब सुरक्षा-परिषद् की बैठक विवाद पर विचार के लिए हुई तब किसी राष्ट्र ने इस आधार-पर बैठक स्थगित करने की मांग नहीं की कि इसे वास्तविक स्थिति का ज्ञान नहीं है। इस प्रकार यह स्थिति सन् 1932 की उस स्थिति से बिल्कुल भिन्न थी जब राष्ट्रसंघ ने मन्चूरिया पर जापानी आक्रमण की जांच के लिए "लिटिन आयोग" भेजा था और जब तक आयोग ने जानकारी प्राप्त करके जापान को दोषी ठहराया तब तक जापान मन्चूरिया पर अधिकार जमा चुका था।

कोरिया का युद्ध एक ऐसा अवसर था जब संयुक्त राष्ट्रसंघ की सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था को प्रभावशाली बनाया जा सकता था। सुरक्षा-परिषद् ने विवादी पक्षों को युद्ध बन्द कर देने और 38 अक्षांश रेखा पर लौटाये जाने का आदेश दिया, और जब उत्तरी कोरिया ने इस आदेश की अवहेलना कर दी तो परिषद् ने अमेरिका के इस प्रस्ताव को तुरन्त ही पारित कर दिया कि कोरिया में संयुक्त राष्ट्रसंघीय कार्यवाही की जाय। 7 जुलाई, 1950 को परिषद् ने एक दूसरे प्रस्ताव द्वारा इस युद्ध को संयुक्त कमान बनाते हुए अमेरिका को अधिकार दिया कि वह इसका सेनापति नियुक्त करे। यद्यपि 16 अन्य राष्ट्रों ने भी इस कमान के निर्माण में योग दिया, तथापि वास्तविक भार संयुक्त राष्ट्र अमेरिका ने ही उठाया था और अमेरिका के जनरल मैक-आर्थर इस पर प्रधान सेनापति बना।

वास्तव में इतिहास में पहली बार किसी विश्व संस्था द्वारा इस प्रकार के सैनिक विरोध को मान्यता दी गई थी। यदि राष्ट्रसंघ जर्मनी द्वारा पोलैण्ड पर आक्रमण के समय प्रभावशाली सैनिक हस्तक्षेप कर पाता तो सम्भवतः द्वितीय महायुद्ध का अवसर ही नहीं आता। कोरिया-युद्ध में यदि संयुक्त राष्ट्रसंघ सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था के अन्तर्गत प्रभावशाली सैनिक विरोध नहीं करता तो भी सम्भव था कि तृतीय महायुद्ध का विस्फोट हो जाता।

कुछ विचारकों का मत है कि कोरिया के सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्रसंघ की कार्यवाही के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था ने अपने उत्तरदायित्व को पूरा किया था। पामर एवं परकिन्स (Palmer and Perkins) का निष्कर्ष 'सायन न तो कभी था, न है और न भविष्य में ही कभी हो सकता है।' "वफर्स" (Wolfers) का भी विचार है कि कोरिया में सामूहिक सुरक्षा का सही रूप नहीं निखर पाता था। सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था के अनुसार होना यह चाहिए था कि आक्रमणकारी को सजा देने अथवा प्रतिरोध करने के लिए किसी भी आक्रमणकारी के विरुद्ध कहीं भी लड़ा जाता किन्तु इसके स्थान पर सामूहिक शक्ति का प्रयोग केवल अमेरिका के प्रबल शत्रु के विरुद्ध किया गया था। अमेरिका के तत्कालीन राज्य सचिव एचेसन (Acheson) का यह मध्य-मार्गी विचार था कि कोरिया की

समस्या को हमें सामूहिक सुरक्षा का अन्तिम धर्म-युद्ध (Final Crusade) नहीं मानना चाहिए।

कोरिया युद्ध ने संयुक्त राष्ट्रसंघ को कुछ अनुभव प्रदान किये तथा सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था को शक्तिशाली बनाने का प्रयास किया गया। यह इसी अनुभव का परिणाम था कि महासभा द्वारा "शान्ति के लिए एकता का प्रस्ताव" पास किया गया। उरुगुए के प्रतिनिधि ने ठीक ही कहा था कि कोरिया के अनुभव से हम काफी लाभान्वित हुए हैं तथा इसके व्यवहार को एक व्यावहारिक, यथार्थवादी और विश्व-व्यापी सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था का निर्माण करने के लिए काम में लाया जाना अपेक्षित है।

(2) सन् 1956 में मिस्र द्वारा स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण कर दिये जाने पर इजराइल, फ्रान्स और ब्रिटेन ने संयुक्त रूप से उस पर आक्रमण कर दिया। 29–30 अक्टूबर को आक्रमणात्मक कार्यवाहियाँ होने के तुरन्त बाद ही सुरक्षा-परिषद् में सब राष्ट्रों के इस प्रस्ताव को भी फ्रान्स और ब्रिटेन ने वीटो कर दिया कि मिस्र में सेना का प्रयोग न किया जाय। इस पर "शान्ति के लिए एकता" प्रस्ताव के अन्तर्गत महासभा की संकटकालीन बैठक बुलाई गई और ब्रिटिश विरोध के बावजूद 2 नवम्बर 1956 को संयुक्त राज्य अमेरिका का एक प्रस्ताव प्रबल बहुमत से पारित कर दिया गया जिसमें स्वेज नहर क्षेत्र में ब्रिटिश, फ्रेन्च और इजराइली सैनिक कार्यवाही पर गम्भीर चिन्ता व्यक्त करते हुए अविलम्ब युद्ध-विराम पर बल दिया गया। 2 दिन बाद ही 4 नवम्बर को महासभा ने कनाडा पर एक प्रस्ताव पास किया कि महासचिव श्री हैमरशोल्ड मिस्र में युद्ध बन्द करने और युद्ध विराम की देखभाल के लिए संघ की एक आपातकालीन सेना (UNEF) प्रस्तुत करें। इसी प्रस्ताव के अनुकूल कार्य करते हुए 10 देशों की सैनिक टुकड़ियों से बनी 6 हजार सैनिकों की अन्तर्राष्ट्रीय सेना शान्ति स्थापना के लिए मिस्र भेजी गयी। 15 नवम्बर को आपातकालीन सेना का पहला दस्ता मिस्र पहुँचा, किन्तु इसके पहले ही 6–7 नवम्बर की मध्य रात्रि में ब्रिटिश-फ्रेन्च सैनिक कार्यवाही बन्द कर दी गई थी। 7 नवम्बर को महासभा यह प्रस्ताव पारित कर चुकी थी कि ब्रिटिश की आक्रमणकारी फौजें मिस्र की भूमि से हट जाय और स्वेज नहर क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस की व्यवस्था की जाय। मिस्र को यह आश्वासन दिया गया था कि राष्ट्रसंघीय सेना के रहने पर उसकी प्रभुसत्ता को कोई आँच नहीं आयेगी।

स्वेज विवाद की संयुक्त राष्ट्रसंघीय कार्यवाही सामूहिक सुरक्षा परिषद् की सफलता भी यह संदिग्ध है। वास्तव में कुछ अन्य कारणों से आक्रमणकारियों ने महासभा के आदेश माने थे। 5 नवम्बर को सोवियत-संघ द्वारा आक्रमणकारियों को स्पष्ट शब्दों में यह चेतावनी दे दी गई थी कि यदि एक निश्चित समय तक मिस्र पर हमला बन्द नहीं किया गया तो वह अपने आधुनिकतम शस्त्रों के साथ इस संकट में हस्तक्षेप करेगा, इतना ही नहीं संयुक्त राज्य अमेरिका ने भी मिस्र में ब्रिटेन-फ्रेन्च सैनिक

कार्यवाही को खुले तौर पर गलत बतलाया। वास्तव में सोवियत चेतावनी गम्भीर थी और दूसरी ओर यह भय था कि यदि संयुक्त राष्ट्र के अन्तर्गत स्वेज नहर की रक्षा के लिए कार्यवाही की गई तो उसमें प्रमुख योगदान संयुक्त राज्य अमेरिका का होगा। चाहे स्वेज विवाद में संयुक्त राष्ट्रीय कार्यवाही को सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था की सफलता का प्रभावशाली प्रमाण न माना जाय, लेकिन यह तथ्य एक बार पुनः सुस्पष्ट हो गया है कि यदि अमेरिका और रूस जैसी महाशक्तियां सहयोग करें तो संयुक्त राष्ट्रसंघीय सभी कार्यवाहियां बहुत कुछ सफल हो सकती हैं।

(3) वास्तव में कोरिया युद्ध के बाद सामूहिक सुरक्षा-पद्धति को कार्यान्वित करने से संयुक्त राष्ट्र पीछे ही हटा है और जुलाई, 1965 को सोवियत रूस द्वारा प्रस्तावित किये गये एक स्मरण पत्र के बाद से ही इस बात की पुनः चर्चा होने लगी है कि संयुक्त राष्ट्र के अन्तर्गत सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था की सफलता को प्रभावशाली बनाया जाय। महासचिव ऊथान्ट का यह संकेत संयुक्त राष्ट्र के सदस्यों के लिए ग्राह्य है कि "सैनिक प्रतिस्पर्धा रोकने के लिए निश्चित रूप से केवल मात्र यह आशा है कि संयुक्त राष्ट्र के चार्टर और उसके ढांचे के अन्तर्गत लोगों में आत्म-विश्वास की वृद्धि हो तथा सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था के अन्तर्गत कार्य करने के लिए उनमें सहयोग की भावना विकसित हो।" संयुक्त राष्ट्रसंघ सामूहिक सुरक्षा के अपने उत्तरदायित्व को सच्चे अर्थों में नहीं निभा सका है—इसे इंगित करते हुए पामर एवं परकिन्स (Palmer and Perkins) ने यहां तक लिख दिया है कि "अनुभव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि संयुक्त राष्ट्र अपनी प्रकृति के कारण वास्तविक सामूहिक सुरक्षा का न तो कभी प्रभावशाली साधन था और न भविष्य में कभी हो सकता है।" सुरक्षा परिषद् में महाशक्तियों के निषेधाधिकार ने एक ऐसी व्यूह रचना कर दी है जिसमें चूहों को कुचला जा सकता है किन्तु शेरों को रोका नहीं जा सकता। निषेधाधिकार ने सामान्य सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर दिया है। कुछ विचारकों की मान्यता है कि इसमें छोटे राष्ट्रों को यह आश्वासन प्राप्त हो गया है कि इसके कारण संयुक्त राष्ट्रसंघ बड़ी शक्ति के विरुद्ध युद्ध का समर्थन नहीं करेगा। अब तक संयुक्त राष्ट्रसंघ के कार्यों में सम्पूर्ण लेखे-जोखे का मूल्यांकन करने पर वैन्डरविल तथा मार्टिन के इन शब्दों से असहमत होना कठिन है कि "संयुक्त राष्ट्र के चार्टर में सामूहिक सुरक्षा की अवास्तविक पद्धति स्थापित की है।"

वर्तमान परिस्थितियों में सामूहिक सुरक्षा की व्यावहारिकता

सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था, चाहे वह किसी भी रूप व आकार की हो, तब तक प्रभावशाली नहीं बन सकती जब तक उसे क्रियान्वित करने के लिए पर्याप्त शक्ति उपलब्ध नहीं की जा सके। शक्ति के अभाव में किसी भी आक्रमण को कुचला नहीं जा सकता। सामूहिक सुरक्षा को विवशकारी शक्ति के रूप में सिद्धान्त की दृष्टि से 3 विकल्प हो सकते हैं—

(1) सदस्य राज्यो द्वारा सहयोग का वचन दिया जा सकता है तथा आवश्यक्ता पडने पर उनकी सैनिक शक्तियो को प्रयुक्त करने का वायदा भी दिया जा सकता है ।

(2) राज्य अपनी सेना का कुछ भाग अन्तर्राष्ट्रीय सस्था के पास छोड सकते हैं ताकि वह सामूहिक सुरक्षा के लिए आवश्यकता पडने पर उस सेना को स्वेच्छानुसार अपने काम मे ले सके ।

(3) अन्तर्राष्ट्रीय सघ अथवा सघ अपनी स्वयम् की सेना का अलग से निर्माण कर सकता है जो सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था का प्रभावशाली रूप मे सञ्चालन करे ।

राष्ट्रसघ द्वारा प्रथम विकल्प को अपनाया गया था । राष्ट्रसघ मे किस विकल्प को अपनाया जाय, इस बारे मे लम्बे समय तक भारी विवाद रहा, अन्त मे कुछ देशो की पूरी सहमति न रहते हुए भी द्वितीय विकल्प को अपना लिया गया । सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था को आज की परिस्थितियो मे अव्यावहारिक, असम्भव अथवा असफल माना जाता है । इस विचार को मानने वाले लोग अपने पक्ष मे निम्न तर्क प्रदान करते हैं—

(1) आक्रमणकारी जब आक्रमण करता है तो पूरी तैयारी और सोच विचार के साथ करता है और जिस देश पर आक्रमण किया जाता है उनकी प्रतिक्रिया तत्काल ही होती है—वहा पूरी सैनिक तैयारी की जायगी, सकटकालीन बजट पास किया जायगा तथा परिस्थिति के अनुकूल जो भी आवश्यक होगा, किया जायगा किन्तु सामूहिक-सुरक्षा व्यवस्था की इकाइयो को पूरी तरह यह पता नही रहता कि वहा किसके विरुद्ध, कब, किसके साथ मिलकर, सैनिक कार्यवाही करनी चाहिए और इसी कारण तत्कालीन सम्मिलित युद्ध कठिन हो जाता है। फलतः सामूहिक सुरक्षा समुदाय की सैनिक शक्ति उसके किसी भाग से सदैव कम होगी ।

(2) सन् 1945 ई० के बाद सैनिक तकनीकी मे भारी परिवर्तन आ गया है । वैज्ञानिक विकास के कारण आज के युद्ध ऐसे बन चुके हैं कि आक्रमणकारी के विरुद्ध कदम उठाने के लिए विचार करने को सामूहिक सुरक्षा प्रबन्ध करे तब तक आक्रमणकारी के द्वारा देश को नष्ट भी किया जा सकता है। यही कारण है कि प्रत्येक राष्ट्र यह जानता है कि वह अपने जीवन और मरण का प्रश्न सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था पर नही छोड सकता, इसका उसे स्वय ही प्रबन्ध करना होगा ।

(3) विश्व का दो गुटो मे बट जाना (Bipolarity) भी सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था के विपरीत पडा है । सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था यह मानती है कि उसके प्रतिबन्धो का प्रभाव प्रत्येक देश पर पडेगा और कोई भी देश आक्रमण करने का साहस न कर सकेगा । किन्तु द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद रूस व अमरीका की नई शक्ति का उदय ऐसा हुआ जिस पर सामूहिक सुरक्षा के प्रतिबन्धो का कोई प्रभाव

होने जाने वाला नहीं है। इसके अतिरिक्त दो गुटों की व्यवस्था में यह भी एक बाधा होती है कि आक्रमणकारी राज्य किसी भी एक गुट का सदस्य या नेता होता है और इस कारण उस गुट के दूसरे राज्य सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था के उत्तरदायित्वों को पूरा नहीं होने देते।

(4) सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था इस बात पर निर्भर करती है कि आक्रमणकारी तथा जिस पर आक्रमण किया गया है उस देश को स्पष्ट रूप से घोषित कर दिया जाये क्योंकि बिना इसके कोई कदम नहीं उठाया जा सकता है। भारत-पाक संघर्ष के समय भारत द्वारा बराबर यह माग की जाती रही कि वह पाकिस्तान को आक्राता घोषित करे किन्तु ऐसा न किया गया क्योंकि यह घोषणा जितनी सरल दिखती है उतनी नहीं है, इसमें अनेक राष्ट्रों के हित टकराते हैं। इसी कारण वे किसी भी राष्ट्र को आक्रमणकारी घोषित करने से कतराते हैं। आक्रमण की परिभाषा एवं अर्थ भी अनेक लगाये जाते हैं। इस कारण यह बड़ा कठिन है कि पहले तो यह पता लगाया जाये कि गोया यह कार्य आक्रमण है या नहीं, यदि है भी तो आक्रमणकारी कौन है?

(5) सामूहिक सुरक्षा की सफलता की विषयगत परिस्थितिया बढ़ने की अपेक्षा धीरे-धीरे घटती ही जा रही हैं। जिस समय इस सिद्धात को अपनाया जा सकता था उस समय राजनीतिज्ञों का ध्यान इसकी तरफ न था, अब वे इसे क्रियान्वित करना चाहते हैं किन्तु बाह्य परिस्थितिया ऐसा नहीं होने देती। विषयगत आवश्यकताओं (Subject requirements) को देखकर ऐसा लगता है कि यह सिद्धात अपरिपक्व है क्योंकि न तो राजनीतिज्ञ और न ही जनता इसकी पूर्व आवश्यकताओं से परिचित है। आज के युग मे ऐसे समुदाय का विकास हो गया है जो अपने-अपने राष्ट्रीय हित के प्रति पूरी तरह जागरूक हैं और इसी कारण उसमे भिन्नता है। इस समय सामूहिक सुरक्षा की सफल क्रियान्विति यह माग करती है कि ऐसे राजनीतिज्ञ हो जो नेतृत्व कर सकें और ऐसी जनता हो जो उसका अनुगमन कर सके। इस विचार का विकास किया जाय कि जो विश्व के लिए शुभ है वही राज्य के लिये भी शुभ है। राष्ट्रीय हित को विश्व शांति तथा व्यवस्था के साथ एकरूप कर दिया जाय। क्लाडे (Claude) महोदय का मत है कि "कार्यभोग्य सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था की पूर्ण आवश्यकताए प्राप्त होने मे अभी बहुत दूर हैं और यह भी संदिग्ध है कि इस दिशा में कुछ अर्थपूर्ण विकास हो सकेगा।"

(6) जिस व्यक्ति के हाथों में विदेश नीति के संचालन का भार रहता है वह सदैव व्यवहार प्रधान नीति को अपनायेगा तथा प्रत्येक मामले को गौर से देखने के बाद ही कोई निर्णय लेगा। वह केवल सिद्धातो के पीछे न दौड़ेगा, कोई भी राजनीतिज्ञ यह पसद न करेगा कि वह सामूहिक सुरक्षा जैसे किसी भी सिद्धान्त की जंजीरों में अपने हाथों को जकड़ कर कुछ करने के लिए अपने आपको बाध्य बना ले। एक सफल राजनीतिज्ञ वही है जिसके सामने अनेक विकल्पो के द्वार खुले रहते हैं

और परिस्थिति के अनुकूल एक मार्ग को अपनाने में उनके सामने कोई बाधा नहीं आती। दूसरे शब्दों में आज की दुनिया के लोग यह विश्वास नहीं करते कि सामूहिक सुरक्षा के साधन को अपनाकर विश्व व्यवस्था (World order) या राष्ट्रीय हित को प्राप्त किया जा सकता है।

(7) सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था की एक महत्वपूर्ण आलोचना मार्गेन्थो आदि विचारकों द्वारा की गई है। ये विचारक यह मानते हैं कि सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था के अन्तर्गत युद्ध का क्षेत्र सीमित या स्थानीय न रहकर विश्वव्यापी बन जाता है। जिस युद्ध के परिणामों को एक क्षेत्र विशेष तक ही सीमित किया जा सकता था वे विश्व को विध्वंस की आग से झुलस देते हैं। एक देश यदि सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था के अधीन भी आक्रमणकारी के विरुद्ध प्रभावित देश का साथ दे रहा है तो भी यह समझा जायगा कि ऐसा वह अपने स्वार्थ को साधने के लिए कर रहा है। संसार में ऐसा सन्यासी राष्ट्र देखने को नहीं मिलता जो बदनामी और आलोचनाएं सहकर भी परोपकार तथा न्याय की स्थापना में रत रहे। दूसरी ओर कुछ विचारक यह भी मानते हैं कि विश्व में शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने के के लिए बजाय सैद्धान्तिक के व्यावहारिक नीति की आवश्यकता होती है। क्लाडे (Claude) महाशय का निष्कर्ष है कि सामूहिक सुरक्षा शक्ति की ओर से यथार्थ नहीं है वरन यह नीति की ओर से यथार्थ है।

सामूहिक सुरक्षा और शक्ति-सन्तुलन
(Collective Security and Balance of Power)

सामूहिक सुरक्षा को प्रायः शक्ति सन्तुलन का विकल्प माना जाता है। सामूहिक सुरक्षा को व्यावहारिक रूप के जनक विल्सन ने अपने विचारों का प्रतिपादन शक्ति-सन्तुलन के विरोध में किया था। वे मानते थे कि शक्ति सन्तुलन में राष्ट्र प्रतियोगितापूर्ण सन्धियों में बद्ध हो जाता है तथा विवशकारी शक्ति (Coercion) का प्रयोग राजनैतिक महत्वाकांक्षाओं को तथा स्वार्थपूर्ण लक्ष्यों को पूरा करने के लिये किया जाता है जबकि सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था में देशों के सहयोग का अर्थ होता है सभी को न्याय एवं सुरक्षा की व्यवस्था करना तथा जिसमें विवशकारी शक्ति का प्रयोग सामान्य शान्ति की स्थापना के लिए किया जाता है। क्लाडे (I. L. Claude) ने लिखा है कि "विल्सन से लेकर आज तक सामूहिक सुरक्षा के सभी समर्थक इसे शक्ति सन्तुलन से भिन्नता दिखाते हुए परिभाषित करते रहे हैं।"[1]

विभिन्नतायें
(The Differences)

शक्ति संतुलन एवं सामूहिक सुरक्षा की मान्यताओं के बीच कुछ अन्तर हैं जो मुख्यतः निम्न प्रकार हैं—

1. सामूहिक सुरक्षा एक सामान्य सन्धि (Universal alliance) है जो प्रतियोगी संधियों (Competitive alliances) से भिन्न है जिनको शक्ति सन्तुलन

---

1. *I. L. Claude* : Power and International Relations, p. 111.

की विशेषता माना जाता है। कार्डेल हल (Cordell Hull) ने संयुक्त राष्ट्रसंघ के बारे में लिखा है कि यह कुछ संगठित राष्ट्रों के विरुद्ध संधि नहीं है वरन् प्रत्येक आक्रमणकारी के विरुद्ध है। यह संधि युद्ध के लिए नहीं वरन् शक्ति के लिए है।[1] यह कथन दोनों मान्यताओं के मूल अन्तर को स्पष्ट करता है।

2 शक्ति सन्तुलन की मान्यता दो या दो से अधिक विरोधी गुटों की कल्पना करके चलती है जो परस्पर संघर्षशील प्रकृति के हैं किन्तु सामूहिक सुरक्षा की मान्यता 'एक विश्व' (One World) है जो सहयोग के आधार पर व्यवस्था का निर्माण करने के लिए संगठित होती है।

3 यद्यपि दोनों मान्यतायें संघर्ष व सहयोग को अन्तर्राष्ट्रीय जीवन के मूलतत्व मानती हैं तथा संघर्ष का मुकाबला करने के लिए सहयोग की सिफारिश करती हैं; किन्तु शक्ति सन्तुलन व्यवस्था के निर्माण के लिए संघर्षपूर्ण सहयोग चाहती है जबकि सामूहिक सुरक्षा संघर्ष को प्रतिबंधित रखने के लिए सामान्य सहयोग पर बल देती है।

4. शक्ति सन्तुलन कुछ सीमित गुटबंदी करके ही आक्रमणकारी का विरोध करता है तथा यह मानता है कि संघर्ष अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की सर्वकालीन विशेषता है किन्तु सामूहिक सुरक्षा सामान्य सहयोग के आधार पर आक्रमणकारी का मुकाबला करने को तैयार रहती है तथा यह मानती है कि आक्रमण अन्तर्राष्ट्रीय पटल पर केवल अपवाद है, नियम नहीं।

5. सामूहिक सुरक्षा यह मान कर चलती है कि किसी भी राष्ट्र द्वारा, किसी भी राष्ट्र पर, कभी भी किया गया आक्रमण, विश्व-शांति के लिये खतरा है और इसका विरोध करने के लिये प्रत्येक राष्ट्र को कटिबद्ध हो जाना चाहिए किन्तु शक्ति सन्तुलन की मान्यता इससे भिन्न है। इसमें एक राष्ट्र पर आक्रमण होने के समय दूसरी सहयोगी इकाइयां उसका मुकाबला करने में तभी साथ देंगी जबकि वह उनके हितों से मेल रखता हो। यदि एक राष्ट्र का राष्ट्रीय हित उस आक्रमण से प्रभावित नहीं होता तो वह युद्ध में भाग लेने से विमुख हो सकता है।

6. इस प्रकार सन्तुलन व्यवस्था व्यवहारवादी (Pragmatic) है तथा एक राष्ट्र को आक्रमण का विरोध करने की केवल तभी सलाह देती है जबकि आक्रमण उसकी स्वयं की सुरक्षा करने के लिये घातक हो। किन्तु सामूहिक सुरक्षा की मान्यता में कुछ सैद्धान्तिक पुट अधिक प्रभावशाली है क्योंकि यह राज्य को सदैव आक्रमण का विरोध करने को कहता है, कारण यह है कि उसका हित आक्रमण से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता।

7. शक्ति संतुलन व्यवस्था बहुत अस्त-व्यस्त होती है। यह स्वायत्त, एवं स्वनिर्देशित अनेक राज्यों से मिलकर बनती है जिसमें थोड़े ही बड़े राज्य होते हैं किन्तु सामूहिक सुरक्षा में एक व्यवस्था बनाने का प्रयास किया जाता है तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को एक संगठनात्मक रूप देने की कोशिश की जाती है।

1. The Memoirs of Cordell Hull, II, 1948.

विल्मी राइट के मतानुसार सामूहिक सुरक्षा व शक्ति सन्तुलन के बीच वही अन्तर है जो कि कला (Art) और प्रकृति (Nature) के बीच होता है।

समानतायें
(The Similarities)

शक्ति सन्तुलन व सामूहिक सुरक्षा की मान्यताओं के बीच स्थित उक्त अन्तरों के अतिरिक्त कुछ समानताएं भी हैं जो निम्न प्रकार से हैं—

1 कहा जाता है कि शक्ति सन्तुलन की योजना का आधार दूसरे पक्ष की आक्रमणकारी सामर्थ्य (Aggressive capacity) है जबकि सामूहिक सुरक्षा आक्रमणकारी नीति पर अधिक ध्यान देती है। यह आंशिक सत्य है क्योंकि शक्ति सन्तुलन में दूसरे पक्ष की केवल आक्रमणकारी सामर्थ्य पर ही ध्यान नहीं दिया जाता वरन् आक्रमणकारी नीति को भी देखा जाता है।

2. दोनों मान्यतायें प्रतिरोध (Detterrence) के सिद्धांत की भूमि पर आरूढ़ हैं। शक्ति सन्तुलन में अपने को इतना शक्तिशाली बनाया जाता है कि विरोधी मुँह न उठा सकें, सामूहिक सुरक्षा में भी शक्ति का एकीकरण कर आक्रमणकारी की महत्वाकांक्षाओं पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाता है।

3. शक्ति सन्तुलन का आधार तुल्यभारिता तथा सामूहिक सुरक्षा का आधार प्रबलता (Preponderance) माना जाता है किन्तु असल में तुल्यभारिता का रूप भी निश्चित नहीं है। शक्ति सन्तुलन की व्यवस्था में भी कोई पक्ष किसी देश से यह नहीं कहता कि दूसरा पक्ष कमजोर है अतः सन्तुलन की स्थापनार्थ वह उसी के साथ मिल जाय। इस प्रकार दोनों मान्यताओं के बीच वास्तविक अन्तर बहुत कम है।

4. दोनों ही व्यवस्थायें 'शांति के लिए युद्ध' (War for Peace) में विश्वास रखते हैं तथा कहते हैं कि शांति की स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि लड़ने की इच्छा पैदा करने की सामर्थ्य का विकास किया जाय।

5 दोनों ही राज्यों के सामूहिक सहयोग में विश्वास करते हैं यद्यपि आक्रमणकारी या शांति को चुनौती देने वाला स्पष्ट नहीं है।

6. दोनों मान्यताओं की समानता उन आधारभूत परिस्थितियों के आधार पर भी बताई जा सकती हैं जो कि दोनों ही व्यवस्थाओं के सफल व्यवहार के लिए आवश्यक मानी जाती हैं। उदाहरण के लिए दोनों में शक्ति का फैलाव (Diffusion) इतना किया जाता है कि कोई भी शक्तिशाली राष्ट्र या पक्ष अन्तर्राष्ट्रीय शांति को खतरा न पहुंचा सके। दुनियां का दो गुटों में बंट जाना (Bipolarity) दोनों ही मान्यताओं के सफल सचालन के लिए घातक है। दोनों में लचीली नीति (Flexible policy) अपनाई जाती है ताकि आवश्यकतानुसार पुराने शत्रु को मित्र और मित्र को शत्रु की तरह देखा जा सके। प्रजातन्त्र के इस युग में दोनों ही मान्यतायें लोकमत का समर्थन प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहती हैं। दोनों की स्थापना का प्रयत्न प्रायः एक-सी दुनिया में किया जाता है। विश्व के जिन परिवर्तनों ने शक्तिशाली सतुलन के

मार्ग में बाधा डाली है वे सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था के सफल संचालन में भी बाधक हैं। एडवार्ड वी. गुलिक (Edward V. Gulick) के मतानुसार शक्ति सन्तुलन का विकास हुआ है। संधि (Alliance), सम्मिलन (Coalition) तथा सामूहिक सुरक्षा (Collective security) इसके विकास क्रम के सोपान हैं। क्लाडे (I. L Claude) का कहना है कि निष्कर्ष रूप में अनेक विचारकों ने यह माना है कि सामूहिक सुरक्षा को शक्ति-सन्तुलन का एक परिवर्धित संस्करण मानना चाहिए न कि पूरी तरह से भिन्न और शक्ति-सन्तुलन का विकल्प। शक्ति-सन्तुलन की मान्यतायें सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त की पूरक हैं।

क्षेत्रवाद और संयुक्त राष्ट्रसंघ
(Regionalism and the United Nations)

"क्षेत्रवाद" युद्धोत्तरकालीन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की एक प्रमुख विशेषता है। साम्यवाद के भय, महाशक्तियों के पारस्परिक अविश्वास, संभावित युद्ध अथवा युद्धों से सुरक्षा, संयुक्त राष्ट्र में शीत युद्ध आदि ने क्षेत्रवाद अथवा प्रदेशवाद के उदय और विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। क्षेत्रवाद एक ऐसी व्यवस्था मानी जाती है जिसमें कुछ राज्य अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि करने से वचन-बद्ध होते हैं कि दूसरे राज्य अथवा राज्यों द्वारा की जाने वाली किसी विशेष आक्रमणात्मक कार्यवाही के सम्मुख वे एक दूसरे की सहायता करेंगे। इस वचनबद्धता अथवा प्रतिज्ञा में सैनिक कार्यवाही सदैव निहित होती है। आर्थिक, सामाजिक और असैनिक क्षेत्रीय संगठन भी आज महत्वपूर्ण हो गये हैं, तथापि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सन्दर्भ में क्षेत्रवाद अथवा क्षेत्रीय या प्रादेशिक संगठनों से अर्थ प्रायः सैनिक संगठनों से लिया जाता है।[1]

क्षेत्रवाद की धारणा
(Concept of Regionalism)

क्षेत्रवाद में अन्तर्निहित भावना और उसके उद्देश्य की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति हमें उत्तरी अटलान्टिक सन्धि संगठन (नाटो) की पांचवीं धारा में मिलती है जिसके सारभूत शब्द इस प्रकार हैं—"सदस्य इस बात पर एकमत हैं कि..........उनमें से किसी एक अथवा अधिक के विरुद्ध आक्रमण सभी के विरुद्ध आक्रमण समझा जायगा। इसीलिए वे इस बात पर सहमत होते हैं कि यदि किसी प्रकार का सशस्त्र आक्रमण होता है तो उनमें से प्रत्येक (संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के 51वें अनुच्छेद द्वारा प्रदत्त व्यक्तिगत अथवा सामूहिक आत्मरक्षा के अधिकार के अनुसार कार्य करते हुए).... शीघ्र ही व्यक्तिगत रूप में तथा अन्य सदस्यों के साथ इस प्रकार से आक्रमण पीड़ित सदस्य अथवा सदस्यों की सहायता करने के लिए ऐसी कार्यवाही करेगा जिसे वह आवश्यक समझे और जिसमें सशस्त्र शक्ति का प्रयोग भी सम्मिलित है।"

उपर्युक्त धारा में संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के 51वें अनुच्छेद का जो आश्रय लिया गया है, वह सहज प्रदर्शनात्मक है, अन्यथा क्षेत्रवाद की मूल भावना पर इन

1. *Schleicher* : International Relations, p. p. 304–305

शब्दों के रहने या न रहने से कोई प्रभाव नही पड़ता। एक सैनिक को कूटनीतिक क्षेत्र मे अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के विधान के अनुकूल सिद्ध करने के लिए ही इस प्रकार का कूटनीतिक शब्द जाल प्राय रचा जाता है।

क्षेत्रीय संगठन प्राय. किसी प्रदेश की रक्षा के लिए बनाये जाते हैं, लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे "प्रदेश" अथवा "क्षेत्र" की कोई स्पष्ट व्याख्या नही है। इस प्रकार क्षेत्रीय संगठनो का क्षेत्र अथवा प्रदेश किन्ही प्राकृतिक या भौगोलिक सीमाओ से बंधा हुआ नही होता। उदाहरणार्थ, उत्तरी अटलान्टिक संगठन मे यूनान और टर्की जैसे राज्य भी सदस्य हैं जो अटलान्टिक प्रदेश मे नही आते। क्षेत्रवाद अथवा प्रदेशवाद, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र मे, एक लोकप्रिय व्याख्या डॉ० वान क्लेफेन्स ने की है जिसके अनुसार "एक प्रादेशिक व्यवस्था अथवा सन्धि ऐसे प्रभुता सम्पन्न राज्यो का स्वैच्छिक समुदाय होना है जो एक निश्चित क्षेत्र के भीतर हो या जिनके उस क्षेत्र मे ऐसे सामान्य उद्देश्यो के लिए सम्मिलित हित हो जिनका प्रयोजन उस क्षेत्र के सम्बन्ध मे आक्रामक कार्यवाही न हो।"

नार्मन हिल (Norman Hill) के शब्दो मे "सामान्यतः एक क्षेत्रीय सन्धि, व्यवस्था अथवा संगठन दो से अधिक राज्यो के बीच एक बन्धन समझा जाता है। अत एक द्विपक्षीय सन्धि, चाहे उसे करने वाले पड़ोसी ही हो, शायद ही कभी क्षेत्रीय या प्रादेशिक सन्धि कहलायेगी। इसमे भी अधिक राज्यो के मध्य को, जिसे हम एक अथवा दूसरे ढग से क्षेत्रीय या प्रादेशिक समूह समझें, स्वैच्छिक होना आवश्यक है। स्वेच्छा का अभाव होने के कारण ही हम रूस और उसके 'उपग्रहों' (पोलैण्ड, हंगरी, चैकोस्लोवाकिया आदि) से बने संगठनो को प्रादेशिक संगठन न मानकर गुट मानते हैं।"[1]

सक्षेप मे यह कहना चाहिये कि अन्तर्राष्ट्रीय जगत मे क्षेत्र अथवा प्रदेश का अर्थ राज्यो के एक ऐसे क्षेत्र से होता है जहा कम से कम किसी सामान्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए कुछ राज्य संगठित होकर कार्य करें। भूमिगत क्षेत्र का विचार इस सन्दर्भ मे महत्वपूर्ण प्रतीत नहीं होता। नार्मन हिल ने इसीलिए सुझाव दिया है कि "क्षेत्रीय" (Regional) के स्थान पर यह उचित होगा कि "सीमित अन्तर्राष्ट्रीय" (Limited International) संगठन शब्दो का प्रयोग किया जाय।

संयुक्त राष्ट्र और क्षेत्रवाद
(The UN and Regionalism)

प्रथम महायुद्ध से पूर्व अमेरिकन राष्ट्रपति वुड्रो विल्सन की धारणा थी कि सभी राष्ट्रो का एक संगठन होना चाहिए और प्रादेशिक संगठनो को कोई स्थान नहीं दिया जाना चाहिए क्योंकि इनके कारण ही शान्ति और सुरक्षा की स्थापना नहीं होती, वरन् ये युद्ध की प्रवृत्ति को ही प्रोत्साहित करते हैं। लेकिन विल्सन को भी बाद मे प्रादेशिक अथवा क्षेत्रीय संगठनो (Regional organizations) को मान्यता देनी

1. *Norman Hill* : International Politics, p. p 344-45.

पड़ी और राष्ट्रसंघ के संविदा (Covenant) में भी उन्हें स्थान दिया गया। संविदा की धारा 21 में कहा गया कि "इस संविदा में कोई भी ऐसी बात नहीं होगी जो शांति व्यवस्था की प्राप्ति के अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों, जैसे मुनरो सिद्धांत के समान पंचायती निर्णय सम्बन्धी सन्धियों अथवा प्रादेशिक समझौते, की सच्चाई को प्रभावित करनेवाली हो।" दो महायुद्धों के मध्यवर्ती काल में इस प्रकार के संगठन बड़ी संख्या में बने और बहुत कुछ इन्हीं के कारण राष्ट्रसंघ सामूहिक सुरक्षा की स्थापना में असफल हुआ तथा उन राज्यों के विरुद्ध कोई दृढ़ कार्यवाही नहीं कर सका जिन्होंने आक्रान्ता का रूप धारण किया।

जब द्वितीय महायुद्ध के बीच अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा संगठन के मौलिक सिद्धान्तों का निर्माण हो रहा था तो अमेरिकन विदेश सचिव हल और राष्ट्रपति रूजवेल्ट एक अन्तर्राष्ट्रीय लीग के पक्ष में थे, और प्रादेशिक संगठनों के विरोधी थे, परन्तु अन्ततः प्रादेशिक संगठनों की स्थापना के प्रयत्न ही सफल हुए। अधिकांश अमेरिकन एवं पश्चिमी राजनीतिज्ञों तथा सैन्य विशारदों के लिए यह चिन्ता का विषय था कि 'रूसी दानव' यूरोप में लौह आवरण (Iron-curtain) के पूर्व में उद्दण्डतापूर्वक विचर रहा था और उसका प्रभाव सारे यूरोप पर पड़ रहा था। पामर एवं परकिन्स ने लिखा है कि "यह तो अटकल लगाने की बात थी कि रूसी सेनायें कुछ ही दिनों, सप्ताहों, अथवा महीनों में इंगलिश चैनल तथा अटलान्टिक सागर तक पहुँच सकती हैं अथवा नहीं, परन्तु यह निश्चित था कि 'पूर्व' (अर्थात् रूस) की ओर से हवाई आक्रमण के मार्ग में कोई भौगोलिक अथवा सैनिक बाधायें नहीं थीं।"

चूँकि राजनीतिज्ञों का बहुमत और अधिकांश राज्य यह नहीं चाहते थे कि आक्रमण के समय संयुक्त राष्ट्रसंघ की सुरक्षा परिषद् (Security Council) के 5 स्थायी सदस्यों के हाथ में ही कार्यवाही करने का अधिकार रहे, अतः उन्होंने अपनी भावी सुरक्षा के लिए प्रादेशिक संगठनों को बनाने के सिद्धान्त का समर्थन किया और इसी बात को सामने रखते हुए संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के 51वें अनुच्छेद में यह उल्लिखित किया गया कि—

"यदि संयुक्त राष्ट्रसंघ के किसी सदस्य पर कोई सशस्त्र आक्रमण होता है तो वह व्यक्ति गत अथवा सामूहिक रूप से आत्मरक्षा करने का अधिकारी है, वर्तमान चार्टर के अनुसार उस पर उस समय तक कोई रोक नहीं होगी जब तक सुरक्षा परिषद् अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा के लिए स्वयं ही कोई कार्यवाही न करे। आत्मरक्षा के लिए सदस्य जो भी कार्यवाही करेंगे उसकी सूचना तुरन्त ही सुरक्षा परिषद् को देंगे। पर इस चार्टर के अनुसार इससे सुरक्षा परिषद् के अधिकारों और दायित्वों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।"

इसके साथ ही चार्टर के 52वें अनुच्छेद में प्रादेशिक संगठनों के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से यह उल्लेख कर दिया गया कि—

"इस चार्टर की कोई धारा अन्तर्राष्ट्रीय शांति व सुरक्षा के लिए स्थापित अथवा निर्मित क्षेत्रीय संस्थाओं और व्यवस्थाओं के विरुद्ध नहीं है किन्तु ऐसी संस्थायें

व व्यवस्थाएं तथा उनकी गतिविधियां संयुक्त राष्ट्रसंघ के उद्देश्यों के अनुकूल होनी चाहिये।"

"यदि संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य ऐसी संस्थाओं के सदस्य हों या उन्होंने ऐसे प्रबन्ध किये हों तो वे स्थानीय झगड़ों को सुरक्षा परिषद् के सामने आने से पहले ही इन्हीं क्षेत्रीय (प्रादेशिक) संस्थाओं या प्रबन्धों के जरिये शान्तिपूर्ण ढंग से समझने की कोशिश करेंगे।"

"यदि राष्ट्र अपनी इच्छा प्रकट करें या सुरक्षा परिषद् की ओर से कोई संकेत मिले तो स्थानीय झगड़े इन्हीं प्रादेशिक संस्थाओं या प्रबन्धों के द्वारा सुलझाये जायेंगे। सुरक्षा परिषद् इस प्रकार के समाधान को बढ़ावा देगी।"

चार्टर की धाराओं से स्पष्ट है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्यों को प्रादेशिक व्यवस्थाओं अथवा एजेन्सियों का प्रयोग करने के लिए उत्साहित किया गया। इतना ही नहीं आगे चलकर चार्टर की 53वीं धारा में यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि सुरक्षा परिषद् को यह अधिकार होगा कि वह चार्टर के प्रादेशिक संगठनों को अपने अन्तर्गत कार्यवाही करने का आदेश दे सकती है प्रादेशिक संगठन सुरक्षा परिषद् का आदेश प्राप्त किये बिना किसी प्रकार की कार्यवाही करने का अधिकार नहीं रखते हैं, उन्हें यह अधिकार केवल उसी समय प्राप्त होंगे जब वे इस प्रकार की कार्यवाही किसी ऐसे राज्य के विरुद्ध करें जो द्वितीय महायुद्ध में शत्रु राज्य थे। यह अनुच्छेद 53 अविकल रूप से इस प्रकार है—

जहां युद्ध होगा, सुरक्षा परिषद् अपने अधिकार में इन प्रादेशिक संस्थाओं या प्रबन्धों से अपनी अमल कराने की कार्यवाही का काम लेगी, लेकिन इन प्रादेशिक संस्थाओं या प्रबन्धों के अधीन अमल कराने की कोई कार्यवाही तब तक नहीं की जायेगी, जब तक सुरक्षा परिषद् ऐसा करने का अधिकार न दे दे। परन्तु यदि अनुच्छेद के पैरा 2[1] में बतलाये गये किसी शत्रु राष्ट्र के खिलाफ अनुच्छेद 107[2] के अनुसार कार्यवाही की जा रही हो तो इस प्रकार का अधिकार पाने की आवश्यकता तब तक नहीं होगी जब तक उस मामले से सम्बन्ध रखने वाली सरकारों की प्रार्थना

1 अनुच्छेद 53 का पैरा 2 शत्रु राष्ट्र की व्याख्या करता है। इसमें लिखा है कि "शत्रु राष्ट्र शब्द उस राष्ट्र के लिए लागू होता है जो द्वितीय महायुद्ध में संघ के चार्टर पर हस्ताक्षर करने वाले किसी राष्ट्र का शत्रु रहा हो।"

2. अनुच्छेद 107 में लिखा गया है कि "द्वितीय महायुद्ध में यदि कोई राष्ट्र किसी हस्ताक्षरकर्त्ता सदस्य का शत्रु रहा हो और जिन सरकारों के ऊपर इसके विरुद्ध कार्यवाही करने की जिम्मेदारी सौंपी गई हो, अगर उन्होंने उसके खिलाफ कोई कार्यवाही की हो या करने के अधिकारी हों तो वर्तमान चार्टर के अनुसार उस कार्यवाही को किसी प्रकार नहीं रोका जा सकेगा और न रद्द ही किया जा सकेगा।"

पर संयुक्त राष्ट्रसंघ को उन राष्ट्रों को आगे आक्रमण करने से रोकने की जिम्मेदारी नहीं दे दी जाये।

प्रादेशिक प्रबन्धों को दी गयी विभिन्न-व्यवस्थाओं के पूरक के रूप में और सब को सम्बन्धित सूचनाओं से सदैव अवगत किये रखने की दृष्टि से चार्टर के अनुच्छेद 54 में लिखा गया कि—"इन प्रादेशिक संस्थाओं और प्रबन्धों के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा बनाये रखने की जो भी कार्यवाही होगी उसकी सूचना सुरक्षा परिषद् को हर समय दी जायगी।"

यद्यपि संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर की उपरोक्त सभी व्यवस्थायें यही घोषणा करती हैं कि प्रादेशिक संगठन विश्व संगठन के उद्देश्यों का परित्याग नहीं करते हुए संयुक्त राष्ट्रसंघ के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होंगे, परन्तु विश्व की महाशक्तियों ने इस व्यवस्था की आड़ में अपने स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों का खेल खेला। परिणामतः गत 15–20 वर्षों में ऐसे प्रादेशिक संगठनों की बाढ़ आ चुकी है जिनसे विश्वशांति की समस्या सुलझने के स्थान पर उलझ रही है। इन संगठनों और समझौतों ने अन्तर्राष्ट्रीय समस्या को उत्पन्न किया है, तनाव को बढ़ाया है तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ के महत्व को घटाया है। युद्धोत्तर काल में जो प्रादेशिक व्यवस्थाएं बनी अथवा अस्तित्व में हैं, वे इस प्रकार हैं—

(क) पश्चिमी गोलार्द्ध में प्रादेशिक व्यवस्थाएं :

(1) रियो सन्धि,
(2) अमेरिकी राज्यों का संगठन (O. A S),
(3) मध्य अमेरिकी राज्यों का संगठन (OCAS),
(4) कैरिबियन आयोग।

(ख) पश्चिमी यूरोप में प्रादेशिक व्यवस्थाएं :

(1) बेनेलक्स संगठन (The Benelux Union)
(2) ब्रूसेल्स सन्धि संगठन (Brussels Treaty Organization) और पश्चिमी यूरोपीय संघ (WEU)
(3) यूरोपीय आर्थिक सहयोग संगठन (OEEC)
(4) यूरोपीय भुगतान या अदायगी संघ (EPU)
(5) यूरोप की परिषद् (The Council of Europe)
(6) यूरोपीय कोयला और इस्पात समुदाय (ECSC)
(7) यूरोपीय प्रतिरक्षा समुदाय (EDC)
(8) यूरोपीय अणु-शक्ति समुदाय (EUROTOM)
(9) यूरोपीय साझा बाजार (ECM)
(10) यूरोपीय मुक्त व्यापार संघ (EFTA)

(ग) उत्तरी अटलान्टिक सैन्य संगठन,

(घ) पूर्वी यूरोप में प्रादेशिक व्यवस्थाएं,

(1) वारसा-सन्धि संगठन

(2) पारस्परिक आर्थिक सहायता परिषद् (CEMA)

(ङ) दक्षिणी-पूर्वी यूरोप में सन्धि व्यवस्था :

(1) बालकन मैत्री संघ (Balkan Entente)

(च) एशिया में प्रदेशवाद

(1) अरब लीग

(2) बगदाद पैक्ट या केन्द्रीय सन्धि संगठन (CENTO), एवं

(3) मनीला पैक्ट या दक्षिणी-पूर्वी एशिया सन्धि संगठन (SEATO)

(छ) प्रशान्त क्षेत्र में प्रदेशवाद :

(1) एन्जुस सन्धि (ANZUS Pact)

प्रादेशिक संगठनों का मूल्यांकन

जैसा कि कहा जा चुका है, प्रादेशिक संगठन आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक सहयोग के संगठन भी हो सकते हैं तथा विशुद्ध सैनिक या सुरक्षा संगठन भी। आर्थिक सहयोग के संगठनों को सामान्यतः हितकर माना जा सकता है, लेकिन सैनिक अथवा सुरक्षा संगठन कटु आलोचना के पात्र हैं—

प्रथम, इन सैनिक संगठनों के औचित्य को स्थापित करते समय सदैव संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर की 51वीं धारा का हवाला दिया जाता है और आत्मरक्षा के अधिकार की दुहाई दी जाती है। परन्तु चार्टर की प्रादेशिक संगठनों सम्बन्धी इस धारा की गलत और मनमानी व्याख्या करके इन संगठनों को उचित सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है। आत्मरक्षा का प्रश्न तो उपस्थित ही तब होता है जब किसी देश पर कोई देश सशस्त्र आक्रमण आरम्भ कर दे। वस्तुस्थिति यही है कि इन संगठनों के द्वारा शक्ति-सन्तुलन की उस प्राचीन पद्धति को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया गया है जिसको संयुक्त राष्ट्रसंघ का चार्टर हमेशा के लिए ध्वस्त करना चाहता था। 9 दिसम्बर, 1955 को संयुक्त राष्ट्रसंघ की राजनीतिक समिति में श्री वी. के. मेनन ने स्पष्ट रूप से कहा था—

"हमारा कहना है कि वे (सुरक्षा संगठन) 51वीं धारा के अन्तर्गत नहीं आते क्योंकि प्रतिरक्षा की व्यवस्था का औचित्य उसी समय है जबकि कहीं सशस्त्र आक्रमण का प्रारम्भ हो जाय।"

दूसरे, चार्टर की 24वीं धारा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा कायम रखने का मुख्य उत्तरदायित्व सुरक्षा परिषद् को सौंपती है ताकि संयुक्त राष्ट्रसंघ की तरफ से आक्रमण का अविलम्ब निरोध किया जा सके। परन्तु ये प्रतिरक्षा संगठन इस मान्यता पर आधारित हैं कि आक्रमण-निरोध की कार्यवाही संयुक्त राष्ट्रसंघ की देख-रेख में न होकर इसके द्वारा सम्पादित होनी चाहिये। यह बात ध्यान देने योग्य है कि इन प्रतिरक्षात्मक संगठनों में कार्य सम्पादन के लिए परिषदों (Councils) की व्यवस्था की गई है जिनकी बैठकें किसी भी समय प्रतिरक्षात्मक कार्यवाही पर

विचार करने के लिए बुलाई जा सकती हैं। सुरक्षा परिषद् की भी इसी प्रकार की व्यवस्था है। वह इस तरह रची गई है कि निरन्तर काम कर सके और आक्रमण प्रारम्भ होने या आक्रमण की संभावना प्रस्तुत होने पर उसे रोकने के लिए आवश्यक कार्यवाही पर अविलम्ब विचार कर सके। इस तरह स्पष्ट है कि प्रादेशिक प्रतिरक्षात्मक संगठन मूलतः इस विचार पर आधारित है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ सामूहिक सुरक्षा की एक प्रभावशाली व्यवस्था का विकास करने में सफल नहीं हुआ है और विश्व के राष्ट्र अपनी सुरक्षा के लिए उस पर निर्भर नहीं रह सकते हैं। अन्य शब्दों में ये सुरक्षा अथवा प्रतिरक्षा संगठन स्वयं को एक प्रकार से संयुक्त राष्ट्रसंघ का प्रतिद्वन्द्वी बनाने में लगे हुए हैं और भविष्य में संघ की असफलता के प्रतीक बन सकते हैं। हैमिल्टन फिश आर्मस्ट्रांग (Hamilton Fish Armstrong) का स्पष्ट मत है कि—

"प्रादेशिक समझौतों की एक शृङ्खला कुछ समय में संघ की विश्वव्यापी प्रकृति और उद्देश्यों को ढक सकती है।"[1]

इसी प्रकार हन्स केल्सन (Hans Kelson) का विचार है कि—

"इस प्रकार की स्थापना व्यवस्थायें उस राजनीतिक और वैधानिक व्यवस्था का दिवालियापन हैं जिसके लिए संयुक्त राष्ट्र की रचना की गई है।"[2]

इस सम्बन्ध में प्रो० ग्रेसन किर्क (Greyson Kirk) का यह कथन उल्लेखनीय है जो उन्होंने नाटो संधि के बारे व्यक्त किया था—

"अन्त में उसके प्रभाव से संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रभाव के कम होने की आशंका है। यदि उसने संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ के प्रभाव का विश्व के पैमाने पर विभाजन कर दिया तो उसके परिणामस्वरूप संयुक्त राष्ट्रसंघ के विकास की समस्त संभावनायें नष्ट हो जायेंगी। उसमें संयुक्त राष्ट्रसंघ की जनरल असेम्बली में गुट के आधार पर मतदान करने की प्रणाली को बल मिलेगा।"

तीसरे, अनेक प्रतिरक्षा संगठनों की प्रेरक शक्तियां गैर प्रादेशिक राज्य हैं। उदाहरणार्थ सीटो और बगदाद पैक्ट (अब सैण्टो) की प्रेरक शक्तियां अमेरिका व ब्रिटेन हैं। इन सैन्य संगठनों के कारण राष्ट्रों के मध्य सहयोग नहीं अपितु फूट और घृणा का प्रसार अधिक हुआ है। सीटो के कारण भारत और पाकिस्तान के सम्बन्ध और भी खराब हो गये तो बगदाद पैक्ट ने अरब राष्ट्रों के बीच फूट डाल दी। श्री कृष्ण मेनन का यह कहना सही है कि गैर प्रादेशिक शक्तियों के कारण प्रादेशिक सुरक्षा संगठन "न्यूनाधिक मात्रा में उपनिवेशवादी शासन की ओर प्रतिगमन" हो गए हैं। श्री नेहरू ने भी कहा था—"फौजी संधियां उपनिवेशों पर प्रभुत्व कायम रखने का जरिया बन रही हैं।" श्री लंका की भूतपूर्व प्रधान-मन्त्री श्रीमती सिरिमावो

1. *Dean Vera M.* : Main Trends in Post-War American Foreign Policy, p. 84.
2. Ibid, p. 84.

भडारनायके ने घोषणा की थी—"फौजी सन्धियां एशिया और अफ्रीका की स्वतन्त्रता की नई भावना के विरुद्ध साम्राज्यवादी राष्ट्रों की साजिश की प्रतीक हैं।"

चौथे, यदि यह मान लिया जाय कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर की 51वीं धारा प्रादेशिक संगठनों के लिए अनुमति प्रदान करती है तो प्रश्न उठता है कि टर्की किस प्रकार नाटो सन्धि में शामिल है, अथवा ब्रिटेन का मध्यपूर्व के साथ किधर से भौगोलिक सम्बन्ध है अथवा संयुक्त राज्य अमेरिका सीटो सन्धि का क्यों कर सदस्य है।

इस तरह स्पष्ट है कि आर्थिक एवं व्यापारिक विकास के लिए बनाए गए प्रादेशिक संगठनों को छोड़कर सैनिक व सुरक्षा लक्ष्यों पर आधारित सभी प्रकार के प्रादेशिक एवं अन्य सैनिक संगठन अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए घातक हैं, अतः इनका परित्याग किया जाना चाहिए। विगत 10 वर्षों का इतिहास यह बताता है कि इन सैन्य संगठनों का व्यावहारिक महत्व संदेहास्पद है। 10 वर्ष पहले रूस और अमेरिका एक दूसरे के उग्रतम विरोधी थे जबकि आज, इन प्रतिरक्षा संगठनों के होते हुए भी, एक दूसरे के कुछ अधिक निकट आए हैं। पाकिस्तान चीन के साथ मैत्री सम्बन्ध स्थापित करके सीटो और सेण्टो संगठनों में दरार डाल चुका है। अमेरिका ने इन संगठनों को बनाया था साम्यवाद के प्रसार को रोकने के लिए और पाकिस्तान ने साम्यवादी चीन से अपनी साठगांठ जोड़ कर अमेरिका के मंसूबे को जबरदस्त आघात पहुंचा दिया है। अमेरिका ने पाकिस्तान को साम्यवाद का प्रतिरोध करने के लिए जो हथियार दिये थे उनका पाकिस्तान द्वारा सितम्बर 1965 में भारत के विरुद्ध खुल्लमखुल्ला प्रयोग किया गया। यह घटना बताती है कि सैनिक संगठनों के सदस्य सैनिक कार्यवाही के समय और वैसे भी, संगठन के उद्देश्यों के प्रति निष्ठावान रहें, इसकी आशा करना सपनों की दुनिया में रहना है। प्रत्येक देश के अपने राष्ट्रीय हित होते हैं और कुछ राष्ट्र ऐसे होते हैं जो स्वयं के राष्ट्रीय हितों की भी परवाह न करते हुए शस्त्र और सैन्य बल का नंगा नाच करने में ही खुशी का अनुभव करते हैं। आज समय की पुकार है कि सैन्य संगठनों के स्थान पर निःशस्त्रीकरण की दिशा में आगे बढ़ते हुए 'जियो और जीने दो' के सिद्धान्त का सभी राष्ट्र अनुसरण करें। यदि "लोहा बजाने" की नीति पर चलते रहा जायगा तो यह निश्चित है कि मानवता तृतीय महायुद्ध के विस्फोट से नष्ट-भ्रष्ट हो जायगी। "संघर्ष मृत्यु-पथ है, सहयोग जीवन पथ"—यह विश्व नेताओं, राजनीतिज्ञों और सैन्य विशारदों पर निर्भर है कि वे संसार को किस पथ पर ले जाना चाहते हैं।

प्रकार्यवाद के क्षेत्र में संयुक्त राष्ट्रसंघ
(The UN in the Sphere of Functionalism)

साधारण जनता का ध्यान अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के राजनीतिक और सुरक्षा सम्बन्धी मामलों पर अधिक जाता है, जबकि आर्थिक और सामाजिक कल्याण एवं

सहयोग के कार्य अपेक्षाकृत अधिक ठोस, स्थायी और रचनात्मक होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक और सामाजिक सहयोग के लिए जिन सगठनो का अस्तित्व है उन्हें आधुनिक राजनीतिक जगत में प्रकार्यात्मक सगठन (Functional Organizations) कहा जाता है और इस प्रकार के सहयोग को विश्व-शान्ति की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम समझने वालो को अथवा इस प्रकार की वकालत करने वालों को प्रकार्यवादी अथवा व्यवहारवादी (Functionalists) कहा जाता है।[1] ये प्रकार्यवादी सगठन गैर राजनीतिक होते हैं।

राष्ट्रसंघ और संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसे अन्तर्राष्ट्रीय सगठनों को राजनीतिक क्षेत्र में अपेक्षित सफलता नहीं मिलते देखकर किन्तु सम्बद्ध गैर-राजनीतिक सगठनों को अपने उद्देश्यो में विशेष रूप से सफल होते देखकर आज यह चर्चा जोर पकड़ने लगी है कि कार्यक्रम अथवा प्रकार्यात्मक सगठनों की गतिविधियों को प्रोत्साहित किया जाय क्योंकि यह विश्व-शान्ति की दृष्टि से अधिक विवेकपूर्ण पथ होगा। प्लानो एवं रिग्स के अनुसार, अन्तर्राष्ट्रीय जगत में शान्ति को मजबूत करने के लिए आर्थिक और सामाजिक सहयोग का विस्तार आवश्यक समझा जाने लगा है और मुश्किल से ही कोई ऐसा प्रकार्यात्मक या कार्यवादी सगठन होगा जो शान्ति-निर्माण को अपना एक मुख्य उद्देश्य न बनाये हुए हो।

प्रकार्यवाद में आधारभूत अन्तर्निहित धारणा यह है कि आर्थिक और सामाजिक कल्याण के क्षेत्र में सहयोग द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की समस्याओं को सर्वोत्तम रूप में कम किया जा सकता है।[2] इसमें यह मार्क्सवादी धारणा भी निहित है कि राज्यों के बीच सघर्ष मुख्यतः सामाजिक असमानता के परिणाम हैं। आर्थिक साधनों का जो दूषित वितरण होता है, उसके फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली आर्थिक और सामाजिक बुराइयां ही अन्तर्राज्यीय और अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों का कारण बन जाती है। इस प्रकार प्रकार्यवाद का सन्देश है कि राजनीतिक क्षेत्र से भी कहीं अधिक महत्वपूर्ण और ठोस कार्य आर्थिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में सहयोग का प्रसार करना है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ का कार्य केवल अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का निपटारा करना और युद्धों को रोकना ही नहीं है बल्कि वह पूर्ण आर्थिक और सामाजिक समस्याओं के निराकरण की भी चेष्टा करता है जो सामान्यतः युद्ध का कारण बन जाती हैं। पिछड़े देश सरलता से उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के शिकार बनकर कालान्तर में विश्व-शान्ति को खतरे में डाल देते हैं, और संयुक्त राष्ट्रसंघ इस तथ्य को समझते हुए अपनी सीमा में यथासाध्य आर्थिक और सामाजिक सहयोग के प्रसार के लिए प्रयत्नशील है। चार्टर के निर्माता इस तथ्य को भली-भांति जानते थे कि विश्व-शान्ति

1. *Plano and Riggs* : opt. cit., p. 381.
2. Ibid, p. 514.

को स्थायी तभी बनाया जा सकता है और संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसी विश्व-संस्था अपने उद्देश्यों में तभी सफल हो सकती है जब संसार में पिछड़े और विकासशील राष्ट्रों की आर्थिक एवं सामाजिक उन्नति की ओर विशेष ध्यान दिया जाय। इसीलिए, राष्ट्रों में व्याप्त आर्थिक एवं सामाजिक असमानताओं को यथासाध्य कम करने के लिए चार्टर के अनुच्छेद 55 में स्पष्टतः उल्लिखित है कि "स्थायी स्थायित्व तथा कल्याण (जो लोगों के समान अधिकारों और आत्मनिर्णय के सिद्धान्तों पर आधारित राष्ट्रों के बीच शान्तिप्रिय एवं मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों के लिए आवश्यक है) की दशाओं के निर्माण की दृष्टि से संयुक्त राष्ट्रसंघ निम्नलिखित बातों को प्रोत्साहन देगा"—

(क) जीवन के उच्च स्तर, पूर्ण कार्य तथा आर्थिक एवं सामाजिक विकास की दशाएं।

(ख) अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक, स्वास्थ्य, एवं सम्बन्धित समस्याओं का समाधान, तथा अन्तर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक और शिक्षा सम्बन्धी सहयोग।

(ग) जाति, लिंग, भाषा अथवा धर्म का कोई भेद-भाव किये बिना मानव-अधिकारों और मौलिक स्वतन्त्रताओं के लिए सार्वदेशिक मूल्यांकन तथा पालन।

उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत अनेक अभिकरणों की स्थापना की गई है जिनका आगामी अध्यायों में यथास्थान विस्तार से वर्णन किया गया है। वास्तव में संयुक्त राष्ट्रसंघ ने स्वयम् और अपने से सम्बद्ध अभिकरणों के माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय जगत में आर्थिक और सामाजिक सहयोग के प्रसार के लिए बहुत कुछ किया है। संयुक्त राष्ट्र में अमेरिका के स्थायी प्रतिनिधि आर्थर जे गोल्डबर्ग ने ठीक ही कहा है कि सामान्य जनता का ध्यान अधिकांशतः संयुक्त राष्ट्रसंघ के शोर-भरे राजनीतिक विवादों पर रहता है किन्तु संयुक्त राष्ट्र का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य तो अराजनीतिक है जिसका कहीं प्रचार नहीं होता। प्रति-वर्ष संयुक्त राष्ट्र के अनेक कार्यक्रम ऐसे होते हैं जो आर्थिक विकास, व्यापार, मानव-अधिकार, शरणार्थी, महिलाओं तथा शिशुओं की सुरक्षा, शिक्षा, कृषि, स्वास्थ्य, परिवार नियोजन, भवन निर्माण और दूसरे अनेक विषयों से सम्बद्ध होते हैं और जिनमें सदस्यों के सामान्य हित निहित हैं। साधारणतया सभी सरकारें इन कार्यक्रमों में सहयोग देती हैं जबकि उनके प्रतिनिधि उसी समय किसी अन्य बैठक में राजनीतिक वाद-विवादों में व्यस्त रहते हैं। इतिहासकारों को किसी दिन यह स्वीकार करना होगा कि संयुक्त राष्ट्र के ये गैर-राजनीतिक कार्य विश्व-शान्ति के लिए सर्वाधिक स्थायी देन हैं जबकि इनका प्रचार सबसे कम होता है।

आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में संयुक्त राष्ट्र के कार्यों का विस्तृत विवेचन अगले अध्यायों में किया गया है। यहां निष्कर्ष रूप में इतना ही लिखना पर्याप्त है कि इस विश्व संगठन ने संसार के विभिन्न भागों में रहने वाले लोगों के बीच अपनत्व की

भावना के विकास की चेष्टा की है। इसके विशेष अभिकरणों द्वारा आर्थिक, सामाजिक, वैज्ञानिक, सांस्कृतिक क्षेत्रों में जो सहयोगकारी और कल्याणकारी कार्य किये जाते हैं उनका प्रभाव यह होता है कि जिन लोगों को इनकी सेवाओं से लाभ प्राप्त हो रहा है उनके दिलों में इसके प्रति सम्मान के भाव जाग्रत होते हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसे आक्रमण के विरुद्ध सामूहिक प्रयत्नों का पक्षपाती है, उसी प्रकार यहां एक राष्ट्र की प्रत्येक समस्या में दूसरे राष्ट्रों के सद्भावनापूर्ण सहयोग को सम्भव बनाता है। इससे संसार के राष्ट्रों के बीच मिलजुलकर रहने और सहयोगपूर्ण सम्बन्धों की परम्पराओं का सूत्रपात होता है। यह कहा जाता है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रयत्नों से आज एक राष्ट्र की सम्प्रभुता मर्यादित होकर अनेक अन्तर्राष्ट्रीय पहलुओं से प्रभावित होने लगी है।

आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में सहयोग के प्रसार द्वारा विश्व-शान्ति को प्रोत्साहन देने में संयुक्त राष्ट्रसंघ का उल्लेखनीय योग रहा है, तथापि यह कहना होगा कि इस संस्था के विश्व-कल्याण के कार्यों में विगत कुछ वर्षों से धीमापन आ गया है और यदि यह प्रवृत्ति पनपती गई तथा पिछड़े हुए देशों के निवासियों की संयुक्त राष्ट्र पर से आस्था उठ गई तो करोड़ों व्यक्ति रोटी के लिए साम्यवाद का सहारा ले लेंगे। पश्चिमी पाकिस्तान के अमानुषिक अत्याचारों से पीड़ितों और भारत में भाग आए लगभग एक करोड़ शरणार्थियों के प्रति मानवीय सहायता में संयुक्त राष्ट्रसंघ की जो उदासीनता रही है, वह इसके भविष्य के लिए एक अशुभ संकेत है।



14

संयुक्त राष्ट्रसंघ के सम्मुख लाये गए प्रमुख राजनीतिक विवाद

(MAJOR POLITICAL ISSUES BROUGHT BEFORE THE U.N.)

"…… शांति घोषणा-पत्रों और प्रतिज्ञाओं में नहीं रहती। … … हमें शांति की स्थापना के लिए प्रयास करना चाहिए। सभी लोगों के दिलों और दिमागों में शांति की इच्छा तथा स्थापनार्थ काम करने की भावना होनी चाहिए। मुझे विश्वास है कि हम ऐसा कर सकते हैं।"

—जान एफ कैनेडी

संयुक्त राष्ट्रसंघ का मुख्य उद्देश्य राजनीतिक समस्याओं का समाधान करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को हर प्रकार से प्रोत्साहन देना है। यद्यपि संघ आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में महती भूमिका निभाता है, तथा उसके राजनीतिक कार्यकलाप ही सामान्यतः अधिक प्रकाश में आते हैं और विश्व-जनमत सामान्यतः उन्हीं के आधार पर उसकी सफलता-असफलता का मूल्यांकन करता है। पूर्ववर्ती अध्यायों में सन्दर्भानुसार, अनेक राजनीतिक समस्याओं पर, जो संयुक्त राष्ट्रसंघ के सम्मुख प्रस्तुत की गई, संक्षेप में विवेचन किया जा चुका है। प्रस्तुत अध्याय में हम संयुक्त राष्ट्रसंघ के सम्मुख अब तक लाए गए प्रमुख राजनीतिक विवादों का उल्लेख करते हुए यह देखेंगे कि संघ उनको निपटाने में कहां तक सफल हुआ है।

महासभा और सुरक्षा परिषद् दोनों ही अराजनीतिक समस्याओं के निराकरण का प्रयत्न करती हैं। चार्टर के अनुसार सुरक्षा परिषद् पर अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा की स्थापना करने का प्रारम्भिक दायित्व है तथापि महासभा भी इन विषयों पर विचार कर सकती है। उसकी शक्तियों पर केवल यह प्रतिबन्ध है कि उन राजनीतिक समस्याओं पर विचार नहीं कर सकती जो सुरक्षा परिषद् के विचाराधीन हैं, जब तक कि परिषद् उसे ऐसा करने की अनुमति न दे। वास्तव में यह कहना होगा

कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के इन दोनों अङ्गों के कार्य कुछ हद तक प्रतिव्यापी (Overlapping) हैं।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के सम्मुख आये हुए सभी विषयों का वर्णन हमें संयुक्त राष्ट्रीय अभिलेखों में प्राप्त होता है जिनका ब्यौरा संयुक्त राष्ट्र की "ईयर बुक्स", "यूनाईटेड नेशन्स बुलेटिन", "यूनाईटेड नेशन्स रिव्यू", "यू एन मन्थली क्रोनिकल" और संयुक्त राष्ट्र के प्रकाशन विभाग द्वारा समय-समय पर प्रकाशित पुस्तिकाओं, भूमिका-पत्रों और शोध-पत्रों में मिलता है। महासचिव की वार्षिक रिपोर्ट भी इसका कुछ परिचय देती है। अब आगे हम उन प्रमुख राजनीतिक विवादों को प्रस्तुत करेंगे जो संघ के सम्मुख अब तक समय-समय पर उपस्थित किये गये हैं—

रूस ईरान विवाद

संयुक्त राष्ट्रसंघ के समक्ष प्रस्तुत किया जाने वाला यह प्रथम विवाद था। ईरान के एक प्रान्त आजरबाइजान (Azerbizan) में सोवियत फौजें घुसी हुई थी। 19 जनवरी, 1946 को ईरान ने सुरक्षा परिषद् से शिकायत करते हुए रूस पर ईरान के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का आरोप लगाया और ईरानी प्रान्त में रूसी सेनाओं की उपस्थिति को अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए खतरा बताया। सुरक्षा-परिषद् में आरोप-प्रत्यारोप चले और रूस ने यह संकेत दिया कि वह ईरानी सरकार के साथ प्रत्यक्ष वार्ता करना पसन्द करेगा। परिषद् ने दोनों पक्षों को सीधी बातचीत करने और वार्ता की प्रगति से सूचित करने का सुझाव दिया। जब वार्ता से कोई परिणाम नहीं निकला तो परिषद् ने सोवियत संघ से प्रार्थना की कि वह 6 मई, 1947 तक ईरान से अपनी फौजें बुला ले। इसी बीच ईरान और रूस के मध्य समझौता हो गया और महासचिव ने बताया कि परिषद् को अब इस प्रश्न पर विचार करने का अधिकार नहीं रहा है। 21 मई, 1946 को तेहरान तथा मास्को ने घोषणा की कि सोवियत सेनायें 9 मई को ही ईरान खाली कर चुकी हैं।

ईरानी संकट को सुलझाने में यद्यपि-सुरक्षा-परिषद् द्वारा की गई किसी विशेष कार्यवाही का भाग नहीं था, किन्तु परिषद् में हुई बहसों ने समस्या पर प्रबल रूस विरोधी लोकमत जाग्रत कर दिया और रूस ने अपनी सेनायें ईरानी भूमि से हटा लेना उचित समझा।

यूनान-विवाद

3 जनवरी, 1946 को रूस ने सुरक्षा परिषद् से शिकायत की कि महायुद्ध समाप्त हो जाने के बाद भी ब्रिटिश फौजें यूनानी भू-प्रदेश पर बनी रह कर, उस देश के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप तथा अन्तर्राष्ट्रीय तनाव पैदा कर रही हैं। परिषद् में विचार-विमर्श के दौरान यूनानी प्रतिनिधि ने कहा कि यूनानी जनता ब्रिटिश सैनिकों की उपस्थिति को जन-व्यवस्था और सुरक्षा के लिए अनिवार्य समझती है। इस स्थिति में यह स्वाभाविक था कि सुरक्षा-परिषद् ने मामले की सुनवाई समाप्त करने का निश्चय कर लिया। दिसम्बर, 1946 में यूनान ने परिषद् से

शिकायत की कि पड़ोसी साम्यवादी देश छापा-मारों को सहायता दे रहे हैं और यूनान के साथ तनाव पैदा कर रहे हैं। परिषद् द्वारा नियुक्त आयोग ने मई, 1947 में इस शिकायत की पुष्टि की। परिषद् ने जब आगे जांच-पड़ताल करने का प्रयत्न किया तो सोवियत रूस ने वीटो का प्रयोग कर दिया। इसके बाद महासभा ने जांच-पड़ताल के लिए आयोग नियुक्त किया जिसे अल्बानिया, बल्गेरिया व यूगोस्लाविया ने अपनी सीमाओं में प्रवेश की अनुमति नहीं दी। अन्त में 3 मुख्य कारणों से यूनानी समस्या का समाधान हो गया—

(1) महासभा द्वारा नियुक्त आयोग की उपस्थिति में साम्यवादी देशों द्वारा पूर्ववत् मात्रा में छापा मारों को सहायता नहीं दी जा सकी।

(2) टीटो स्टालिन विवाद के कारण यूनानी छापा-मारों को यूगोस्लाविया की सहायता बन्द हो गई।

(3) संयुक्त राष्ट्रसंघ के निरीक्षण में अमेरिका द्वारा यूनान को पूरी-पूरी आर्थिक व सैनिक सहायता मिली।

इस प्रकार संयुक्त राष्ट्रसंघ के सामयिक और साहसिक हस्तक्षेप से दक्षिणी यूरोप का एक महत्वपूर्ण देश साम्यवादी नियन्त्रण में जाते-जाते बच गया।

बर्लिन की समस्या

1945 की पोट्सडम समझौते के अनुसार बर्लिन नगर रूस, फ्रांस, ब्रिटेन और अमेरिका के नियन्त्रण में बांट दिया गया था। पश्चिमी बर्लिन मित्र राष्ट्रों के नियन्त्रण में और पूर्वी बर्लिन रूस के नियन्त्रण में रहा था। तभी से आज तक यह स्थिति चली आ रही है। पोट्सडम सम्मेलन में यह भी तय हुआ था कि दोनों जर्मनी की आर्थिक एकता कायम रखी जायेगी। लेकिन चारों देश इस निर्णय को कायम न रख सके। पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा नई मुद्रा प्रचलित करने से क्षुब्ध होकर रूस ने 1 मार्च, 1948 को पश्चिमी बर्लिन के जल और थल मार्ग बन्द कर दिये। इस नाके-बन्दी का प्रत्युत्तर पश्चिमी राष्ट्रों ने हवाई मार्ग का अधिकाधिक प्रयोग करके दिया।

23 सितम्बर, 1948 को सुरक्षा-परिषद् में इसी नाके-बन्दी के विरुद्ध शिकायत की गई और इस कार्यवाही को शान्ति के लिए घातक बताया गया। झगड़ा महाशक्तियों के बीच था, अतः सुरक्षा-परिषद् समस्या पर विचार करने के अतिरिक्त और कुछ भी कर सकने में असमर्थ थी। इसी मध्य चारों महाशक्तियों के बीच अनौपचारिक रूप से समस्या को सुलझाने की बातचीत चलती रही और 4 मई, 1949 को फ्रांस, ब्रिटेन व अमेरिका ने सुरक्षा-परिषद् को सूचित किया कि बर्लिन समस्या पर रूस से उनका समझौता हो गया है।

यद्यपि समस्या का हल महाशक्तियों के आपसी समझौते से हुआ, तथापि संयुक्त राष्ट्रसंघ ने विचार-विमर्श, पत्र-व्यवहार और सम्पर्क आदि के माध्यम से

दोनों पक्षों को परस्पर मिलने के लिए महत्त्वपूर्ण तथा उपयोगी पृष्ठभूमि तैयार की ग्रौर स्थान तथा सुविधायें उपलब्ध कीं।

कोरिया संकट

यह एक ऐसा गम्भीर संकट था जिसमें संयुक्त राष्ट्रसंघ की सामाजिक सुरक्षा ग्रौर दण्ड-व्यवस्था की वास्तविक परीक्षा थी ग्रौर जिसके समाधान के लिए संघ को पहली बार सैनिक कार्यवाही का आसरा लेना पड़ा। द्वितीय महायुद्ध के बाद विभाजित उत्तरी ग्रौर दक्षिणी कोरिया में विरोध बढ़ता गया। 25 जून, 1950 को उत्तरी कोरिया ने दक्षिणी कोरिया पर विशाल सैनिक आक्रमण कर दिया। संयुक्त राष्ट्रसंघीय जाँच-पड़ताल से इसकी पुष्टि हो गई। इन दिनों रूस ने संयुक्त राष्ट्रसंघ की बैठकों का बहिष्कार कर रखा था। सुरक्षा-परिषद् ने उत्तरी कोरिया को आक्रमणकारी घोषित करके सैनिक हस्तक्षेप का निश्चय किया। जुलाई, 1960 में संयुक्त राष्ट्रसंघीय झण्डे के अधीन लगभग सोलह राष्ट्रों की एक संयुक्त कमान की रचना हुई जिसका सेनापति जनरल मेकार्थर बनाया गया। पहले तो संयुक्त राष्ट्रसंघ की सेना को सफलता मिली लेकिन जब संघीय फौजों ने 38 अक्षांश पार करके उत्तरी कोरिया क्षेत्र में लड़ना शुरू किया तो साम्यवादी चीन के सैनिक उत्तरी कोरिया की ग्रोर से लड़ाई में कूद पड़े।

एक ग्रोर तो संयुक्त राष्ट्रसंघ की सैनिक कार्यवाही जारी रही ग्रौर दूसरी ग्रोर संघ ने शान्तिपूर्ण समझौते के प्रयास जारी रखे। महासभा ने चीन ग्रौर उत्तरी कोरिया को युद्ध-सामग्री भेजने पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया पर इसका कोई फल नहीं निकला। युद्ध की भीषणता से दोनों ही पक्ष तंग ग्रा गये ग्रौर विराम-सन्धि की चर्चा चलने लगी। ग्रन्त में 10 जुलाई, 1951 को राष्ट्र संघीय संयुक्त कमान ग्रौर साम्यवादी चीन व उत्तरी कोरिया की संयुक्त कमान के प्रतिनिधियों में अधिकांश विषयों पर समझौता हो गया। शेष मतभेदों ग्रौर युद्ध-बन्दियों के मसले पर जून, 1953 में समझौता सम्पन्न हो सका।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रयासों से कोरिया का युद्ध विश्व-युद्ध बनने से रुक गया। ए. ई. स्टीवेन्सन के शब्दों में—"संयुक्त राष्ट्रसंघ के इस प्रथम महान् सामूहिक सैनिक कार्यवाही ने यह सिद्ध कर दिया कि यह संगठन शक्ति ग्रौर शान्ति दोनों से काम लेने के रूपों को ग्रहण करने योग्य है।" वास्तव में संयुक्त राज्य ग्रमेरिका की प्रबल सैनिक शक्ति के बल पर ही संघ कोरिया युद्ध में सफल हो सका।

फिलीस्तीन विभाजन की समस्या

प्रथम महायुद्ध के बाद यह प्रदेश संरक्षण प्रदेश (Mandate) के रूप में ब्रिटेन को प्राप्त हुआ था। द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त फरवरी, 1947 में ब्रिटेन ने घोषणा कर दी कि उसके लिए इस मैन्डेट के शासन-प्रबन्ध को चलाना सम्भव नहीं है। ग्रप्रैल, 1947 में ब्रिटेन ने यह समस्या महासभा के सामने पेश करदी। महासभा द्वारा नियुक्त विशेष समिति ने ग्रगस्त, 1947 में सिफारिश की कि फिलीस्तीन

को दो भागों में बांट दिया जाय—एक भाग में अरब राज्य की स्थापना हो और दूसरे में यहूदी राज्य की। महासभा ने सिफारिश स्वीकार कर ली। लेकिन फिलीस्तीन विभाजन के प्रश्न पर अरबों और यहूदियों में संघर्ष बढ़ता गया। दोनों पक्षों में प्रभावी युद्ध-विराम के सभी संयुक्त राष्ट्र संघीय प्रयास विफल हो गये। 14 मई, 1948 को ब्रिटेन ने फिलीस्तीन पर से अपना शासन प्रबन्ध हटा लिया (जिसकी घोषणा 15 मई को की गई) और यहूदियों ने फिलीस्तीन में इजराइल राज्य की घोषणा कर दी। बदले में ईराक, लेबनान, ट्रांस-जोर्डन आदि अरब राष्ट्रों ने फिलीस्तीन पर आक्रमण कर दिया। इजराइल के प्रत्याक्रमण को अरब राष्ट्र नहीं झेल सके। 11 जून, 1948 को संयुक्त राष्ट्र संघीय प्रतिनिधि बर्नाडोट के प्रयत्नों से दोनों पक्षों में चार सप्ताह के लिए युद्ध-विराम हो गया किन्तु उपद्रव चलते रहे और 17 सितम्बर को बर्नाडोट भी गोली के शिकार हुए। सुरक्षा-परिषद् ने अब डा० राल्फ जे. बन्च को कार्यवाहक मध्यस्थ नियुक्त किया। 29 दिसम्बर को तीसरी बार युद्ध-विराम स्थापित हुआ। इसके बाद महासभा ने एक "संयुक्त राष्ट्र समझौता आयोग" (U.N. Conciliation Commission) नियुक्त किया जिसने अनेक विकट प्रश्नों को सुलझाया और इजराइल व पड़ौसी राज्यों में सीमा सम्बन्धी सन्धियाँ सम्पन्न हुई।

यद्यपि संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रयासों से फिलीस्तीन विभाजन की समस्या का समाधान होकर इजराइल और अरब राष्ट्रों में सन्धियाँ हो गई लेकिन इस क्षेत्र में स्थायी शान्ति की समस्या आज भी ज्यों की त्यों बनी हुई है। अक्टूबर, 1956 में मिस्र और इजराइल के मध्य पुन युद्ध छिड़ा तथा रूसी हस्तक्षेप व राष्ट्र संघीय प्रयासों से शान्ति स्थापित हुई। इसके बाद 1967 के मध्य एक बार फिर अरब राष्ट्रों और इजराइल के बीच घन-घोर युद्ध छिड़ा तथा संयुक्त राष्ट्र संघीय प्रयत्नों से अस्थायी तौर पर शान्ति हो गई।

इण्डोनेशिया विवाद

द्वितीय महायुद्ध के पूर्व इण्डोनेशिया पर हालैण्ड का अधिकार था। युद्धकाल में जापान ने अधिकार जमा लिया। जापान की पराजय के बाद इण्डोनेशिया के राष्ट्रवादियों ने अपने यहां एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना कर दी। फलस्वरूप हालैण्ड और इण्डोनेशिया में युद्ध छिड़ गया। मामला सुरक्षा-परिषद् में आया। परिषद् द्वारा नियुक्त 'सत्कार्य समिति' (Good Offices Committee) के प्रयत्नों से अगस्त, 1947 में दोनों पक्षों में युद्ध बन्द हो गया और स्थायी सन्धि की वार्ता चलने लगी। लेकिन दिसम्बर, 1948 में हालैण्ड ने इण्डोनेशियन गणराज्य के विरुद्ध पुन युद्ध छेड़ दिया। तथा इण्डोनेशिया के राष्ट्रपति व अन्य नेताओं को गिरफ्तार कर लिया। परिषद् ने इस सब कार्य का विरोध करते हुए हालैण्ड से कहा कि इण्डोनेशिया में एक सर्वोच्च सत्ता सम्पन्न संघात्मक गणराज्य की स्थापना की जाय जिसे डच सरकार 1 जुलाई, 1949 तक संप्रभु शक्ति हस्तान्तरित कर दे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए 'सत्कार्य समिति' को 'इण्डोनेशिया आयोग' में परिवर्तित कर दिया गया।

काफी विचार-विमर्श और दवाव के बाद डचों ने इण्डोनेशियाई राजधानी से अपनी फौजें बुलाली ग्रोर यह सहमति प्रकट की कि 30 दिसम्बर, 1949 तक इण्डोनेशिया के गणराज्य को सर्वोच्च सत्ता हस्तान्तरित कर दी जायगी। बाद में 27 दिसम्बर, 1949 को ही इण्डोनेशिया को एक स्वतन्त्र सप्रभु गणराज्य मान लिया गया ग्रौर 28 दिसम्बर, 1950 को उसे संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता भी प्रदान कर दी गई। इण्डोनेशियाई विवाद को हल करने में इस प्रकार संयुक्त राष्ट्रसंघ को उल्लेखनीय सफलता मिली।

दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार का प्रश्न

दक्षिण अफ्रीका सरकार 'काले-गोरे' में भेद मानने के लिए बहुत समय से बदनाम है। 1946 में संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा के प्रथम अधिवेशन में ही भारत ने यह प्रश्न उपस्थित कर दिया और दक्षिण अफ्रीका की सरकार पर मानवीय मौलिक अधिकारों के उल्लंघन का आरोप लगाया। दक्षिण अफ्रीका ने भारत की शिकायत पर यह सफाई दी कि यह उसका घरेलू मामला है और संयुक्त राष्ट्रसंघ को इसमें दखल नहीं देना चाहिए। महासभा ने दक्षिण अफ्रीका के एतराज को अमान्य घोषित करते हुए भारतीय प्रस्ताव पास कर दिया। किन्तु दक्षिण अफ्रीका इस प्रस्ताव की चिन्ता न करते हुए अपनी जाति-भेद की अमानवीय नीति पर चलता रहा। 1949 में यह प्रश्न पुनः महासभा में उठाया गया जिसने एक प्रस्ताव द्वारा सिफारिश की कि भारत, पाकिस्तान और दक्षिण अफ्रीका एक गोलमेज सम्मेलन करके समस्या का निदान करें। सम्मेलन में दक्षिण अफ्रीका की जिद के कारण कोई निर्णय न हो सका। संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा में अब तक यह प्रश्न बराबर उठाया गया है, लेकिन दक्षिण अफ्रीका ने अपना रवैया नहीं बदला है। महासभा में प्रस्ताव पास होते हैं, पर समस्या ज्यों की त्यों बनी हुई है। वास्तव में इस प्रकार की मानवीय व्यवहार की समस्या को न सुलझा पाना संयुक्त राष्ट्रसंघ की एक बहुत बड़ी विफलता है। ऐसी महत्व अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के लिए यह दुर्भाग्यपूर्ण असमर्थता है कि समस्त विश्व असहाय होकर ताकता रहे और दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद अपना नग्न नृत्य करता रहे तथा समस्त नैतिक और मानवीय मूल्यों पर आघात करता रहे।

काश्मीर समस्या

15 अगस्त, 1947 को भारत उप-महाद्वीप में दो स्वतन्त्र राष्ट्रों—भारत और पाकिस्तान की स्थापना हुई। स्वतन्त्रता देने से पूर्व ब्रिटिश सरकार ने यह व्यवस्था की कि देशी राज्य अपनी इच्छानुसार अपनी स्थिति का निर्धारण कर सकते हैं और चाहें तो भारत या पाकिस्तान के साथ मिल सकते हैं। काश्मीर भी इसी तरह का एक देशी राज्य था। इस राज्य ने स्वतन्त्र रहने का निर्णय किया।

पाकिस्तान की नियत काश्मीर को जबरदस्ती अपने साथ मिलाने की थी। अतः 22 अक्टूबर, 1947 को उसने उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त के कबाइलियों द्वारा

काश्मीर पर हमला करवा दिया। पाकिस्तान की एक नियमित सेना के एक बड़े भाग ने भी इस आक्रमण में हिस्सा लिया। राजधानी श्रीनगर का पतन सन्निकट होने पर काश्मीर के महाराजा ने 26 अक्टूबर, 1947 को भारत सरकार से काश्मीर को भारत में शामिल कर अविलम्ब सैनिक सहायता देने का अनुरोध किया। महाराजा ने 'प्रवेश पत्रक' (Instrument of Accessation) पर हस्ताक्षर कर दिए। तत्पश्चात् भारतीय सेनायें काश्मीर की रक्षा के लिए भेज दी गई। काश्मीर में पाकिस्तान का नग्न आक्रमण जारी रहा और 1 जनवरी, 1948 को भारत ने सुरक्षा परिषद् में शिकायत की कि इस आक्रमण से अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को खतरा है। भारत ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि पाकिस्तान का काश्मीर पर आक्रमण स्वयं भारत के विरुद्ध किया गया आक्रमण है। भारत के तत्कालीन प्रधानमन्त्री पंडित नेहरू ने घोषणा की कि काश्मीर का स्थाई विलयन भारत में वहां की जनता की मत-गणना (Plebescite) पर होगा।

सुरक्षा परिषद् में दोनों पक्षों की ओर से आरोप-प्रत्यारोप होते रहे। 20 जनवरी, 1948 को सुरक्षा परिषद् ने एक मध्यस्थ आयोग (Mediation Commission) नियुक्त किया जिसे युद्ध बन्द कराने के लिए और जनमत संग्रह का कठिन काम सौंपा गया। आयोग के प्रयत्न से युद्ध विराम हो गया और 1/3 काश्मीर पाकिस्तान के कब्जे में रह गया। आयोग ने जनमत संग्रह कराने के लिए दोनों देशों पर कुछ प्रतिबन्ध लगाये जिन्हें पाकिस्तान ने मना कर दिया। काश्मीर में परिस्थितियां तेजी से बदलती गई और भारत व पाकिस्तान में समझौता कराने के संयुक्त राष्ट्र संघीय प्रयास कोई सफलता अर्जित न कर सके। पाकिस्तान को पश्चिमी राष्ट्रों का खुला समर्थन मिलता रहा और उनके हाथों में खेलते हुए सुरक्षा परिषद् भारत के साथ अन्याय करती रही। 1954 में काश्मीर संविधान सभा ने काश्मीर के बाजाब्ता भारत में विलय का अनुमोदन कर दिया। 1956 में राज्य के लिये एक नया संविधान स्वीकार किया गया जिसके द्वारा काश्मीर प्रत्येक दृष्टि से भारत का अंग बन गया। इस तरह अब काश्मीर समस्या का स्वरूप बिल्कुल बदल गया और जनमत संग्रह का कोई मूल्य न रह गया। पाकिस्तान द्वारा अमेरिकन सैनिक गुट में शामिल हो जाने के कारण और काश्मीर को बलपूर्वक लेने की चालें खेलने के कारण, जनमत संग्रह की बात बहुत पहले ही निरर्थक हो चुकी थी।

पाकिस्तान, पाश्चात्य राष्ट्रों के समर्थन के बल पर रह-रह कर काश्मीर के प्रश्न को सुरक्षा परिषद में उठाता रहा, लेकिन भारत के दृढ़ रुख के कारण और न्याय का पक्ष लेते हुए सोवियत रूस के निषेधाधिकार के प्रयोग के कारण उसके कुटिल उद्देश्य पूरे न हो सके।

काश्मीर का मामला आज भी सुरक्षा परिषद् की विषय सूची में है। दुर्भाग्यवश विश्व गुटबन्दी के कारण सुरक्षा परिषद् अभी तक इस विवाद का हल नहीं कर सकी है। सुरक्षा परिषद् में पश्चिमी शक्तियों का बहुमत है, अतः पाकिस्तान

परिषद् के फैसले को अपने पक्ष मे कराने का कोई मौका नहीं चूकता। किन्तु सितम्बर, 1965 के भारत-पाक युद्ध के बाद अब स्थिति इतनी बदल चुकी है कि पाकिस्तान भी यह समझ चुका है कि परिषद् के माध्यम से भारत पर कोई भी निर्णय थोपने की बात सोचना व्यर्थ होगा।

वास्तव मे संयुक्त राष्ट्रसंघ के लिये काश्मीर का विवाद राहू के समान सिद्ध हुआ। यद्यपि इस प्रश्न को लेकर भारत और पाकिस्तान के बीच होने वाले युद्धों को वह शान्त कर सका है, लेकिन पश्चिमी शक्तियों के हाथो में खेलते हुए उसने जो पक्षपातपूर्ण रवैया अपनाया है, उससे इस महान् संस्था के गौरव पर आघात ही लगा है। न्याय और निष्पक्षता का तकाजा यही है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ आक्रामक पाकिस्तान की सेनाओ को काश्मीर की भूमि से हटाने की कार्यवाही करे।

स्वेज नहर विवाद

1869 मे बनकर पूरी हुई स्वेज नहर का संचालन एक स्वेज नहर कम्पनी करती थी जिसमे ब्रिटेन और फ्रान्स के अधिकांश शेयर थे। समझौते के अनुसार इसकी रक्षा के लिये ब्रिटिश सरकार अपनी सेना रखती थी। नवम्बर, 1950 में मिस्र की सरकार ने यह माग की कि ब्रिटिश सेना स्वेज नहर क्षेत्र से हट जाए। ब्रिटेन द्वारा यह माग ठुकरा देने पर दोनो पक्षों के सम्बन्ध कटु होते गए। मिस्र मे राष्ट्रीय आन्दोलन जोर पकड़ता गया और अन्त मे जुलाई, 1954 मे एक नये समझौते के अन्तर्गत ब्रिटेन को स्वेज नहर क्षेत्र से अपनी सेना हटा लेनी पड़ी। इस समय मिस्र में कर्नल नासिर का शासन था। उपरोक्त समझौते के बाद भी मिस्र और ब्रिटेन व अन्य पश्चिमी राष्ट्रों के सम्बन्धो मे कोई सुधार नही हुआ और 26 जुलाई, 1956 को नासिर ने स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण कर दिया तथा मिस्र मे स्वेज नहर कम्पनी की सम्पत्ति जब्त कर ली। ब्रिटेन और फ्रांस ने यह सम्पूर्ण विवाद 26 सितम्बर को सुरक्षा परिषद् के समक्ष रख दिया। 13 अक्टूबर, 1956 को परिषद् ने समस्या के हल के लिये 6 सिद्धान्तो का प्रतिपादन एक प्रस्ताव के रूप मे किया जिसमे स्वेज नहर पर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण रखने का भी सुझाव दिया गया, लेकिन सोवियत वीटो से यह प्रस्ताव रद्द हो गया।

आपसी तनातनी इतनी बढ़ गई कि 29 अक्टूबर, 1956 को ब्रिटेन और फ्रांस की प्रेरणा पर इजराइल ने स्वेज नहर क्षेत्र पर आक्रमण कर दिया। इसके दो दिन बाद ही ब्रिटेन और फ्रांस भी इजराइल के साथ युद्ध मे कूद पड़े। सुरक्षा-परिषद् मे युद्ध बन्द करने का प्रस्ताव फ्रांस और ब्रिटेन के वीटो के कारण पास न हो सका। संघ के जीवन मे यह घोर संकट का समय था जब सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्य स्वयं संघ के चार्टर का उल्लंघन करके, संघ के एक सदस्य राज्य पर हमला कर रहे थे। 2 नवम्बर, 1956 को महासभा के एक विशेष अधिवेशन ने अमेरिका का एक प्रस्ताव पारित किया जिसमे ब्रिटेन और फ्रांस को सैनिक कार्यवाही की निन्दा करते हुए अविलम्ब युद्ध बन्द करने पर बल दिया गया। 4 नवम्बर को यह

प्रस्ताव पास किया गया कि महा सचिव श्री डाग हैमरशोल्ड संयुक्त राष्ट्रसंघ की एक आपात्कालीन सेना तैयार करें जो मिस्र में लड़ाई बन्द कराने जाय तथा युद्धबन्दी का कार्य करे। 10 राष्ट्रों ने मिलकर 6 हजार सैनिक दिये जो संयुक्त राष्ट्रसंघ के नीले और श्वेत ध्वज के नीचे एकत्र हुए। 5 नवम्बर को सोवियत रूस ने ब्रिटेन और फ्रांस को स्पष्ट चेतावनी दी कि यदि एक निश्चित समय के भीतर मिस्र पर हमला बन्द नहीं किया गया तो सोवियत संघ नवीनतम शस्त्रों के साथ इस संकट में हस्तक्षेप करेगा। इस चेतावनी से तृतीय महायुद्ध की सम्भावना दिखाई पड़ने लगी और ब्रिटेन और फ्रांस ने भयभीत होकर युद्ध बन्द कर दिया। 7 नवम्बर, 1956 को महासभा ने अपने एक प्रस्ताव में कहा कि ब्रिटेन, फ्रांस व इजराइल की सेनायें मिस्र से हट जाएं तथा स्वेज नहर क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस की व्यवस्था की जाए। इस प्रस्ताव के फलस्वरूप युद्ध पूरी तरह बन्द हो गया और 15 नवम्बर को संयुक्त राष्ट्र संघीय आपातकालीन सेना का पहला दस्ता मिस्र पहुंच गया। मिस्र ने संघ की सेनाओं को तभी घुसने की आज्ञा दी जब मिस्र की प्रभुसत्ता को हानि न पहुंचने का वचन दे दिया गया। अप्रैल, 1957 में स्वेज नहर से जहाजों का आना-जाना पुनः प्रारम्भ हो गया।

मिस्र में युद्ध बन्द कराने और विदेशी सेनाओं को हटाने में संयुक्त राष्ट्रसंघ को पूरी सफलता मिली और स्वेज पर ब्रिटेन व फ्रांस के पुनः आधिपत्य के सपने चूर-चूर हो गये।

कांगो समस्या

संयुक्त राष्ट्रसंघ की सबसे कठिन परीक्षा कांगो में हुई और सौभाग्यवश इस परीक्षा में वह सफल हुआ। 1959 से पहले इस पर बेल्जियम का अधिकार था। लेकिन राष्ट्रवादी आन्दोलन के परिणामस्वरूप 30 जून, 1960 को स्वतन्त्र कांगो गणराज्य की स्थापना हुई। लुमुम्बा प्रधानमन्त्री बने और कासावुबू राष्ट्रपति।

लेकिन कांगो के लिये यह राष्ट्रीय स्वतन्त्रता महंगी सिद्ध हुई। कांगो के 6 प्रान्त स्वतन्त्र होने का प्रयत्न करने लगे। 6, जुलाई 1960 को लियोपोल्डविले नामक प्रान्त में सैनिक विद्रोह हो गया और बेल्जियम कांगो में पुनः हस्तक्षेप की ताक में था, अतः बेल्जियम की जनता की सुरक्षा के बहाने 9 जुलाई, 1960 को उसने कांगो में अपनी सेनाएं भेज दी। बेल्जियम के षड्यन्त्र से 11 जुलाई को कटंगा प्रान्त ने एक पृथक स्वतन्त्र राज्य बनाने की घोषणा कर दी। 12 जुलाई को प्रधानमन्त्री लुमुम्बा ने संयुक्त राष्ट्रसंघ से प्रार्थना की कि बेल्जियम के आक्रमण से रक्षा करने के लिये कांगो को तुरन्त सैनिक सहायता दी जाए। 14 जुलाई को परिषद् ने यह प्रस्ताव पारित किया कि बेल्जियम की सेनाएं कांगो से वापस चली जायं और महासचिव कांगो को आवश्यक सैनिक सहायता देने की व्यवस्था करे। इस प्रस्ताव के अनुपालन में [illegible] जुलाई तक संघ की सेनाओं के 10 हजार से भी अधिक सैनिक कांगो पहुंच गये। संयुक्त राष्ट्र संघीय सैनिकों ने कांगो और बेल्जियम के बीच होने वाले संघर्ष

को समाप्त कर दिया। शीघ्र ही संघ की सेनायें विद्रोही कटंगा प्रान्त को छोड़कर पूरे कांगो में फैल गई।

कांगो का मामला सुलझने की बजाय उलझता ही गया। अगस्त, 1960 के अंत तक स्थिति बहुत बिगड़ गई। कटंगा का अनुसरण करते हुए कांगो के अन्य प्रान्तों ने भी पृथक राज्य स्थापित करने की नीति अपनाई। विद्रोहियों को कुचलने के लिये लुमुम्बा ने सैनिक शक्ति का आश्रय लिया। विद्रोहियों को बेल्जियम की खुली मदद मिलती रही। विदेशी हस्तक्षेप से कांगो को बचाने के लिये संयुक्त राष्ट्रसंघीय सैनिकों ने कांगो के सभी हवाई अड्डों पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया लेकिन कांगो के गृह-युद्ध में तटस्थता की नीति स्वीकार की। संयुक्त राष्ट्रसंघ का यह कार्य इस दृष्टि से पक्षपातपूर्ण था कि पृथक्तावादियों को तो कांगो में पहुँची हुई सेनाओं से खूब मदद मिल रही थी जबकि हवाई अड्डों पर संघीय सेनाओं का कब्जा होने से केन्द्रीय कांगोली सरकार को बाहर से सहायता मिलना बन्द हो गया था।

सितम्बर के प्रारम्भ में प्रधानमन्त्री लुमुम्बा और राष्ट्रपति कासावुबू में सत्ता संघर्ष छिड़ गया। दोनों के सत्ता संघर्ष से कांगोली सेना परेशान हो गई और 14 सितम्बर को कर्नल मोबूतू ने सारी शासन सत्ता अपने हाथ में ले ली तथा कांगो में सैनिक शासन की घोषणा कर दी। कांगो की हालत बिगड़ती गई। जनवरी, 1961 में लुमुम्बा की हत्या कर दी गई। उधर कटंगा के शोम्बे ने संयुक्त राष्ट्रसंघ को यह धमकी देना शुरू कर दिया कि यदि संघीय सेनायें कटंगा भेजी गई तो उसके विरुद्ध घोर आक्रमणात्मक कार्यवाही की जाएगी। कांगो की बिगड़ती हुई स्थिति पर विचार करने के उपरान्त सुरक्षा परिषद् ने 21 फरवरी, 1961 को यह प्रस्ताव पास किया कि कांगो में गृह-युद्ध रोकने के लिये सब उपाय बरते जाएं। इस प्रस्ताव के अनुपालन में संयुक्त राष्ट्रसंघ की एक सैनिक कमान नियुक्त की गई। 24 नवम्बर, 1961 को सुरक्षा परिषद् ने अपने एक प्रस्ताव में आदेश दिया कि कांगो से कटंगा के पृथक् होने के कार्यों को रोकने का प्रयत्न किया जाए। इसके बाद ही दिसम्बर में संयुक्त राष्ट्र संघीय फौजों ने कटंगा प्रदेश पर नियन्त्रण रखने और केन्द्रीय कांगोली सरकार के अधिकार में उसे लाने के लिये सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थानों पर कब्जा कर लिया। सितम्बर, 1962 में महासचिव हेमरशोल्ड कांगो के नेताओं से पृथक् बातचीत के लिये स्वयं कांगो गये जब वे शोम्बे से वार्ता के लिये नियोपोल्डविले से इन्दोला जा रहे थे तो मार्ग में ही उनका वायुयान रहस्यपूर्ण ढंग से दुर्घटना का शिकार हो गया और महासचिव सहित विमान के सभी यात्री जलकर खत्म हो गये। अगस्त, 1962 में नये महासचिव ऊथान्ट ने कांगो के पुनः एकीकरण की योजना तैयार की जिसमें कटंगा को केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण में लाने के लिये अनेक संवैधानिक, सैनिक, आर्थिक उपायों का निर्देश था। शोम्बे ने संयुक्त राष्ट्र संघीय शांति प्रयासों की पूर्ण उपेक्षा की। इतना ही नहीं, कटंगा की सेनाएं संयुक्त राष्ट्र संघीय सेनाओं पर हमला भी करने लगीं। अन्त में अमेरिका और रूस समर्थित संयुक्त राष्ट्रसंघ की प्रभावशाली कार्यवाही के

सामने शोम्बे ने घुटने टेक दिये और 25 जनवरी, 1963 को घोषणा की कि कटंगा का कांगो के साथ पृथक्करण समाप्त होता है तथा वह महासचिव की एकीकरण योजना मे पूरा सहयोग देगा।

इस प्रकार कांगो मे अन्ततः शांति स्थापित कर दी गई और संयुक्त राष्ट्रसंघ का शांति स्थापना का प्रधान कार्य कांगो के एकीकरण के साथ समाप्त हुआ।

यमन की समस्या

19 सितम्बर, 1962 को यमन के शासक इमाम अहमद की मृत्यु हो गयी। 26 सितम्बर को एक क्रांति द्वारा राजतन्त्र की समाप्ति कर दी गयी और क्रांतिकारी परिषद् ने गणराज्य की स्थापना की। दूसरी ओर राजतन्त्रवादियों को अपने पक्ष में करके शहजादे हसन ने सऊदी अरब मे जिद्दा नामक स्थान मे यमन की निर्वासित सरकार की स्थापना की। दोनों यमनी सरकारें एक दूसरे को समाप्त करने के लिए कूटनीतिक और सामरिक नीतियां अपनाती रहीं। अक्टूबर के समाप्त होते होते राजतन्त्रवादियों और गणतन्त्रवादियों मे भीषण संघर्ष शुरू हो गया। सऊदी अरब और जोर्डन ने राजतन्त्रवादियों की सहायता की और मिस्र ने गणतन्त्रवादियों की। गृह युद्ध को व्यापक बनाने से रोकने के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ ने हस्तक्षेप किया। मार्च, 1963 मे संघ की ओर से राल्फ बुन्च ने प्रत्यक्ष मुलाकात द्वारा दोनों पक्षों को इस बात के लिये राजी किया कि वे अपने-अपने सैनिकों को वापिस बुला लें औ समस्या का शांतिपूर्ण हल खोजें। संयुक्त राष्ट्रसंघ के बाद के प्रभावपूर्ण प्रयासों फलस्वरूप शनै शनैः बाह्य शक्तियों ने यमन से अपनी सेनायें हटा लीं और यमन शांति स्थापित हो गयी।

साइप्रस की समस्या

13 अगस्त, 1960 को साइप्रस ब्रिटिश प्रभुता से मुक्त होकर स्वतं गणराज्य बना। साइप्रस का जो संविधान बनाया गया उसमें वहां के बहुसंख्य यूनानियों और अल्पसंख्यक तुर्कों के बीच सामञ्जस्य और शांति बनाये रखने व्यवस्था की गयी। स्वतन्त्रता के कुछ ही समय बाद राष्ट्रपति मकारियोस ने संविधा मे ऐसा संशोधन प्रस्तावित किया जिनमे दोनों जातियों के मध्य स्थापित किया गय सन्तुलन और सामञ्जस्य समाप्त हो जाता। फलस्वरूप दोनों जातियों में राजनीति संघर्ष और गृह-युद्ध की शुरूआत हो गयी। समस्या पर यूनान, टर्की और साइप्र के बीच इंग्लैंड मे शांति-सम्मेलन शुरू हुआ। ब्रिटेन ने साइप्रस मे नाटो फौजें भेज का कुछ चक्कर रचा। राष्ट्रपति मकारियोस ने दिसम्बर, 1963 मे सारा मामल सुरक्षा परिषद् के सामने रखते हुए संयुक्त राष्ट्रसंघीय पर्यवेक्षक भेजने और स्थि संभालने के लिए संघ के हस्तक्षेप की मांग। लम्बे विचार-विमर्श के बाद मार्च, 196 में साइप्रस मे शान्ति स्थापना हेतु संयुक्त राष्ट्रसंघीय शान्ति सेना भेजने का निर्ण किया गया। शीघ्र ही अन्तर्राष्ट्रीय सेना साइप्रस पहुँच गयी जिसने वहां कानून औ व्यवस्था बनाये रखने में उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की। इसके बाद इस आपातकालीन

सेना की अवधि बढ़ायी जाती रही और आज भी यह सेना साइप्रस के कलहग्रस्त क्षेत्रों में तैनात है।

डोमिनिकन गणराज्य विवाद

लेटिन अमेरिका के इस छोटे से देश में अप्रेल, 1965 में गृह-युद्ध छिड़ गया। अमेरिकन राष्ट्रपति ने अपने पक्ष की सरकार को बचाने के लिए सैनिक हस्तक्षेप किया। बहाना यह लिया गया कि डोमिनिकन गणराज्य को साम्यवादियों से बचाने के लिए यह कार्यवाही की गयी है। रूस ने सुरक्षा परिषद् से अनुरोध किया कि वह मामले में हस्तक्षेप करे। अन्त में परिषद् द्वारा यह प्रस्ताव पास किया गया कि युद्धरत दोनों पक्ष युद्ध-विराम करें और महासचिव आवश्यक जाँच-पड़ताल के लिए प्रतिनिधि डोमिनिकन गणराज्य में भेजें। अमेरिकन राज्यों के संगठन ने भी समस्या के समाधान की दिशा में कुछ ठोस कदम उठाये। अन्त में अमेरिकन राज्यों के संगठन और संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रयासों से, 4 माह के गृह-युद्ध के उपरान्त 31 अगस्त, 1965 को दोनों पक्षों में समझौता होकर शांति स्थापित हो गयी। महासचिव ने अपनी रिपोर्ट में दृढ़ शब्दों में कहा कि डोमिनिकन गणराज्य में युद्ध बन्द कराने के कार्य में संघ ने बड़ा महत्वपूर्ण भाग लिया है।

अरब-इजरायल संघर्ष

1956 के अरब-इजरायल संघर्ष में युद्ध-विराम होने पर संयुक्त राष्ट्रसंघ की अन्तर्राष्ट्रीय सेना गाजा और मिस्र की अन्तर्राष्ट्रीय सीमा पर तैनात हो गयी थी ताकि इजरायल अरबों में पुनः संघर्ष न छिड़ जाए। लेकिन दोनों पक्षों में तनाव बढ़ता गया। 1967 में जोरों से युद्ध की तैयारियाँ शुरू हो गई। मई में, राष्ट्रपति नासिर के जिद् करने पर, संयुक्त राष्ट्रसंघीय सैनिक हटा लिये गये। अब संयुक्त अरब गणराज्य और इजरायल की सेनायें आमने सामने हो गयीं। एक दूसरे की कार्यवाहियों से स्थिति में पूरा बिगाड़ आ गया और 5 जून को एकाएक इजरायल ने अरबों पर अपना विनाशकारी आक्रमण कर दिया। जोर्डन, सीरिया, मिस्र, ईराक आदि 10 करोड़ वाली जनसंख्या के देश छोटे से इजरायल का आक्रमण न सह सके। केवल 5 दिन की लड़ाई में ही अरब राष्ट्रों की सामरिक क्षमता का विनाश हो गया। इस बीच सुरक्षा परिषद् युद्धविराम के लिए पूरे प्रयास करती रही। 7 जून को परिषद् ने यह आदेशात्मक प्रस्ताव पास किया कि युद्धरत सभी देश युद्ध बन्द कर दें। चूंकि अरब राष्ट्र युद्ध क्षमता खो चुके थे और इजरायल सामरिक उद्देश्यों को पूरा कर चुका था, अतः 8 जून को इजरायल और मिस्र के बीच युद्ध-विराम हो गया और 10 जून तक सभी अरब राष्ट्रों और इजरायल के बीच पूरी तरह लड़ाई बन्द हो गयी। संयुक्त अरब गणराज्य स्वेज के किनारे संयुक्त राष्ट्रसंघीय पर्यवेक्षक रखने में सहमत हो गया। 16 जुलाई से स्वेज नहर क्षेत्र में संघ के पर्यवेक्षकों की देख-रेख में युद्धविराम लागू हो गया। किन्तु फिर भी पूर्ण शान्ति स्थापित नहीं हो सकी और आज भी इस क्षेत्र में दोनों पक्षों के सैनिक झड़पें होती रहती हैं। आपसी

तनाव पुनः विस्फोटक स्थिति मे पहुँचता जा रहा है और स्थाई शान्ति कोसों दूर दिखाई देती है। अरब राष्ट्रो और इजरायल के बीच बारम्बार युद्ध विराम कराने मे सघ को सफलता अवश्य मिली है, लेकिन इसे समस्या का स्थाई समाधान नहीं कहा जा सकता है। इस क्षेत्र मे शान्ति तभी सम्भव हो सकेगी जब विश्व की महाशक्तिया बीच मे पडकर रुचिपूर्वक कोई हल निकालने का प्रयत्न करेंगी

भारत पाक संघर्ष

काश्मीर को हड़पने के लिए पाकिस्तान ने 1965 मे पुन युद्ध का आश्रय लिया। अगस्त, 1965 मे हजारो पाकिस्तानी हमलावर छिपकर युद्ध विराम रेखा पार करके काश्मीर के भारतीय प्रदेश मे घुस गये। भारत ने जब इस घुसपैठी आक्रमण को नाकामयाब कर दिया तो 1 सितम्बर, 1965 को अन्तर्राष्ट्रीय सीमा को पार करके पाकिस्तान की एक पूरी पैदल ब्रिगेड और 70 टैंक काश्मीर पर चढ आये। मजबूरन भारत को भी अपनी रक्षा के लिए पाकिस्तान के विरुद्ध पूरी लडाई छेड देनी पडी। 22 दिनो के घमासान युद्धो मे पाकिस्तान पर करारी मार पड़ी और आखिर संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रयासों से 23 सितम्बर, 1965 को प्रातः 3-30 बजे भारत-पाक युद्ध-विराम हो गया तथा पाकिस्तान की रही सही लाज नष्ट होने से बच गयी।

संयुक्त राष्ट्र सघ प्रारम्भ से अन्त तक युद्ध विराम के प्रयत्न करता रहा। स्वय महासचिव ने देहली और कराची पहुच कर श्री शास्त्री और अयूब से प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित किया। महासचिव ने अपनी प्रारम्भिक रिपोर्ट मे सुरक्षा परिषद् को बताया कि यदि पाकिस्तान राजी हो तो भारत बिना शर्त युद्ध बन्द करने को प्रस्तुत है, किन्तु पाकिस्तान ने युद्धविराम प्रस्ताव को प्रत्यक्षतः ठुकरा दिया। महासचिव ने माग की कि परिषद् दोनो पक्षों को अविलम्ब युद्ध बन्द करने का आदेश दे और युद्ध बन्द न होने पर आवश्यक कार्यवाही करे। भारत ने स्पष्ट रूप से कह दिया कि परिषद् पहले यह निश्चित करे कि आक्रमक कौन है। भारत ने यह भी कह दिया कि सयुक्त राष्ट्र सघीय पर्यवेक्षो की रिपोर्ट ही इस बात का स्पष्ट प्रमाण है काश्मीर मे घुसपैठी आक्रमण पाकिस्तान ने शुरू किया और बा मे बाकायदा हमला कर दिया। अन्त मे काफी उतार-चढाव के बाद परिषद् द्वारा यह प्रस्ताव स्वीकार किया गया कि भारत और पाकिस्तान 22 सितम्बर को दोपहर से युद्ध बन्द कर दें और युद्ध विराम लागू होने के बाद अपनी सेनाओ को 5 अगस्त, 1965 की स्थिति मे लौटा लें। पाकिस्तान द्वारा सहमति की सूचना देने पर युद्ध 23 सितम्बर, 1965 को प्रातः 3।। बजे बन्द हुआ।

सुरक्षा परिषद् का 22 सितम्बर का प्रस्ताव भारत के साथ अन्याय था। इसमे दोनों देशों को युद्ध-बन्द करने का आदेश दिया गया था जबकि यह आदेश केवल आक्रामक पाकिस्तान को ही दिया जाना चाहिए था, क्योंकि उसने ही परिषद् के युद्ध

बन्दी के पहले वाले प्रस्ताव को ठुकराया था। आक्रमणकारी और आक्रान्त दोनों के साथ एक-सा व्यवहार करना न्यायसंगत नहीं था। यह प्रस्ताव और भी अनेक दृष्टियों से अनुचित था, किन्तु भारत ने केवल यही सोचकर इसे स्वीकार कर लिया कि कोई उसकी शांतिप्रियता पर अंगुली न उठा सके। जो भी हो दोनों देशों के बीच युद्ध-बन्द करा देने में संयुक्त राष्ट्रसंघ और महासचिव के प्रयत्न सराहनीय माने जायेंगे।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के सम्मुख प्रस्तुत होने वाले कुछ प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का ही हमने उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त और भी अनेक छोटे-मोटे विवाद संघ के सम्मुख प्रस्तुत हुए हैं। संघ ने सभी विवादों का समाधान करने के सम्बन्ध में अपनी जागरूकता प्रदर्शित की है तथापि महाशक्तियों की गुटबंदी के फलस्वरूप अनेक मसलों को सुलझाने में संघ असफल रहा है। काश्मीर के प्रश्न, वियतनाम के संघर्ष, राष्ट्रीय चीन व साम्यवादी चीन के भेदभाव, दक्षिण अफ्रीका की रंग-भेद नीति, नि शस्त्रीकरण, अणुशक्ति के प्रयोग पर प्रतिबन्ध आदि विषयों के समाधान में संघ को विफलता का मुंह देखना पड़ा है। फिर भी उनमें से कुछ समस्याओं के उग्र रूप को अधिक विस्फोटक बनने से रोकने की दिशा में संघ के प्रयास प्रशंसनीय रहे हैं। अनेक अवसरों पर संघ के सामयिक हस्तक्षेप के कारण ही स्थिति विस्फोटक बनने से रुकी है। यद्यपि संघ विश्व शांति और सुरक्षा के प्रतीक के रूप में पूरी तरह और सन्तोषजनक रूप से सक्षम सिद्ध नहीं हुआ है तथापि प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में शांति बनाये रखने के इसने अनेक बार सफल प्रयत्न किये हैं। विश्व के राष्ट्रों और लोगों की सेवा के लिए जो विभिन्न संगठन और आयोग कार्य कर रहे हैं उनके बीच संघ ने समन्वय की स्थापना की। संयुक्त राष्ट्रसंघ वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय जगत की एक आवश्यक, उपयोगी और अपेक्षित विशेषता है तथा अणु युग में अस्तित्व की आवश्यक शर्त है। राजनीतिक और कूटनीतिक विवादों को शांतिपूर्ण ढंग से सुलझाने में इसने प्रभावशाली भूमिका अदा की है, लेकिन अपने गैर राजनीतिक कार्यों द्वारा भी इसने मानव के भौतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विकास में सहयोग देकर शांति और व्यवस्था को प्रोत्साहन दिया है।

15

आर्थिक कल्याण को प्रोत्साहन—अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व-बैंक, एवं अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ आदि

(Promoting Economic Welfare—I.L.O., I.M.F., World Bank, International Development Association etc.)

"संयुक्त राष्ट्रसंघ के निःशस्त्रीकरण और राजनीतिक कार्यों का खरगोश तो अभी झपकी ले रहा है पर इसकी संस्थाओं की प्राविधिक सहायता एवं सहयोग का कछुआ बहुत आगे बढ़ गया है।"

संयुक्त राष्ट्रसंघ के परिवार में अनेक ऐसी एजेन्सियां और संस्थाएं हैं जो *विश्व के विभिन्न देशों की जनता के रहन-सहन के स्तर को ऊंचा उठाने*, आर्थिक एवं सामाजिक विकास को बढ़ावा देने, बालकों तथा शरणार्थियों जैसे विशेष वर्ग को सहायता पहुंचाने और प्राविधिक एवं वैज्ञानिक ज्ञान के प्रसार के लिए विभिन्न देशों की सरकारों के साथ मिलकर काम कर रही हैं। संघ. के चार्टर में मानवीय, सांस्कृतिक, आर्थिक, सामाजिक, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि कार्यों को बहुत अधिक महत्व दिया गया है और इनके निर्वहन के लिए ही विभिन्न विशिष्ट अभिकरणों का निर्माण हुआ है। इन विशिष्ट अभिकरणों का निर्माण पृथक रूप से हुआ है और ये स्वायत्त-शासी संगठन हैं। इनकी स्थापना विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय सरकारी समझौतों के अनुसार की गई है। इन अभिकरणों को संयुक्त राष्ट्रसंघ से सम्बन्धित करने के लिए समझौतों के बारे में बातचीत और लिखा-पढ़ी, आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् की एक स्थायी समिति द्वारा की जाती है। इस समिति द्वारा जो समझौते किये जाते हैं उन्हें आर्थिक एवं सामाजिक परिषद्, महासभा तथा सम्बन्धित अभिकरणों की शाखा विशेष स्वीकृत करती है। इन अभिकरणों के विभिन्न कार्यों में समन्वय अथवा ताल-मेल बनाये रखने का दायित्व आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् पर है।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन, मुद्राकोष, विश्व-बैंक आदि वे अभिकरण हैं जिनका मुख्य उद्देश्य विश्व में हरसम्भव से आर्थिक कल्याण को प्रोत्साहित करना है। इन अभिकरणों द्वारा जो महत्वपूर्ण दायित्व निभाये जाते हैं, उनसे अन्ततोगत्वा विश्वशांति और सुरक्षा की अभिवृद्धि सम्बन्धी संयुक्त राष्ट्रसंघीय महान उद्देश्य को सहायता मिलती है। यह कहना चाहिए कि ये अभिकरण संयुक्त राष्ट्रसंघ के गोद लिए हुए वे सपूत हैं जो अपनी माता के गौरव को बढ़ाने में और उसके उद्देश्यों की पूर्ति में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से सहायक बनने में प्रयत्नशील हैं। वास्तव में यह कहना उपयुक्त होगा कि राष्ट्रोत्तर मूल्यों के प्रति आस्था उत्पन्न करने का उपयोगी कार्य संयुक्त राष्ट्रसंघ से सम्बन्धित ये विभिन्न स्वायत्तशासी गैर-राजनीतिक संगठन करते हैं। विभिन्न राष्ट्र इनके सदस्य होते हैं जो परस्पर मिलकर एक दूसरे के हित की बात सोचते हैं और तदानुकूल कार्य करने की चेष्टा करते हैं। डेविड मिट्रैनी (David Mitrany) के शब्दों में "दार्शनिक अथवा प्रकार्यात्मक आधार यह है कि इन स्वायत्तशासी संगठनों की विभिन्न गतिविधियों द्वारा सम्पूर्ण प्रशासन के अन्तर्गत सामान्य हित के कार्यों में लगे रहने के कारण, शनैः शनैः राष्ट्रों की सीमान्त रेखाएं सारहीन हो जाएंगी और लोग राष्ट्रोत्तर दृष्टिकोण से सोचने विचारने के अभ्यस्त होकर अन्तर्राष्ट्रीय हित में कार्य करने लगेंगे।"[1] यद्यपि सैद्धान्तिक रूप से अथवा दार्शनिक आधार पर हम उपर्युक्त दृष्टि की उपेक्षा नहीं कर सकते तथापि तर्क और अनुभव की कसौटी पर कसें तो यह स्पष्ट होता है कि राष्ट्रोत्तर निष्ठाओं का निर्माण प्रायः इस प्रकार नहीं हो पाता। जब राजनीतिक हितों में टकराहट होती है तो इन अन्तर्राष्ट्रीय विशिष्ट संगठनों से प्राप्त लाभों की उपेक्षा कर दी जाती है और उन्हें पृष्ठभूमि में डाल दिया जाता है। यह कहना चाहिए कि जब तक इन अन्तर्राष्ट्रीय स्वायत्तशासी गैर-राजनीतिक संगठनों के कार्यों और उद्देश्यों तथा राष्ट्रीय हितों में संघर्ष नहीं होता, तभी तक सामान्यतः राष्ट्रोत्तर भावनाओं का मूल्य रह पाता है अन्यथा दोनों में संघर्ष की स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय उद्देश्यों की कीमत पर राष्ट्रीय हितों की रक्षा की जाती है।

अग्रिम पंक्तियों में हम कुछ उन विशिष्ट अभिकरणों का उल्लेख करेंगे जो आर्थिक कल्याण के विकास और प्रसार में सहयोगी बनकर विश्व के राष्ट्रों में पारस्परिक सहयोग और संपर्क की दृढ़ आधारशिलाएं रख रहे हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन
(International Labour Organization—ILO)

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन संयुक्त राष्ट्रसंघ के विशिष्ट अभिकरणों में सर्वाधिक प्राचीन और अति महत्वपूर्ण अभिकरण है जिसका कार्यक्षेत्र अन्य सभी अभिकरणों से विशाल है। इसकी स्थापना 11 अप्रैल, 1919 को वर्साय की सन्धि के भाग 13 के अनुसार श्रमिकों के हित-साधन की दृष्टि से की गयी थी। राष्ट्रसंघ से घनिष्ठ सम्बन्ध होने के बावजूद यह संस्था अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को बनाये रही और

1. *David Mitrany : A Working Peace System*, p. 35.

अप्रेल, 1946 मे सयुक्त राष्ट्रसघ के एक विशिष्ट अभिकरण के रूप मे इसे पुनर्गठित किया गया। सयुक्त राष्ट्रसघ और अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सगठन के मध्य एक समझौता हुआ जिसके अनुसार इस सगठन ने विश्व के देशों मे श्रम एव सामाजिक कार्य को करने का दायित्व अपने ऊपर ले लिया।

सामाजिक-आर्थिक उत्थान का लक्ष्य

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सगठन इस उद्देश्य को लेकर चला है कि "अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग द्वारा श्रमिको की दशा उन्नत की जाय, उनकी आर्थिक स्थिति मे स्थिरता लायी जाय और सामाजिक क्षेत्र मे उनके स्तर को उन्नत बनाया जाय। यह सगठन इस विश्वास पर आधारित है कि सार्वजनिक और स्थायी शान्ति की स्थापना सामाजिक न्याय की आधारशिला पर ही सभव है और श्रमिकों को सामाजिक न्याय तभी प्राप्त हो सकता है जब वे दूसरे लोगो के समान ही आर्थिक कल्याण और उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हो।" 1944 मे द्वितीय महायुद्ध के समय जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ था उसमे जो सिद्धान्त स्वीकार किये गए थे, उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सगठन के सविधान मे जोड़ दिया गया। तदनुसार ये मौलिक सिद्धान्त निश्चित किये गये हैं कि—

(1) श्रम को वस्तु नही माना जा सकता,

(2) दरिद्रता कही भी हो, वह सर्वत्र समृद्धि के लिए खतरा है,

(3) निरन्तर प्रगति के लिए आवश्यक है कि अभिव्यक्ति और सगठन को स्वतन्त्रता प्रदान की जाय, एव

(4) अभाव और दरिद्रता के विरुद्ध प्रत्येक देश मे सम्पूर्ण उत्साह के साथ सघर्ष किया जाना चाहिए।

1944 मे फिलाडेल्फिया के अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन में सामाजिक उद्देश्यो की पूर्ति के लिए यह कार्यक्रम निर्धारित किया गया कि पूर्ण रोजगार और जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक पूर्ण वेतन की व्यवस्था का प्रयत्न किया जाय, पर्याप्त भोजन एव आवास की व्यवस्थाओ का विस्तार किया जाय, सामूहिक रूप से मोल-तोल अथवा सौदा करने के अधिकार को प्रोत्साहन दिया जाय और सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था की जाय। कहना न होगा कि इन सभी उद्देश्यो, कार्यक्रमो और मौलिक सिद्धान्तो का निचोड इस बात मे है कि अन्तर्राष्ट्रीय सुख एव शान्ति के लिए श्रमिकों की स्थिति को हर प्रकार से उन्नत बनाया जाय, उनका आर्थिक विकास किया जाय और उन्हें आर्थिक शोषण से मुक्त किया जाय। आर्थिक विषमताओ से मुक्ति प्राप्त करने पर ही श्रमिको का आर्थिक स्तर ऊचा उठेगा, वे जीने योग्य जीवन बिता सकेंगे और जब आर्थिक सुख-समृद्धि का प्रसार होगा तो अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा के प्रसार में सहयोग मिलेगा।

संगठन

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन का कार्य तीन प्रमुख अङ्गों द्वारा सम्पन्न किया जाता है—अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन (International Labour Conference), प्रशासनिक

निकाय (Governing Body), तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक कार्यालय (International Labour Office)।

1. अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन एक नीति निर्माता एवं व्यवस्थापिका निकाय है। इसे संसार की औद्योगिक संसद कहा जा सकता है। प्रत्येक सदस्य राज्य से इसमे चार प्रतिनिधि आते हैं। इनकी नियुक्ति सम्बन्धित सरकार द्वारा की जाती है किन्तु इनमे से दो सरकार का प्रतिनिधित्व करते हैं और एक मालिकों का तथा एक मजदूरों का। सम्मेलन मे सभी निर्णय दो तिहाई बहुमत से लिए जाते हैं। यह सिफारिशों और समझौतो द्वारा प्रत्येक राज्य के श्रम-सम्बन्धी व्यवस्थापन को प्रोत्साहन देता है। राज्य इन सिफारिशो को मानने के लिए बाध्य नहीं है। सम्मेलन का समझौता सन्धि के रूप मे होता है यद्यपि यह सम्मेलन द्वारा स्वीकार किया जाता है और सदस्य राज्यो के प्रतिनिधियों के इस पर हस्ताक्षर नही होते। सदस्य राज्यों का यह दायित्व है कि वे इस समझौते को व्यवस्थापन के लिए उपयुक्त सत्ता के पास ले जायें। सदस्य राज्य श्रम-सगठन को वार्षिक प्रतिवेदन पेश कर यह बताते हैं कि अभिसमय के अनुरूप व्यवस्थापन करने के लिए उन्होंने क्या कदम उठाये हैं?

2. प्रशासनिक निकाय श्रम सगठन का कार्यपालिका निकाय है। इसमे 32 सदस्य होते है, जिनमे 16 सरकारी प्रतिनिधि, 8 प्रबन्ध के प्रतिनिधि और 8 मजदूरो के प्रतिनिधि होते हैं। श्रमिको के प्रतिनिधियों का चुनाव सम्मेलन के लिए मजदूरों के प्रतिनिधियों द्वारा किया जाता है। प्रशासनिक मण्डल श्रम-सगठन के महानिदेशक की नियुक्ति करता है, सम्मेलन के लिए कार्यक्रम तैयार करता है, जाच-पड़ताल करता है तथा समितियो के माध्यम से अध्ययन करता है।

3. अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय जेनेवा मे है। इसके तीन सम्भाग हैं—राजनयिक सम्भाग, गुप्तचर सम्भाग, एव अनुसन्धान सम्भाग। राजनयिक सम्भाग विभिन्न राज्यो के साथ पत्र-व्यवहार करता है। सम्मेलन के अभिसमयो एवं सिफारिशों को विभिन्न राज्यो मे क्रियान्वित करना है। गुप्तचर सम्भाग दुनिया के मजदूरों की परिस्थितियो के सम्बन्ध मे सूचनाएं एकत्रित करता है। अनुसन्धान सम्भाग श्रमिक समस्याओं की वैज्ञानिक जाच से सम्बन्ध रखता है। सगठन के सारे कार्य सम्पन्न करना कार्यालय का काम है। यह मजदूरो के कार्य की शर्तों एवं आर्थिक परिस्थितियो के बारे मे प्रतिवेदन प्रस्तुत करता है।

सामाजिक-आर्थिक विकास के कार्य

यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सगठन पर बडी शक्तियो का प्रभाव रहता है, तथापि इसने पर्याप्त महत्वपूर्ण कार्य किये हैं। श्रमिको के शोषण तथा महिलाओ और दासो के व्यापार के विरुद्ध इसने व्यापक प्रचार किया है। अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग एवं सद्भावना को दिशा मे इसने महत्वपूर्ण योग दिया है।

इस संगठन का सर्वप्रमुख कार्य "अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक समझौतो तथा सिफारिशो के रूप मे विविध प्रकार की श्रम एवं श्रमिको सम्बन्धी दशाओ के अन्तर्राष्ट्रीय

मापदण्डो का निर्माण" करना है, अर्थात् इसका प्रयत्न रहा है कि ससार में हर देश और समाज के श्रमिको के श्रम का मूल्य और महत्व समान है तथा सामाजिक जीवन मे उनके स्तर को अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता मिले। अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक समझौतो और सिफारिशो को सम्मिलित रूप से "अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सहिता" (International Labour Code) कहा जाता है। सगठन मे जिन समझौतो और सिफारिशो को स्वीकार किया गया है उनमे से कुछ मे श्रमिक-स्वतन्त्रता के अधिकार, दिन मे 8 घटा काम, वेतन की सुरक्षा और सवेतन अवकाश की बात है, तो कुछ मे बालकों और स्त्रियो के लिए कठोर श्रम, खानों मे स्त्रियो को काम पर लगाने तथा बेगार लेने अथवा जबरदस्ती के काम को वर्जित किया गया है। यह सगठन श्रमिकों की दशाएं सुधारने के लिए विभिन्न प्रकार के सामाजिक अनुसंधान करता है, आकड़े तथा रिपोर्ट प्रकाशित करता है। यह अमेरिका, एशिया और यूरोप मे समय-समय पर क्षेत्रीय अधिवेशन बुलाता है तथा विश्व के प्रधान उद्योगो के सम्बन्ध मे सरकार, श्रमिक और मालिको के त्रिदलीय सम्मेलन आमन्त्रित करता है।

अन्य अन्तर्राष्ट्रीय सगठनो का अनुसरण करते हुए, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सगठन ने उन्नत श्रम मापदण्डो के लिए सामाजिक और आर्थिक आधारतय करने के साधन के रूप मे सामान्य आर्थिक विकास की दिशा मे, हाल ही के वर्षों मे अपने प्राविधिक सहायता कार्यक्रमो का विकास किया है। दो महायुद्धो से ध्वस्त आर्थिक व्यवस्था के सुधार और पुर्ननिर्माण हेतु इस सगठन ने बहुत से देशो को सहायता प्रदान की है। इसने विभिन्न प्रकार के दार्शनिक कार्यक्रमो का विकास किया है, शिक्षण सस्थाओ को स्थापित किया है। प्राविधिक सूचनाए प्रदान की हैं, परामर्श गोष्ठिया आयोजित की है, छात्रवृत्तिया दी हैं तथा व्यावसायिक शिक्षण सस्थाओ की स्थापना मे विशेष रुचि प्रदर्शित की है। इसने श्रमिको, मालिको और सरकारो को यथासभव परामर्श दिया है कि किस तरह अधिक और अच्छा माल उत्पादित किया जाय। विभिन्न देशो मे जीवन स्तर ऊँचा करने, श्रमिको की कार्य क्षमता बढाने, बेकारी को रोकने के बारे मे इसने सलाह दी है। सहकारिता, सामाजिक सुरक्षा, औद्योगिक सुरक्षा, स्वास्थ्य आदि के सम्बन्ध मे विभिन्न राज्यो को दिये गये इसके परामर्श बडे उपयोगी सिद्ध हुए हैं। इस सगठन मे विभिन्न सरकारो के उन नियमो को, जिनके कारण घने बसे हुए देशो से अल्प विकसित देशो को, जहाँ श्रम-शक्ति की कमी है, श्रमिकों के जाने मे बाधा पड़ती है, हटवाने मे भी सहायता की है। विभिन्न ध्येयो की पूर्ति के लिए चीन, इण्डोनेशिया पाकिस्तान, भारत, टर्की, युगोस्लाविया, मिस्र, थाईलैण्ड, बर्मा आदि मे इस सगठन द्वारा प्रशिक्षण केन्द्र खोले गये हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सगठन ने कारखानो मे काम करने वालों के लिए अनेक सहिताए तैयार की हैं, उदाहरणार्थ, कोयले की खान मे काम करने की सहिता, कारखाने के कार्यकर्ताओं की सहिता आदि। इसमे कोई सन्देह नहीं है कि अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सगठन के प्रयत्नो के फलस्वरूप ससार मे श्रमिक समस्याओ के प्रति जागृति उत्पन्न

हो गई है और श्रमिकों की दशाओं को सुधारने के लिए कल्याणकारी कानून बनाये जा रहे हैं तथा विभिन्न प्रकार के प्रयत्न हो रहे हैं। इसने "सामाजिक न्याय को अनिश्चय की लहरों और प्रतिक्रियावाद के प्रभुत्व से बन्धन-मुक्त" कर दिया है यह संगठन आज एक विश्वव्यापी संस्था है जिसके अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों को "श्रम की विश्व-संसद" (World Parliament of Labour) कहा जाता है। श्रमिक कल्याण के लिए सराहनीय प्रयास करने के बावजूद अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की विशेष रूप से यह आलोचना की जाती है कि यह अपने व्यवहार में निष्पक्ष नहीं रहा है अथवा इसने जरूरतमन्दों की अपेक्षा गैर-जरूरतमन्दों या अपेक्षाकृत कम जरूरतमन्दों को अधिक सहायता की है। उदाहरणार्थ, इसने पश्चिमी देशों की ओर अधिक ध्यान दिया है तथा एशिया और अफ्रीका के पिछड़े हुए देशों की ओर कम। पुनश्च, यह संस्था इतने अधिक समझौते और सिफारिशें तैयार करती जाती है कि उन्हें स्वीकार करना तथा उन सब पर प्रभावशाली रूप से अमल करना, आज की जटिल राजनीतिक-आर्थिक-सामाजिक परिस्थितियों में सम्भव नहीं है।

भारत अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन का प्रारम्भ से ही सदस्य रहा है। एक प्रमुख राष्ट्र होने के नाते यह देश संगठन के प्रशासकीय निकाय का सदस्य है। अभी तक भारत संगठन के दर्जनों समझौतों का समर्थन कर चुका है, यद्यपि बहुसंख्यक समझौते, जो श्रम संगठन ने स्वीकार किये हैं भारत में लागू होने के उपयुक्त नहीं समझे गये हैं। ऐसे समझौते पश्चिम के विकसित औद्योगिक राष्ट्रों के लिए अधिक उपयुक्त हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष
(International Monetary Fund)

प्रथम महायुद्ध और द्वितीय महायुद्ध के बीच विश्व के विभिन्न देशों में यह अनुभव किया गया कि आर्थिक दशा को सुधारने के लिए और राजनीतिक मनमुटाव के आर्थिक कारणों को दूर करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग नितान्त आवश्यक है। यह समझ लिया गया कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और वित्त के क्षेत्र में जो अस्त-व्यस्त स्थिति व्याप्त है और विश्व बाजार में जो कठिनाइयां छाई हुई हैं, उन्हें दूर करने के लिए कोई महत्वपूर्ण कदम उठाया जाना चाहिए। इसी अनुभूति के फलस्वरूप द्वितीय महायुद्ध के अन्तिम दिनों में अमेरिका में ब्रेटनवुड्स नामक स्थान पर एक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा सम्मेलन बुलाया गया जिसमें गम्भीरता-पूर्वक इस प्रश्न पर विचार किया गया कि युद्ध के आर्थिक कारणों और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में व्याप्त आर्थिक अस्त-व्यस्तता का समाधान करने के लिए क्या कदम उठाये जायं। यह सम्मेलन जुलाई सन् 1944 में हुआ और लगभग 44 मित्र राष्ट्रों ने इस सम्मेलन में अपने प्रतिनिधि भेजे। कई दिनों तक विचार-विमर्श के उपरान्त अन्त में सम्मेलन ने युद्ध के आर्थिक कारणों को दूर करने की एक योजना तैयार की

जिसे दो भागो मे विभाजित किया गया। प्रथम भाग में एक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF) की स्थापना का प्रस्ताव किया गया और दूसरे भाग मे एक अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक (World Bank) की स्थापना की बात कही गई।

आवश्यक व्यवस्थाओं की पूर्ति के बाद और विभिन्न राष्ट्रो द्वारा योजना के अनुच्छेद 2 पर हस्ताक्षर के उपरान्त, दिसम्बर सन् 1945 को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष और विश्व बैंक की संस्थायें अस्तित्व मे आयीं। यद्यपि इन संस्थाओं की स्थापना ब्रेटनवुड्स (Bretton Woods) सम्मेलन के फलस्वरूप हुई, तथापि आवश्यक पृष्ठभूमि के निर्माण मे पहले के और भी अनेक सम्मेलनों एवं प्रयत्नों का इस दिशा मे काफी सहयोग रहा है।

मुद्राकोष का लक्ष्य

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष कई एक उद्देश्यो को लेकर चला था। इसका मुख्य उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रसार और सन्तुलित प्रगति को समायोजित करना था। साथ ही इसे विनिमय की अस्थाई दरो के कुप्रभावो से बचाना और विदेशी विनिमय के प्रतिबन्धो को भी ढीला करना था। इसके अतिरिक्त यह प्रत्येक देश में वास्तविक आय एवं रोजगार के उच्च स्तरो की स्थापना के लिए भी प्रयत्नशील थी।

समझौते के अनुच्छेद 1 मे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के विभिन्न लक्ष्यो को स्पष्ट किया गया है। इसमे मुख्य रूप से तीन लक्ष्यों को मान्यता प्रदान की गई है—

(1) विनिमय स्थायित्व को प्रोत्साहन देना, सदस्यों के बीच व्यवस्थित विनिमय प्रबन्धो की स्थापना करना और प्रतिस्पर्धापूर्ण विनिमय मन्दी की स्थिति को दूर करना।

(2) सदस्यो के बीच चालू लेन-देन मे भुगतान की बहुपक्षीय प्रणाली की स्थापना में सहायता करना तथा साथ ही विदेशी विनिमय के उन प्रतिबन्धो को समाप्त करना जो विश्व व्यापार की प्रगति को रोकते है।

(3) पर्याप्त सुरक्षाओं के आधीन सदस्यो को कोष के साधनों को उपलब्ध कराना और इस तरह उनमें विश्वास की भावना जागृत करना। इस प्रकार विभिन्न देशों को राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय सम्पन्नता के लिए हानि पहुंचाने वाले प्रयासों को अपनाये बिना ही उनके भुगतान सन्तुलनों की अव्यवस्था को सुधारने का अवसर देना।

मुद्रा कोष के द्वारा उपर्युक्त लक्ष्यों की पूर्ति के अतिरिक्त भुगतान सन्तुलन की विषमता को दूर करने के लिए, असन्तुलन की अवधि व अंश को कम करने के लिए, लाभदायक उद्योगों मे दीर्घकालीन पूंजी की सहायता प्रदान करने के

लिए तथा ऐसे ही अन्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए विभिन्न प्रयास किए जाते हैं।

मुद्रा कोष का संगठन एवं प्रबन्ध

कोष का प्रबन्ध एक गवर्नर मण्डल (Board of Governors), कार्यकारी संचालकों की समिति (Board of Executive Directors), प्रबन्ध संचालक (Managing Directors) एवं अन्य स्टाफ की सहायता से किया जाता है। गवर्नरों के मण्डल में प्रत्येक सदस्य देश की ओर से एक गवर्नर होता है। कार्यकारी संचालकों की समिति के 20 संचालकों में से 5 संचालक तो उन देशों के होते हैं जिनका सबसे अधिक नियतांश होता है। शेष 15 देशों के प्रतिनिधि निर्धारित किए जाते हैं। प्रबन्ध संचालक को कोष के दिन प्रतिदिन के कार्य के लिए उत्तरदायी बनाया जाता है। वह कार्यकारी संचालकों की समिति का अध्यक्ष होता है। प्रत्येक सदस्य देश 250 मत प्रदान करने का अधिकार रखता है। संचालक मण्डल के द्वारा कार्यकारी संचालकों के लिए महत्वपूर्ण शक्तियां हस्तांतरित नहीं की जा सकती, जैसे नये सदस्यों की भर्ती करना, नियतांश का संशोधन करना, सभी सदस्यों की मुद्राओं के मूल्य में परिवर्तन करना, किसी सदस्य को निकालना आदि।

कोष में सभी सदस्यों को समान मत देने का अधिकार नहीं है जैसे कि अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं में हुआ करता है। कोष में सदस्यों को भारत मत प्रदान करने का अधिकार होता है। 250 मत प्रदान करने के अतिरिक्त प्रत्येक एक लाख अमेरिकी डालर के लिए एक अतिरिक्त मत प्रदान करने का अधिकार और भी मिल जाता है। इस मत प्रणाली के परिणामस्वरूप मुख्यतः दो देशों के हाथ में शक्ति का केन्द्रीकरण हो गया जो कि सबसे अधिक नियतांश वाले हैं। ये हैं—ग्रेट ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका। ये देश जिस किसी भी प्रस्ताव के बारे में सहमत होते हैं उसे आसानी से पास करा सकते हैं क्योंकि कुल मतदान की शक्ति के 40 प्रतिशत पर इनका अधिकार रहता है।

मुद्राकोष की सदस्यता

कोष का सदस्य बनने के लिए प्रत्येक उस देश को उपयुक्त माना गया है जो कि इसके समझौते पत्र (Articles of Agreement) को स्वीकार करता है। कोष के सदस्यों को सामान्य सदस्य और मौलिक सदस्य इन दो भागों में विभाजित किया गया है। जो देश ब्रेटन वुड्स के सम्मेलन में उपस्थित थे और जिन्होंने 31 दिसम्बर, 1945 से पहले ही संघ का सदस्य बनना स्वीकार कर लिया था, उन्हें कोष का मौलिक सदस्य माना जाता है। इनके अतिरिक्त जो सदस्य बने हैं, उनको सामान्य सदस्य की संज्ञा प्रदान की जाती है। वर्तमान में कोष के सदस्यों की कुल संख्या 111 है। जब कोई सदस्य देश संघ से अलग होना चाहता है तो वह इसके लिए लिखित रूप में सूचना देता है। कोष को यह अधिकार नहीं दिया गया है कि

वह त्यागपत्र को स्वीकार कर दे। जब कभी एक देश कोष के नियमों का उल्लंघन करता है तो स्वयं कोष भी उसको सदस्यता से वञ्चित कर सकता है। सोवियत रूस इस कोष का सदस्य नहीं है। कोष की समस्त पूंजी उसके सदस्यों के नियतांशों के कुल योग के बराबर होती है। सदस्यों की संख्या ज्यों-ज्यों बढ़ती है त्यों-त्यों कोष की पूंजी भी बढ़ती जाती है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष का प्रधान कार्यालय उस देश में होता है जो सबसे अधिक नियतांश प्रदान करता है। वर्तमान समय में यह कार्यालय संयुक्त राज्य अमेरिका में है। इस कोष की शाखाएं किसी भी सदस्य देश में खोली जा सकती हैं।

मुद्राकोष की पूंजी

सन् 1949 से पूर्व मुद्राकोष की पूंजी 10 हजार मिलियन डालर थी। सन् 1959 में सभी देशों के कोटो (Quotas) में 50% की वृद्धि की गई जिसका $\frac{1}{2}$ भाग स्वर्ण के रूप में दिया जाना था। फरवरी, 1965 में मुद्राकोष के संचालकों ने सिफारिश की कि सदस्य देशों के कोटों को 25% और बढ़ा दिया जाय तथा 16 सदस्य देशों के कोटे में विशेष वृद्धि की जाय। सन् 1966 से सिफारिश को स्वीकार कर लिया गया। सन् 1968 में मुद्राकोष की कुल पूंजी 21,224 मिलियन डालर हो गई जिसमें कुछ प्रमुख देशों के कोटे इस प्रकार थे—संयुक्त राज्य अमेरिका में 5,160 मिलियन डालर, ब्रिटेन में 2,440 मिलियन डालर, पश्चिमी जर्मनी में 1,200 मिलियन डालर, फ्रान्स में 985 मिलियन डालर, भारत में 750 मिलियन डालर, कनाडा में 740 मिलियन डालर तथा जापान में 425 मिलियन डालर। भारत मुद्राकोष का मौलिक सदस्य (Original Member) है क्योंकि उसने 31 दिसम्बर, 1945 से पहले ही कोष की सदस्यता स्वीकार कर ली थी। मुद्राकोष में प्रत्येक देश को अपना कोटा स्वर्ण के रूप में तथा अपने देश की मुद्रा में देना पड़ता है। स्वर्ण का भाग सदस्य देश के कोटे का 25% होता है। प्रत्येक 5 वर्ष बाद $\frac{4}{5}$ के बहुमत से मुद्राकोष किसी भी देश के कोटे में परिवर्तन कर सकता है लेकिन इसके लिए सदस्य देश की अनुमति होना आवश्यक है।

मुद्राकोष की कार्यविधि

(1) मुद्राकोष अपनी पूंजी द्वारा सदस्य राष्ट्रों को अस्थायी ऋणों के रूप में मौद्रिक सहायता प्रदान करके विनिमय दरों में स्थिरता लाता है तथा बहुपक्षीय व्यापार-पद्धति की स्थापना करने का प्रयास करता है। मुद्राकोष इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रत्येक सदस्य देश को अपनी मुद्रा की समता-दर (Par Values) को स्वर्ण तथा डालर में निर्धारित करना पड़ता है। जब कभी सदस्य देश अपनी मुद्राओं की कीमतों को स्वर्ण के रूप में व्यक्त कर देते हैं तो कोष के लिए पारस्परिक विनिमय दरों का निर्धारण सुगम हो जाता है। समता-दर में सदस्य देश कोष को सूचना देकर 10–20% के बीच परिवर्तन कर सकता है। किन्तु इसके लिए कोष की अनुमति प्राप्त करना आवश्यक है। समता-दर में परिवर्तन सदस्य देश तभी कर सकता है जब समता-

दर अपने भुगतान शेष के मूल तथा स्थिति असन्तुलन को ठीक करने का उद्देश्य उसके सामने हो। यदि सदस्य देश अपनी मुद्रा की समता-दर में 20% से अधिक परिवर्तन करना चाहता है तो मुद्राकोष अपनी अनुमति तभी प्रदान करता है जब कोष के दो तिहाई सदस्य इसके पक्ष में हों। आशय यह हुआ कि मुद्राकोष द्वारा सदस्य देश को समता-दरों में परिवर्तन की अनुमति तभी दी जाती है जब उसे इस बात का पूर्ण सन्तोष हो कि उस देश की आर्थिक स्थिति में आधार मूलक अन्तर पड़ गया है। यदि सदस्य देश मुद्रकोष की अनुमति के बिना ही अपनी मुद्रा को समता-दर में परिवर्तन कर देता है तो मुद्राकोष उसे सदस्यता से पृथक् कर सकता है। इस स्थिति में अब स्पर्धात्मक मुद्रा अवमूल्यन (Competitive Devaluation) का प्रश्न नहीं रहा है।

सदस्य देशों द्वारा स्वर्ण का क्रय-विक्रय करने की दृष्टि से मुद्राकोष प्रायः विभिन्न समता-दरों की उच्चतम और न्यूनतम सीमाएं भी निर्धारित कर देता है। इस तरह दो देशों के मध्य मुद्राओं की विनिमय दर प्रायः इन्हीं दो सीमाओं की तरह रहती है पर, जैसा कि कहा जा चुका है, यदि मुद्राकोष को सन्देह हो जाय कि दो देशों के बीच भुगतान-संचालन के आधार मूलक परिवर्तन हुए हैं तो वह उनकी मुद्राओं की समता-दर में परिवर्तन कर सकता है। बहुपक्षीय व्यापार (Multilateral Trade) को प्रोत्साहन देने के लिए मुद्राकोष उन सभी बाधाओं को दूर करने का प्रयास करता है जिनसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सीमित होने का भय हो। अतः कोई भी सदस्य देश, कोष की अनुमति के बिना, चालू व्यापारिक सौदों पर प्रतिबन्ध नहीं लगाता।

(2) मुद्राकोष सदस्य देशों को विदेशी विनिमय के क्रय-विक्रय का अधिकार प्रदान करता है। मुद्राकोष के पास सभी देशों की मुद्राएं होती हैं, अतः यह सुविधा प्रदान की जाती है कि कोई भी देश आवश्यकता पड़ने पर किसी अन्य देश की मुद्रा को कोष से खरीद ले। लेकिन ऐसा करने के लिए उस देश को विदेशी मुद्रा की कीमत स्वर्ण में अथवा अपनी मुद्रा में चुकानी पड़ती है। प्रायः मुद्राकोष किसी सदस्य देश को विदेशी मुद्रा अधिक मात्रा में खरीदने के लिए प्रोत्साहित नहीं करता। मुद्राकोष इस सम्बन्ध में मुख्यतः दो शर्तें लगाता है (i) पहली शर्त के अनुसार किसी भी समय कोष के पास सदस्य देश की मुद्रा की मात्रा उसके कोटे से 200% से अधिक नहीं होनी चाहिए। इसी प्रकार यदि किसी सदस्य देश का कोटा 100 मिलियन डालर है तो उसे 25 मिलियन डालर स्वर्ण के रूप में और 75 मिलियन डालर अपनी मुद्रा के रूप में कोष को देने पड़ेंगे तथा वह देश मुद्राकोष से 125 मिलियन डालर से अधिक की विदेशी मुद्रा उधार नहीं ले सकता। दूसरी शर्त यह लगायी जाती है कि कोई भी सदस्य देश एक वर्ष में अब कोटे का अधिक से अधिक 25% भाग ही विदेशी मुद्राकोष से ले सकेगा। यह शर्त इसलिए लगाई गई है ताकि मुद्राकोष में दुर्लभ मुद्राएं शीघ्र ही समाप्त न हो जायं।

(3) मुद्राकोष सदस्य देशों को जो ऋण प्रदान करता है उस पर प्रायः ½% से लेकर 2% तक ब्याज भी लेता है। ब्याज के अलावा वह प्रत्येक ऋण पर 2½% सेवा-व्यय भी वसूल करता है। ऋण की मात्रा में वृद्धि के साथ ब्याज दर भी बढ़ती जाती है ताकि सदस्य देश अनावश्यक रूप से बराबर मुद्राकोष से ऋणों की माग न करे। यदि सदस्य देश ऋण का भुगतान जल्दी कर देता है तो ब्याज-दर भी घटा दी जाती है। ब्याज स्वर्ण के रूप में ही लिया जाता है। मुद्राकोष द्वारा दिये गये ऋण प्रायः तत्कालीन होते हैं और कोष इस बात का विशेष ध्यान रखता है कि सदस्य देशों द्वारा लिया गया ऋण उसी उद्देश्य अथवा कार्यक्रम पर व्यय किया जाय जिसके लिए वह दिया गया है।

(4) मुद्राकोष के विधान के अन्तर्गत दुर्लभ मुद्राओं (Scarce Currency) के लिए विशेष व्यवस्था की गई है। दुर्लभ मुद्राकोष वह है जिसकी पूर्ति माग की अपेक्षा बहुत कम हो। जब मुद्राकोष किसी देश की मुद्रा को दुर्लभ घोषित करता है तो उसे यह भी अधिकार होता है कि वह उस देश को अपनी मुद्रा का पुनर्मूल्यन (Revaluation) करने के लिए कहे ताकि उस देश की आतरिक लागतें और कीमतें बढ़ जाय, निर्यात घटे तथा आयात बढ़े और इस प्रकार दुर्लभ मुद्रा की वृद्धि हो कर स्थिति सुधर जाय।

(5) मुद्राकोष यथासाध्य अपने साधनों की तरलता (Liquidity of International Monetary Fund Resources) का ध्यान रखता है। उसको सदैव यही ध्यान रहता है कि उसके पास सभी देशों की मुद्राएं पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध रहें।

(6) मुद्राकोष के लाभ के वितरण की व्यवस्था है। कुल लाभ में से 20% उन ऋणदाताओं को दिया जाता है जिनकी मुद्रा किसी वर्ष में कोष के पास उनके कोटे के अनुसार 75% से कम रह जाय। शेष लाभ सदस्य देशों के बीच उनके कोटे के अनुसार वितरित कर दिया जाता है।

(7) मुद्राकोष सदस्य राष्ट्रों की सरकारों से ही व्यवहार करता है, निजी व्यक्तियों और संस्थाओं से नहीं। वह किसी देश की आतरिक अर्थव्यवस्था में भी किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं कर सकता। उसके सदस्य तो केवल अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग को प्रोत्साहन देते हैं।

मुद्राकोष के सदस्यों पर प्रतिबन्ध

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए सदस्य देशों पर विभिन्न प्रतिबन्ध लगाता है, जो मुख्यतः इस प्रकार हैं—

(1) जो राशि कोष से उधार ली जायगी, उसका प्रयोग उन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये किया जायगा जिनके लिए कोष की स्थापना की गई है।

(2) यदि कोई देश अपने चालू अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देनों पर विनिमय प्रतिबन्ध लगाना चाहता है तो इसके लिए उसे कोष की आज्ञा लेनी होगी।

(3) प्रत्येक देश द्वारा स्वर्ण का क्रय और विक्रय उसी दर पर किया जायगा जो कोष ने निर्धारित की है।

(4) यदि कोई देश अपनी मुद्रा-नीति मे परिवर्तन करना चाहता है तो इसके लिए उसे कोष से आज्ञा प्राप्त करनी होगी।

(5) एक देश मुद्रा के सम्बन्ध मे बहुपक्षीय मौद्रिक व्यवहार केवल तभी अपना सकता है जबकि या तो समझौते-पत्र मे ऐसी व्यवस्था हो अथवा कोष द्वारा मान्यता प्राप्त कर ली गई हो। यदि वह प्रतिबन्ध कोष के अस्तित्व में आने से पहले ही कायम थे तो सम्बन्धित सदस्यो को वे प्रतिबन्ध हटाने के बारे मे कोष से विचार-विमर्श करना होगा।

(6) प्रत्येक देश के द्वारा विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय उसी दर पर किया जायगा जो कोष द्वारा निर्धारित की गई है।

(7) सदस्यो का दायित्व है कि वे कोष के आदेशो का पालन करें और उसके द्वारा मांगी गई समस्त सूचनाओ को भेजने का प्रयास करें।

मुद्राकोष के कार्य

(1) मुद्राकोष ने विभिन्न देशो को समय-समय पर तत्कालीन ऋण देकर उनके भुगतान शेष के अस्थायी असन्तुलन को दूर किया है। इस प्रकार यह अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास सचालन मे सहायक बनता है। मुद्राकोष ने सदस्य देशो को आवश्यकतानुसार विदेशी मुद्राएं बेचकर, उनकी कठिनाइयो को दूर किया है। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की एक रिपोर्ट के अनुसार सन् 1968 मे सदस्य देशो ने मुद्राकोष से लगभग 3·6 बिलियन डालर के मूल्य की विदेशी मुद्राएं खरीदी थी।

(2) मुद्राकोष ने सदस्य देशों को भुगतान शेष में होने वाले दीर्घकालीन असन्तुलन को दूर करने मे भी सहायता दी है। कोष ने सदस्य देशों की आर्थिक व्यवस्थाओ को आधारमूलक परिवर्तन होने पर उन्होंने अपनी मुद्राओं की समता-दरें बदलने की अनुमति दी है।

(3) मुद्राकोष द्वारा आर्थिक एवं मौद्रिक विषयो पर सदस्य देशों को उपयोगी परामर्श दिया जाता है। इस प्रकार यह सदस्य देशो की आर्थिक व्यवस्थाओं मे स्थिरता लाने का प्रयत्न करती है।

(4) कोष ने आर्थिक एवं वित्तीय मामलों के प्राविधिज्ञों का जो स्टाफ रखा हुआ है वह अत्यन्त प्रवीण है तथा संगठन एवं संगठन के सदस्यों को समस्याओं को एकत्र करके उससे सम्बन्धित सूचनाओं का वह विश्लेषण करता है। मुद्राकोष द्वारा सदस्य देशो के आमन्त्रण पर शिष्टमण्डल भेजे जाते हैं। कोष का प्रयत्न रहता है कि प्रत्येक सदस्य के साथ उसके अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय स्थिति के बारे मे सलाह मशविरा हो अथवा सम्बन्धित समस्या के बारे में सभी सदस्यों के विचार एक साथ प्रस्तुत किये जायं। कोष का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने प्रत्येक सदस्य को विश्व की आर्थिक स्थितियो के परिवर्तन की सूचनाओं से नियमित रूप से अवगत रखे।

(5) मुद्राकोष न केवल सदस्य देशों को अपने विशेषज्ञों की सेवाएं प्रदान करता है बल्कि कभी-कभी बाहरी विशेषज्ञों (जो कोष की नियमित सेवा में नहीं होते) को भी उनके सहायतार्थ भेजा जाता है। ये विशेषज्ञ सदस्य देशों के आर्थिक परामर्शदाताओं का कार्य निभाते हैं। वास्तव में मुद्राकोष के विशेषज्ञों ने अल्पविकसित देशों के मौद्रिक, राजकोषीय तथा विनिमय सम्बन्धी नीतियों के निर्माण में बहुमूल्य योग दिया है। हाल ही में मुद्राकोष ने दो नये विभागों की स्थापना की है—केन्द्रीय बैंकिंग सेवा विभाग तथा राजकोषीय मामलों का विभाग। पहले विभाग में सदस्य देशों के केन्द्रीय बैंकों के संचालनार्थ विशेषज्ञ अधिकारियों की सेवाएं प्रदान करता है और दूसरे विभाग में सदस्य देशों को राजकोषीय मामलों में परामर्श देता है।

मुद्राकोष का मूल्यांकन

मुद्राकोष के पक्ष-विपक्ष में बहुत कुछ कहा गया है। एक ओर इसके अनेक लाभ निस्सन्दिग्ध रूप से प्रकाश में आये हैं तो दूसरी ओर इसकी कार्यविधि और इसके व्यवहार पर अनेक आक्षेप किये गये हैं। लाभ की दृष्टि से मुद्राकोष के पास विभिन्न देशों की मुद्राओं का भारी स्टाक एकत्रित हो जाता है जिससे वह सदस्य देशों की विदेशी विनिमय सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। मुद्राकोष बहुपक्षीय व्यापार तथा भुगतान प्रणालियों को बड़ा प्रोत्साहन देता है तथा सदस्य देशों के भुगतानशेष में होने वाले तत्कालीन असन्तुलन को दूर करने में वह बड़ा सहायक रहा है। मुद्राकोष के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक समस्याओं पर विचार-विमर्श एवं सहयोग के लिए एक स्थायी संस्था अस्तित्व में आ गयी है। कोष के प्रयत्नों से प्रतिस्पर्धी पूर्ण मन्दी का बहिष्कार और विनिमय दर का स्थायित्व आदि सिद्धांतों को सामान्यतः स्वीकार कर लिया गया है। अव्यवस्थित विनिमय सम्बन्धों को कम करने की दिशा में भी कुछ सफलता प्राप्त की गई है। इन लाभों को प्रदान करते हुए भी मुद्राकोष द्वारा सदस्य देशों की आन्तरिक आर्थिक व्यवस्था में कोई हस्तक्षेप नहीं किया जाता जो अपने आप में एक बड़ी बात है। इस कोष की स्थापना से विश्व के देशों को स्वर्णमान के लाभों की प्राप्ति हुई है। कोष की सेवाओं के कारण ही प्रो. होम ने इसे अन्तर्राष्ट्रीय रिजर्व बैंक (International Reserve Bank) कहा है।

बहुमूल्य सेवाओं के बावजूद अनेक आधारों पर मुद्राकोष की आलोचनायें की गई हैं। आरोप है कि मुद्राकोष अपने मूल लक्ष्यों को प्राप्त करने में बहुत कुछ असफल रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक क्षेत्र में अभी तक वही व्यवस्था कायम है जो कोष ने केवल संक्रमणकाल के लिए स्थापित की थी। अभी तक न तो भुगतानों की बहुपक्षीय व्यवस्था स्थापित हो पायी है और न ही विश्व व्यापार की प्रगति में बाधा डालने वाले विदेशी विनिमय के प्रतिबन्ध अधिक कम हो पाये हैं। भुगतानों की बाधाओं को कम करने तथा बहुपक्षीय भुगतानों के संचालन का क्षेत्र व्यापक बनाने में जो थोड़ी बहुत सफलता प्राप्त हुई है, उसका श्रेय स्वयं कोष को नहीं वरन् कोष के बाहर किये गये कार्यों को है।

यह आलोचना की जाती है कि मुद्राकोष का कार्य-क्षेत्र सीमित है। यह केवल चालू सौदों से उत्पन्न असन्तुलित भुगतानों की समस्या का ही समाधान करता है। युद्ध ऋणों की अदायगी, पूंजी के आयात-निर्यात, अवधि-स्टालिंग आदि से इस कोष का कोई सम्बन्ध नहीं है और इस भुगतान के लिए यह सदस्य देशों को किसी प्रकार की सहायता नहीं देता। मुद्रा-कोष द्वारा सदस्य राष्ट्रों के कोटे भी वैज्ञानिक आधार पर निश्चित नहीं किये गये हैं। मुद्राकोष ने कोटे निश्चित करने में, ब्रिटेन तथा अमेरिका के आर्थिक एवं राजनीतिक स्वार्थों को विशेष ध्यान में रखा है। इन कोटों के आधार पर अमेरिका और ब्रिटेन का मुद्राकोष पर एक प्रकार से आधिपत्य स्थापित हो गया है और ये देश मुद्राकोष को अपने हितों के लिए प्रयुक्त करने से बाज नहीं आते।

एक गम्भीर आरोप यह है कि मुद्राकोष का सदस्य देशों के साथ व्यवहार भेद-भावपूर्ण है। यह पिछड़े तथा अल्पविकसित देशों की तुलना में विकसित पाश्चात्य देशों को विशेष रियायतें देता है। यदि पाश्चात्य देश कोष के आदेशों का उल्लंघन करते हैं तब भी उनके विरुद्ध कार्यवाही नहीं की जाती। अफ्रीका के कुछ नवोदित राष्ट्रों ने तो "धनिकों का क्लब" (Richmens' Club) तक कह दिया है जो ब्रिटेन, अमेरिका, पश्चिमी जर्मनी तथा अन्य धनी राष्ट्रों और उनके समर्थकों को वास्तविक आर्थिक सहायता प्रदान करता है।

मुद्राकोष के विरुद्ध एक आरोप यह है कि वह डालर की दुर्लभता की समस्या को हल करने में असमर्थ रहा है। इसके अतिरिक्त विभिन्न देशों द्वारा लगाए गए विनिमय नियन्त्रणों तथा कुछ अन्य प्रतिबन्धों को दूर करने में भी इसे वाञ्छित सफलता नहीं मिली है। इतना ही नहीं, यह विभिन्न मुद्राओं के बीच समता-दरों में स्थिरता बनाये रखने में भी असमर्थ रहा है।

उपर्युक्त आलोचनाओं में कुछ वजन है और मुद्राकोष आशा के अनुकूल अधिक सफल नहीं हो सका है तथापि यह स्वीकार करना होगा कि इसने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहित करने में महत्वपूर्ण योग दिया है। अनुसंधान एवं परामर्श के क्षेत्र में इसने महत्वपूर्ण सेवाएं सम्पन्न की हैं।

विश्व-बैंक
(The World Bank)

अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक, जिसे बहुधा विश्व-बैंक कहा जाता है, की स्थापना भी जुलाई, 1944 में ब्रेटनवुड्स सम्मेलन में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष के साथ ही की गई और इसने जून, 1946 में अपने कार्य आरम्भ किये। इस संस्था का मुख्य कार्यालय भी वाशिंगटन में है और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष का सदस्य होने पर कोई भी राष्ट्र इसका सदस्य हो सकता है। मुद्राकोष की स्थापना का मुख्य लक्ष्य सदस्य देशों की भुगतान सम्बन्धी विषमताओं को दूर करना था जबकि विश्व-बैंक की स्थापना प्रायः इसीलिए की गई ताकि युद्धजनित आर्थिक अव्यवस्था को

दूर किया जा सके और विकसित तथा अविकसित देशों को दीर्घकालीन ऋणों के रूप में सहायता दी जाए ताकि वे प्रगति और पुनर्निर्माण के पथ पर बढ़ सकें।

सदस्यता और संगठन

जो देश 31 दिसम्बर, 1945 तक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष के सदस्य बने वे विश्व-बैंक के मूल सदस्य माने गए हैं। कोई भी देश दो शर्तों पर विश्व-बैंक का सदस्य बन सकता है। प्रथम, उस देश का प्रार्थना-पत्र सदस्यों के बहुमत द्वारा स्वीकार किया जाना चाहिए और दूसरे, उस देश को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष का सदस्य होना चाहिए। यदि कोई देश मुद्राकोष की सदस्यता से त्यागपत्र देता है तो विश्व-बैंक से भी उसकी सदस्यता समाप्त हो जाती है। कोष की सदस्यता त्यागने पर भी कोई देश बैंक का सदस्य तभी बना रह सकता है जब उसके तत्कालीन सदस्यों में से 75% उसके पक्ष में मत प्रकट करें। बैंक की सदस्यता तभी तक बनी रहती है जब तक सम्बन्धित देश उसके नियमों का पालन करता रहे। सदस्यता का परित्याग लिखित सूचना के आधार पर किया जा सकता है, लेकिन त्यागपत्र से पूर्व सदस्य देश के लिए आवश्यक है कि वह बैंक के सारे दायित्वों का भुगतान कर दे।

विश्व-बैंक का प्रबन्ध ठीक उसी प्रकार चलाया जाता है जिस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष का। बैंक की शक्तियां संचालक-मण्डल (Board of Governors) में निहित होती हैं जिसके अन्तर्गत सभी सदस्यों का प्रतिनिधित्व होता है। बैंक के दिन प्रतिदिन के कार्यों का संचालन प्रशासनिक निर्देशकों (Executive Directors) द्वारा किया जाता है जिनको शक्तियां संचालक मण्डल द्वारा हस्तान्तरित की गई होती हैं। एक अध्यक्ष (President) होता है जिसके अधीन अन्तर्राष्ट्रीय कर्मचारियों का एक स्टाफ कार्य करता है। अध्यक्ष का चयन प्रशासकीय निर्देशकों द्वारा किया जाता है। अध्यक्ष प्रशासकीय निर्देशकों के बोर्ड (Board of Executive Directors) की सभाओं की अध्यक्षता करता है और साथ ही बैंक का प्रमुख अधिकारी भी होता है। वह संचालक मण्डल के निर्देशन में काम करता है तथा अपने प्रत्येक कार्य के लिए उसके प्रति उत्तरदायी होता है। उसी के द्वारा बैंक के अधिकारियों की नियुक्ति की जाती है। बैंक में एक सलाहकार समिति (Advisory Council) भी होती है जिसका निर्माण संचालक मण्डल द्वारा किया जाता है। इसमें कम से कम सात सदस्यों का होना आवश्यक है। ये सदस्य विभिन्न आर्थिक विषयों के विशेषज्ञ होते हैं। बैंक में एक ऋण समिति (Loan Committee) होती है। किसी भी देश को ऋण देने से पूर्व विश्व-बैंक इस ऋण समिति की सलाह अवश्य लेता है। ऋण समिति भी संचालक मण्डल द्वारा नियुक्त की जाती है।

परम्परागत रूप से प्रायः सदस्य देशों के वित्तमन्त्रियों को ही बैंक का गवर्नर नियुक्त किया जाता है। बैंक की सभाओं में भाग लेने के लिए स्थानापन्न गवर्नर भी नियुक्त किये जाते हैं किन्तु वे का मतदान अधिकार नहीं रखते।

विश्व-बैंक का प्रमुख कार्यालय वाशिंगटन में है। इसके अतिरिक्त न्यूयार्क, लन्दन तथा पेरिस में भी इसके कार्यालय हैं।

बैंक के उद्देश्य

युद्धोत्तर जटिल आर्थिक परिस्थितियों और समस्याओं के निराकरण की दृष्टि से विश्व-बैंक की स्थापना मुख्यतः निम्नलिखित चार उद्देश्यों को लेकर की गई है—

(1) बैंक का प्रथम उद्देश्य युद्ध विनष्ट तथा अल्पविकसित देशों को दीर्घकालीन ऋण देकर उनके पुनर्निर्माण तथा आर्थिक विकास का मार्ग प्रशस्त करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए बैंक ने ब्रिटेन, फ्रान्स, बेल्जियम, हालैण्ड, डेनमार्क, आदि युद्ध विनष्ट देशों को तथा भारत, पाकिस्तान, लंका, बर्मा आदि पिछड़े देशों को विकास के लिए ऋणों के रूप में भारी सहायता प्रदान की है। तकनीकी सहायता प्रदान करने के लिए भी इन देशों के आर्थिक विकास की गति को तीव्र करने का प्रयास किया गया है।

(2) विश्व-बैंक व्यक्तिगत विनियोगकर्त्ताओं को अविकसित देशों में उत्पादन कार्य के लिए पूंजी का विनियोग करने हेतु प्रोत्साहित करता है। इसके लिए इन विनियोग-कर्त्ताओं को उनकी पूंजी पर गारण्टी देता है अथवा उनके विनियोग या ऋण में हाथ बटाता है। अपने इस कार्य के लिए व्यक्तिगत विनियोग उचित शर्तों पर तैयार न हो पाते तो बैंक उचित शर्तों पर इन देशों के उत्पादन कार्यों के लिए ऋण देता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि बैंक द्वारा सदस्य देशों में पूंजी एवं अन्य संस्थागत ऋण-पूंजी का विस्तार किया जाता है।

(3) विश्व-बैंक द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन दिया जाता है। यह अपने सदस्य देशों के उत्पादन के साधनों का विकास करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय विनियोगों को प्रोत्साहन देता है ताकि सम्बन्धित देश में रोजगार आय तथा जीवन-स्तर आदि ऊंचा उठाया जा सके।

(4) युद्ध के समय देश की आवश्यकताओं की प्रकृति शान्तिकाल की अपेक्षा भिन्न होती है। युद्ध के बाद यह आवश्यकता हुई कि उस समय की आर्थिक व्यवस्था को शांतिकालीन आर्थिक व्यवस्था में परिणत किया जाय। यह कार्य विश्व-बैंक निभाता है।

विश्व-बैंक की पूंजी

विश्व-बैंक की प्रारम्भिक स्वीकृत पूंजी 10 हजार मिलियन डालर थी जिसे एक लाख के शेयरों में विभाजित किया गया था और सभी सदस्य देशों ने अपने कोटे के अनुसार शेयरों को खरीदा था।

विधान में यह भी व्यवस्था है कि प्रत्येक देश सदस्यता प्राप्त करने पर अपने कोटे का 20% भाग विश्व-बैंक को देगा जिसमें से 2% अनिवार्यतः स्वर्ण के रूप में और 18% अपनी मुद्रा में देना पड़ेगा। व्यवस्था के अनुसार कोटे का शेष 80%

भाग विश्व-बैंक जब चाहे तब सदस्य देशो से माग सकता है। सदस्य देशो के कोटे केवल उनके दायित्वो और प्रशासकीय अधिकारो की सीमाओ को निर्धारित करते हैं अर्थात् उनके द्वारा प्राप्त किये जाने वाले ऋणो की सीमायें उनके कोटे से निर्धारित नही होती।

अक्टूबर, 1958 मे बैंक के सचालक मण्डल की दिल्ली मे हुई वार्षिक बैठक के एक निर्णय के अनुसार 15 सितम्बर, 1959 से बैंक की स्वीकृत पूजी 10 हजार मिलियन डालर से बढ कर 21 हजार मिलियन डालर कर दी गयी और आगे चलकर, पिछडे तथा अल्पविकसित देशो को अधिक ऋण प्रदान करने की दृष्टि से, 31 दिसम्बर, 1963 को बैंक की स्वीकृत पूजी पुनः बढकर 22 हजार मिलियन डालर कर दी गयी।

यह प्रावधान है कि विश्व-बैंक के सदस्यों की देयता (Liability) सीमित होगी। यदि बैंक किसी कारणवश फेल हो जाय तो सदस्य देशो की देयता उनके शेयरो तक ही सीमित मानी जायगी।

कार्य प्रणालियां एव कार्य

(1) विश्व-बैंक द्वारा मुख्य रूप से विकास योजनाओ के लिए ऋण दिया जाता है। ऋण प्राय. यह विश्वास होने पर दिया जाता है कि सदस्य देश ऋण लेने के योग्य है और अन्य साधनो से उसे उचित शर्तों पर ऋण प्राप्त नहीं हो रहा है। विश्व-बैंक सदस्य देशो से प्राप्त किये गये स्वर्ण को किसी देश को ऋण देने के लिए प्रयोग कर सकता है, लेकिन यदि ऋण किसी देश की मुद्रा मे देना होता है तो बैंक उस सदस्य देश की पूर्व स्वीकृति से ही ऐसा कर सकता है।

(2) विश्व-बैंक द्वारा अपनी पूंजी में से प्रत्यक्ष रूप से ऋण दिये जाते हैं। कई बार यह उधार ली गई पूजी मे से ऋण प्रदान करता है। यह स्वय गारण्टी देकर भी ऋण दिला सकता है। इस प्रकार की गारण्टी देने से पूर्व बैंक यह देख लेता है कि ऋण देने की उचित शर्तें, उचित तथा न्यायपूर्ण हैं, जिस कार्य के लिए ऋण लिया जा रहा है वह उचित है, ऋण लेने वाला देश उसे वापस कर सकता है तथा सम्बन्धित देश की सरकार भी उस ऋण पर गारण्टी दे रही है।

(3) बैंक द्वारा ऋण देते समय एक विशेष प्रक्रिया अपनायी जाती है। विश्व-बैंक का सम्बन्ध या तो सदस्य देश की सरकार अथवा उसके केन्द्रीय बैंक से रहता है। वह सदस्य देश की गैर सरकारी संस्थाओ से सम्बन्ध नहीं रखता। विश्व-बैंक किसी भी गैर सरकारी सस्था को केवल तभी ऋण प्रदान करता है जबकि उस देश की सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक उस ऋण के मूलधन, ब्याज, एव अन्य खर्चों के भुगतानो की गारण्टी प्रदान कर सके।

(4) विश्व-बैंक द्वारा दिये गये ऋण की राशि को सम्बन्धित देश के केन्द्रीय बैंक मे जमा की जाती है और वहा से कर्ज लेने वाली सस्था अपनी आवश्यकतानुसार धन ले सकती है।

(5) ऋण की मात्रा और गारण्टी आदि के निर्धारण का कार्य स्वयं बैंक द्वारा किया जा सकता है।

(6) विश्व-बैंक ऋण देते समय ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं लगा सकता कि ऋण देने वाले देश को ही खर्च किया जाय।

(7) ऋण लेने वाला देश प्राप्त राशि को केवल उसी विकास योजना के काम में ला सकता है जिसके लिए ऋण लिया गया है। विश्व-बैंक निरीक्षण का भी अधिकार रखता है।

(8) विश्व-बैंक के पास जितनी प्रार्थित पूंजी और सञ्चित निधि होती है वह उस से अधिक ऋण न तो स्वयं दे सकता है और न गारण्टी देकर किसी से दिला सकता है।

(9) जब विश्व-बैंक किसी को गारण्टी दिलाकर कर्ज दिलाता है तो कर्ज ले लिया भुगतान करते समय स्वयं उसी मुद्रा को काम में लेगा जिसमें कर्ज लिया गया था।

(10) बैंक अपने कोषों में से दिये गये ऋणों को सदस्य देशों से आधे से लेकर 3% तक ब्याज वसूल करता है। जब बैंक स्वयं गारण्टी देकर ऋण दिलाता है तो उस पर 1% से लेकर 10% तक कमीशन लेता है। यह कमीशन एक विशेष कोष में जमा किया जाता है। जब कोई सदस्य देश ऋण का भुगतान नहीं कर पाता तो विश्व-बैंक इस कोष में से उसका भुगतान करता है।

(11) विश्व-बैंक सदस्य देशों को तकनीकी सहायता प्रदान करता है। इस दिशा में कार्य करते हुए वह समय-समय पर सदस्य देशों को अपने आर्थिक विशेषज्ञ भेजकर उनकी आर्थिक स्थिति का सामान्य पर्यवेक्षण कराता है। बैंक सदस्य देशों को उनकी आर्थिक समस्याओं के समाधान में सहायता देता है। वह सदस्य देशों के अधिकारियों को विकास योजनाओं के निर्माण और क्रियान्वयन का प्रशिक्षण भी प्रदान करता है। इस उद्देश्य के लिए बैंक द्वारा सन् 1957 में स्थापित आर्थिक विकास संस्थान (Economic Development Institute) से सम्बद्ध देशों के अधिकारियों और कर्मचारियों को तत्कालीन प्रशिक्षण दिया जाता है।

अपने लाभ का वितरण करते समय बैंक सबसे पहले ऋण दाता देशों को उनकी पूंजी में से प्रदत्त ऋणों की औसत रकम का 2% ब्याज देता है। तत्पश्चात् शेष लाभ को वह सदस्य देशों में उनकी स्वीकृत पूंजी के अनुपात में से उन्हीं की मुद्राओं में वितरित कर देता है।

सैद्धान्तिक रूप में बैंक एक अंतिम ऋण दाता है। सामान्य नियम यह है कि बैंक केवल उसी समय हस्तक्षेप करेगा जबकि उसे यह विश्वास हो जाय कि सदस्य देश ऋण लेने योग्य है और उचित शर्तों पर वह अन्य किसी से भी ऋण प्राप्त नहीं कर सकता। इस प्रकार बैंक वर्तमान साख-सुविधाओं को केवल सहायता प्रदान करता है, उनके ऊपर छाकर सहयोग नहीं देता। भारत के अन्य

स्रोतों के साथ इसकी उपयोगिता नहीं है। बैंक के उधार देने की क्षमता, कुल योगदान एवं सुरक्षाओं अथवा अतिरेकों को मिलाकर बनती है। बैंक अपने कुल योगदान में से केवल 20% ही उधार दे सकता है। यह स्वयं के बॉण्ड्स की बिक्री करके उधार दे सकता है अथवा ऋणों की गारण्टी देकर पूंजी ऋण देने को भी प्रोत्साहित कर सकता है।

बैंकों के कार्यों का मूल्यांकन

विश्व-बैंक की उपयोगिता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि इसके द्वारा 30 सितम्बर, 1965 तक की 20 वर्षों की अवधि में ही लगभग 9,000,8 मिलियन डालर के ऋण प्रदान किये गये जो लगभग 80 विभिन्न उधारकर्ता देशों में लगभग 430 ऋणों के रूप में फैले हुए थे। 1968–69 में विश्व-बैंक ने 84 ऋण दिये जिनकी कुल राशि 1,399 मिलियन डालर थी। बैंक द्वारा दिये गये ऋणों का लगभग 69% भाग एशिया, अफ्रीका तथा अमेरिका के पिछड़े क्षेत्रों में मिला है। बैंक सदस्य देशों को केवल उत्पादक उद्देश्यों के लिए ही ऋण देता है। बैंक के ऋणों से अल्पविकसित देशों के विद्युत-शक्ति तथा परिवहन साधनों का अच्छा विकास हुआ है। 1968–69 में बैंक ने कृषि विकास, शिक्षा तथा परिवार नियोजन के लिए भी ऋण देना शुरू कर दिया है। यह सदस्य देशों को तकनीकी सहायता भी प्रदान करता है। सदस्य देशों को तकनीकी मशीन भेजकर वहां की आर्थिक स्थिति की जानकारी हासिल करने और उन देशों की आर्थिक समस्याओं को सुलझाने में विश्व बैंक का उल्लेखनीय योग रहा। अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम (International Financial Corporation) तथा अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ (International Development Association) भी विश्व-बैंक से सम्बन्धित हैं। वर्तमान संस्था का उद्देश्य सदस्य देशों में पूंजी व्यवसायों को प्रोत्साहित करना तथा दूसरे संस्था का पिछड़े तथा अल्पविकसित देशों में आर्थिक सहायता देकर उनका औद्योगिक विकास करना है। विश्व-बैंक ने सदस्य देशों के पारस्परिक आर्थिक विवादों का निपटारा करने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। हाल ही में बैंक द्वारा भारत तथा पाकिस्तान के बीच नहरी पानी के विवाद का और संयुक्त अरब गणराज्य तथा ब्रिटेन के बीच स्वेज नहर से उत्पन्न वित्तीय विवाद का समाधान करने में प्रशंसनीय भूमिका अदा की गई है। विश्व-बैंक द्वारा सदस्य देशों की प्रार्थना पर व्यापक आर्थिक सर्वेक्षण किये जाते रहे हैं।

नि:सन्देह इस अपने छोटे से जीवनकाल में विश्व-बैंक ने प्रशंसनीय कार्य किया है, तथापि कतिपय आधारों पर उसकी कार्यप्रणाली और भूमिका आलोचना की पात्र है। कहा जाता है कि विश्व-बैंक प्राय: ऋणी देशों के पक्ष में तथा ऋण दाता देशों के विपक्ष में कार्य करता है। इसके निर्णयों पर ऋणी देशों का अधिक प्रभाव पड़ता है। पर यह आलोचना वजनी नहीं है क्योंकि विश्व-बैंक तो सदस्यों के संयुक्त और व्यक्तिगत गारण्टी के सिद्धांत के आधार पर ही काम करता है। किसी

भी सदस्य देश को ऋण देने की जोखिम का बोझ सभी देशों पर पड़ता है। दूसरा आरोप यह लगाया जाता है कि बैंक का कार्य निजी निवेशकर्त्ताओं द्वारा कहीं अधिक अच्छे ढंग से सम्पन्न किया जा सकता है। यह आलोचना इस दृष्टि से उचित प्रतीत नहीं होती कि विश्व पूंजी निवेशकर्त्ताओं से कोई प्रत्यक्ष प्रतिस्पर्धा नहीं है। तीसरा आरोप यह है कि विश्व-बैंक का व्यवहार पक्षपातपूर्ण है और प्रायः अमेरिका तथा यूरोपीय देशों का ही अधिक पक्ष लेता है। यह आरोप बहुत कुछ सत्य है। वास्तव में विश्व-बैंक पर इन देशों का पर्याप्त प्रभुत्व स्थापित हो चुका है। इस चौथी आलोचना में भी वजन है कि विश्व-बैंक द्वारा ऊंची ब्याज दरें वसूल की जाती हैं। बैंक का उद्देश्य तो अधिकाधिक देशों को सस्ते ब्याज की वित्तीय सहायता देना होना चाहिए।

अन्तिम मूल्यांकन के रूप में बैंक के लाभों का पलड़ा ही अधिक भारी रहता है। विश्व-बैंक ने पिछड़े और अल्प-विकसित देशों के विकास में निश्चित रूप से बहुमूल्य सहायता प्रदान की है तथा अन्तर्राष्ट्रीय निवेश के प्रवाह को बढ़ाने में अपना यथोचित योगदान प्रस्तुत किया है। बैंक ने यह सिद्ध कर दिखाया है कि अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग का विचार कोरी कल्पना न होकर एक स्पष्ट यथार्थता है।

भारत तथा विश्व-बैंक

भारत नवम्बर, 1946 से ही विश्व बैंक का मूल सदस्य है। बैंक के प्रशासकीय सचालक मण्डल में भी भारत को स्थायी स्थान प्राप्त है। भारत की पंचवर्षीय योजनाओं की क्रियान्विति में विश्व-बैंक की सहायता काफी महत्वपूर्ण रही है। 31 दिसम्बर, 1969 तक विश्व-बैंक द्वारा भारत में विभिन्न परियोजनाओं के लिए लगभग 755.41 करोड़ रुपये ऋण मिल चुके थे जिन पर ब्याज दर 3.5 से लेकर 5.5% तक फैली हुई थी। विश्व-बैंक ने समय-समय पर भारत को तकनीकी विशेषज्ञ की सेवाएं भी प्रदान कीं। फिर भी यह स्वीकार करना होगा कि भारत के औद्योगिक तथा विकास सम्बन्धी आवश्यकताओं की दृष्टि से विश्व-बैंक द्वारा प्रदान की गई आर्थिक सहायता पर्याप्त रही है। इसके अतिरिक्त विश्व-बैंक ने भारत को दिये गये ऋणों पर काफी ऊंची ब्याज-दर वसूल की। ऋण भी केवल निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए दिये गये हैं जबकि भारत को सामान्य ऋणों की अधिक आवश्यकता है जिन्हें सरकार अपनी आवश्यकतानुसार प्रकट करने में स्वतन्त्र हो।

अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ
(International Development Association)

जैसा कि कहा जा चुका है, अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ विश्व-बैंक से सम्बन्धित है। इसकी स्थापना सितम्बर, 1960 में की गई थी। अल्पविकसित देशों को आसान शर्तों पर ऋण देने के लिए ही यह नयी संस्था अस्तित्व में आयी है।

अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ का उद्देश्य अल्पविकसित देशों को परिवहन, विद्युत संचार, सिंचाई, बाढ़ नियन्त्रण आदि के लिए ऋण प्रदान करना है। यह सदस्य देशों को ग्रामीण-गृहों के निर्माण, पेय जल की सप्लाई, स्वास्थ्य, चिकित्सा आदि से सम्बन्धित योजनाओं के लिए भी ऋण देता है। वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ विश्व-बैंक के पूरक के रूप में है जो अविकसित सदस्य देशों को आर्थिक विकास के लिए सस्ता दीर्घकालीन ऋण सुलभ कराता है। इन पर ब्याज की कम दर ली जाती है। दीर्घकालीन ऋणों का भुगतान देश की मुद्रा में ही ले लिया जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ की कुल पूंजी 1000 मिलियन डालर है। संघ के सदस्य दो श्रेणियों में विभाजित हैं। पहली श्रेणी में आर्थिक दृष्टि से बहुत विकसित 18 देश हैं जो अपना चन्दा स्वर्ण तथा परिवर्तनीय मुद्रा में देते हैं। दूसरी श्रेणी में अल्पविकसित 76 देश हैं जो अपने चन्दे का 10% भाग स्वर्ण में और शेष 90% भाग अपनी मुद्रा में देते हैं। विकास संघ की प्रबन्ध व्यवस्था उन्हीं अधिकारियों के हाथों में है जो विश्व-बैंक का संचालन करते हैं। आवश्यकतानुसार संघ के लिए पृथक् कर्मचारी अधिकारी भी नियुक्त किये जाते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ ने 1968–69 में लगभग 385 मिलियन डालर के 38 बड़े विकास ऋण प्रदान किये थे। भारत को विकास संघ से 31 मार्च, 1969 तक 757.59 करोड़ रुपये ऋण मिल चुके थे।

आर्थिक विकास के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ का विशेष कोष

संयुक्त राष्ट्र के इस विशेष कोष की स्थापना 1 जनवरी, 1959 को हुई थी। इसका मुख्य उद्देश्य पिछड़े तथा अल्पविकसित देशों को आर्थिक, सामाजिक एवं तकनीकी विकास के लिए यथासाध्य सहायता प्रदान करना है। कोष का प्रबन्ध संयुक्त राष्ट्र संघ के हाथों में है। कोष द्वारा समय-समय पर निश्चित उद्देश्यों के लिए भारत को ऋण मिलते रहे हैं। कुल मिलाकर जनवरी, 1968 तक भारत इस कोष से लगभग 47 मिलियन डालर की वित्तीय सहायता ले चुका है फिर भी कोष से भारत को आशानुकूल सहायता न मिल सकी। इसका एक मुख्य कारण यह है कि कोष में साधनों की कमी है। यह नितान्त आवश्यक है कि कोष के साधनों को अधिक समृद्ध किया जाय ताकि यह अल्पविकसित और पिछड़े देशों को अधिक मात्रा में प्रभावशाली आर्थिक सहायता प्रदान कर सके।

व्यापार विकास सम्मेलन

व्यापार और विकास सम्बन्धी संयुक्त राष्ट्रीय सम्मेलन की स्थापना कुछ ही वर्षों पूर्व सन् 1964 में हुई थी। इस सम्मेलन की स्थापना का मुख्य उद्देश्य आर्थिक विषमताओं को दूर करना और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को

बढ़ावा देना है। यह सम्मेलन राष्ट्रों को आपस में प्रतिस्पर्धा में बचाता है तथा उन्हें अधिकाधिक निर्यात के लिए प्रोत्साहित करता है।

संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम

संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम सन् 1966 से स्थापित है। यह विकासशील देशों की आर्थिक सम्भावनाओं और उनके सर्वोत्तम उपयोग की योजना बनाने हेतु आवश्यक सर्वेक्षण और अध्ययन करता है। इस प्रकार विकास कार्यक्रम की महती उपयोगिता है। वर्तमान में संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत लगभग 10 हजार अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के विशेषज्ञ लगभग 130 देशों में विकास परियोजनाओं पर कार्य कर रहे हैं। ये परियोजनाएं बड़ी व्ययसाध्य हैं। इन पर करोड़ों डालर का व्यय होता है। यह व्यवस्था है कि जिन देशों में इन परियोजनाओं पर कार्य हो रहा हो, उन्हें परियोजना का कुल आधा व्यय देना पड़ता है। एक अध्ययन के अनुसार 1970 तक स्वीकृत परियोजना का लगभग 20,000 लाख डालर व्यय हो चुका है।

16

सामाजिक न्याय के उपाय—सामाजिक विकास एवं स्वास्थ्य, यूनस्को, विश्व स्वास्थ्य संगठन आदि, मानव एवं समूह अधिकार, उपनिवेशवाद का अन्त आदि

(Measures for Social Justice—Social Development and Health, W.H.O; UNESCO; Human and Group Rights, End of Colonialism etc)

"विश्वभर में भूख तथा गरीबी से पीड़ित विशाल क्षेत्र के प्रति संयुक्त राष्ट्र संघ ही नवीन और अच्छे जीवन का संदेश देता है।... ... ... लेकिन यह देखकर कि संयुक्त राष्ट्र संघ के विश्व-कल्याण के कार्यों में धीमापन आ गया है, बड़ा खेद होता है।"

—राष्ट्रपति कार्लास रोमूलो

अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का समाधान और युद्धों को रोकना ही संयुक्त राष्ट्र संघ का एक मात्र कार्य नहीं है। चार्टर के अनुसार उसका यह भी दायित्व है कि वह मनुष्यमात्र की सामाजिक और आर्थिक भलाई के लिए विभिन्न साधन उत्पन्न करे। पिछड़े देश सरलता से उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद का शिकार बनकर कालान्तर में विश्व शांति के लिए खतरनाक सिद्ध होते हैं, अतः उन्हें अपनी दुरावस्था से निकालने के लिए विश्व-संस्था को प्रत्यक्ष-परोक्ष गैर-राजनीतिक कार्य भी करने पड़ते हैं। साधन के अभाव में विकासशील राष्ट्र एक तो अपनी वांछित प्रयत्न करने में असमर्थ रहते हैं और दूसरी ओर विकसित राष्ट्रों द्वारा उनको शोषित किया जाता है। यह स्थायी युद्धों को जन्म देने वाली अथवा अन्तर्राष्ट्रीय शांति को आघात पहुंचाने वाली हैं अतः विश्वसंस्था का यह दायित्व है कि वह विश्व-शांति को स्थायी बनाने के लिए संसार के विकासशील राष्ट्रों की आर्थिक और सामाजिक उन्नति की ओर ध्यान दे। वह विश्व में सामाजिक न्याय के लिए प्रयत्न करे, सामाजिक विकास और स्वास्थ्य-दशा पर

ध्यान दे, मानव अधिकारों और मौलिक स्वतन्त्रताओं के प्रति राष्ट्रों और व्यक्तियों के मन में विश्वास उत्पन्न करे तथा उपनिवेशवाद की समाप्ति के लिए सचेष्ट रहे। संयुक्त राष्ट्रसंघ के संवैधानिक निर्माणकर्त्ता किसी भी प्रभावशाली अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के इन तथ्यों से भलीभांति परिचित थे और इसीलिए उन्हें संघ के चार्टर को इस प्रकार की अनेक व्यवस्थाएं दी हैं जिनके आधार पर विश्व में व्याप्त आर्थिक और सामाजिक असमानताओं को दूर करने के लिए आग बढ़ें। चार्टर के अनुच्छेद 55 में उल्लेख किया गया कि "स्थायित्व तथा कल्याणकारी स्थितियों के निर्माण की दृष्टि से, जो लोगों के समान अधिकारों और आत्मनिर्णयों के सिद्धान्त पर आधारित राष्ट्रों के मध्य शान्तिपूर्ण एवं मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों के लिए आवश्यक हैं, संयुक्त राष्ट्रसंघ निम्नलिखित बातों को प्रोत्साहन देगा—

(अ) जीवन के उच्च स्तरों, पूर्ण कार्य तथा आर्थिक एवं सामाजिक न्यायालय और विकास की स्थितियों को,

(ब) अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक-सामाजिक-स्वास्थ्य एवं सम्बन्धित समस्याओं के समाधान तथा अन्तर्राष्ट्रीय संस्कृति और शिक्षा सम्बन्धी सहयोग को; एवं

(स) जाति, लिंग, भाषा अथवा धर्म के भेदभाव किये बिना मानव अधिकारों और आधारभूत स्वतन्त्रताओं के लिए सार्वदेशिक सम्मान और पालन को।"

उपर्युक्त सभी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ अपनी स्थापना के समय से ही प्रयत्नशील है। इस दृष्टि से कुछ अभिकरणों की भी स्थापना की गयी है जिनके बारे में सविस्तार पूर्ववर्ती अध्याय में लिखा जा चुका है। प्रसंगानुसार यूनेस्को, विश्व-स्वास्थ्य संगठन तथा अन्य संयुक्त राष्ट्रीय कार्यक्रम पर इस अध्याय में प्रकाश डाला गया है।

किसी भी देश की उन्नति का मापदण्ड है कि वहां मनुष्यों की व्यक्तिगत आय, अवसरों की समानता, शिक्षा के स्तर, स्वास्थ्य के मापदण्ड तथा मानव अधिकारों के विकास की क्या स्थिति है। संसार के अविकसित राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय सहायता के अभाव में इन नवीन आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकते। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने अपने कार्यों से यह सिद्ध कर दिया है कि वह इस क्षेत्र में अधिकाधिक सफलतापूर्वक कार्य करने में सक्षम है। बशर्ते कि इसे सदस्य राष्ट्रों का ईमानदारीपूर्वक सहयोग मिले। विकसित और अविकसित दोनों ही प्रकार के राष्ट्रों ने यह अनुभव कर लिया है कि वर्तमान परिस्थितियों में अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक और सामाजिक सहयोग अनिवार्य है और यह बहुत कुछ तभी सम्भव है जब संयुक्त राष्ट्र-पद्धति को कार्य करने के समुचित अवसर प्रदान किये जायं।[1] वास्तव में यह स्वीकार करना होगा कि सामान्य जनता का ध्यान अधिकतर संयुक्त राष्ट्र के शोर भरे राजनीतिक वाद-विवादों पर रहता है जबकि उसके सबसे महत्वपूर्ण कार्य गैर-राजनीतिक हैं और ये कार्य ही विश्व शांति के लिए सर्वाधिक स्थायी देन हैं। यद्यपि इन सभी सामाजिक और आर्थिक कार्यों का

1. *E. P. Chase* : The United Nations in Action, p. 230.

उत्तरदायित्व महासभा पर है, तथापि यह कार्य आर्थिक और सामाजिक परिषद् द्वारा किये जाते हैं जिसने इन उद्देश्यो की पूर्ति के लिए अनेक आयोग स्थापित करके उन्हें कुछ निश्चित कार्य सौंपे हैं। परिषद् आयोग से प्राप्त रिपोर्ट पर विचार करके उन्हे आवश्यक कार्यवाही के लिए अपनी सिफारिशो सहित महासभा के पास भेज देती है। सामाजिक-सास्कृतिक-शैक्षणिक तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी क्षेत्रों के अध्ययन और उन पर प्रतिवेदन आदि के अतिरिक्त परिषद् का यह भी दायित्व है कि वह मानव अधिकारो और मूलभूत स्वतन्त्रताओ के प्रति आस्था बढाये और उनके अनुपालन के लिए सिफारिशें करे।

आर्थिक एवं सामाजिक न्याय तथा प्रगति के लिए किये गये कार्य

सयुक्त राष्ट्र आर्थिक कल्याण को प्रोत्साहन देने के लिए विश्वबैंक, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष आदि के माध्यम से जिस प्रकार प्रयत्नशील है, उसका विस्तृत उल्लेख पिछले अध्याय मे किया जा चुका है। अत. यहाँ अन्य प्रयत्नो की चर्चा की जायगी।

ज्यों ही कोई देश स्वतन्त्रता प्राप्त करता है, सयुक्त राष्ट्रसघ अपने ढग से उसमे रुचि लेकर उसके आर्थिक और सामाजिक ढाँचे मे सुधार करने मे प्रयत्नशील हो जाता है। सयुक्त राष्ट्र का यह कर्तव्य है कि वह नये स्वतन्त्र होने वाले राष्ट्रो की शैक्षणिक आर्थिक, तकनीकी तथा अन्य कमियो को यथाशक्ति दूर करे। इस दृष्टि से महासभा ने 1961 मे यह निश्चय किया था कि 1960 से 1970 तक के समय को सयुक्त राष्ट्र विकास दशक का नाम दिया जाय और इस अवधि मे पिछड़े हुए देशों की आर्थिक तथा सामाजिक दशा सुधारने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर गम्भीर प्रयास किये जाय। प्रयत्न यह हो कि प्रत्येक देश मे हर नागरिक की वार्षिक आय मे 5 प्रतिशत की वृद्धि हो जाय। सभी सदस्य राज्यो से इस कार्य में सहयोग देने की प्रार्थना की गयी। अब तक प्राप्त रिपोर्टों से यह अनुमान लगाया जाता है कि सयुक्त राष्ट्र विकास दशक मे निर्दिष्ट लक्ष्यो की दिशा मे कुछ प्रगति अवश्य की गयी है। पिछड़े देश आर्थिक क्षेत्र मे पर्याप्त आगे नही बढ सके, लेकिन विकासशील देशो ने तकनीकी सहायता के विकास कार्यक्रम सयुक्त राष्ट्र विशेष कोष, विश्व-खाद्य कार्यक्रम आदि का अच्छी तरह उपयोग किया है। विकास दशक मे इन बातो पर विशेष बल दिया गया है—व्यापार का विस्तार, औद्योगीकरण, विज्ञान और तकनीक का विकास एव उपयोग, जनसख्या सम्बन्धी समस्याओ का समाधान, प्राकृतिक स्रोतो का शोषण, विकास की वित्त व्यवस्था, आर्थिक एव सामाजिक विकास के लिए आयोजन आदि।

विकासशील देशों के आर्थिक विकास और अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य के प्रसार के लिए सयुक्त राष्ट्रसघ ने एक नयी व्यापार और विकास मशीनरी का गठन किया है जो 1964 से ही कार्यरत है। इस क्षेत्र मे जो पद्धति स्वीकृत की गयी है उसके तीन भाग हैं। पहला भाग व्यापार तथा विकास सम्बन्धी सयुक्त राष्ट्र सम्मेलन (UNCTAD) है। इस सम्मेलन के निश्चयो को लागू करने के लिए एक व्यापार एव विकास मण्डल है जिसने व्यापार सम्बन्धी कार्यों पर विचार करने के लिए अनेक

स्थायी समितियों की भी स्थापना की है। सम्मेलन का एक सचिवालय भी है। इस बात पर अधिकाधिक ध्यान दिया गया है कि विश्व के आर्थिक एवं सामाजिक विकास के लिए विज्ञान और तकनीक का अधिक उपयोग किया जाय विकासशील देशों को विकास कार्यक्रमों का खर्चा उठाने के लिए धन देने का प्रयत्न किया जा रहा है। विकास के आधारभूत कार्यक्रमों में संयुक्त राष्ट्र विभिन्न देशों की सरकारों के प्राकृतिक साधनों के अधिकतम उपयोग के लिए, प्रशासकीय व्यवस्थाओं के सुधार के लिए, परिवहन सुविधाओं को आधुनिक बनाने के लिए, राष्ट्रीय अंक शास्त्रीय बजट सबंधी व्यवस्थाओं को उन्नत बनाने के लिए सहायता दे रहा है। मानवीय ससाधनों के सर्वाधिक उपयोग पर भी विशेष बल दिया गया है। सयुक्त राष्ट्रसघ अनेक विकासशील देशों में दो समस्याओं पर बहुत ध्यान दे रहा है—एक तो बढ़ती हुई जनसख्या और दूसरा गावों से शहरों की ओर भारी सख्या में लोगों का आना। सयुक्त राष्ट्र द्वारा एक सलाहकार समिति की स्थापना की गयी है जो खाद्य, जल और शिक्षा सम्बन्धी समस्याओं पर विचार करती है। सयुक्त राष्ट्र तथा उसके अन्तर्राष्ट्रीय अनुसंगिक ऐजेन्सी द्वारा विभिन्न सरकारों को सहायता के रूप में विशेषज्ञ आदि भेजे जाते रहे हैं।

संयुक्त राष्ट्र का यह प्रयत्न रहा है कि पिछड़े हुए और विकासशील देशों की सामाजिक आर्थिक प्रगति के लिए हर सभव प्रयत्न किया जाय। फलस्वरूप भूमि सुधार कार्यक्रमों के लिए, युवकों की समस्याओं के लिए, बाल अपराध तथा सामुदायिक विकास आदि के लिए सहायता दी जाती है। सामाजिक समस्याओं पर विचार करने के लिए समय-समय पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनो का आयोजन होता है, जैसे—विश्व जनसंख्या सम्मेलन (बेलग्रेड–1965) अपराध निरोध तथा अपराधियो के प्रति व्यवहार सम्बन्धी सयुक्त राष्ट्र सम्मेलन (स्टॉक होम–1965), विश्व भूमि सुधार सम्मेलन (रोम 1966), आदि। सयुक्त राष्ट्र विस्तृत विकास योजनाओं की तैयारी में सहयोग देता है ताकि सचालित आर्थिक व सामाजिक प्रगति हो सके। सयुक्त राष्ट्र ने सरकारों को सहायता देते समय प्राथमिकता इस बात को दी है कि विभिन्न देशों में ऐसे उद्देश्यो की स्थापना हो जिनसे स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके, नये कार्यों में श्रमिकों को प्रशिक्षण मिल सके और कच्चे सामान का अच्छी तरह उपयोग हो सके। औद्योगीकरण को प्रोत्साहन देने की दृष्टि से स्थापित औद्योगिक विकास केन्द्र अनेक ऐसी सयुक्त राष्ट्र ऐजेन्सियो के साथ मिलकर कार्य करते हैं जो औद्योगिक विकास के विशेष पहलुओं से सम्बन्धित है। इस केन्द्र ने औद्योगीकरण की उपलब्धियों के सम्बन्ध में एशिया, अफ्रीका तथा लेटिन अमेरिका के अनेक क्षेत्र गोष्ठियों को सगठित किया है।

खाद्य समस्या के समाधान के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ बहुत कुछ प्रयत्नशील रहा है। 1960 मे खाद्य एवं कृषि संगठन ने संयुक्त राष्ट्र तथा अन्य विशेष अभिकरणों के सहयोग से एक ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन चला रखा है जिसका ध्येय विश्व की जनता को भूख और अपोषण की समस्याओं से अवगत कराना है। इस आन्दोलन का

ध्येय यह भी रहा है कि भूख से स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए तथा खाद्य समस्याओं के निराकरण के लिए क्या विभिन्न प्रयत्न किये जाय। 80 से भी अधिक देशों में राष्ट्रीय समितियों को स्थापित किया गया है ताकि आन्दोलन को प्रोत्साहन मिले। खाद्य एवं कृषि संगठन तथा संयुक्त राष्ट्र ने मिलकर एक विश्व खाद्य कार्यक्रम भी स्थापित किया है और विश्व के विभिन्न राष्ट्रों ने इस कार्यक्रम के लिए खाद्य, धन और सेवाएं प्रदान की हैं। इस कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य खाद्य-सहायता के रूप में आर्थिक एवं सामाजिक न्याय तथा विकास को प्रोत्साहन देना है।

विकास दशक के ध्येयों की पूर्ति का कार्य संयुक्त राष्ट्र और उससे सम्बन्धित कई अभिकरण कर रहे हैं। जनवरी, 1959 से स्थापित संयुक्त राष्ट्र कोष दरिद्रता, अज्ञान और रोग को दूर करने की दिशा में प्रयत्नशील है। हाल के ही वर्षों में तकनीकी सहायता के विकास कार्यक्रम और विशेष कोष को एक नयी योजना में शामिल कर दिया गया है जिसे "संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम" कहा गया है। संयुक्त राष्ट्र ने एक विकास योजना समिति भी स्थापित की है जिसका कार्य यह निश्चित करना है कि खाद्य-उपभोगों, स्वास्थ्य, शिक्षा, रोजगारी का स्तर आदि किस आधार पर निश्चित किये जाय। संयुक्त राष्ट्र समय-समय पर आर्थिक विकास सम्बन्धी योजनाओं का मूल्यांकन करता है।

संयुक्त राष्ट्र ने चार क्षेत्रीय आर्थिक आयोग भी स्थापित किये हैं—यूरोपीय आर्थिक आयोग, एशिया तथा सुदूरपूर्व आर्थिक आयोग, लेटिन अमेरिका आर्थिक आयोग, एवं अफ्रीका आर्थिक आयोग। ये क्षेत्रीय आर्थिक विश्व के आर्थिक और सामाजिक विकास के महती कार्य में उल्लेखनीय भूमिका अदा कर रहे हैं। आर्थिक सहयोग के क्षेत्र में इन्होंने महत्वपूर्ण नेतृत्व प्रदान किया है। आयोग इस बात के लिए प्रयत्नशील है कि धनी और निर्धन देशों के बीच अन्तर यथासम्भव कम किया जाय। एशिया एवं सुदूरपूर्व आर्थिक आयोग (इकाफे ECFAE) अपने उपायों द्वारा एशियाई आर्थिक जीवन से सम्बन्धित सभी महत्वपूर्ण बातों को निपटाने में प्रयत्नशील है। यह आर्थिक विकास एवं आयोजन आर्थिक अनुसन्धान, वित्त, बाढ़ नियन्त्रण, खनिज साधन, गृह निर्माण, अन्तर्देशीय यातायात व सन्चार तथा आर्थिक विकास की अन्य सामाजिक गतिविधियों में रत है। आयोग ने अपने क्षेत्र के सदस्य देशों में प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना की है, अध्ययन-दौरों का आयोजन किया है और उपयोगी परामर्श सेवाएं अर्पित की हैं। आयोग द्वारा सम्मेलनों और विचार गोष्ठियों की व्यवस्था की जाती है जिनमें औद्योगिक विकास के प्रश्नों पर अधिक बल दिया जाता है। एशियाई आर्थिक सहयोग के बारे में मन्त्रियों का जो तीसरा सम्मेलन दिसम्बर, 1968 को बैंकाक में हुआ था, उसमें भारत ने इकाफे देशों के बीच व्यापार बढ़ाने का छः-सूत्री कार्यक्रम रखा था। आयोग ने यह कार्यक्रम स्वीकार करके इसे अपनी रिपोर्ट में शामिल कर लिया। यह कार्यक्रम इकाफे देशों के आर्थिक सहयोग और सामूहिक विकास के लिए महत्वपूर्ण है। इनमें एक दूसरे देशों को आयात के बदले में निर्यात

की जा सकने वाली वस्तुओं के बारे में जानकारी का आदान-प्रदान, निर्यात की वृद्धि के लिए उत्पादन में वृद्धि करना, इकाफे देशों के माल को वरीयता देने, भुगतान व्यवस्था को और सुगम बनाने, माल लाने-ले जाने के साधनों को उन्नत करने आदि की व्यवस्था है। आयोग का 25वां अधिवेशन अप्रैल 1969 में सिंगापुर में हुआ था। अधिवेशन के दूसरे विकास दशक के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण प्रस्ताव पास किया गया जिसमें कहा गया कि विकासशील देश 6 से 7% वार्षिक दर से प्रगति कर सकते हैं बशर्ते कि विकास दशक के वर्षों में उन्नत देश अपने राष्ट्रीय उत्पादन के एक प्रतिशत के बराबर की आर्थिक सहायता दें। एशियाई देशों की आयोजना तथा प्रबन्ध क्षमता तथा उसके द्वारा इनके उपयोग का सन्तोष व्यक्त किया गया। अधिवेशन में कई महत्वपूर्ण प्रस्ताव पास किये गये। वास्तव में यह स्वीकार करना होगा कि एशिया तथा सुदूरपूर्व आयोग आज एक महान् आर्थिक अनुसंधान एवं आँकड़ा केन्द्र तथा व्यापार और औद्योगिक सूचना केन्द्र है। आर्थिक सेवाओं का यह परामर्शदाता स्रोत है।

जैसा कि कहा जा चुका है, चार्टर का एक मुख्य ध्येय सामाजिक विकास और न्याय तथा उच्चतर जीवन स्तर को प्रोत्साहन देना है। आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् पिछड़े हुए विकासशील राष्ट्रों की सहायता करके इस ध्येय की पूर्ति के लिए प्रयत्नशील है। संयुक्त राष्ट्र बालकोष, यूनेस्को, विश्व स्वास्थ्य संगठन आदि के माध्यम से संयुक्त राष्ट्रसंघ सामाजिक सांस्कृतिक, शैक्षणिक और विविध कल्याणकारी विकास कार्य पूरे करने में लगा हुआ है। यूनेस्को और विश्व स्वास्थ्य संगठन जो महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहे हैं उन पर अग्रिम पृष्ठों में पृथक् शीर्षकों के अन्तर्गत प्रकाश डाला गया है। संयुक्त राष्ट्र बालकोष अथवा यूनिसेफ (UNICEF) संसार के बच्चों के स्वास्थ्य, शिक्षा और भलाई से सम्बन्धित है। इस समय संसार के लगभग 115 देशों में यूनीसेफ द्वारा सहायता दी जा रही है। इसकी सहायता सरकारों की प्रार्थना पर दी जाती है। सरकारों को अपने बच्चों की प्रमुख आवश्यकताओं का निश्चय करने और उन्हें पूरा करने के लिए विस्तृत कार्यक्रमों की योजना बनाने में भी यूनिसेफ सहायक होता है। बालकोष अथवा यूनिसेफ का एक बड़ा हिस्सा उपस्कर तथा सभरण जुटाने के लिए ही प्रयुक्त होता है। विश्व भर में लगभग 500 से भी अधिक कार्यक्रमों द्वारा बच्चों की बीमारी, भूख, अज्ञानता आदि को दूर करने तथा पारिवारिक जीवन को विघटित होने से बचाने के लिए प्रयत्न किया जाता रहा है। यूनिसेफ के कार्यक्रमों के फलस्वरूप विश्व के लाखों बालकों को मलेरिया, क्षय, कोढ़ आदि विभिन्न रोगों से बचाया जा रहा है और लाखों को रोग-मुक्त किया जा चुका है। डाक्टर, नर्स तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी अन्य कार्यकर्ता यूनिसेफ से प्रशिक्षण ग्रहण करके स्थायी स्वास्थ्य केन्द्रों में कार्यरत हैं। स्कूल के बच्चों को दूध के वितरण की व्यवस्था भी यूनिसेफ द्वारा की जाती है। इतना ही नहीं डेरियाँ स्थापित करने के लिए सामान भी दिया जाता है। प्राथमिक स्कूल व अध्यापकों की कमी दूर करने के

लिए यूनिसेफ ने लगभग 45 देशों को प्राथमिक स्कूल अध्यापकों को प्रशिक्षण की सहायता दी है। व्यावहारिक प्रशिक्षण की भी व्यवस्था की जाती है और नगरों की गन्दी बस्तियों में रहने वाले बच्चों के लिए देखरेख केन्द्र और युवक केन्द्र स्थापित किये गये हैं। संयुक्त राष्ट्र बालकोष अथवा यूनिसेफ एक अर्धस्वशासित संस्था है और संयुक्त राष्ट्र का अंग है। इसका प्रशासन 30 राष्ट्रों का एक मण्डल करता है जिसका चुनाव आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् द्वारा किया जाता है। इसकी आय का बड़ा स्रोत सरकारों का स्वैच्छिक अनुदान है।

शरणार्थियों के लिए संयुक्तराष्ट्र उच्चआयुक्त का कार्यालय उन व्यक्तियों को अन्तर्राष्ट्रीय संरक्षण देता है जो विभिन्न राजनीतिक कठिनाइयों के फलस्वरूप अपने मूल देशों को छोड़ आये हैं। सरकारों की प्रार्थना पर शरणार्थियों की समस्या के लिए यह विविध सुविधाएं प्रदान करता है। शरणार्थियों के आयुक्त की सबसे तात्कालिक शरणार्थियों की समस्याएं प्राय अफ्रीका में है। हाल ही के पूर्वी बंगाल में पाकिस्तान के नृशंस अत्याचारों के फलस्वरूप शरणार्थियों की जो भीषण बाढ़ भारत में आ गयी है वह भी संयुक्त राष्ट्रसंघ के लिए ही एक गम्भीर सिरदर्द है। पर खेद की बात है कि कतिपय महाशक्तियों के असहयोगपूर्ण रुख अथवा उनकी शिथिल नीति के फलस्वरूप इस भयानक और अभूतपूर्व शरणार्थी समस्या के समाधान की दिशा में भी संयुक्त राष्ट्रसंघ की भूमिका पक्षपातपूर्ण तथा प्रभावी रही है। नशीली औषधियों के दुरुपयोग को रोकने की दिशा में भी संयुक्त राष्ट्रसंघ प्रयत्नशील है। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने नशीले पदार्थों के उत्पादन और व्यापार पर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण की एक पद्धति प्रस्तुत की है जिसका उद्देश्य यह है कि ऐसे पदार्थों का उपयोग केवल चिकित्सा सम्बन्धी तथा विज्ञान सम्बन्धी उद्देश्यों के लिए ही किया जाय। संयुक्त राष्ट्रसंघ की ही एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था इस बारे में नीति निर्धारण करती है और यह आशा की जाती है कि इस नीति का पालन सभी सरकारें करेंगी। राष्ट्रीय सीमाओं के बाहर औषधियों के वैधानिक आवागमन पर इस संस्था द्वारा निगरानी रखी जाती है। संस्था का यह प्रयत्न रहता है कि इन वस्तुओं के आवागमन के विरुद्ध सभी देश समुचित कदम उठावें।

संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा जो विभिन्न प्रमुख सहयोग कार्यक्रम चलाये जा रहे हैं उनके अन्तर्गत पिछड़े हुए और विकासशील देशों को विभिन्न प्रकार की सहायता प्रदान की जाती है। यह सहायता प्रायः इस प्रकार से उपलब्ध है—परामर्शदाता, छात्रवृत्ति, सामुदायिक विकास, सामाजिक कार्यों के लिए प्रशिक्षण, अपराधनिरोध, संस्थान, सामाजिक सेवायें, नगरीकरण, प्रवेश, एवं आयोजन, जनसंख्या के सम्बन्ध में गोष्ठियों का गठन आदि। जनसंख्या और अपराधों की वृद्धि भी संयुक्त राष्ट्र की चिन्ता का विषय है। भवन निर्माण और योजना पर भी ध्यान दिया जाता है। मानव अधिकारों और आधारभूत स्वतन्त्रताओं के माध्यम से सामाजिक और

राजनीतिक न्याय को प्रोत्साहन देने की दिशा में संयुक्त राष्ट्रसंघीय प्रयत्नों का उल्लेख आगे एक पृथक् शीर्षक में दिया गया है।

विश्व-स्वास्थ्य-संगठन
(World Health Organisation-W.H.O.)

स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्यों को सम्पादित करने के लिए स्थापित किये गये इस संगठन की नींव 19 जून, 1946 को संयुक्त राष्ट्रसंघ की आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् द्वारा न्यूयार्क में आमन्त्रित एक सम्मेलन में पड़ी। स्वास्थ्य समस्याओं पर विचार करने के लिए आयोजित इस सम्मेलन ने 22 जुलाई, 1946 तक कार्य किया और इसी मध्य इसने विश्व स्वास्थ्य संगठन के संविधान की रचना की। 67 देशों के प्रतिनिधियों ने इस संविधान की रचना में भाग लिया। तदनुसार 7 अप्रैल, 1948 को इस संगठन की स्थापना हुयी। इसी कारण 7 अप्रैल को समस्त विश्व में 'स्वास्थ्य दिवस' के रूप में मनाया जाता है।

सदस्यता—इस संगठन की सदस्यता सभी राष्ट्रों के लिए खुली है। संयुक्त राष्ट्र के सदस्य इसके संविधान को स्वीकार करके इसमें सम्मिलित हो सकते हैं। आज विश्व के 125 से भी अधिक देश इसके सदस्य हैं। प्रत्येक सदस्य राज्य का कर्तव्य है कि वह संगठन को भेजे जाने वाली वार्षिक रिपोर्ट में यह भी बतलाये कि उसने अपने नागरिकों के स्वास्थ्य के लिए क्या काम किया है। रिपोर्ट में यह भी बतलाया जाता है कि सदस्य राज्य ने संगठन द्वारा स्वीकृत समझौतों और नियमों का कहां तक पालन किया है और स्वास्थ्य के सम्बन्ध में क्या महत्वपूर्ण नियम, कानून आदि बनाये हैं।

अंग—विश्व-स्वास्थ्य-संगठन के निम्नलिखित अंग हैं :—सभा (Assembly), कार्यकारिणी मण्डल (Executive Board), एवं सचिवालय (Secretariat)।

सभा में सभी सदस्य राष्ट्रों के प्रतिनिधि होते हैं। इसकी वर्ष में एक बार बैठक होती है। इसका मुख्य कार्य नीति-निर्धारण का है। प्रथम

कार्यवाहक मण्डल में 24 सदस्य होते हैं जिनका चुनाव सभा (Assembly) द्वारा चिकित्सा आदि कार्यों को विशेष ज्ञान रखने वाले व्यक्तियों में किया जाता है। वर्ष में दो बार इसकी बैठक अवश्य होती है।

सचिवालय में एक महानिदेशक (Director General) और उसका कर्मचारी वर्ग होता है। महानिदेशक विश्व-स्वास्थ्य संगठन के प्रशासकीय एवं तकनीकी कार्यों की देख-भाल करता है। उसका मुख्य कार्यालय जेनेवा में है।

इस संस्था में प्रादेशिक संगठन, अफ्रीका, दक्षिणी पूर्वी एशिया, पूर्वी भूमध्य सागर तथा पश्चिमी महासागर के क्षेत्रों में है। चूँकि विश्व स्वास्थ्य-संगठन का काम सहायता सलाह, व सहयोग देना है—एक सर्वोपरि राष्ट्रीय स्वास्थ्य प्रशासन की तरह काम करना नहीं। अतः इसीलिए इसने प्रदेशीकरण के सिद्धान्तों को लागू किय

हैं। इस संगठन द्वारा उपर्युक्त क्षेत्रों में जो प्रादेशिक संगठन अथवा कार्यालय स्थापित किये गये हैं, उन्हीं के द्वारा इसका अधिकांश कार्य चलाया जाता है। स्थानीय कार्यक्रमों को तैयार करने व प्रादेशिक कार्यालय के लिए प्रत्येक प्रदेश अथवा क्षेत्र के सदस्य देशों की समिति की नियमित बैठक होती है। स्वास्थ्य स्तरों पर प्रभाव डालने वाले विभिन्न विषयों के बारे में संयुक्त राष्ट्रसंघ के विभिन्न क्षेत्रों, अन्य एजेन्सियों, संयुक्त राष्ट्रसंघीय शिशु-कोष तथा अनेक अन्तर्राष्ट्रीय गैर सरकारी संगठन के मध्य होने वाले सहयोग व सम्पर्क स्थापित किया गया है।

उद्देश्य एवं कार्य—संगठन के प्रस्तावना में इसके उद्देश्यों को बतलाया गया है। प्रस्तावना में उल्लिखित है कि प्रत्येक मनुष्य का यह मौलिक अधिकार है कि उसे उच्चतम स्वास्थ्य स्तर की सुविधाओं की प्राप्ति हो। संसार की शान्ति और सुरक्षा के लिए आवश्यक है कि सभी मनुष्यों के स्वास्थ्य का ध्यान रखा जावे। यदि किसी एक राज्य में स्वास्थ्य की सुरक्षा और प्रोत्साहन की दृष्टि से कोई पग उठाया जाता है तो वह दुनिया भर के लोगों के लिए उपयोगी है। संगठन के संविधान में स्वास्थ्य को लक्ष्य करते हुए कहा गया है कि "यह बीमारी या दुर्बलता का अभाव नहीं है अपितु शारीरिक मानसिक और सामाजिक दृष्टि से पूर्णरूप से उत्तम रहने की दशा है।"

स्वास्थ्य सम्बन्धी महान् उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संगठन जो कार्य करता है, वह दो श्रेणियों में रखा जा सकता है-परामर्शदात्री सेवायें, एवं तकनीकी सेवायें। यह अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य के कार्यों का संचालन और समन्वय करता है। संगठन द्वारा प्रसारित ज्ञान विनिमय, परामर्श और रीतियों के बहुत अच्छे परिणाम निकले हैं। उदाहरणार्थ विश्व के राष्ट्रों में मलेरिया का प्रकोप नगण्य रह गया है। जहां 1942 में यूनान में 20 लाख व्यक्ति मलेरिया से पीड़ित थे, वहां 1950 में ही यह संख्या घटकर लगभग 50 हजार रह गयी और आज यूनान मलेरिया से लगभग मुक्त है। 1946 में फिलिपाइन्स में 40% विद्यार्थी इस बीमारी से पीड़ित थे और 1949 में ही यह संख्या घटकर 3% रह गयी। दक्षिणी अमरीका में 10 वर्ष की अल्पावधि में ही, मलेरिया नियन्त्रण के फलस्वरूप उत्पादन योग्य भूमि 700 एकड़ से बढ़कर 1200 एकड़ हो गयी। संगठन किसी भी नये और संक्रामक रोग की सूचना संसार भर के देशों में प्रसारित करता है। महामारियों और बीमारियों के कार्यों को प्रोत्साहन तथा इस क्षेत्र को सरकारों को परामर्श देने में इस संगठन को प्रदर्शन टोलियों और व्यक्तिगत सलाहकारों की प्रभावकारी भूमिका रही है। संगठन के परामर्शदाता क्षयरोग, मातृ एवं बाल सुरक्षा, पोषण, स्वच्छता आदि के क्षेत्रों में कार्य करते हैं। यह संगठन प्रति वर्ष सैकड़ों वजीफे देता है ताकि विदेशों में जाकर डाक्टर और नर्से अध्ययन तथा अनुसंधान कर सकें। स्वास्थ्य के क्षेत्र में संयुक्त राष्ट्रसंघ, इसके विशेष संगठनों तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी विभिन्न संस्थाओं में सहयोग स्थापित करना संगठन का महत्वपूर्ण कार्य है। यह स्वास्थ्य समस्या पर, अन्तर्राष्ट्रीय प्रशिक्षण

कार्यक्रम और गोष्ठियां आयोजित करता है तथा हर सम्भव उपाय से विश्व के लोगों को स्वास्थ्य से उन्नत बनाने का प्रयास करता है।

संगठन द्वारा टीके लगाने और औषधियों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मापदण्ड निर्धारित किये जाते हैं। संगठन हैजा, चेचक आदि संक्रामक रोगों की सूचना विश्व भर के राष्ट्रों को देता है। इस प्रकार की सूचनायें संगठन की ओर से प्रायः रेडियो द्वारा प्रसारित की जाती हैं। रोगों के प्रसार को रोकने के कार्य में सभी सरकारें सहयोग देती हैं। संगठन द्वारा, विगत कुछ वर्षों से, इन्फ्लूएन्जा, पोलियो मैलिटिस आदि रोगों पर विशेष शोध कार्य कराया जा रहा है। संगठन तकनीकी बुलेटिन और अन्य साहित्य छापकर संसार भर के देशों को वितरित करता है। संगठन के कुछ अन्य तकनीकी कार्य इस प्रकार हैं—मानसिक स्वास्थ्य के कार्यों में आहार, गृह-निर्माण, सफाई, मनोरंजन आदि सम्बन्धी स्वास्थ्य की परिस्थितियों को उन्नत करना; मातृ कल्याण एवं बालकल्याण के कार्यों को प्रोत्साहन देना, आकस्मिक चोटों को रोकने का यत्न करना; स्वास्थ्य के क्षेत्र में प्रशासनात्मक और सामाजिक प्रविधियों (Administrative and Social Techniques) का अध्ययन करना तथा लोगों के वातावरणीय स्वास्थ्य (Environmental Hygiene) की परिस्थितियों को उन्नत करना; बीमारियों के अन्तर्राष्ट्रीय नियमों के और निदान सम्बन्धी (Diagnostic) कार्यों का मानकीकरण (Standardization) करना, खाद्य पदार्थों, दवाइयों तथा अन्य ऐसी वस्तुओं के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय मानक (Standards) निश्चित करना।

विश्व स्वास्थ्य संगठन के महत्वपूर्ण कार्यक्रमों के बारे में निकटतम प्राविधिक बारीकियों के संगठन को सुसज्जित रखने के लिए और आधुनिकतम अनुसंधान खोजों के आधार पर कार्यवाहियों की सिफारिश करने के लिए संसार भर में बड़ी सावधानी से चुने गये विशेषज्ञों के पैनल स्वास्थ्य कार्य के सभी पहलुओं पर विचार करते रहते हैं। संगठन ने विश्व में अनेक महामारियों का उन्मूलन करने में अमूल्य सहायता पहुंचायी है, अल्पविकसित और पिछड़े हुए देशों को आवश्यक औषधियों एवं डाक्टरी का बहुमूल्य सामान उपलब्ध कराया है तथा ऐसे देशों के सरकारी कार्यालयों के अफसरों एवं चिकित्सकों को सार्वजनिक स्वास्थ्य और चिकित्सा सम्बन्धी उच्च अध्ययन के लिए छात्रवृत्तियां प्रदान की हैं।

विश्व स्वास्थ्य संगठन अणुशक्ति उपयोग के स्वास्थ्यजनक पहलुओं से भी निकट सम्पर्क रखता है। विश्व स्वास्थ्य सम्बन्धी विभिन्न क्षेत्रों में महती भूमिका निभा रहा है, तथापि प्राइम बैंकिंस का यह कहना सर्वथा उपयुक्त है कि विश्व स्वास्थ्य संगठन विश्व बीमारी संगठन नहीं है? कोई भी संगठन अपनी स्वयं की शक्ति के बल पर संसार के सभी मनुष्यों की स्वास्थ्य सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता और विश्व स्वास्थ्य संगठन का यह ध्येय भी नहीं है। यह संगठन तो सब देशों में उस समय सहायता देता है जब वे स्वयं भी एक दूसरे की सहायता

करें। यह संगठन बीमारियों को ही मिटाने का प्रयत्न नहीं करता है वरन् उसका ध्येय सम्पूर्ण शारीरिक, मानसिक और सामाजिक भलाई को प्रोत्साहन देना है जिसके बिना अन्तर्राष्ट्रीय भलाई सम्भव नहीं है।[1]

संयुक्त राष्ट्रीय शिक्षा, विज्ञान और सांस्कृतिक संगठन (यूनेस्को)
(The United Nations Educational, Scientific and Cultural Organisation–UNESCO)

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के पश्चात् संयुक्त राष्ट्र के विशिष्ट अभिकरणों में सर्वाधिक सफलता यूनेस्को को प्राप्त हुई है। 4 नवम्बर, 1946 को जन्मी इस संस्था के 3 प्रमुख अंग हैं–सामान्य सभा (General Conference), कार्यकारिणी मण्डल (Executive Board) एवं सचिवालय (Secretariat)। सामान्य सभा में सभी सदस्य देशों का एक-एक प्रतिनिधि होता है। संयुक्त राष्ट्र के लगभग सभी सदस्य यूनेस्को के भी सदस्य हैं। सभा की प्रति दो वर्ष में एक बैठक होती है। सभा ही यूनेस्को का कार्यक्रम और बजट निश्चित करती है। कार्यकारिणी मण्डल का निर्वाचन सामान्य सभा द्वारा होता है। इसकी वर्ष में कम से कम दो बार बैठकें अवश्य होती हैं। इसके कार्य सामान्य सभा द्वारा निर्धारित नीतियों और कार्यक्रम को कार्यान्वित करता है। सचिवालय में एक महा निदेशक (Director General) और अन्तर्राष्ट्रीय कर्मचारी मण्डल होता है। सचिवालय का प्रधान कार्यालय पेरिस में है और यह छः प्रमुख विभागों में विभाजित है–शिक्षा, प्राकृतिक विज्ञान, सामाजिक विज्ञान, सांस्कृतिक कार्य, सामूहिक शिक्षा और प्रचार साधन तथा प्राविधिक सहायता विभाग। महानिदेशक की नियुक्ति कार्यकारिणी द्वारा की जाती है।

कार्यकारिणी मण्डल की सिफारिश पर और सामान्य सभा के दो तिहाई बहुमत से नये सदस्यों को यूनेस्को की सदस्यता प्रदान की जाती है। इसमें ऐसे राष्ट्र भी सदस्य हैं जो संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य नहीं हैं–उदाहरणार्थ, स्विट्जरलैण्ड।

उद्देश्य

यूनेस्को के संविधान की भूमिका में लिखा है कि "युद्ध मनुष्यों के मन में पैदा होता है, इसलिए शांति को सुरक्षित रखने की आधारशिलाएं भी मनुष्यों के मनों में स्थापित की जानी चाहिए।" यूनेस्को का लक्ष्य शिक्षा एवं संस्कृति के जरिए राष्ट्रों के बीच सहयोग को बढ़ावा देकर शांति व सुरक्षा में योगदान है ताकि जाति, लिंग, भाषा अथवा धर्म के आधार पर बिना भेदभाव के चार्टर में निहित मानव-अधिकारों व आधारभूत स्वतन्त्रताओं को मानवमात्र के लिए प्राप्त करने व न्याय तथा कानूनी व्यवस्था के प्रति सार्वजनिक सम्मान मुहय्या करने के कार्य में आगे बढ़ाया जा सके। यूनेस्को अपने इन महान् उद्देश्यों को पूरा करने के प्रयासों द्वारा विश्व के विभिन्न राष्ट्रों के मध्य सहयोग की वृद्धि करता है और इसीलिए इसे राजनीतिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में प्रजातन्त्र का उन्नायक कहा जाता है।

1. Work shops for the World, p p. 54-55.

कार्य और सफलताएं

यूनेस्को के कार्यों को संक्षेप में निम्नानुसार प्रकट किया जा सकता है—

शिक्षा—यह इस संस्था का प्रथम कार्य है। इसके अन्तर्गत मुख्यतः तीन बातें सम्मिलित हैं—शिक्षा का विस्तार, शिक्षा की उन्नति और विश्व समुदाय में रहने की शिक्षा देना। इस कार्यक्रम में साक्षरता के प्रसार और मौलिक शिक्षा पर विशेष बल दिया गया है। मौलिक शिक्षा का अभिप्राय सामुदायिक विकास की उस शिक्षा से है जो जन सामान्य को उनके स्वास्थ्य, भोजन, कपड़ों और जीवन-स्तर को सुधारने के लिए दी जाती है। निरक्षर जनता को न केवल साक्षर बनाने के प्रयास होते हैं बल्कि उन्हें शारीरिक स्वास्थ्य, आहार एवं पोषण, कृषि, गृह विज्ञान आदि की प्रारम्भिक शिक्षा भी दी जाती है। यूनेस्को द्वारा सामूहिक शिक्षा (Mass Education) पर बड़ा बल दिया गया है। यूनेस्को का यह एक पवित्र ध्येय है कि सर्वत्र सब लोगों के लिए निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था की जाय। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर यह संस्था विभिन्न देशों की शिक्षा सम्बन्धी विशेष योजना को सहायता देती है।

सन् 1951 से यूनेस्को का यह प्रयत्न रहा है कि कम से कम 6 वर्ष की अवधि के लिए निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा का विकास हो। इस कार्यक्रम का सदस्य राज्यों को, विशेषकर नव स्वतन्त्र राज्यों पर अधिक प्रभाव पड़ा है। वहां प्राइमरी शालाओं की संख्या में वृद्धि हुई है तथा शिक्षकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था को प्रोत्साहन मिला है। माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में यूनेस्को ने इतिहास, भूगोल तथा विदेशी भाषाओं के शिक्षण में सुधार लाने के प्रयत्न किये हैं ताकि अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना के विकास को गति मिले। अल्प विकसित देशों को इस संस्था ने उच्च तकनीकी संस्थान स्थापित करने के सम्बन्ध में उपयोगी सहायता प्रदान की है।

सन् 1947 से ही यूनेस्को का यह कार्यक्रम रहा है कि विश्व के लगभग 50 प्रतिशत व्यक्तियों को न्यूनतम स्तर पर बहुमुखी शिक्षा दी जा सके। यूनेस्को ने मैक्सिको तथा मिस्र में दो क्षेत्रीय बुनियादी शिक्षा केन्द्र स्थापित किये हैं ताकि बुनियादी शिक्षा का कार्य-कर्त्ताओं को प्रशिक्षण दिया जा सके। यूनेस्को का एक महत्वपूर्ण कार्य वयस्क शिक्षा से सम्बन्धित नवीन प्रविधियों और पद्धतियों के बारे में विस्तृत सूचनायें एकत्रित और वितरित करना भी रहा है। यह संस्था राष्ट्रीय और क्षेत्रीय स्तर पर विचार-गोष्ठियां आयोजित करती रही है। इसने विशेषज्ञों को भेजकर सदस्य राज्यों तथा अन्तर्राष्ट्रीय संस्थानों को वयस्क शिक्षा-कार्यक्रम के विस्तार अथवा विकास में सहायता दी है। यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि यूनेस्को के विपुल प्रयासों के फलस्वरूप ही अज्ञान एवं शिक्षा की समस्यायें आज अन्तर्राष्ट्रीय कार्य-क्षेत्र का विषय बन गयी हैं।[1]

यूनेस्को का एक महत्वपूर्ण कार्यक्रम बालकों के कोमल मस्तिष्क का विकास करना है। शिक्षा के माध्यम से यह संस्था बालकों को विश्व समाज में रहने के लिए

तैयार करनी है। इसने सदस्य राज्यों से आग्रह किया है कि वे अपने यहां की पाठ्य पुस्तकों से दूसरे देशों के प्रति पक्षपातपूर्ण सामग्री को निकाल दें तथा इस बात का प्रयत्न करें कि बच्चों के मस्तिष्क में दूसरों के प्रति घृणा तथा मिथ्या-राष्ट्रीय अभिमान तथा पक्षपात की मनोवृत्ति जागृत न हो।

वास्तव में, शिक्षा-प्रसार द्वारा यह संस्था विश्व नागरिकता के मूल तत्वों का प्रचार करके युद्ध-उत्पादक विचारों के विरुद्ध एक प्रबल जागरण की लहर लाने को प्रयत्नशील है।

विज्ञान—यूनेस्को ने प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञानों के विकास पर बड़ा ध्यान दिया है। इसने ही अणु केन्द्रीय शोध की यूरोपीय परिषद् की स्थापना के विषय में पहल की थी और आज यह अपने क्षेत्र में विश्व की एक अग्रणी संस्था है। यूनेस्को द्वारा ही अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक संघ परिषद् को आर्थिक सहायता प्रदान की गई जिसके फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय भू-भौतिक वर्ष-प्रायोजना के अन्तर्गत विश्वभर में वैज्ञानिक शोध के कार्यक्रम आयोजित किये गये।

यूनेस्को का एक महत्वपूर्ण कार्य मरु-प्रदेशों को उर्वर बनाने के सम्बन्ध में विभिन्न राज्यों में किये जा रहे प्रयोगों में तारतम्य लाना है। इस संस्था ने तट-प्रदेशों को निवास योग्य बनाने के प्रयास किये हैं तथा सामुद्रिक सम्पदा को भोजन तथा खाद के लिए उपयोग में लाने सम्बन्धी कार्यों को प्रोत्साहन दिया है। यूनेस्को ने लेटिन अमेरिका के लिए, मान्टीवीडियो में, मध्य-पूर्व के लिए काहिरा में, दक्षिणी एशिया के लिए नयी दिल्ली में तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया के लिए जकार्ता में क्षेत्रीय विज्ञान सहयोग केन्द्र स्थापित किये हैं। इन केन्द्रों की स्थापना वैज्ञानिक विश्व में यूनेस्को की निःसन्देह एक महत्वपूर्ण देन है।

सामाजिक विज्ञानों के क्षेत्र में यूनेस्को ने शोध के विकास में सहायता पहुंचाई है। इसने विभिन्न देशों में सामाजिक विज्ञान संस्थान-स्थापित करने के लिए, विशेषज्ञ भेजे हैं तथा गैर-सरकारी संस्थानों को सहायता दी है। औद्योगिकरण और तकनीकी परिवर्तन के सामाजिक प्रभावों पर शोध को इस संस्था ने पर्याप्त प्रोत्साहन दिया है। भारत सरकार के साथ हुए एक समझौते के अन्तर्गत स्थापित "दक्षिण एशिया में सामाजिक और आर्थिक विकास का शोध केन्द्र" इस कार्य में संलग्न है। इस केन्द्र से अनेक एशियायी देशों ने लाभ उठाया है।

यूनेस्को ने विभिन्न भाषाओं में जातिवाद के विरुद्ध साहित्य प्रकाशित कराया है। नस्ल और जाति का मिथ्या अभिमान द्वितीय महायुद्ध एक बड़ा कारण रहा था। आज हमारे देश को साम्प्रदायिक संघर्षों और तनावों से निरन्तर खतरा बना हुआ है। यूनेस्को की ओर से प्राध्यापक मरफी ने इन तनावों के मूल कारणों की उपयोगी खोज की है। "जाति" पर यूनेस्को द्वारा निर्देशित अध्ययनों से यह सिद्ध हो गया है कि एक जाति को दूसरी से उच्च मानने का कोई न्यायोचित आधार नहीं हो सकता। वस्तुतः यह एक गौरवपूर्ण प्रयास है कि यूनेस्को मानव-मस्तिष्क में जातीयता

और युद्ध के विरुद्ध "सुरक्षा-गढ़" का निर्माण करना चाहता है। राजनीतिक स्तर पर कार्यवाही राज्यों और संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा की जानी आवश्यक है।

संस्कृति—हर स्थान की सांस्कृतिक सम्पत्ति सम्पूर्ण मानव जाति की विरासत है और इस विरासत को सुरक्षित रखने के लिए यूनेस्को प्रयत्नशील है। जब आस्वानबांध के निर्माण के फलस्वरूप नूबिया के प्राचीन स्मारकों के डूब जाने का खतरा पैदा हो गया तो उनकी रक्षा के लिए यूनेस्को द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय अभियान चलाया गया। भारत, कोलम्बिया, नाइजीरिया में तीन सार्वजनिक पुस्तकालय खोलने की योजनाओं में यूनेस्को का उल्लेखनीय योगदान रहा। इनमें सबसे प्राचीन दिल्ली का सार्वजनिक पुस्तकालय है। यूनेस्को द्वारा भारत को दी गई यह सहायता सदा याद की जाती रहेगी। नव साक्षरों और अन्धों के लिए यह पुस्तकालय महत्वपूर्ण सेवायें प्रदान कर रहा है।

यूनेस्को मानव जाति की सांस्कृतिक विरासत को सुरक्षित रखने के लिए विविध पग उठाता रहा है। संग्रहालयों को लोकप्रिय बनाने के लिए इसने अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रचार किया है। इसने मानव जाति का वैज्ञानिक और सांस्कृतिक इतिहास लिखे जाने की योजना आरम्भ की है। प्रस्तावित इतिहास 6 खण्डों में प्रकाशित किया जाता है। इसका प्रथम खण्ड 1963 में प्रकाशित हो चुका है।

यूनेस्को सामूहिक ज्ञान प्रचार के लिए प्रयत्नशील है। फिल्म, प्रेस, रेडियो आदि के द्वारा इस कार्यक्रम की पूर्ति की जाती है। यूनेस्को ने, भारत सरकार के सुझाव पर, अन्धों के शिक्षण के लिए उभरे अक्षरों वाली ब्रेल पद्धति (लिखित वर्णमाला) निर्धारित की है। इस संगठन ने अमेरिका जैसे कठोर मुद्रा क्षेत्रों (Hard Currency Areas) से पुस्तकों तथा शिक्षण सामग्री की खरीद में नरम मुद्रा-क्षेत्रों (Soft Currency Areas) के समक्ष डालरों के अभाव की कठिनाई को दूर करने के लिए लाखों डालर के कूपन जारी किये हैं जिनसे नरम मुद्रा वाले राज्य आवश्यक पुस्तकें, शिक्षण-फिल्में तथा वैज्ञानिक सामग्री खरीद सकते हैं।

यूनेस्को के सांस्कृतिक कार्यक्रम के अन्तर्गत अनुसंधान, सभा-सम्मेलनों तथा विचार-गोष्ठियों के आयोजन होते हैं और बहुमुखी साहित्य का प्रकाशन होता है। संग्रहालयों के लिए फ्रेंच और अंग्रेजी में "म्यूजियम" नामक पत्रिका भी निकलती है। ग्रामीण क्षेत्रों में प्रौढ़ शिक्षा सम्बन्धी विचार-गोष्ठी का आयोजन किया जाता है। कला के विभिन्न क्षेत्रों में समन्वय स्थापित करने का प्रयास होता है तथा यह राय दी जाती है कि सांस्कृतिक विषयों को शिक्षण-कार्यक्रमों के अन्तर्गत कैसे लिया जाय। यूनेस्को नाटक, संगीत, दर्शन, म्यूजियम, पुस्तकालयों आदि के सांस्कृतिक क्षेत्रों में स्वैच्छिक संगठनों को आर्थिक अनुदान तथा चलती फिरती कला प्रदर्शनियों को प्रोत्साहन देता है।

यह आम तौर से माना गया है कि पूर्व और पश्चिम की बढ़ती हुई खाई को पाटने के लिए एक दूसरे को आपस में समझने की बड़ी आवश्यकता है, और यह

भी माना गया है कि विभिन्न संस्कृतियों की महान् बातों का ज्ञान तथा उनका सम्मान उच्च स्तरीय अन्तर्राष्ट्रीय सूझ-बूझ या विवेक में काफी योग दे सकता है। अतः इस प्रकार के विवेक को उन्नत बनाने के कार्य में अन्तर्राष्ट्रीय मशीनरी का पूरा-पूरा उपयोग करना यूनेस्को का ही काम है। यूनेस्को ने, पूर्व तथा पश्चिम के लोगों को एक दूसरे के बारे में सीखने के और अधिक अवसर देने के लिए ही 1956 में 10 वर्ष के लिए 'पूर्वी पश्चिमी सांस्कृतिक मूल्यों की पारस्परिक अवधारणा सम्बन्धी प्रमुख प्रयोजना" आरम्भ की थी। यूनेस्को का यह प्रयत्न रहा है कि पूर्व से पश्चिम और पश्चिम से पूर्व की ओर सूचना-सामग्री तथा विचारों का प्रवाह निरन्तर जारी रहे। पूर्व और पश्चिम के सामाजिक विज्ञानों तथा मानवीय शास्त्रों के विशेषज्ञों की बैठकें इस सस्था द्वारा आयोजित की जाती रही हैं।

व्यक्ति विनिमय एवं जन-सचारण—इस कार्यक्रम के अन्तर्गत विभिन्न देशों के विद्वानों को दूसरे देशों में भेजा जाता है और विभिन्न समूहों के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों का आयोजन किया जाता है। इस तरह विश्व के दूरस्थ देशों के वैज्ञानिकों और विद्वानों का आपस में सम्पर्क हो पाता है। 1955 की संयुक्त राष्ट्रीय वर्ष पुस्तक में ठीक ही कहा गया था कि "यूनेस्को ने अपने दो प्रमुख उद्देश्यों की पूर्ति के लिए—ज्ञान की अभिवृद्धि और वितरण तथा अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना के विकास के लिए—विदेशों में अध्ययन, शैक्षणिक यात्राओं और अन्तर्राष्ट्रीय प्रशिक्षण जैसी प्रत्यक्ष पद्धतियों को अपनाया है।" इस संस्था ने सदस्य राज्यों, संयुक्त राष्ट्रसंघ की विशिष्ट संस्थाओं और विविध उपयोगी प्रशासकीय संस्थाओं के सहयोग से बड़ी संख्या में छात्रवृत्तियां और भ्रमण-अनुदान प्रदान किये हैं।

यूनेस्को ने जन-सचारण के साधनों—प्रेस, रेडियो, फिल्म, टेलीविजन आदि के विस्तार के लिए काफी प्रयत्न किये हैं। यूनेस्को यह मानकर चला है कि व्यक्तियों और राष्ट्रों के बीच इन शक्तिशाली संचारण-साधनों द्वारा समझौते की भावना का समुचित विकास किया जा सकता है। यूनेस्को ने सदस्य राज्यों को अधि-छात्रवृत्तियां दी हैं और उनके यहां विशेषज्ञ भेजे हैं ताकि वे अपने संचारण साधनों में प्रभावी सुधार ला सकें। सूचनाओं और विचारों के मुक्त प्रवाह में उपस्थित बाधाओं को दूर करने के लिए इस संगठन ने सदस्य राज्यों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय समझौते सम्पन्न कराये हैं।

अन्य कार्य—यूनेस्को और भी अनेक कार्यों का दायित्व निभाता है। यह अग्रगामी विकास योजनाओं (Pilot projects) द्वारा किये गये अनुसन्धानों के आधार पर विभिन्न देशों की जनता का जीवन-स्तर ऊंचा उठाता है। सितम्बर, 1952 में स्वीकृत की गई यूनिवर्सल कापी राइट कन्वेंशन यूनेस्को की एक बहुत बड़ी सफलता मानी जाती है। इस समझौते द्वारा यूनेस्को ने लेखकों और कलाकारों के हितों के संरक्षण में विशेष योग दिया है। यूनेस्को के संविधान में प्रावधान है कि सदस्य राज्य अपने यहां राष्ट्रीय आयोग स्थापित करें जो व्यापक रूप से शासनों एवं

शैक्षणिक, वैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक निकायों के प्रतिनिधि होंगे। वास्तव में शासनो तथा प्रशासकीय निकायों का इस रूप में सहयोग प्राप्त करना एक अभिनव प्रयोग है। यूनेस्को से सम्बन्धित विषयों में ये राष्ट्रीय आयोग अपने-अपने शासनों के लिए "परामर्श दाता" के रूप में कार्य करते है। इन आयोगो के माध्यम से यूनेस्को का सन्देश सर्व साधारण तक पहुंचता है।

यूनेस्को ने अपने उद्देश्यो और कार्यों की पूर्ति के लिए विभिन्न सगठनो अथवा सस्थाओं की स्थापना की है जिनमे से मुख्य ये हैं—अन्तर्राष्ट्रीय नाट्य संस्थान (International Theatre Institute), अन्तर्राष्ट्रीय सगीत परिषद् (International Music Council), दर्शन और मानवतावादी अध्ययन की अन्तर्राष्ट्रीय परिषद् (International Council of Philosophy and HumanisticStudie), अन्तर्राष्ट्रीय समाज शास्त्र सघ (International Sociological Association), अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति विज्ञान सघ (International Political Science Association), एव तुलनात्मक विधि की अन्तर्राष्ट्रीय समिति (International Committee of Comparative Law)।

अन्त मे, यह कहा जा सकता है कि यह सस्था विश्व मे शान्ति की स्थापना एव मानवतावाद के निर्माण मे अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य कर रही है।

वास्तव मे यूनेस्को ने अपने जीवन की अल्प अवधि के भीतर ही अपने प्रभाव को काफी बढ़ा लिया है। यदि सस्था मे, विभिन्न राजनीतिक कारणोवश कुछ दुर्बलताएं नहीं होती तो यह संस्था और भी अधिक प्रगति कर सकती थी। सस्था की पहली दुर्बलता यह है कि प्रस्तावना मे अत्यधिक उच्च आकाक्षाएं व्यक्त की गई हैं जिनके पूर्ण होने से निराशा और निरुत्साह का वातावरण उत्पन्न होता है। दूसरी बड़ी दुर्बलता यह है कि सविधान में अस्पष्टता है। तीसरा महान दोष सदस्यो की ओर से सस्था को यथेष्ट सहयोग का नही मिलना है। अनेक सदस्य राज्यो ने यूनेस्को के कार्यो मे उत्तरदायित्व पूर्ण ढंग से भाग नही लिया है और ऐसे राज्यों की सख्या और भी कम है जिन्होने यूनेस्को द्वारा तय किये गये अन्तर्राष्ट्रीय समझौते का अनुसमर्थन किया है। ऐसे राज्यों की सख्या भी काफी है जो अपने आर्थिक अनुदान समय पर नहीं चुकाते। चौथी बड़ी दुर्बलता यह है कि यूनेस्को को उसके विशाल कार्य-क्षेत्र के अनुरूप पर्याप्त आर्थिक स्रोत प्रदान नहीं किये गये हैं। यह खेद की बात है कि सदस्य राज्य शस्त्र और सैन्य बल पर अरबों डालर प्रतिवर्ष व्यय कर देते हैं लेकिन उसका 1 अंश भी शिक्षा, विज्ञान और सस्कृति के विकास के लिए खर्च नहीं करना चाहते। सस्था के 8वें सत्र मे ब्राजील के प्रतिनिधि प्रो० बैरेडोकर नीरो ने ठीक ही कहा था कि "अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए यूनेस्को को जिन शान्ति अस्त्रों की आवश्यकता है उनकी प्राप्ति के लिए उस धनराशि का केवल 1% ही काफी है जो आज राज्य सेना तथा सैन्य सामग्री पर व्यय करते हैं।" सस्था की प्रगति मे पाचवी बड़ी बाधा शीत-युद्ध है। गरमागरम वादविवाद

प-प्रत्यारोप, शाब्दिक आक्रमण आदि संस्था की प्रगति की तरफ से दुःखमय प्रस्तुत करते हैं। संस्था तब तक वांछित रूप से प्रभावशाली नहीं बन सकती जब तक वह शीतयुद्ध के चिन्हों से मुक्त न हो जाय। छठी दुर्बलता यह है कि संस्था के सचिवालय में एशिया और अफ्रीका से समुचित प्रतिनिधित्व नहीं मिला है। सचिवालय के सस्थानों का भौगोलिक वितरण राज्य-द्वारा संस्था को दिये जाने वाले आर्थिक अनुदान से सम्बद्ध रखा गया है जो एक अस्वस्थ परम्परा है।

यूनेस्को जैसी संस्था आधुनिक पीढ़ी के लिए गौरवपूर्ण है तथापि यह आवश्यक है कि संस्था को एशिया और अफ्रीका की आवश्यकताओं, भाषाओं तथा सांस्कृतिक निधियों की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए।

संयुक्त राष्ट्रसंघ और मानव-अधिकार
(The U. N and Human Rights)

संयुक्त राष्ट्र के चार्टर में मानव-अधिकारों की सुरक्षा के लिए कुछ प्रावधान रखे गये हैं और प्रस्तावना में "मानव के मूल अधिकारों में, मानव की गरिमा और महत्व में छोटे-बड़े सभी राष्ट्रों के स्त्री-पुरुषों के समान अधिकारों में आस्था" को पुनः दोहराया गया है। चार्टर में मानव अधिकारों को अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता प्रदान की गयी है। तथापि मानव अधिकारों की यह व्यवस्था अपने आप में कोई नवीन व्यवस्था अथवा नया आविष्कार नहीं है। यह तो शताब्दियों के विकास का परिणाम है।

पृष्ठभूमि

संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना से पूर्व ही अनेक महत्वपूर्ण धारणाओं में मानव-अधिकारों को मान्यता प्रदान की जा चुकी थी। 1215 में मैग्नाकार्टा, 1676 के बन्दी प्रत्यक्षीकरण अधिनियम, 1689 के बिल ऑफ राइट्स, 1776 की अमेरिकन स्वातन्त्र्य घोषणा तथा 1789 की मानव-अधिकारों की फ्रेन्च घोषणा को हम मानव-अधिकारों की मान्यता के महत्वपूर्ण स्तम्भ कह सकते हैं। बर्लिन काँग्रेस, वर्सेल्स सम्मेलन हेग-शांति-सम्मेलन सभी में मानव-व्यक्तित्व को व्यावहारिक मान्यता देने के सम्बन्ध में गम्भीर विचार-विमर्श किया गया और कुछ पग भी उठाये गये। द्वितीय महायुद्ध में मानव अधिकारों और मानव व्यक्तित्व की जो अर्थी सजी उसने विश्व के शान्तिवादियों को एक बार झकझोर दिया और सर्वत्र यह अनुभव किया जाने लगा कि मानव-अधिकारों और आधारभूत अथवा मौलिक स्वतन्त्रताओं को सुरक्षित रखने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कुछ प्रभावशाली कदम उठाये जाने चाहिए। यह कहने में कोई अतिशयोक्ति न होगी कि द्वितीय महायुद्ध के अमानुषिक परिणामों ने ही मानव-अधिकारों की समस्या को एक अन्तर्राष्ट्रीय समस्या बनाया और संयुक्त राष्ट्र के चार्टर का अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर इन अधिकारों की मान्यता के सम्बन्ध में उपबन्ध रखे गये। द्वितीय महायुद्ध के दौरान 1941 में अमरिकन तत्कालीन राष्ट्रपति रूजवेल्ट द्वारा चार प्रकार की स्वतन्त्रताओं का उल्लेख है। अटलान्टिक चार्टर में रूजवेल्ट और चर्चिल की घोषणा, जनवरी, 1942 की संयुक्त

राष्ट्र-घोषणा, 1942 मे वाशिंगटन सम्मेलन, 1943 के मास्को सम्मेलन, 1944 के डम्बार्टन ओक्स सम्मेलन तथा विभिन्न वैयक्तिक नागरिकों और संगठनों के प्रयासों ने संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में मानव-अधिकारों के प्रभावशाली समावेश की सुदृढ़ आधारभूमि तैयार कर दी। 1945 के सानफ्रान्सिसको सम्मेलन के छठे अधिवेशन में मई को जनरल स्मट्स ने मानव अधिकारों की व्यवस्था के बारे में इन शब्दों में अपना समर्थन व्यक्त किया—"मैं यह सुझाव दूंगा कि चार्टर के प्रारम्भ में और उसके प्रस्तावना में मानव अधिकारों की घोषणा रखी जानी चाहिए, इस चार्टर में उस सामान्य विश्वास को भी व्यक्त करना चाहिए जिसके द्वारा मित्र राष्ट्रों ने इन अधिकारों और इस विश्वास को सिद्ध करने के लिए एक महान् किन्तु दीर्घ संघर्ष सहन किया है। हमने न्याय, सद्व्यवहार तथा उन मानव-अधिकारों और मौलिक स्वतन्त्रताओं के लिए संघर्ष किया है जो मानव के विकास, उसकी प्रगति और शांति के लिए प्रत्याज्य हैं। मानवता के इस नवीन चार्टर में हमें इसी विश्वास को दुहराना चाहिए। संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में इस विश्वास को व्यक्त करके हमें दिखा देना चाहिए कि हम दूसरों के विश्वासों को पूरा करेंगे तथा भविष्य में अपने में दूसरों की आस्था बनाये रखने को प्रयत्नशील होंगे।[1]

-चार्टर में मानव-अधिकारों की व्यवस्था

विश्व के राजनीतिज्ञों और शांतिवादियों के गम्भीर प्रयासों के फलस्वरूप संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के अन्तिम लेख में मानव-अधिकारों और मौलिक स्वतन्त्रताओं का अनेक स्थानों पर उल्लेख किया गया है।[2] हन्स केल्सन के अनुसार संयुक्त राष्ट्र के चार्टर में शायद ही किसी विषय पर इतना अधिक उल्लेख हो जितना कि मानव-अधिकारों और स्वतन्त्रताओं पर।[3] चार्टर की प्रस्तावना में, जैसा कि कहा जा चुका है, मानव के मूल अधिकारों में, मानव की गरिमा और महत्व में तथा सभी राष्ट्रों के नर-नारियों के समान अधिकारों में आस्था प्रकट की गयी है। चार्टर के पहले अनुच्छेद में लिखा गया है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के अनेक उद्देश्यों में से एक उद्देश्य यह है कि जाति, भाषा, लिंग अथवा धर्म का कोई भेद किये बिना सबके लिए मानव-अधिकारों तथा मौलिक स्वतन्त्रताओं के सम्मान को प्रोत्साहन दिया जायगा। यह व्यवस्था की गयी कि इस उद्देश्य की पूर्ति का कार्य महासभा के अधीन आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् को सौंपा गया है और महासभा बिना किसी भेदभाव के सभी को मानव-अधिकार तथा मौलिक स्वतन्त्रताएं दिलाने में सहायता देने के लिए अध्ययन की समुचित व्यवस्था करेगी और उन पर अपनी सिफारिशें देगी। चार्टर के अनुच्छेद 55 में भी इन अधिकारों और स्वतन्त्रताओं के प्रति "सर्वत्र सम्मान और उनके पालन को सब का कर्तव्य माना गया है। अनुच्छेद [illegible] में अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक और सामाजिक

1. *George Schwarzenberger* : Power Politics, p. 628.
2. Ibid, p. 629.
3. *Hans Kelsen* : The Law of the United Nations, p. 33.

सहयोग के अन्य क्षेत्रों के समान सभी सदस्य इन ध्येयों की पूर्ति के लिए वचन-बद्ध हैं। अनुच्छेद 62 में व्यवस्था है कि महासभा के अधीन आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् मानव-अधिकारों और मूल स्वतन्त्रताओं के प्रति सम्मान को प्रोत्साहन और उनके पालन के लिए सिफारिशें कर सकती है तथा उद्देश्य पूर्ति के लिए उपसन्धियों के प्रारूप भी तैयार कर सकती है और सम्मेलन बुला सकती है। अनुच्छेद 76 में अन्तर्राष्ट्रीय संरक्षण पद्धति का भी यह एक मौलिक ध्येय माना गया है कि बिना किसी भेदभाव के मानव-अधिकारों और मूल स्वतन्त्रताओं के प्रति आस्था बढ़ाई जायगी।

व्यवस्था का एक आदर्श पहलू यह है कि जहां राष्ट्रसंघ (League of Nations) के अन्तर्गत अधिकारों के सम्बन्ध में आश्वासन मित्र राष्ट्रों की सरकारों की ओर से दिये गये थे वहाँ वर्तमान विश्व-संस्था के चार्टर में मानव-अधिकारों को सुरक्षित रखने का दायित्व संयुक्त राष्ट्र में "मनुष्यों" का माना गया है। चार्टर को "संयुक्त राष्ट्र के मनुष्यों (The People. of the United Nations)" के नाम बनाया गया है। एक संयुक्त राष्ट्र प्रकाशन के अनुसार "चार्टर ने संयुक्त राष्ट्र के सदस्यों को यह वैधानिक उत्तरदायित्व सौंपा है कि वे संयुक्त राष्ट्र संघ के सहयोग से व्यक्तिगत एवं सामूहिक रूप में मानव-अधिकारों की रक्षा करें। इसने एक व्यवस्था की है जिससे मानव-अधिकारों को प्रोत्साहन देने का कार्य पूरा किया जा सके। विशेषतः चार्टर में मानव-अधिकारों की योजना के लिए नींव डाल दी गयी है। मानव अधिकारों को प्रोत्साहन देने की यह योजना अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की दिशा में सर्वाधिक व्यापक प्रयास है।

यह दो बातें ध्यान देने योग्य है कि एक तो उपर्युक्त व्यवस्था अथवा प्रावधानों में कहीं भी मानव-अधिकारों तथा मौलिक स्वतन्त्रताओं की व्याख्या नहीं की गयी है और दूसरे संयुक्त राष्ट्रसंघ का कर्तव्य इन अधिकारों और स्वतन्त्रताओं को बढ़ाना तथा उन्हें प्रोत्साहित करना मात्र ही है। इन्हीं त्रुटियों के फलस्वरूप राजनैतिक क्षेत्रों में यह आपत्ति उठायी गयी है कि विशेषतः चार्टर में उपबन्धों के तहत मानव-अधिकारों और स्वतन्त्रताओं का पालन करवाने की संयुक्त राष्ट्रसंघ की कोई निश्चित जिम्मेदारी नहीं है और न ही इस दिशा में उसे कोई कार्यवाही करने का अधिकार है। इन आपत्तियों के ही सन्दर्भ में ही मानव अधिकारों के लिए संयुक्त राष्ट्र आयोग (United Nations Commission on Human Rights) को सामान्य सिद्धान्तों की घोषणा और मानव-अधिकार-सन्धि पत्र (Covenant on Human Rights) के दो दस्तावेज तैयार करने की दिशा में महत्वपूर्ण पग उठाये गये।

मानव अधिकारों की सर्वाधिक घोषणा

चार्टर द्वारा सौंपे गये दायित्व को निभाने के लिए महासभा के अधीन आर्थिक, सामाजिक परिषद् ने 1964 में अपने पहले ही अधिवेशन में एक मानव-अधिकार-आयोग की नियुक्ति की जिसकी अध्यक्षा श्रीमती रूजवेल्ट थी। यह निश्चय किया

गया कि आयोग सबसे पहले अधिकारों का एक अन्तर्राष्ट्रीय लेख्य तैयार करे। प्रारम्भिक कठिनाइयों और पर्याप्त विचार-विमर्श के बाद मानव-अधिकारों की सार्वभौम घोषणा का प्रारूप आयोग द्वारा तय कर लिया गया जिसे 7 दिसम्बर, 1948 को महासभा की सामाजिक समिति ने स्वीकार कर लिया और 10 दिसम्बर, 1948 की रात्रि को महासभा की सहमति भी उसपर प्राप्त हो गयी। प्रारूप को अपनाते समय 58 राष्ट्रों के प्रतिनिधियों में से एक ने भी विरोध में मत नहीं दिया तथा 8 राज्यों (बाइलो-रशिया, चेकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड, सऊदी अरब, दक्षिणी अफ्रीका, रूस, यूक्रेन तथा युगोस्लाविया) ने मतदान में भाग नहीं लिया। दो राज्य मतदान के समय उपस्थित नहीं थे। यह ऐतिहासिक कार्य सम्पन्न करने के तुरन्त बाद ही महासभा ने सदस्य देशों से प्रार्थना की कि वे इस घोषणा का अधिकाधिक प्रचार करें और किन्हीं भी राजनीतिक स्थितियों पर भेदभाव का कोई विचार किये बिना विशेष रूप से शिक्षण संस्थाओं में इसका पठन-पाठन, व्याख्या, प्रचार प्रदर्शन आदि का प्रबन्ध करें।

मानव अधिकारों के सार्वभौमिक घोषणा-पत्र में 30 धारायें दी गयी जिनके अन्तर्गत नागरिक और राजनीतिक अधिकारों के साथ ही आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकार भी सम्मिलित हैं। पहली और दूसरी धाराओं में यह माना गया है कि मनुष्य स्वतन्त्र जन्म लेते हैं तथा गरिमा अथवा सम्मान और विचारों में समान होते हैं। उन्हें इस घोषणा पत्र में उल्लिखित सभी अधिकारों और स्वतन्त्रताओं को बिना किसी भेदभाव के प्राप्त करने का समान अधिकार है।

घोषणा पत्र की तीसरी से लेकर 21वीं धारा तक विभिन्न नागरिक-राजनीतिक अधिकारों का समावेश है। इनमें प्रमुख ये हैं—जीवन, स्वतन्त्रता और सुरक्षा का अधिकार, अत्याचार और उत्पीड़न से रक्षा का अधिकार, कानून के आगे समता का अधिकार, मनमाने रूप से बन्दी बनाये जाने और देश निकाले से रक्षा का अधिकार, सार्वजनिक एवं न्यायपूर्ण मुकदमे का अधिकार, अपराधी प्रमाणित न होने तक निर्दोष समझे जाने का अधिकार, राज्य के बाहर आने जाने का अधिकार, विचार-विवेक और धर्म की स्वतन्त्रता का अधिकार, राष्ट्रीयता का अधिकार, परिवार की सुरक्षा का अधिकार, पति-पत्नी की समानता का अधिकार, सहमति के आधार पर विवाह करने का अधिकार, सम्पत्ति का अधिकार, शांतिपूर्ण ढंग से मिलने का और संघ बनाने का अधिकार, इच्छा के अनुसार सरकार बनाने का अधिकार, मताधिकार सार्वजनिक कार्यों और राजनीति में भाग लेने का अधिकार, सरकारी नौकरी करने का अधिकार आदि। स्पष्ट ही ये नागरिक और राजनीतिक अधिकार ऐसे हैं जिनको लोकतन्त्रीय संविधानों में बराबर मान्यता दी जाती रही है।

घोषणा-पत्र की 22वीं से 27वीं धारा तक आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकार दिये गये हैं जिनको मनुष्य के आत्म-सम्मान और स्वतन्त्रता के लिए आवश्यक कहा गया है। सामाजिक सुरक्षा के अधिकार को व्यक्तित्व के विकास के लिए प्रति

आवश्यक बतलाया गया है। इसके अतिरिक्त कार्य करने के अधिकार, इच्छानुसार काम चुनने का अधिकार, सन्तोषजनक कार्य की दिशा के अधिकार, समान कार्य के लिए समान वेतन के अधिकार, न्यायपूर्ण वेतन के अधिकार, आराम और अवकाश के अधिकार, सवैतनिक अवकाश प्राप्ति के अधिकार, बेकारी-बीमारी और वृद्धावस्था में सामाजिक सहायता प्राप्ति के अधिकार आदि का उल्लेख है।

घोषणा पत्र के अन्तिम 28 से 30 तक की धाराओं में यह स्वीकार किया गया है कि प्रत्येक मनुष्य को ऐसी सामाजिक और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था पाने का अधिकार है जिसमें विश्व शान्ति और सुरक्षा हो तथा व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के पूर्ण विकास का अवसर मिले। घोषणा में यह भी स्मरण कराया गया है कि अधिकारों के साथ कर्त्तव्य भी जुड़े हैं जिनका पालन किये बिना हम अपने अधिकारों का उपभोग नहीं कर सकते।

वास्तव में मानव-अधिकारों की इस घोषणा को एक अन्तर्राष्ट्रीय मैग्नाकार्टा अथवा मानव-अधिकारों का एक अन्तर्राष्ट्रीय चार्टर कहना उचित है। जार्ज श्वर्जन बर्जर ने ठीक ही कहा है कि "संभवतः किसी भी आधुनिक संविधान में मानव-अधिकारों का इस प्रकार उत्तम उल्लेख नहीं हुआ जैसा कि इसमें किया गया है। इस घोषणा में व्यक्ति के स्वतन्त्रता के अधिकार पूर्ण रूप से स्वीकार किये गये हैं और इसमें यह भी दर्शाया गया है कि एक स्वतन्त्र समाज में व्यक्ति के क्या अधिकार हैं अन्त में यह घोषणा एक सेवा राज्य के आदर्शों को भी बतलाती है।"[1]

घोषणा का महत्व एवं लक्षण—महासभा ने अधिकारों की इस घोषणा को "सभी देशों और सभी व्यक्तियों के लिए सफलता का एक सामान्य मापदण्ड" कहा है। सामाजिक समिति के अध्यक्ष डॉ० चार्ल्स मलिक ने कहा था कि ईश्वर और राज्य से लेकर बच्चों और सामाजिक सुरक्षा तक मानव-जीवन की शायद ही कोई ऐसी समस्या हो, जिसका इसमें उल्लेख न किया गया हो। यह घोषणा वर्तमान युग के मौलिक सिद्धान्तों पर प्रकाश डालती है जो मनुष्य के महत्व और जन्म-जात गौरव को दर्शाते हैं। यह लेख्य वास्तव में एक अन्तर्राष्ट्रीय उपज है जिसमें प्रथम बार मानव-अधिकारों और मौलिक स्वतन्त्रताओं के सिद्धान्तों को अधिकारपूर्ण ढंग तथा विस्तार से बतलाया गया है।[2] कुछ राजनीतिज्ञों ने तो इस घोषणा को युग प्रवर्तक घटना की संज्ञा दी है। पेरागुए के एक प्रतिनिधि के अनुसार यह ऐसी चमकती हुई शक्ति है जो सम्पूर्ण मानव-जाति को सुख-समृद्धि की ओर ले जायगी।

मानव अधिकारों की घोषणा का महत्व इसके लक्षणों से अभिव्यक्त होता है—

प्रथम, यह घोषणा सामान्य मनुष्यों की सबसे उच्चतम आकांक्षाओं का प्रदर्शन करती है।

---

1 *George Schwarzenberger : op. cit. p. 636.*

2. U.N.Bulletin, January, 1949, p. 4.

दूसरे, यह घोषणा सार्वभौमिक है अर्थात् किसी क्षेत्र विशेष या देश विशेष तक सीमित न होकर सम्पूर्ण विश्व के लिए बनी है।

तीसरे, घोषणा में उल्लिखित अधिकार, बिना किसी भेदभाव के, सभी मनुष्यों के लिए है। महासभा के भूतपूर्व अध्यक्ष रोम्युलो के शब्दों में "यह घोषणा राष्ट्रीय सीमाओं के परे है, जाति और धर्म का ध्यान नहीं रखती है।......यह मानव-अधिकारों और स्वतन्त्रताओं की प्रथम सामूहिक घोषणा है।"

चौथे, घोषणा-पत्र में समाविष्ट अधिकारों और स्वतन्त्रताओं का क्षेत्र बहुत व्यापक है। इतिहास में यह पहला अवसर है जब मानव-अधिकारों को इतनी व्यापक पद्धति को अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता दी गयी हो।

पांचवें, यह घोषणा किसी एक व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के किसी विशेष समूह द्वारा नहीं बनायी गयी है बल्कि सभी राष्ट्रों के एक सगठित समाज ने इसका निर्माण किया है। संयुक्त राष्ट्र के जन्म ने इस घोषणा का समर्थन किया है और यह आशा की गयी है कि सभी संसार के अबाल-वृद्ध नारी-इस घोषणा-पत्र से मार्ग-दर्शन और प्रेरणा लेंगे।

मानव-अधिकारों के इस घोषणा की प्रशंसा में बहुत बढ़-चढ़कर बातें की गयी हैं। घोषणा का मूल्यांकन करते समय यह स्पष्ट हो जायगा कि यह प्रशंसा सैद्धान्तिक पक्ष पर जितनी लागू होती है, उतनी व्यावहारिक पक्ष पर नहीं।

घोषणा की त्रुटियाँ—मानव-अधिकारों की यह घोषणा अनेक दृष्टियों से पर्याप्त त्रुटिपूर्ण है और इसीलिए व्यावहारिक पक्ष अभी तक बहुत कमजोर रहा है। कुछ मुख्य त्रुटियां इस प्रकार हैं—

(1) कहा जाता है कि घोषणा ने सदस्य राज्यों पर कोई वैधानिक प्रतिबन्ध नहीं लगाया है। मानव-अधिकार-आयोग की अध्यक्षा श्रीमती रूजवेल्ट ने कहा था कि इस घोषणा को स्वीकार करते समय यह अधिक महत्वपूर्ण है कि हम इस अभिलेख के मौलिक लेखन को समझें। यह एक नीति नहीं है और न ही एक अन्तर्राष्ट्रीय समझौता है। यह किसी विधि अथवा वैधानिक उत्तरदायित्व भी नहीं है और न ही इससे यह आशा की जाती है। हन्स केल्सन की आलोचना इस सम्बन्ध में विशेष उग्र है।

उनके अनुसार घोषणा का कोई वैधानिक महत्व नहीं है और न यह चार्टर में दिये गये मानव-अधिकारों के उपबन्धों का सच्चा अर्थ ही ग्रहण करती है। चार्टर के संशोधनों द्वारा ही इन उपबन्धों का समुचित अर्थ लगाया जा सकता है। घोषणा में अधिकारों की अवहेलना की स्थिति में कोई अन्तर्राष्ट्रीय वैधानिक पग उठाने की व्यवस्था नहीं है। अधिकारों का एक ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय अभिलेख लगभग व्यर्थ ही है यदि उसमें एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की व्यवस्था न हो जहां अधिकारों की अवहेलना के समय झगड़ों अथवा विवादों की सुनवाई की जा सके और न्यायालय स्वतन्त्र निर्णय दे सके जो सदस्य राज्यों को स्वीकार करना ही पड़े।

(2) जार्ज श्वर्जन बर्जर के अनुसार घोषणा के चौथे अनुच्छेद से दासता और दासत्व को तो निषिद्ध ठहराया गया है लेकिन बेगार के प्रश्न पर विचार नहीं किया गया है। घोषणा का 14वां अनुच्छेद सर्वाधिक उपहासास्पद है और 17वां अनुच्छेद कोई महत्व नहीं रखता। "घोषणा में जो बातें उल्लिखित हैं वे इतनी महत्वपूर्ण नहीं हैं, जितनी कि वे बातें जिन्हें छोड़ दिया गया है। घोषणा में अल्पमतों की सुरक्षा के लिए कोई उपबन्ध नहीं है। इस प्रकार की घोषणा से विश्व की जनता में उत्साह उत्पन्न नहीं होता।" जार्ज बर्जर ने इस घोषणा की त्रुटियों का कारण बतलाते हुए लिखा है कि "अभिलेख्य असम्भव बातों को करने का प्रयास है। एक ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठन में निश्चयात्मक सामान्य लेखनी को ढूंढना बड़ा कठिन है जिसमें अधिनायकवादी और प्रजातन्त्रीय दायित्व साथ-साथ सम्मिलित हों तथा जिसमें सदस्य राज्यों की अर्थ-व्यवस्था उदारवादी, समाजवादी एवं साम्यवादी सिद्धान्तों पर आधारित हो।"

(3) हन्स केल्सन के अनुसार घोषणा में "सभी मनुष्यों के गरिमा और अधिकारों के सम्बन्ध में जन्म-जात स्वतन्त्रता और समानता प्राप्त है" तथा "उन्हें बुद्धि एवं अन्तरात्मा की देन प्राप्त है" जैसे वक्तव्य निहित हैं और इन वक्तव्यों का उल्लेख व्यवहारतः कोई महत्व नहीं रखता। सब मनुष्यों को "समान बुद्धि और अन्तरात्मा की देन" उपलब्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त सभी मनुष्यों के अधिकारों के सम्बन्ध में जन्म-जात स्वतन्त्रता और समानता के सिद्धान्त को अभी तक विश्व के सभी राष्ट्रों और समाजों ने स्वीकार नहीं किया है। यह वास्तव में खेदजनक तथ्य है कि घोषणा का प्रारम्भ ही एक ऐसे वक्तव्य से हुआ है जो विवादास्पद सिद्धान्त पर आधारित है।

(4) ब्राजील के प्रतिनिधि ने आर्थिक और सामाजिक परिषद् की बैठक में अपने एक भाषण में कहा था कि अधिकारों की इस घोषणा में दार्शनिक सिद्धान्तों का अथवा प्राकृतिक नियमों के पुरातन सिद्धांतों का उल्लेख किया जाना व्यर्थ है। ब्राजील के मण्डल का स्पष्ट मत था कि घोषणा के प्रथम अनुच्छेद को हटा देना और इसे दूसरे अनुच्छेद से ही प्रारम्भ करना कहीं अधिक अच्छा होता।

निस्सन्देह घोषणा-पत्र स्पष्टता और प्रभावशीलता की दृष्टि से त्रुटिपूर्ण है, तथापि इस प्रकार की सार्वभौमिक प्रकृति का कोई भी अभिलेख्य पूर्णतः निर्दोष नहीं हो सकता। घोषणा-पत्र चाहे वैधानिक अभिलेख्य न हो और न हो इसकी अवैधानिक मान्यता हो, तथापि इस बात से सभी सहमत होंगे कि यह घोषणा-पत्र सामान्य सिद्धान्तों का एक श्रेष्ठ लेखा है तथा नैतिक अधिकार से परिपूर्ण है। घोषणा को राष्ट्रों के समुदाय के सर्वोपरि अधिकार सत्ता द्वारा स्वीकार किया गया था, अतः उसके पीछे निहित नैतिक बल की उपेक्षा नहीं की जा सकती। कुछ राजनीतिज्ञों और न्यायविदों का मत है कि घोषणा में कानूनी अधिकार सत्ता है अथवा कम से कम कानूनी शक्ति का उसमें पूर्ण अभाव नहीं पाया जाता। संयुक्त

राष्ट्रसंघ का चार्टर एक ऐसी संस्था है जो कानूनी रूप से मान्य है और उस चार्टर को बिना किसी भेदभाव के सबके लिए मानव-अधिकारों तथा मौलिक स्वतन्त्रताओं को मान्यता देने एवं सार्वलौकिक सम्मान को प्रोत्साहित करने के लिए संयुक्त रूप से अथवा अलग-अलग कार्यवाही करने को सदस्य राज्य वचनबद्ध हैं।

यह आलोचना कोई वजन नहीं रखती कि घोषणा-पत्र में कुछ अधिकारों का उल्लेख नहीं है। किसी संक्षिप्त लेख्य में सब प्रकार के अधिकारों का उल्लेख होना कठिन है। घोषणा में उन्हीं अधिकारों का वर्णन है जिन पर सामान्यतः सब की सहमति प्राप्त है। इसमें विभिन्न हितों और दृष्टिकोणों के समन्वय का प्रयत्न किया गया है। प्रथम अनुच्छेद की जो कटु आलोचना की गयी है वह भी अनुचित है। वर्तमान प्रजातन्त्र और प्रजातान्त्रिक संस्थायें बहुत कुछ उन्हीं विचारों पर आधारित हैं जो प्रथम अनुच्छेद में प्रकट किये गये हैं। इस अनुच्छेद की शब्दावली विश्व-जनमत को प्रेरणा देने वाली है। यह अनुच्छेद सम्पूर्ण अभिलेख्य का हृदय है और उसमें अन्तर्निहित भावना को प्रकट करता है।

हुर्स लैहमन का यह सुझाव विचारणीय है कि मानव अधिकारों और मौलिक स्वतन्त्रताओं से सम्बन्धित एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना की जाय। पर आधुनिक जटिल परिस्थितियों में इस प्रकार के न्यायालय की स्थापना निकट भविष्य में सम्भव नहीं दिखाई देती। राष्ट्र अपनी सम्प्रभुता का उन विषयों में समर्पण नहीं करना चाहते जिनमें उनके राष्ट्रीय हित निहित हों।

कतिपय त्रुटियों के होते तथा मानव-अधिकारों के कार्यान्वयन के लिए किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के अभाव से घोषणा का महत्त्व कम नहीं हो जाता। अन्तिम रूप में यह घोषणा एक नैतिक प्रभाव डालती है और प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से विभिन्न सरकारों के कार्यों को प्रभावित करती है। संयुक्त राष्ट्र में मानव-अधिकारों सम्बन्धी जो भी कार्यक्रम विकसित हुआ है वह इस सार्वलौकिक घोषणा के ढांचे के भीतर ही बनाया गया है। विगत कुछ वर्षों में संयुक्त राष्ट्र ने घोषणा में निहित स्तरों को लागू करने की दिशा में अपना ध्यान लगाया है।

घोषणा की उपयोगिता एवं प्रभाव

1. घोषणा के पीछे केवल नैतिक शक्ति ही नहीं है वरन् राजनीतिक लक्ष्य भी छिपा हुआ है। हम मानव-अधिकारों को राजनीतिक स्वतन्त्रता और राजनीतिक अधिकारों से अलग नहीं हो सकते। वे वास्तविक राजनीति के स्तर हैं। हंगरी, दक्षिणी अफ्रीका, पाकिस्तान तथा पूर्वी यूरोप के अनेक देशों में मानव-अधिकारों को ठेस पहुंचाने वाली नीति अपनायी गयी है तथा एक-न-एक प्रकार से राजनीतिक अधिकारों का गम्भीर हनन हुआ है। फलस्वरूप राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्यायें अधिक जटिल बनी हैं। यदि विश्व-संस्था के सदस्य इस घोषणा में वास्तव में विश्वास प्रकट करें तो विश्व-शांति की स्थापना की दिशा में यह एक महान् योग होगा। डॉ० राधाकृष्णन् ने अपने एक भाषण में स्पष्ट शब्दों में कहा था कि

विश्व-शान्ति को बनाये रखने के लिए इस घोषणा पर कार्य करना अति आवश्यक है। यह घोषणा वस्तुतः संयुक्त राष्ट्र से भी अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकती है, बशर्ते कि सभी राष्ट्र सच्चे अर्थ में इस घोषणा के उपबन्धों पर कार्य करें।

2 यद्यपि मानव-अधिकारों की यह घोषणा मनुष्यों को बलपूर्वक स्वतन्त्रता नहीं दिला सकती तथापि मानव गरिमा के पक्ष में यह विश्व-जनमत को अवश्य जागृत कर सकती है। यह घोषणा सभी राष्ट्रों और मनुष्यों के राजनीतिक दर्शन का भाग बन जानी चाहिए, क्योंकि इसमें उल्लिखित अधिकारों और स्वतन्त्रताओं में सभ्यता का स्तर अन्तर्निहित है।

3 जेम्स हैरिसन ने लिखा है कि यद्यपि इस शताब्दी में मानव-अधिकारों की यह घोषणा विशेषकर पिछड़े हुए देशों के लिए तो आशा की किरण है। सभ्य जीवन के सार्वभौमिक चार्टर के निर्माण की दिशा में यह घोषणा पहला कदम है।

4 राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के अनेक विधियों में इस घोषणा के प्राधिकार को स्वीकार किया गया है। कई देशों के संविधानों में इस घोषणा को पूर्ण अथवा आंशिक रूप में अपना लिया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं और समझौतों में इसका उल्लेख किया गया है तथा विभिन्न क्षेत्रीय संगठनों ने इन अधिकारों पर सहमति प्रकट की है। स्वतन्त्र राज्यों के बीच होने वाले महत्वपूर्ण राजनीतिक पत्र-व्यवहार में इस घोषणा-पत्र के उपबन्धों का उल्लेख किया गया है। इतना ही नहीं, अनेक न्यायिक निर्णय भी इस घोषणा के तत्वों पर आधारित हैं। मानव-अधिकारों और स्वतन्त्रताओं की परिभाषा करते समय मानव अधिकारों की इस सार्वभौमिक घोषणा को मापदण्ड के रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

5 संयुक्त राष्ट्रसंघ विभिन्न प्रकार के मानव अधिकार सम्बन्धी कार्यक्रमों में व्यस्त है जैसे महिलाओं के स्तर में सुधार, भेदभाव की समाप्ति, बेगारी का अन्त, अल्पसंख्यकों की सुरक्षा, दासता का अन्त, श्रमिक संघ के अधिकारों की सुरक्षा आदि। संघ के प्रमुख अंग मानव अधिकारों सम्बन्धी अनेक मामलों में निश्चयात्मक पग उठाते रहे हैं। उदाहरणार्थ, महासभा ने जाति और भेदभाव को दूर करने के लिए अनेक कदम उठाये हैं। दक्षिणी अफ्रीका से जाति-भेद की नीति का परित्याग करने की आशा की गयी है तो सोवियत रूस से विदेशियों की रूसी धर्मपत्नियों को रूस छोड़ने की स्वीकृति देने की सिफारिश की गयी है। महासभा में प्रवासी श्रमिक वर्ग के विरुद्ध होने वाले भेदभाव के प्रश्नों पर विचार किया गया है और संरक्षित प्रदेशों में शिक्षा सम्बन्धी क्षेत्रों के भेदभाव को मानव अधिकार की घोषणा के विरुद्ध घोषित किया गया है। महासभा ने अनेक अवसरों पर बल्गेरिया, हंगरी, रूमानिया, दक्षिणी अफ्रीका आदि राष्ट्रों की सरकारों का ध्यान मानव-अधिकारों को प्रोत्साहन देने की ओर आकर्षित किया है। आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् ने सदस्य राज्यों को इस बात के लिए प्रेरित किया कि वे प्रत्येक मनुष्य को समान कार्य के लिए समान वेतन की वैधानिक व्यवस्था करें। न्यास परिषद् ने यह सिफारिश की है कि शारीरिक दण्ड

की प्रथा को समाप्त कर दिया जाय क्योंकि यह घोषणा की भावना के विरुद्ध है। संयुक्त राष्ट्रसंघ की अनेक विशिष्ट एजेन्सियों ने घोषणा के प्रचार के प्रयत्न में रुचि ली है। घोषणा ने एजेन्सियों के कार्यक्रम को प्रभावित किया है। उदाहरणार्थ, यूनेस्को के शैक्षणिक, सामाजिक और सांस्कृतिक कार्यक्षेत्र में यह घोषणा एक प्रमुख आधार मानी गयी है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन ने अनिवार्य शिक्षा के सम्बन्ध में प्रस्ताव स्वीकार करते हुए घोषणा के उपबन्धों के परिपालन पर बल दिया है।

6. अनेक राष्ट्रों के संविधान और सरकारों के वैधानिक कार्य इस घोषणा की शब्दावली और व्यवस्थाओं से प्रभावित हुए हैं। उदाहरणार्थ, इण्डोनेशियाई संविधान के दो खण्डों में घोषणापत्र के उपबन्धों को अंकित किया गया है। इस संविधान में पहली बार ऐसे मानव-अधिकारों की व्यवस्था की गयी है जो बहुत कुछ मानव-अधिकार-घोषणापत्र पर आधारित हैं। कोस्टारिका, सीरिया, साल्वेडोर, हेटी आदि के संविधानों पर इस घोषणा का प्रभाव पड़ा है और फ्रान्स, कनाडा तथा पश्चिमी जर्मनी के अनेक विधान इस घोषणा के उपबन्धों के आधार पर बनाये गये हैं। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णयों में इस घोषणा का उल्लेख किया जाता रहा है।

घोषणा के क्रियान्वयन के प्रयत्न—मानव-अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा के क्रियान्वयन की दिशा में संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा समयानुसार आवश्यक कदम उठाये जाते रहे हैं। एक महत्वपूर्ण कदम के रूप में मानव-अधिकार आयोग पर यह भार डाला गया कि वह मानव-अधिकारों के प्रसंविदा का भी प्रारूप तैयार करे जो सभी राज्यों को मान्य हो। 1945 के मध्य तक आयोग ने अपना कार्य पूरा कर लिया और 2 प्रसंविदा महासभा के सम्मुख प्रस्तुत किये हैं जिनको अन्तिम रूप से महासभा ने 16 सितम्बर, 1966 को स्वीकार कर लिया। दोनों ही प्रसंविदा में, जिनकी भाषा का आधार मानव-अधिकारों की प्रस्तावना है, राष्ट्रों एवं मनुष्यों के आत्मनिर्णय के अधिकार को स्वीकार किया गया है। यह उल्लेख है जो राज्य इन प्रसंविदा को स्वीकार करेंगे, उन्हें इस अधिकार को मान्यता देनी होगी।

एक प्रसंविदा आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक अधिकारों से सम्बन्धित है और दूसरे में नागरिक तथा राजनीतिक अधिकारों का उल्लेख है। पहले प्रसंविदा में नर-नारियों के बीच भेदभाव के विरुद्ध उपबन्ध है और यह उल्लेख है कि प्रसंविदा में दिये गये अधिकारों को धीरे-धीरे वैधानिक तथा अन्य उपायों द्वारा लागू किया जाना चाहिए। इन अधिकारों को लागू करने के लिए रिपोर्टिंग पद्धति का एक मात्र अन्तर्राष्ट्रीय उपाय सुझाया गया है। दूसरी प्रसंविदा में, नागरिक और राजनीतिक अधिकारों से सम्बन्धित है, यह व्यवस्था है कि इस प्रसंविदा पर हस्ताक्षरकर्ता राष्ट्र को यह आश्वासन देना होगा कि वह बिना किसी भेदभाव के अपने क्षेत्राधिकार में इन अधिकारों का पालन करेगा और वैधानिक तथा अन्य उपायों द्वारा इन्हें मान्यता

देगा। इन अधिकारों की अवहेलना की दशा में एक न्यायिक उपचार की व्यवस्था दी गयी है और अधिकारों को लागू करने के लिए एक मानव अधिकार समिति का सुझाव भी है। अधिकारों सम्बन्धी विवाद इस समिति के सम्मुख प्रस्तुत किये जाने का उल्लेख है। सदस्य राज्यों का यह कर्तव्य माना गया है कि वे इस बारे में यह रिपोर्ट आदि करें कि इन अधिकारों को मान्यता देने के लिए कौन-कौन से पग उठाये गये हैं। दोनों ही प्रसंविदाओं में नागरिकों के लगभग सभी अधिकारों का उल्लेख कर दिया गया है जिन्हें वैधानिक मान्यता दे दी जाय तो यह विश्व-शांति की दिशा में एक महान् पग होगा। वास्तव में महासभा द्वारा इन दोनों प्रसंविदाओं को स्वीकृत किया जाना "मानव-अधिकारों के सम्मान और सार्वभौम मान्यता की दिशा को एक युगान्तर चिह्न" माना जाना चाहिए।[1]

16 दिसम्बर, 1966 को ही महासभा ने तीन अन्तर्राष्ट्रीय प्रलेख स्वीकार किये जिनमें दो तो उपर्युक्त प्रसंविदा थे और तीसरा प्रलेख एक वैकल्पिक पूर्व संधि (Optional Protocol) था। इस पूर्व सन्धि अथवा प्रोटोकोल को जो व्यक्तियों की शिकायतों से सम्बन्धित था, नागरिक तथा राजनीतिक अधिकारों से सम्बन्धित प्रसंविदा के साथ जोड़ दिया गया है। यह व्यवस्था की गयी कि जो सदस्य राज्य नागरिक तथा राजनीतिक अधिकारों से सम्बन्धित प्रसंविदा का अनुसमर्थन करेगा उसे अत्याचार, अमानवीय तथा अभद्र व्यवहार से अपने नागरिकों की सुरक्षा के लिए एक विधि बनानी होगी। उस सदस्य राज्य को प्रत्येक मनुष्य के जीवन, स्वतन्त्रता, सुरक्षा और व्यक्तित्व को मान्यता देनी होगी। वह सदस्य राज्य अपने क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत दासता का अन्त करेगा तथा किसी को मनमाने ढंग से बन्दी अथवा नजरबन्द नहीं करेगा। प्रसंविदा में धर्म, विचार, मत, शान्तिपूर्वक एकत्रित होने, संगठन बनाने, बच्चों की सुरक्षा और विवाह की स्वतन्त्रता आदि अधिकारों का भी उल्लेख है। आर्थिक-सामाजिक-सांस्कृतिक अधिकारों से सम्बन्धित प्रसंविदा का अनुसमर्थन करने वाले राज्य पर यह दायित्व डाला गया है कि वे अपने नागरिकों के जीवन-स्तर का सुधार करें, प्रत्येक व्यक्ति को कार्य करने, उचित वेतन प्राप्त करने और सामाजिक सुरक्षा प्राप्त करने के अधिकार को मान्यता दें। दोनों ही प्रसंविदाओं में मनुष्यों को आत्म-निर्णय के अधिकार को स्वीकृत करते हुए मानव-अधिकारों के प्रयोग में जाति, लिंग, धर्म आदि किसी भी आधार पर भेदभाव को निषिद्ध ठहराया गया है। प्रसंविदाओं को लागू करने के लिए स्पष्ट विधियों अथवा परिस्थितियों की भी व्यवस्था की गयी है। तदनुसार नागरिक एवं राजनीतिक अधिकारों से सम्बन्धित प्रसंविदा को स्वीकार करने वाले राज्यों द्वारा एक मानव-अधिकार समिति का गठन किये जाने की व्यवस्था है जो सदस्य राज्यों के प्रतिवेदन पर विचार करे और उन पर आवश्यक टिप्पणी दे। इस प्रसंविदा के वैकल्पिक उपबन्ध के अनुसार मानव अधिकार समिति किसी भी

1. U. N. Monthly Chronical, February, 1967, p. 38.

सदस्य राज्य के ऐसे पत्र व्यवहार पर विचार कर सकती है जिसमें किसी दूसरे राज्य पर यह आरोप लगाया गया हो कि वह प्रसंविदा में दिये गये अपने उत्तरदायित्वों की अवहेलना कर रहा है। प्रसंविदा मे एक वैकल्पिक पूर्व सन्धि जोड़ी गयी है जिसके अन्तर्गत मानव-अधिकार समिति को यह अधिकार दिया गया है कि वह लोगों की उन शिकायतो पर विचार करे जो मानव-अधिकारो की अवहेलना से सम्बन्धित हों। नागरिको को यह अधिकार दिया गया है कि वे समिति के सम्मुख अधिकारों की अवहेलना के बारे मे समुचित शिकायत करें। समिति के प्रतिवेदन सम्बन्धित सदस्य राज्यों के पास भेजे जाते हैं। समिति महासभा को अपने वार्षिक प्रतिवेदन प्रस्तुत करती है। आर्थिक-सामाजिक-सांस्कृतिक अधिकारों से सम्बन्धित प्रसंविदा करने वाले राज्यों का यह दायित्व ठहराया गया है कि वे आर्थिक और सामाजिक परिषद् के समक्ष सामयिक प्रतिवेदन प्रस्तुत करें जिनमे इस बात का विवरण हो कि मानव अधिकारो को प्रोत्साहन देने की दिशा में क्या कार्यवाही की गयी है और कितनी प्रगति हुयी है।

यद्यपि दोनो प्रसंविदाओं को भारी संख्या मे सदस्य राष्ट्रों का अनुसमर्थन प्राप्त हो चुका है तथापि इन्हें वास्तविक जीवित स्वरूप देने के लिए अभी बहुत कुछ किया जाना शेष है।

मानव-अधिकार सम्बन्धी अन्य प्रश्न

संयुक्त राष्ट्रसंघ मानव-अधिकार संबंधी विविध समस्याओं पर लम्बे अर्से से ध्यान देते आ रहे है। मानव-अधिकार आयोग मानव-अधिकारों की समस्याओं पर निरन्तर विचार विमर्श करता रहता है। आयोग का एक उप-आयोग भी है। जो भेदभाव को समाप्त अथवा दूर करने तथा अल्पसंख्यकों की सुरक्षा पर विचार करता है। आयोग के सुझाव की आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् सदस्य राज्यों से अधिकारों के सम्बन्ध मे वार्षिक प्रतिवेदन माँगती है, विशेष अधिकारों का अध्ययन और गोष्ठियों के मूल्य पर विचार करती है।

संयुक्त राष्ट्र ने, जैसा कि कहा जा चुका है, मानव-अधिकार सम्बन्धी विविध प्रश्नों पर समय-समय पर विचार किया है। दिसम्बर, 1946 मे महासभा द्वारा यह निश्चय किया गया था कि "सूचना की स्वतन्त्रता एक मौलिक मानव-अधिकार है तथा सब स्वतन्त्रताओं का दर्पण है।" दिसम्बर 4, 1948 मे महासभा ने सर्वसम्मति से एक जाति-संहार (Genocide) की अन्तर्राष्ट्रीय उपसन्धि स्वीकार की थी जिसके अनुसार युद्ध एवं शांतिकाल मे बड़े स्तर पर लोगों की हत्या को अन्तर्राष्ट्रीय अपराध माना गया है। यह उपसन्धि 12 जनवरी, 1951 से लागू है। 1954 मे महासभा तथा आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् ने बेगार-पद्धति की निन्दा करते हुए विश्व को सरकारों से इसका अन्त करने की प्रार्थना की थी। संयुक्त राष्ट्र का यह मत रहा है कि सब प्रकार की बेगार चर्चा और मानव-अधिकार घोषणा के सिद्धांतों के विरुद्ध है। विगत लगभग 20 वर्षों मे महासभा दक्षिणी अफ्रीका के जातिभेद प्रश्न पर

विचार करती रही है। महासभा ने दक्षिणी अफ्रीका में इस अमानवीय नीति को तिलाञ्जलि देने की बराबर प्रार्थना की है, तथापि अभी तक कोई फल नहीं निकला है। संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा महिलाओं के अधिकारों को सुरक्षित रखने के लिए भी आवश्यक कदम उठाये जाते रहे हैं। इसके लिए 1946 में महिलाओं की स्थिति सम्बन्धी आयोग स्थापित किया गया था जो अपनी वार्षिक बैठक में महिलाओं पर लगाये गये प्रतिबन्धों पर विचार करता है। सितम्बर, 1952 में महासभा द्वारा महिलाओं के राजनीतिक अधिकारों के सम्बन्ध में एक उपसन्धि बनायी गयी जिसमें यह माना गया है कि महिलाओं को पुरुषों के समान मत देने, सार्वजनिक पद ग्रहण करने तथा अन्य सार्वजनिक कार्यों का अधिकार है। यह उपसन्धि 7 जुलाई, 54 से लागू है। इसको अधिकांश सदस्य राष्ट्रों द्वारा स्वीकार किया जा चुका है। 1962 में महासभा द्वारा एक अन्य उपसन्धि स्वीकार की गयी जिसमें विवाह के लिए सम्मति, न्यूनतम आयु तथा पञ्जीकरण की व्यवस्था है और यह उल्लिखित है कि वर तथा वधू की स्वतन्त्र सम्मति के बिना कोई भी विवाह वैधानिक नहीं माना जायगा। आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् द्वारा 1956 में एक सम्मेलन बुलाया गया जिसने दासता, दास-व्यापार की रीतियों आदि के उन्मूलन के बारे में एक पूरक उपसन्धि स्वीकार की। इस उपसन्धि के अनुसार सदस्य राज्यों का यह कर्त्तव्य है कि वे दास-प्रथा, दास-व्यापार और दासता के उन सभी रीति-रिवाजों का पूर्ण उन्मूलन करें जिनसे बालकों, युवकों और महिलाओं का शोषण होता है। 1960 में यूनेस्को द्वारा शिक्षा के सम्बन्ध में भेदभाव को दूर करने के लिए एक उपसन्धि स्वीकार की गयी जिसके अनुसार सदस्य राज्यों का यह कर्त्तव्य माना गया है कि वे शैक्षणिक क्षेत्र में भेदभाव को प्रोत्साहन देने वाले वैधानिक उपबन्धों तथा प्रशासकीय प्रथाओं का अन्त करें। बच्चों के अधिकारों के सम्बन्ध में भी संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा एक घोषणा की गयी है। एक अन्य घोषणा में औपनिवेशिक राज्यों तथा मनुष्यों को स्वतन्त्रता प्रदान करने सम्बन्धी व्यवस्था है। सभी प्रकार के जाति भेदभाव को दूर करने के लिए भी एक घोषणा की गयी है। इस घोषणा में जातीय समानता पर आग्रह है।

कहने का आशय यह है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ मानव-अधिकारों और मौलिक स्वतन्त्रताओं के क्रियान्वयन के लिए अपने विभिन्न अङ्गों और अभिकरणों के माध्यम से समय-समय पर विभिन्न उपयोगी कदम उठाता रहा है। इस सम्बन्ध में विविध प्रलेख और दस्तावेज तैयार किये गये हैं जो इस बात को सिद्ध करते हैं कि अलग-अलग सामाजिक व्यवस्थायें होते हुए भी मानव-अधिकारों के बारे में राष्ट्र सहयोग से कार्य कर सकते हैं। यह एक सुखद पहलू है कि संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य राज्य उन सामान्य सिद्धान्तों पर लगभग एकमत हैं, जिनके आधार पर मानव-अधिकार सम्बन्धी नीतियों का निर्धारण किया जा सकेगा। संघ और उसके अंगों व अभि-करणों द्वारा मानव-अधिकारों के विभिन्न प्रकारों का प्रतिवर्ष अनेक गोष्ठियों द्वारा विचार किया जाता है। वास्तव में मानव-अधिकारों के क्षेत्र में संयुक्त राष्ट्र ने जो

कार्य किये हैं उन्हें हम "मानव-अधिकारों के लिए एक विधि की यथार्थ संहिता" की संज्ञा दे सकते हैं।

यद्यपि मानव-अधिकारों और आधारभूत स्वतन्त्रताओं का विश्व के अनेक राष्ट्रों द्वारा प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से हनन होता रहा है तथापि संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रयास श्लाघनीय हैं। यदि विश्व के राष्ट्र इन अधिकारों और स्वतन्त्रताओं के अधिकाधिक पालन पर ध्यान दें तो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सद्भाव में महत्वपूर्ण वृद्धि सुनिश्चित है। संयुक्त राष्ट्र द्वारा इस क्षेत्र में जो विभिन्न प्रस्ताव पास किये गये हैं और निर्णय लिये गये हैं वे मानव के मौलिक अधिकारों और स्वतन्त्रता की प्रगति का परिचय देते हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रयत्नों का ही बहुत कुछ परिणाम है कि आज मानव-अधिकारों और आधारभूत स्वतन्त्रताओं के पक्ष में एक अनुकूल अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण बन गया है। पुर्तगाल, दक्षिणी अफ्रीका, साम्यवादी चीन जैसे राष्ट्र आज विश्व जनमत के सामने अपराधी के रूप में खड़े हैं और वह समय दूर नहीं है जब उन्हें अपनी नीति को बदलना पड़ेगा। अमेरिका जैसी महाशक्ति को नीग्रो लोगों के प्रति अपनी नीति में क्रान्तिकारी परिवर्तन करना पड़ा है और सोवियत संघ ने हंगरी तथा चेकोस्लोवाकिया की घटनाओं के कारण अपनी प्रतिष्ठा में ठेस पहुंचायी है।

उपनिवेशवाद का अन्त
(End of Colonisation)

संयुक्त राष्ट्रसंघ विश्व में हर प्रकार के उपनिवेशवाद की समाप्ति के लिए प्रयत्नशील है। राष्ट्रसंघ की मेन्डेट व्यवस्था केवल जर्मनी, टर्की आदि के साम्राज्यवाद से पीड़ित प्रदेशों के लिए थी, किन्तु वर्तमान विश्व-संस्था की न्यास पद्धति का क्षेत्र उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद द्वारा पराधीन बनाये गये ऐसी क्षेत्रों के लिए है। न्यास-पद्धति के अन्तर्गत 11 प्रदेश थे जिनमें से दो को छोड़कर सभी स्वतन्त्र हो चुके हैं। इस सम्बन्ध में विस्तार से प्रकाश संयुक्त राष्ट्र सम्बन्धी पिछले अध्याय में डाला जा चुका है। संयुक्त राष्ट्र के निरीक्षण में इन जनमत निर्णय-संग्रह के आधार पर अधिकांश न्यास-प्रदेशों को स्वतन्त्रता मिली है।

संयुक्त राष्ट्र के सदस्य देशों के अधीन अपने प्रदेशों को अभी तक पूरी तरह स्वशासन का अधिकार नहीं मिल पाया है उन क्षेत्रों को संयुक्त राष्ट्र स्वशासनहीन प्रदेश कहा जाता है। जनवरी, 1964 तक लगभग 60 इस प्रकार के स्वशासनहीन क्षेत्र थे जिनपर आस्ट्रेलिया, फ्रांस, न्यूजीलैंड, पुर्तगाल, स्पेन, इंगलैंड तथा संयुक्त राज्य अमेरिका का प्रशासन था। सदस्य राष्ट्रों ने स्वशासनहीन प्रदेशों के निवासियों के हितों को सर्वोपरि मानते हुए उनको यथा शीघ्र स्वशासन के लिए तैयार करने का दायित्व स्वीकार किया है। अलग-अलग स्वशासनहीन क्षेत्रों के सम्बन्ध में विशेष ध्यान दिया गया है, जिनमें से एक तो पुर्तगाल के प्रशासन वाले क्षेत्र हैं और दूसरा दक्षिणी रोडेशिया है। पुर्तगाल सरकार का यह दावा रहा है कि उसके प्रशासन

मे जो दूर के क्षेत्र हैं वे स्वशासनहीन प्रदेश न होकर पुर्तगाल के ही प्रान्त हैं। लेकिन 1960 मे महासभा द्वारा यह निर्णय किया गया कि ये सो प्रदेश संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के अनुसार स्वशासनहीन प्रदेश हैं। महासभा के इस निर्णय से पुर्तगाल ने असहमति प्रकट की है। महासभा ने बराबर पुर्तगाल को निर्देश किया है कि वह संयुक्तराष्ट्र के प्रस्तावो का पालन करते हुए शीघ्रातिशीघ्र अपने उपनिवेशों को *स्वतन्त्रता प्रदान करे।*

संयुक्तराष्ट्र की चिन्ता का दूसरा विषय दक्षिणी रोडेशिया है। इयान स्मिथ की सरकार भी निकट भविष्य मे अपने अधीन प्रदेश को स्वतन्त्रता प्रदान करने की इच्छुक नहीं दिखायी देती।

संयुक्त राष्ट्रसंघ को उपनिवेशवाद के उन्मूलन मे अभी तक जो सफलता मिली है वह प्रशंसनीय है। *इण्डोनेशिया, मोरक्को, ट्यूनीशिया तथा अल्जीरिया को स्वतन्त्र* कराने में संयुक्तराष्ट्र के प्रयास बहुत कुछ महत्वपूर्ण रहे हैं। प्रारम्भ में इन देशों की स्वतन्त्रता के प्रश्न को टालने का बड़ा प्रयत्न किया गया, किन्तु अन्त मे उपनिवेशवादी राज्यों को विवश होकर इन्हें स्वतन्त्रता देनी पड़ी। इस दिशा मे विश्व-संस्था का दबाव एक निर्णायक बचाव सिद्ध हुआ।

संयुक्त राष्ट्र का दबाव उपनिवेशवादी विचारो के विरुद्ध एक प्रबल शस्त्र है? यह विश्व के लोकमत का रगमंच है जहां उपनिवेशवादियो के बर्बर कृत्यों और क्रूरतापूर्ण अत्याचारों की चर्चा की जाती है इस चर्चा का प्रचार संसार भर मे हो जाता है और इस प्रकार आक्रामक प्रवृत्ति के राष्ट्र, विश्व लोकमत के बिगड़ जाने के भय से अच्छे रास्ते पर आने के लिए बाध्य होते हैं। कतिपय दृष्टियों से तो यह *दबाव से अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुआ है। इसी कारण ईरान मे रूसी सेनायें हटी* थी, फ्रान्स को उत्तरी अफ्रीका के उपनिवेशो का परित्याग करना पड़ा था और इण्डोनेशिया को आजादी मिली थी।

17

संयुक्त राष्ट्रसंघ को शक्तिशाली बनाने के प्रस्ताव और कार्य

(PROPOSALS AND ACTIONS TO STRENGTHEN THE UNITED NATIONS)



"संयुक्त राष्ट्रसंघ का भविष्य अच्छा है और इस अनुपात में सुधरता चला जायेगा जिस अनुपात में लोग यह अनुभव करेंगे कि जिस विश्व ने समस्त राज्यों को अन्योन्याश्रित और नश्वर बना दिया है उसके नियन्त्रण के लिए एक प्रभावशाली अन्तर्राष्ट्रीय अभिकरण की आवश्यकता है। उनके लिए संयुक्त राष्ट्र ने अच्छी प्रगति की है जो राष्ट्रीय नीति के रूप में पुरातन पद्धति-युद्ध को एक साधन के रूप में प्रयुक्त होते देखना चाहते हैं अथवा जो उपनिवेशवाद और जाति-भेद के समाप्त होते देखकर अश्रुपात करते हैं। इसके साथ ही उन विविध समुदायों के लिए भी विश्व की प्रगति धीमी है जो भ्रातृत्व के सिद्धांत पर आधारित विश्व संघ अथवा अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय को स्थापित होते देखना चाहते हैं।"

—क्विन्सी राइट

पिछले अध्यायों में संयुक्त राष्ट्र संघ के लेखे-जोखे के विस्तृत और आलोचनात्मक विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि विश्व-संस्था का इतिहास सफलताओं-असफलताओं की गाथा रहा है। अनेक बार इसने युद्ध के विस्तार को प्रभावशाली ढंग से रोका है, अनेक जटिल विवादों को प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से हस्तक्षेप करते हुए सुलझाया अथवा शिथिल बनाया, तथापि कुल मिलाकर यह विश्व-संगठन अभी तक विश्व की आशाओं के अनुरूप सफल सिद्ध नहीं हुआ। इस अन्तर्राष्ट्रीय संस्था में अनेक संवैधानिक, सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दुर्बलतायें हैं जिन्होंने इसकी शक्ति को विपरीत रूप से प्रभावित किया है। अतः यह देखना उचित होगा कि संघ किन विशिष्ट दुर्बलताओं का शिकार है तथा उन्हें दूर करके किस प्रकार इसे शक्तिशाली बनाया जा सकता है। पर इस तथ्य को हमें सदैव ध्यान में रखना होगा कि संयुक्त राष्ट्रसंघ वर्तमान राजनीतिक स्थिति का दर्पण है और इस दर्पण में प्रतिबिम्ब यदि कुरूप दिखाई देता है तो इसमें दर्पण का क्या दोष है?

यह संस्था तो विश्व के राष्ट्रों का घर है, उनके सहयोग का साधन है और इसकी सफलता अन्ततोगत्वा इसी बात पर निर्भर करती है कि सदस्य राष्ट्र अपनी राजनीतिक कुटिलता का परित्याग करके ईमानदारी के साथ संघ के उद्देश्यों के प्रति आस्थावान हों। एन्जिन की बनावट अवश्य कुछ दोषपूर्ण है लेकिन इन्जीनियरों में उसके चलाने की इच्छा और चतुरता बहुत अधिक कुटिल और दोषपूर्ण है। एन्जिन की बनावट के दोषों को मिटाया जा सकता है लेकिन फिर एन्जिन का प्रभावशाली उपयोग तभी सम्भव हो सकेगा जब उसके चलाने वाले एन्जिन को गतिमान रखने के इच्छुक हों तथा एन्जिन के गौरव में प्रति क्षण वृद्धि देखना चाहते हों।

राष्ट्रसंघ की दुर्बलतायें
(Weak-points of the U.N.)

(1) लगभग 25 वर्ष के जीवनकाल में संयुक्त राष्ट्रसंघ अभी तक सार्वदेशिक अथवा सार्वभौमिक संगठन नहीं बन सका है, क्योंकि 80 करोड़ की जनसंख्या वाला जनवादी चीन कठिन प्रयत्नों के बाद 26 अक्टूबर, 1971 को इसका सदस्य बना है। दोनों जर्मनी, वियतनाम, दोनों कोरिया आदि राष्ट्र अभीतक भी संघ से बाहर हैं। इस स्थिति में विश्व-शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने के संयुक्त राष्ट्रसंघीय प्रयास कभी उतने प्रभावी नहीं हो सकते जितने होने चाहिए। विश्व-संस्था से बाहर रहने वाले देश स्वयं को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में शान्ति कायम रखने के उत्तरदायित्व से मुक्त समझने लगते हैं जिसका संघ की कार्य-क्षमता पर निश्चित रूप से प्रभाव पड़ता है।

(2) संयुक्त राष्ट्रसंघ सैद्धान्तिक विरोधाभास का शिकार है। चार्टर की प्रस्तावना में राज्यों के समान अधिकार और समान प्रभुसत्ता (अनुच्छेद 2) की बात कही गई है तथा इसके समर्थन के रूप में ही "घरेलू क्षेत्राधिकार (अनुच्छेद 2–7) द्वारा सम्प्रभु-सिद्धान्त को मान्यता दी गई है। लेकिन दूसरी ओर चार्टर में अनेक स्थलों पर राज्यों की सम्प्रभु-असमानता (Sovereign inequality) का अस्तित्व है। उदाहरणार्थ सुरक्षा-परिषद् में स्थायी सदस्य की स्थिति असामान्य रूप से विशेषाधिकार सम्पन्न है। चार्टर के बहुत से अनुच्छेदों में इस प्रकार का विरोधाभास झलकता है। इतना ही नहीं, चार्टर में लक्ष्यों और सिद्धान्तों के गीत गाये गये हैं पर कहीं भी न्याय, अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सम्मान, राष्ट्रीय आत्म-निर्णय जैसे सिद्धान्तों की व्याख्या नहीं की गई है। तत्सम्बन्धी एक-से विचार भी व्यक्त नहीं किये गये हैं।

(3) संयुक्त राष्ट्र की व्यवस्था का ढांचा सम्प्रभु सदस्य राज्यों की समानता तथा उनके घरेलू क्षेत्राधिकार जैसे दो मूलभूत सिद्धान्तों पर आधारित है। चार्टर में स्पष्ट उल्लेख है कि संघ को किसी भी राज्य के उन मामलों में दखल देने का अधिकार नहीं है जो निश्चित रूप से उस राज्य के घरेलू क्षेत्र के अन्दर आते हों। लेकिन घरेलू क्षेत्राधिकार की कोई स्पष्ट व्याख्या नहीं की गई है। यह कहीं भी उल्लेख नहीं है कि "घरेलू क्षेत्र" का निश्चय कौन करे। संयुक्त राष्ट्र के विभिन्न

राजनीतिक ■ गों ने इस सम्बन्ध में अपना-अपना स्वतन्त्र रख अपना कर विषय को जटिल बना दिया है। महासभा के इस बारे में निर्णय प्रायः गुटबन्दी के आधार पर होते रहे हैं, निपट तथ्यों अथवा वस्तु-स्थिति के आधार पर नहीं। इस प्रकार के अनिश्चय का परिणाम यहां तक निकला है कि औपनिवेशक प्रश्न अथवा गैर-सेवा-शासन क्षेत्रों का अन्तिम निर्णय का अधिकार देने के प्रश्न पर भी औपनिवेशक शक्तियों ने इसे अपने "घरेलू अधिकार क्षेत्र" के अन्तर्गत मानकर विचार किया है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून में घरेलू क्षेत्राधिकार और हस्तक्षेप की विशिष्ट कल्पना है, तथापि संयुक्त राष्ट्रसंघ में यह विशुद्ध राजनीतिक विषय बना हुआ है, अतः इसमें काफी असस्पष्टता है।

(4) संयुक्त राष्ट्रसंघ "यथा स्थिति सम्बन्धी अस्पष्टता" के कारण भी कुछ कम प्रभावशील रहा है। राष्ट्रसंघीय व्यवस्था में पूर्व निर्धारित यथास्थिति बनाये रखने की दृष्टि से इसके उद्देश्यों और कार्यों का निर्धारण किया गया था और आगे चलकर विभिन्न संघर्ष इस यथास्थिति की व्याख्या करने में हुए। संयुक्त राष्ट्रसंघ में यह प्रक्रिया उलट दी गई है। यहाँ संस्था की स्थापना पहले हुई और जिस स्थिति को बनाये रखना था उसका निर्णय बाद में। वास्तव में जर्मनी, कोरिया, पूर्वी यूरोप, वियतनाम आदि सभी अस्थायी व्यवस्थाओं के परिणाम हैं। इन देशों से सम्बन्धित प्रश्नों पर प्रारम्भ से ही विश्व की महाशक्तियों में परस्पर विरोधी विचार रहे हैं। दूसरे शब्दों में यह कहना चाहिए कि यथास्थिति को बनाये रखने के भार में संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य-राष्ट्रों में बहुत अस्पष्टता है। फलस्वरूप प्रभावशाली और निश्चित कार्यवाही करने की दृष्टि से संघ प्राय. स्थिर रहा है अथवा उसे विकट कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है।

(5) संयुक्त राष्ट्रसंघ के वाद-विवाद और निर्णय अधिकांशतः पक्षपातपूर्ण अथवा महाशक्तियों के हितों और निर्णयों से प्रभावित रहे हैं। अधिकांश देशों द्वारा अनेक बार किसी प्रस्ताव पर इसीलिए सहमति प्रकट की गई है क्योंकि वह उनके गुट वाले किसी देश की ओर से उठाया गया है। विरोधी गुट का उपयोगी और महत्वपूर्ण प्रस्ताव भी अनुचित तरीकों के आधार पर ठुकरा दिया जाता है। विश्व संस्था के सम्मुख प्रस्तुत अधिकांश समस्यायें शक्ति-राजनीति द्वारा तय की जाती हैं। रूसी गुट हमेशा ऐंग्लो अमेरिकन गुट तथा ऐंग्लो अमेरिकन गुट रूसी गुट का विरोध करता रहता है और लगभग सभी प्रश्नों का निर्णय इन दोनों गुटों के हित-अहित से पूर्णतः प्रभावित होता है। पश्चिमी गुट के बहुमत का उत्तर देने के लिए सोवियत संघ अपने निषेधाधिकार का बहुलता से प्रयोग करता है। गुट-बन्दी की इस भावना ने विश्व-संस्था के कार्य को बहुत कुछ अवरुद्ध अथवा शिथिल कर दिया है। स्वयं संघ के महासचिव यह स्वीकार करते रहे हैं कि बड़े राष्ट्रों के संघर्ष ने इसे पंगु बना दिया है।

(6) संयुक्त राष्ट्रसंघ निषेधाधिकार के दुरुपयोग का मंच बना हुआ है। स्थायी सदस्य किसी भी उचित किन्तु अपने विरोधी दावे को विशेषाधिकार के प्रयोग से अमान्य ठहरा देते हैं। केवल एक महाशक्ति परिषद् के अन्य सभी सदस्यों की इच्छाओं को दबा सकता है और यहां तक कि वह महासभा की इच्छा पर भी कुठाराघात कर सकता है। इस आरोप में बहुत कुछ वजन है कि निषेधाधिकार की व्यवस्था का जिस ढंग से अभी तक उपयोग होता आया है उसके कारण संयुक्त राष्ट्रसंघ युद्ध और शान्ति की समस्या को प्रभावपूर्ण ढंग से नहीं सुलझा सकता। पर साथ ही यह भी सत्य है कि कुछ मामलों में इस निषेधाधिकार की व्यवस्था से ही न्याय की रक्षा होगी। उदाहरणार्थ यदि काश्मीर के मामले में रूस निषेधाधिकार का प्रयोग करके न्याय का पक्ष न लेता तो ऐंग्लो अमेरिकन गुट की कुटिल राजनीतिक विजय हो जाती।

(7) यह खेदजनक बात है कि महासभा विश्व-जनमत का प्रतिनिधित्व करते हुए भी उसके निर्णय का प्रतिनिधित्व नहीं करती। "बिना अपने दो-तिहाई बहुमत के यह एक शाही दरबार मात्र है। अपनी 100-100 सन्तानों के बाद भी यह एक ऐसी विधवा है जिसके पास आयु तो है पर सम्बल नहीं, जीभ तो है पर शस्त्र नहीं।" वस्तुतः "शान्ति के लिए एकता का प्रस्ताव" पारित किये जाने के बाद भी व्यवहार में महासभा आज भी अपनी उपयोगिता में बहुत कुछ सुरक्षा-परिषद् पर आश्रित है। यदि महासभा किसी कार्य की सिफारिश दो-तिहाई बहुमत से भी करे तो परिषद् उसे अपने विवेक के आधार पर अस्वीकार कर सकती है। यह एक गम्भीर संवैधानिक विरूपता है कि एक ही समय संयुक्त राष्ट्र के दो अंग अलग-अलग राय प्रकट कर सकते हैं। शक्ति-वितरण में महाशक्तियों की मनमानी को कायम रखने की व्यवस्था के फलस्वरूप संयुक्त राष्ट्र संघ एक प्रकार से सुरक्षा-परिषद् द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सरकार के समान है।

(8) संघ की एक बड़ी कमजोरी यह है कि इसके पास अपने निर्णयों को क्रियान्वित कराने की स्वयं की शक्ति नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का निवारण कर विश्व में शान्ति और सुरक्षा की स्थापना के लिए इसे महाशक्तियों का मुंह ताकना पड़ता है। उनके सक्रिय सहयोग के बिना यह अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता। दूसरी ओर कोई भी राष्ट्र संघ के कार्यों का समर्थन करते समय अपने राष्ट्रीय हितों को आवश्यक रूप से ध्यान में रखता है। यह कहा जा सकता है कि "संघ के पास काटने के लिए दांत नहीं है।" संघ के निर्णयों का महत्व सिफारिशों से अधिक कुछ नहीं है तथा सदस्य राज्यों को यह छूट है कि वह उन्हें स्वीकार करें या ठुकरा दें। एक बड़ी दुर्बलता यह है कि अभी तक महा सचिव की शक्तियों का समुचित रूप से निश्चय नहीं किया जा सका है। इस निश्चय के फलस्वरूप सुरक्षा-परिषद् द्वारा प्रस्तावित कदमों को उठाना महासचिव के लिए अनेक बार कठिन हो जाता है। इन प्रस्तावों के अनेक अर्थ लगाये जाते हैं। सम्बन्धित राष्ट्र परिषद् की बैठकों में

प्रस्तावों पर सहमति दे देते हैं लेकिन बाहर आते ही उनका अर्थ अपने स्वार्थों और हितों के पक्ष में करने लगते हैं। इन प्रस्तावों के स्पष्टीकरण के लिए कोई सुनिश्चित सत्ता स्थापित नहीं की जा सकी है।

(9) चार्टर में आत्म-रक्षा एवं आक्रमण के मध्य का भेद स्पष्ट नहीं किया गया है। इसी अस्पष्टता का लाभ उठाते हुए उत्तरी कोरिया पर आक्रमण करने के मामले में केवल 16 राष्ट्रों ने ही संयुक्त राष्ट्र संघ को सैनिक सहायता दी। चार्टर में यह स्पष्टतः परिभाषित नहीं है और न ही यह बताया गया है कि किसी देश द्वारा किये जाने वाले किस प्रकार के कार्य आक्रमण माने जायेंगे। अनुच्छेद II में आक्रमण की जो परिभाषा दी गई है वह अपर्याप्त है। चार्टर के अनुसार आक्रमण का अर्थ "शक्ति का अवैधानिक प्रयोग" है। परन्तु "शक्ति का अवैधानिक प्रयोग" क्या है, यह प्रश्न आज भी विवादास्पद है। जब आक्रमण की परिभाषा ही स्पष्ट नहीं है तो स्वाभाविक है कि उसे रोकने के लिए उठाये जाने वाले आवश्यक कदम भी वैधानिक दृष्टि से शिथिल, अनिश्चित एवं अशक्त हों।

(10) महासभा की कार्य-विधि भी दोषपूर्ण है। महासभा के सम्मुख वाद-विवाद योग्य विषयों की संख्या बहुत अधिक रहती है और उस पर भी तुर्रा यह है कि सदस्यों द्वारा कई बार लम्बे-लम्बे भाषणों में सभा का अधिकांश समय नष्ट कर दिया जाता है। फलस्वरूप महत्वपूर्ण विषयों पर गम्भीर विचार-विमर्श के लिए बहुत थोड़ा समय मिल पाता है। महासभा की समितियों के समक्ष जो प्रस्ताव आ चुके होते हैं, उन्हें भी कभी-कभी पुनः महासभा में पेश कर दिये जाते हैं। इस पुनरावृत्ति से लाभ कम होता है, समय की हानि अधिक। महासभा के अधिवेशन प्रायः काफी लम्बे होते हैं, अतः सदस्यगण उकता जाते हैं। साथ ही सदस्य राष्ट्रों के प्रमुख राजनीतिज्ञ अधिवेशन में उपस्थित रहने की परवाह नहीं करते, क्योंकि वे इतना अधिक समय नष्ट नहीं कर सकते। परिणाम स्वरूप साधारण प्रतिनिधिगण महासभा की बैठकों में उपस्थित रहते हैं और सभा की कार्यवाही अधिक प्रभावशाली नहीं हो पाती।

(11) संयुक्त राष्ट्रसंघ के बाहर की गई सैनिक सन्धियों के कारण भी इसका महत्व कुछ कम हो गया है। संघ ने अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा सम्बन्धी मामलों को तय करने के लिए राज्यों को क्षेत्रीय संगठनों के निर्माण का अधिकार दिया है, पर इनमें से अधिकांश ने सैनिक-संगठनों का रूप धारण कर लिया है। फलस्वरूप सैनिक गुटबन्दी, राजनीतिक गुटबन्दी, तथा शीत-युद्ध को अधिक प्रोत्साहन मिला है। क्षेत्रीय संगठनों ने संयुक्त राष्ट्रसंघ के नियन्त्रण में चलने का कोई प्रयत्न नहीं किया। नाटो, सीटो जैसे सैन्य संगठन संघ के शान्ति-स्थापना के कार्य को निर्मूल करते हुए पारस्परिक विद्वेष और संघर्ष भाव को प्रोत्साहन देने वाले हैं। क्षेत्रीय गुटों की प्रतिस्पर्धा से युद्ध के नये खतरे पैदा हो गये हैं। क्विन्सीराइट के शब्दों में

"क्षेत्रीय सुरक्षा गुटों के अनियन्त्रित विकास से संयुक्त राष्ट्र चार्टर के मूल उद्देश्यों की पूर्ति नहीं हो सकती।"

(12) यह भी एक विडम्बना है कि महासभा और सुरक्षा-परिषद् को सदस्यगण प्रचार-संस्था के रूप में प्रयोग करते हैं। इन अगों के समक्ष जो वाद-विवाद किये जाते हैं, उनका उद्देश्य झगड़ों के शांतिपूर्ण समाधान अथवा शांति एवं सुरक्षा की स्थापना का उतना नहीं होता जितना राजनीतिक कला-बाजियों द्वारा विश्व जनमत को अनुचित रूप से अपने पक्ष में तैयार करना होता है। नार्मन पेंटविच और अन्ड्रयू मार्टिन के इन शब्दों में वजन है कि "महासभा और सुरक्षा-परिषद् का प्रयोग झगड़ों को सुलझाने के लिए नहीं अपितु झगड़ों को बढ़ाने के लिए किया गया है।" अनेक बार महासभा और सुरक्षा-परिषद् में इस ढंग का प्रचार किया हुआ है जिससे इन अगों का अमूल्य समय ही नष्ट नहीं हुआ बल्कि इनकी प्रतिष्ठा पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है।

(13) संघ का एक गम्भीर दोष यह है कि शस्त्रों के एकत्रीकरण और निर्माण को कम करने के मामलों में इसके सदस्य राष्ट्रों में विशेषकर बड़ी शक्तियों में ईमानदारी का अभाव है। अणु-बम एवं उद्जन बम तथा विध्वंसकारी अस्त्रों के परीक्षण में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष की स्थिति उत्पन्न करती है और एक छोटी-सी चिनगारी सम्पूर्ण विश्व को युद्ध की ज्वाला में झोंक सकती है। विवादास्पद मामलों के समाधान में महाशक्तियां संयुक्त राष्ट्रसंघ का अतिक्रमण करने से भी नहीं चूकती, जैसा कि फ्रांस ने हिन्द-चीन-युद्ध-विराम समझौते में किया था।

(14) संयुक्त राष्ट्रसंघ की निजी सेना नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय और सुरक्षा को खतरा पैदा होने पर संघ सदस्य राष्ट्रों से सैनिक सहायता की मांग करता है। सदस्यगण प्रायः सहायता प्रदान करने में तत्परता नहीं दिखलाते और जो सहायता देते भी हैं वह भी अपर्याप्त और काफी देरी से।

इन सभी कारणों से संयुक्त राष्ट्रसंघ आशानुकूल सफल नहीं हो सकता है। संघ के लिए यह विकट समस्या है कि राष्ट्र दुमुंही बातें करते हैं। अपने राष्ट्र में प्रयोग के लिए वे एक नीति का अनुसरण करते हैं और संयुक्त राष्ट्र के प्रयोग के लिए दूसरी नीति का।

संघ को शक्तिशाली बनाने के सुझाव
(Suggestions for strengthening the U. N)

नवीन और परिवर्तित परिस्थितियों में यह आवश्यक हो गया है कि प्रथम तो संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में आवश्यक संशोधन किया जाय और द्वितीय इस प्रकार के विभिन्न उपाय अपनाये जावें जिनसे यह विश्व-संस्था अधिक शक्तिशाली बन सके। हम पहले उन सुझावों का उल्लेख करेंगे जो चार्टर में संशोधन के लिए प्रस्तावित किये जाते रहे हैं और तत्पश्चात् अन्य सुझावों का।

चार्टर में संशोधन अथवा पुनर्निरीक्षण

चार्टर में संशोधन सम्बन्धी व्यवस्था अनुच्छेद 108 तथा 109 में दी गई है। पर अभी तक महाशक्तियों के बीच पारस्परिक सहमति न होने के कारण चार्टर में कोई महत्वपूर्ण संशोधन नहीं हो सका है। यह आशंका की जाती है कि संशोधन से वर्तमान शक्ति सन्तुलन बिगड़ जायेगा और संशोधन के प्रस्तावों को लेकर अन्तर्राष्ट्रीय मतभेद प्रखर रूप से उभर आयेंगे। तथापि, संघ की कमजोरियों तथा इसके आचरण, स्वरूप और विधान को देखते हुए इस संस्था के भविष्य को सुरक्षित रखने के लिए चार्टर में संशोधन के अनेक व्यावहारिक सुझाव दिये जाना अनुपयोगी नहीं है। जो भी संशोधन प्रस्तावित हो अथवा कार्य-रूप में व्यवहार में लाए जाएं, उनमें यह ध्यान रखना होगा कि संघ के भीतर शक्ति-सन्तुलन में परिवर्तन का हल निहित हो और महाशक्तियों और छोटे राज्यों के बीच इस प्रकार के समझौते का आधार हो जिससे दोनों की आवश्यकताओं, आकांक्षाओं और उपेक्षाओं को समुचित मान्यता मिले। अभी तक महाशक्तियों ने चार्टर में संशोधन की दिशा में कोई विशेष रुचि नहीं ली है। सोवियत गुट का यह विचार रहा है कि अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा बनाये रखने के लिए महाशक्तियों के सहयोग और मतैक्यता पर जो बल दिया गया है, वह चार्टर में संशोधन होने से अस्त-व्यस्त अथवा नष्ट हो जायेगा। भारत का भी यह दृष्टिकोण रहा है कि अभी तक चार्टर का पूरा उपयोग ही नहीं हुआ है। चार्टर एक ऐसा पवित्र लेख-पत्र है जिसमें परिवर्तन की आवश्यकता अभी तक नहीं आयी है।

चार्टर में संशोधन के अनुकूल वातावरण न बनने पर भी परिवर्तित अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के संदर्भ में, चार्टर में समय-समय पर संशोधन के अनेक प्रकार के सुझाव प्रस्तुत किये गये हैं जिनमें से कुछ व्यावहारिक इस प्रकार हैं—

(1) सुरक्षा-परिषद् के अस्थायी सदस्यों की संख्या बढ़ाकर 10 कर दी जाय तथा प्रस्तावों के पास करने के लिए 9 सदस्यों के स्वीकारात्मक मत आवश्यक ठहराये जायं। आर्थिक और सामाजिक परिषद् के सदस्यों की संख्या बढ़ा कर भी 18 के स्थान पर 27 करदी जाय। दोनों ही परिषदों के सम्बन्ध में यह संशोधन सौभाग्यवश स्वीकार किया जा चुका है और 1 जनवरी, 1966 से लागू भी हो गये हैं।

(2) महासभा में प्रतिनिधित्व के तरीके में परिवर्तन किया जाय। एक देश के 5 सदस्य और एक वोट के स्थान पर सदस्य तथा वोट जनसंख्या के अनुपात से होने चाहिएं। उदाहरणार्थ रूस, अमेरिका, चीन, भारत जैसे बड़े देशों को लगभग 30 सदस्य भेजने का अधिकार होना चाहिए और महासभा में उन्हें इतने ही वोट दिये जाने चाहिएं। इंगलैंड, जर्मनी, फ्रांस, इण्डोनेशिया, पाकिस्तान जैसे मध्यम श्रेणी के राष्ट्रों को 15 सदस्य भेजने और 15 वोट देने का अधिकार मिलना चाहिए। इसी प्रकार जो छोटे देश हैं उन्हें जनसंख्या के आधार पर 5 या 7 सदस्य भेजने का

अधिकार दिया जाना चाहिए। इस प्रकार की व्याख्या होने पर ही यह सम्भव हो सकेगा कि महासभा के निर्णय अधिकतम जनसंख्या के हितों के आधार पर हों।

(3) चार्टर के अनुच्छेद 4 में संघ की सदस्यता के लिए सुरक्षा-परिषद् द्वारा सिफारिश सम्बन्धी जो दूसरी शर्त है वह विवादों को आमन्त्रित करने वाली है। परिषद् में महा-शक्तियों को निषेधाधिकार प्राप्त हैं जो अपनी स्थिति को संयुक्त राष्ट्रसंघ में सुदृढ़ बनाये रखने की दृष्टि से अपने विरोधी नवीन राज्यों के प्रवेश को निषेधाधिकार के बल पर रोकते रहे हैं। यह स्थिति संघ में गुटबन्दी और कटुता को बढ़ाने वाली है और इसी वजह से जनवादी चीन सहित विश्व के कुछ अन्य देशों का प्रतिनिधित्व संघ में अभी तक नहीं हो पा रहा है। अतः यह उचित है कि सदस्यता के लिए सुरक्षा-परिषद् की सिफारिश की शर्त हटा देनी चाहिए अथवा उसमें बहुमत के आधार पर निर्णय की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(4) संघ की सदस्यता के सम्बन्ध में यह सुझाव भी विचारणीय है कि महासभा अपने उपस्थित सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से नये सदस्यों को संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता प्रदान करे। केवल महासभा को इस प्रकार सदस्यता प्रदान करने का अधिकार दिये जाने से सदस्यता के प्रश्न पर राजनीतिक सौदे-बाजी की वर्तमान कटु-अवस्था समाप्त हो जायेगी और साथ ही संयुक्त राष्ट्र की एक अधिक व्यापक और सार्वभौमिक संगठन बनने का मार्ग प्रशस्त हो जायेगा।

(5) परिषद् की स्थायी सदस्यता में परिवर्तन भी बहुत आवश्यक है। यह सुझाव बहुत विचारणीय है कि परिषद् से स्थायी सदस्यों का प्रावधान हटा देना चाहिए ताकि शक्ति-सन्तुलन पश्चिमी शक्तियों के पक्ष में न रहे। परिषद् को सनुलित, निष्पक्ष और व्यावहारिक बनाने के लिए यह आवश्यक है कि वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय जगत के महत्वपूर्ण सदस्यों को इसमें समान आधार पर स्थान मिले। यदि स्थायी सदस्यों का प्रावधान रखा भी जाय तो फ्रांस के स्थान पर, पेकिंग को, फ्रांस के स्थान पर भारत को स्थायी सदस्यता प्रदान की जाय। यदि वर्तमान स्थायी सदस्यों को बनाये रखने का ही निश्चय हो तो भी भारत, चीन आदि महान राष्ट्रों को स्थायी सदस्य बना कर 5 के स्थान पर परिषद् में 7 या अधिक स्थायी सदस्य नियत किये जायें। इससे परिषद् में एक नया सन्तुलन स्थापित हो सकेगा और केवल 5 महाशक्तियाँ संघ की निर्देशक नहीं बनी रह सकेंगी।

(6) चार्टर में "घरेलू क्षेत्र" की व्यवस्था इतनी लचकीली है कि इसके आधार पर राष्ट्रों द्वारा संघ की कार्यवाहियों में अड़चनें लगाये जा सकते हैं। संघ अपने उद्देश्यों की दिशा में अधिक शक्तिशाली और समर्थ बने इसके लिए घरेलू क्षेत्र की व्यवस्था में समुचित संशोधन किया जाना चाहिए। यह सुझाव भी विचारणीय है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून में जो बातें घरेलू क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत आती हैं उनका सहिताकरण कर दिया जाय तथा उनके अतिरिक्त जो विषय शेष रहें उन पर शान्ति एवं सुरक्षा की दृष्टि से संयुक्त राष्ट्रसंघ जो कार्यवाही उचित समझे, स्वतन्त्र होकर

करे। यह भी सुझाव दिया गया है कि अनुच्छेद 2 (7) का इस प्रकार संशोधन किया जाना चाहिए जिससे संयुक्त राष्ट्र मानव-अधिकारों के विषय में प्रभावशाली हस्तक्षेप कर सके।

(7) न्यास-पद्धति से सम्बन्धित अनुच्छेद 76 (ख) बड़ा अस्पष्ट है। इस अनुच्छेद में यह व्यवस्था की जानी चाहिए कि विभिन्न प्रदेशों के विकास को देखते हुए उन्हें कितनी अवधि में स्वाधीनता दे दिया जाना उपयुक्त है। अनुच्छेद 77 (क) में इस तरह संशोधन किया जाना चाहिए कि राष्ट्रसंघ के सभी मैंडेट अनिवार्यतः न्यास-परिषद् के अधीन समझे जायं।

(8) यह सुझाव दिया जाता है कि महासभा द्वि-सदनात्मक बनायी जाय—एक "मानवता का सदन हो" और दूसरा "राष्ट्रीय सदन"। मानवता-सदन का संगठन प्रत्येक राज्य की जनसंख्या के अनुपात में हो तथा राष्ट्रीय सदन का गठन राज्यों की समानता के आधार पर हो और उसमें प्रत्येक सदस्य राष्ट्र को प्रतिनिधित्व दिया जाय। सभी साधारण विषयों का निर्णय दोनों द्वारा किया जाय लेकिन मतभेद की स्थिति में वह निर्णय इसी रूप में मान्य समझा जाय जिस रूप में मानवता-सदन पुनः तीन-चौथाई मतों से उसे पारित करदे। साथ ही शान्ति और सुरक्षा जैसे महत्वपूर्ण विषयों पर निर्णय मानवता-सदन द्वारा लिया जाय। इस बात के निर्णय का दायित्व कि कौनसे विषय महत्वपूर्ण हैं, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को सौंपे जायं।

(9) सुरक्षा-परिषद् की बैठकें हमेशा न हों वरन् कुछ निश्चित अवधियों में हों ताकि सम्बन्धित देशों के प्रधानमंत्री अथवा विदेश मंत्री उसमें भाग ले सकें। लेकिन इस प्रकार का सुझाव विशेष स्वागत-योग्य नहीं है क्योंकि सुरक्षा-परिषद् यदि एक सतत् कार्यशील अंग न रहा तो शान्ति और सुरक्षा को खतरा पैदा होने पर अथवा अन्य किसी महत्वपूर्ण मामले में तुरन्त कार्यवाही करने की वर्तमान जो कुछ भी क्षमता है उसे भी आघात पहुंचेगा। सुरक्षा-परिषद् के सदैव क्रियाशील रहने से आक्रान्ताओं को यह अहसास रहता है कि उसके द्वारा आक्रामक कार्यवाही करते ही परिषद् अविलम्ब कुछ न कुछ ठोस कदम उठा सकती है। वर्तमान व्यवस्था के अनुसार सुरक्षा-परिषद् बहुत कम समय की सूचना मात्र पर अपनी बैठक कर सकती है और बचाव कम करने की दिशा में अविलम्ब ही कोई उपाय निकाल सकती है। राष्ट्रसंघ की परिषद् की यह बहुत बड़ी दुर्बलता थी कि आक्रमणकारी के काफी आगे बढ़ जाने पर ही वह कुछ पग उठाने में सफल हो पाती थी।

(10) अनुच्छेद 27 में सुरक्षा-परिषद् में मतदान की व्यवस्था में "प्रक्रिया सम्बन्धी विषय" (Procedural Matters) तथा "अन्य सभी विषय" (All other Matters) शब्द इतने अनिश्चित और अस्पष्ट हैं कि जिससे निषेधाधिकार का बहुत अधिक प्रयोग हुआ है। अतः यह उपयुक्त है कि इन शब्दों को अधिक स्पष्ट किया जाय।

(11) चार्टर के अनुच्छेद 51-52 द्वारा प्रादेशिक संगठनों को बनाने की अनुमति दिये जाने के फलस्वरूप नाटो, सीटो जैसे सैनिक संगठनों के अस्तित्व को

विशेष प्रोत्साहन मिला है। अत: पुनः धाराओं मे ऐसा सशोधन होना चाहिए जिससे सैनिक सगठनो की स्थापना को प्रोत्साहन न मिल सके। वास्तव मे "सयुक्त राष्ट्रसघ मे विधायित सामूहिक सुरक्षा पर आधारित शान्ति एवं सुरक्षा बनाये रखने सम्बन्धी व्यवस्था शक्ति सन्तुलन के सिद्धान्त का विकल्प" नहीं बन सकता।

(12) चार्टर मे उल्लेखित मानव-अधिकारो की प्राप्ति को क्रियात्मक बनाने के लिए उपयुक्त सस्थाओ की स्थापना सम्बन्धी प्रावधानो तथा अन्य व्यवस्थाओ का होना भी आवश्यक है।

(13) चार्टर मे सशोधन का यह सुझाव भी दिया गया है कि शान्ति एवं सुरक्षा सम्बन्धी मामलो मे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सभी निर्णय राष्ट्रो पर बाध्यकारी माने जाय। पर यह भी सुनिश्चित व्यवस्था होनी चाहिए कि निर्णय राजनीति पक्षपात से मुक्त हो तथा न्यायाधीश उच्च-कोटि के विधिवेत्ता न्याय के रक्षक हो।

महा शक्तियो की चार्टर में सशोधन की रुचि—सयुक्त राष्ट्रसंघ की ओर से चार्टर मे सशोधन निम्नलिखित विषयों मे किया जाना अपेक्षित है—(1) सर्वव्यापी सदस्यता, (2) सुरक्षा, (3) सुरक्षा-परिषद् की सदस्यता एव मतदान-प्रणाली, (4) महासभा मे मतदान प्रणाली, (5) शस्त्रों की समस्या, एव (6) अन्तर्राष्ट्रीय कानून। सशोधन के इन विषयो का उल्लेख जनवरी, 1954 में तत्कालीन विदेश मन्त्री जॉन फास्टर डलेस ने किया था। रूस द्वारा चार्टर मे मुख्यतः इन सशोधनों के पक्ष मे विचार प्रकट किये गये—(क) सघ के सभी अगों से अमेरिकन प्रभुत्व कम किया जाय और उनमे अफ्रीका तथा एशिया के देशो को अधिक प्रतिनिधित्व दिया जाय, (ख) साम्यवादी चीन को सघ का सदस्य बनाया जाय, (ग) संघ का महासचिव एक न होकर तीन बनाये जाय, (घ) सघ का प्रधान कार्यालय अमेरिका से हटा कर किसी दूसरे देश मे ले जाया जाय। रूस की सशोधन की मांगो मे से प्रथम दो तो अवश्य ही विचारणीय हैं, किन्तु अन्तिम दो की तीव्र आलोचना की गई है। यह रोचक है कि यद्यपि रूस और अमेरिका के द्वारा चार्टर के सशोधन के बारे मे विभिन्न सुझाव और मत प्रस्तुत किये गये हैं तथापि ये सुझाव एक दूसरे को मान्य नहीं हैं। कई विचारकों का मत है कि सयुक्त राज्य अमेरिका ने अभी तक यह निश्चय नहीं किया है कि वह सघ को कितना शक्तिशाली बनाना चाहता है और यह बात चार्टर के सशोधन के मार्ग मे एक बडी बाधा है।

यह उल्लेखनीय है कि चाहे औपचारिक रूप से चार्टर मे सशोधन नहीं हो पाये हैं लेकिन अनौपचारिक रूप से कुछ व्यवस्थायें प्रकाश मे आ चुकी हैं। इस सम्बन्ध मे "शान्ति के लिए एकता का प्रस्ताव" अच्छा उदाहरण है। फ्रान्सिस विलकाक्स के अनुसार चार्टर मे अनौपचारिक संशोधन की प्रक्रिया इस प्रकार प्रभावशील रही है—(1) चार्टर के कुछ उपबन्धो को क्रियान्वित न करके, (2) सघ के विभिन्न अगो तथा सदस्यो द्वारा चार्टर की व्याख्या करके, (3) सहायक

सन्धियों और समझौतों के निर्णयों द्वारा, एवं (4) विशेष अंगों तथा अभिकरणों की रचना करके।

अन्य सुझाव

संयुक्त राष्ट्रसंघ को शक्तिशाली बनाने के लिए चार्टर में विविध संशोधनों के अतिरिक्त और भी अनेक सुझाव समय-समय पर दिये जाते रहे हैं। इनमें कुछ उल्लेखनीय सुझाव निम्नवत् हैं—

(1) संघ सम्प्रभु राज्यों की एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था है। इस रूप में संघ की सफलता इस बात पर निर्भर है कि इसके निर्णयों को कार्यान्वित करने में सदस्य राष्ट्र कितनी रुचि लेते हैं। संघ को अधिक कार्य-कुशल और शक्तिशाली बनाने के निमित्त यह आवश्यक है कि सदस्य राज्य अधिक स्वामी-भक्ति एवं कल्पनात्मक रूप से अपने उत्तरदायित्वों को पूरा करें। विशेषकर महाशक्तियां संघ के सिद्धान्तों के प्रति निष्ठावान रहें और अपने स्वार्थों के हितों की पूर्ति के लिए सैद्धान्तिक शिथिलता न बरतें। वे इस बात में पहल करें कि संयुक्त राष्ट्र के कार्य गुटबन्दी पर आधारित न हों।

(2) महासभा, सुरक्षा-परिषद् तथा अन्य अंगों को प्रचार संस्था के रूप में काम में न लाया जाय। बुरे सम्बन्धों के प्रयोग पर सदस्य राज्य स्वयं नियन्त्रण रखें। कोई भी राष्ट्र सदैव दोषी नहीं होता और न ही कोई राष्ट्र सदैव सत्य-पथ पर होता है, अतः सब राष्ट्रों के नेताओं के विरोधी विचारों को मान्यता देना आवश्यक है।

(3) महासभा के अधिवेशन अल्पकालीन हों, जिनमें सदस्य राष्ट्रों के प्रधानमन्त्री अथवा विदेशमन्त्री सम्मिलित हों। ये महत्वपूर्ण प्रतिनिधि समस्याओं पर ईमानदारी के साथ तेजी से निर्णय लें। यदि मन्त्रिमण्डलीय स्तर के राजनीतिज्ञ महासभा की बैठकों में उपस्थित होने लगेंगे तो विश्व की जनता इसकी कार्यवाही में अधिक रुचि लेगी। मन्त्रिमण्डलीय स्तर के प्रतिनिधि अपने-अपने देशों की नीति निर्धारित करने के लिए उत्तरदायी होते हैं, अतः वे महासभा की कार्यवाही को अधिक प्रभावशाली और निर्णयकारी बनाने में सक्षम हो सकते हैं।

महासभा की कार्यवाही के सम्बन्ध में श्री होमस का सुझाव है कि 'हमें अपनी कार्यावलि के साथ कैंची का प्रयोग करना चाहिए तथा उन विषयों को काट देना चाहिए जिनको रखने से कार्यावलि की संख्या बढ़ जाती है और जिनमें किसी प्रकार के सुझाव की आशा नहीं होती। मेरे विचार में हमें कार्य-सूची के विषयों के बारे में प्राथमिकता की पद्धति अपनानी चाहिए ताकि प्रथम तो महासभा की बैठक एक वर्ष में 6 सप्ताह से अधिक न हो एवं द्वितीय, महासभा अपना अधिक समय महत्वपूर्ण विषयों के वाद-विवाद पर ही लगाये और निर्विघ्न एवं थोड़ी समस्याओं को सुलझाने का ही प्रयास करे।

(4) चार्टर की व्याख्या करते समय उदार दृष्टिकोण अपनाया जाय। शान्ति के लिए एकता के प्रस्ताव को इस प्रकार की व्याख्या का उदाहरण माना जा सकता है। चार्टर की उदार व्याख्या की जाने पर संयुक्त राष्ट्रसंघ उन सभी कार्यों को अधिक सफलतापूर्वक कर सकेगा जो उसके लक्ष्य की पूर्ति के लिए आवश्यक हैं। सुरक्षा-परिषद् की शक्तियों के मूल्य पर यदि महासभा, जो विश्व जनमत की प्रतिनिधि है, कोई कार्य करने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले ले, तो इसका विरोध नहीं किया जाना चाहिए। मुख्य लक्ष्य तो समस्या का समाधान करना है न कि वैधानिक पड़तेबाजी उत्पन्न करके समस्या को उलझाना। पर इस प्रकार का वातावरण किसी एक या दो राष्ट्रों द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता। संघ के सभी सदस्य-राज्य यदि उन्मुक्त हृदय के साथ आगे बढ़े, तभी यह सम्भव है।

(5) संघ के वर्तमान यन्त्र को विस्तृत बना देना चाहिए ताकि आवश्यकतानुसार नवीन संस्थाओं का निर्माण किया जा सके।

(6) जो क्षेत्र राष्ट्रीय सम्प्रभुता के अधीन नहीं है वहां पर प्रशासकीय सत्ता स्थापित कर लेनी चाहिए उदाहरण के लिए बाह्य अन्तरिक्ष (Outer Space)।

(7) संयुक्त राष्ट्रसंघ की आय का कोई स्वतन्त्र स्रोत रखना चाहिए। राष्ट्रों के चन्दे और आर्थिक सहयोग पर आश्रित रह कर संघ की कार्य-क्षमता पर विपरीत प्रभाव पड़ा है। संघ को चाहिए कि वह विकास कर, सेवा कर, यात्री कर आदि लगाये और विश्व-बैंक की आय तथा बाह्य अन्तरिक्ष की फीस आदि द्वारा अपनी आय में वृद्धि करे।

(8) विश्व कानून की प्रक्रिया का विकास किया जाना चाहिए तथा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के प्रयोग को अधिकाधिक लोकप्रिय बनाया जाना चाहिए।

(9) समय-समय पर विदेश मन्त्रियों या राष्ट्रों के प्रधानों की बैठकें आयोजित की जानी चाहिए ताकि उनके बीच आपसी मतभेदों को शीघ्रतापूर्वक दूर कर लिया जाय।

अन्त में यही कहना होगा कि संयुक्त राष्ट्रसंघ अपने उद्देश्यों को तभी पूरा कर सकता है और अधिक शक्तिशाली तथा कार्य-सक्षम तभी बन सकता है जब सभी महान् राष्ट्र इसे वास्तव में सहयोग दें और इसके सिद्धान्तों के प्रति सच्ची निष्ठा रखें। संयुक्त राष्ट्र पुलिस के एक सिपाही की भांति नहीं है। यह तो मध्यवर्ती है। यह सहयोग का एक साधन मात्र है। यह शान्ति सम्मेलन नहीं है और न ही महान् शक्तियों के बीच 'निर्णायक' है। यह तो वस्तुतः इस विचार पर आधारित है कि विश्व के महान् राष्ट्र अन्य सभी देशों को ईमानदारीपूर्वक अपने साथ लेकर खुले दिल और दिमाग से विस्फोटक समस्याओं का समाधान करेंगे। सदस्य राष्ट्रों, विशेषकर महाशक्तियों के सहयोग के बिना यह कुछ नहीं कर सकता। महासभा के प्रथम अधिवेशन के अध्यक्ष श्री पोल हेनरी स्पाक ने समस्या के मर्म को स्पष्ट करते हुए ठीक ही कहा था कि "हमें पारस्परिक मतभेद मिटा देने चाहियें।

न किसी के साथ विशेष सहानुभूति और न किसी से घृणा रखनी चाहिए। हमें अपने देश के हितों का ध्यान अवश्य रखना चाहिए लेकिन हमें तब तक सफलता नहीं मिल सकेगी जब तक अपने देश के हितों को हम सामान्य हितों की दृष्टि में नहीं देखेंगे और विश्व तथा मानव-हितों को ध्यान में नहीं रखेंगे।" श्री हेनरी स्पार्क ने यह आशा प्रकट की थी कि महासभा को विश्व के राष्ट्रों के शिष्ट-मण्डलों के रूप में देखा जायेगा जो सामूहिक रूप से संसार के हितों का प्रतिनिधित्व करती हो। हम आदर्शवाद की झोंक में चाहे कितने ही सुझाव दें, लेकिन यथार्थ बात यही है कि यदि सदस्य राष्ट्र और विशेषकर महान् राष्ट्र सहयोग से कार्य नहीं करेंगे तो संयुक्त राष्ट्रसंघ अपने पूर्ववर्ती राष्ट्रसंघ की भांति ही नष्ट हो जायेगी। हम चार्टर में संशोधन करें या न करें—यह अपने आप में महत्वपूर्ण नहीं है। वास्तविक महत्व तो सदस्य राष्ट्रों के सहयोग और संघ के प्रति उनकी निष्ठा का है।

चीन सं. रा. संघ का सदस्य बना : ताइवान निष्कासित

(22 वर्ष से चला आ रहा अन्तर्राष्ट्रीय विवाद समाप्त)

संयुक्त राष्ट्र महासभा ने आज राष्ट्रवादी चीन (ताइवान) को संयुक्त राष्ट्रसंघ से निष्कासित कर उसके स्थान पर जनवादी चीन (कम्यूनिस्ट) को सदस्य बनाने का अल्बानिया का प्रस्ताव 35 के विरुद्ध 76 मतों से स्वीकार कर लिया। 17 देशों ने मतदान में भाग नहीं लिया।

इस प्रकार, विगत 22 वर्षों से कम्यूनिस्ट चीन को संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य बनाने के लिए जो संघर्ष चल रहा था, वह समाप्त हो गया। संयुक्त राष्ट्रसंघ के इतिहास में यह पहला मौका है जबकि संयुक्त राष्ट्रसंघ के किसी सदस्य और सुरक्षा-परिषद् के स्थायी सदस्य को संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता से निष्कासित करके उसके स्थान पर किसी अन्य देश को सदस्य बनाया गया हो।

जिन देशों ने अल्बानिया के प्रस्ताव का समर्थन किया है उनके नाम हैं—अफगानिस्तान, अल्बानिया, अल्जीरिया, आस्ट्रिया, बेल्जियम, भूटान, बोत्स्वाना, बल्गारिया, बर्मा, बुरुंडी, बायलो, रूस, केमरून, कनाडा, श्रीलंका, चिली, क्यूबा, चकोस्लोवाकिया, डेनमार्क, इक्वेडोर, मिस्र, गिनी, इथोपिया, फिनलैण्ड, फ्रांस, घाना, गुयाना, हंगरी, आइसलैण्ड, भारत, ईरान, इराक, आयरलैण्ड, ईजरायल, इटली, केनिया, कुवैत, लाओस, लीबिया, मलयेशिया, माली, मारतिनिया, मेक्सिको, मंगोलिया, मोरक्को, नेपाल, नीदरलैण्ड, नाइजीरिया, नार्वे, पाकिस्तान, यमन, कांगो, पेरू, पोलैण्ड, पुर्तगाल, रूमानिया, रुआंडा, सेनगल, सियरा, लियोन, सिंगापुर, सोमालिया, सूडान, स्वीडन, सीरिया, अरब गणराज्य, टोगो, त्रिनिडाड और टोबागो, ट्यूनीसिया, तुर्की, उगान्डा, उक्रेनियन सोवियत गणराज्य, सोवियत संघ, ब्रिटेन, तांजानिया, यूगोस्लाविया तथा जाम्बिया।

इन देशों ने प्रस्ताव के विरुद्ध मतदान किया—आस्ट्रेलिया, बोलिविया, ब्राजील, सैन्ट्रल अफ्रीकन गणराज्य, छाद, कांगो, कोस्टारिका, दहोमी, डोमीनिकन गणराज्य, अलसल्वाडोर, गबन, जाम्बिया, ग्वाटेमाला, हैती, हडुरास, आइवरी कोस्ट, जापान, खामेर गणराज्य, लेसोथो, लाइबेरिया, मेडागास्कर, मलावी, माल्टा, न्यूजीलैण्ड, निकारगुआ, नाइजर, पेराग्वे, फिलीपीन, सऊदी अरब, दक्षिण अफ्रीका, स्वाजीलैण्ड, अमरिका, अपरवोल्टा, उरुग्वे, वेनूजएला।

निम्न सदस्यों ने मतदान में भाग नहीं लिया—अर्जेन्टाइना, बहरीन, बारबाडोस, कोलम्बिया, साइप्रस, फिजी, यूनान, इण्डोनेशिया, जमैका, जोर्डन लेबनान, लक्समबर्ग, मारीशस, पनामा, कतार, स्पेन और थाईलैण्ड।

ताइवान, मालदीव और ओमन उपस्थित नहीं थे।

(हिन्दुस्तान दिनांक 27 अक्टूबर, 1971)

Appendix B

Members of the United Nations

Member	Date of Admission	Member	Date of Admission
Afghanistan	19.11.46	Congo (Brazzaville)	20.9.60
Albania	14.12 55	Congo (Democratic Republic of)	20.9.60
Algeria	8.10.62	Costa Rica	2.11.45
Argentina	24.10.45	Cuba	24.10.45
Australia	1.11 45	Cyprus	20.9.60
Austria	14.12.55	Czechoslovakia	24.10.45
Barbados	9.12.66	Dahomey	20.9.60
Belgium	27.12.45	Denmark	24.10.45
Bolivia	14.11.45	Dominican Republic	24.10.45
Botswana	17.10.66	Ecuador	21.12.45
Brazil	24.10.45	El Salvador	24 10.45
Bulgaria	14.12.55	Equatorial Guinea	12.11.68
Burma	19.4.48	Ethiopia	13.11.45
Burundi	18.9.62	Finland	14.12.55
Byelorussian Soviet Socialist Republic	24.10 45	France	24.10.45
Cambodia	14.12 55	Gabon	20 9.60
Cameroon	20.9.60	Gambia	21.9.65
Canada	9.11.45	Ghana	8.3.57
Central African Republic.	20.9.60	Greece	25.10.45
Ceylon	14.12.55	Guatemala	21.11.45
Chad	20 9.60	Guinea	12.12.58
Chile	24.10.45	Guyana	20.9.66
*China (Nationalist)	24.10.45	Haiti	24.10.45
China (Communist)	26.10.71	Honduras	17.12.45
Colombia	5.11.45	Hungary	14.12.55
		India	30.10 45

* Membership Cancelled since 26.10.71

Mamber	Date of Admission	Member	Date of Admission
Indonesia	28.9.50	Napal	14.12 55
Iran	24.10.45	Netherland	10.12 45
Iraq	21.11.45	New Zealand	24.10 45
Ireland	14.12 55	Nicaragua	24.10 45
Israel	11.5.49	Nigeria	20.9 60
Iceland	19 11.46	Pakistan	30 9 47
Italy	14 12.55	Panama	13.11.45
Ivory Coast	20 9.60	Paraguay	24.10 45
Jamaica	18.9.62	Peru	31.10 45
Japan	18.12.56	Philippines	24 10 45
Jordan	14 12 55	Poland	24 10.45
Kenya	16.12 63	Portugal	14.12.55
Kuwait	14.5 63	Romania	14 12.55
Laos	14.12.55	Rwanda	18.9.62
Lebanon	24.10 45	Saudi Arabia	24.10 45
Lesotho	17 10 66	Senegal	28 9.60
Liberia	2.11 45	Sierra Leone	27 9 61
Libya	14.12.55	Singapore	21.9.65
Luxembourg	24.10.45	Somalia	20 9 60
Madagascar	20.9.60	South Africa	7.11.45
Malawi	1.12.64	Southern Yemen	14.12 67
Malaysia	17.9.57	Spain	14 12.55
Maldive Islands	21.9.65	Sudan	12.11 56
Mali	28 9 60	Swaziland	24 9.68
Malta	1.12.64	Sweden	19.11.46
Mauritania	27.10 61	Syria	24 10.45
Mauritius	24 4 68	(Resumed)	13.10 61
Mexico	7.11 45	Thailand	16 12.46
Mongolia	27.10 61	Togo	20.9.60
Morocco	12 11.56	Trinidad and Tobago	18.9.62
Nigeria	7.10 60	Tunisia	12.11 56
Norway	27.11 45	Turkey	24.10 45

Member	*Date of Admission*	*Member*	*Date of Admission*
United Kingdom	24.10.45	Union of Soviet Socialist Republic	24.10.45
United Republic of Tanzania	14.12.61	United Arab Republic	24.10 45
United States	24.10 45	Uruguay	18.12.45
Upper Volta	2.09.60	Venezuela	15.11.45
Uganda	25 10 62	Yemen	30.9.47
Ukrainian Soviet Socialist Republic	24.10.45	Yugoslavia	24.10.45
		Zambia	1.12.64

Appendix [illegible]

List of Abbreviations of International Bodies

Abbreviation	Full name
ASEAN	Association for South East Asian Nations
ECAFE	Economic Commission for Asia and the Far East
ECE	Economic Commission for Europe
ECITO	Economic Central Inland Transport Organisation
ECLA	Economic Commission for Latin America
ECO	Economic Coal Organization
ECOSOC	Economic and Social Council
EECE	Emergency Economic Committee for Europe
ECM	European Common Market
EEC	European Economic Community
EFTA	European Free Trade Association or Area
FAO	Food and Agriculture Organization
Fund (IMF)	International Monetary Fund
ICAO	International Civil Aviation Organization
ILO	International Labour Organization
GATT	General Agreement on Tariffs and Trade
International Bank (IBRD)	International Bank for Reconstruction and Development
International Court (ICJ)	International Court of Justice (of the United Nations)
IRO	International Refugee Organization
Interim Committee	Interim Committee of the General Assembly
ITO	International Trade Organization
ITU	International Telecommunications Union
ICC	International Control Commission (Indo-China)
ICFTU	International Conference of Free Trade Unions
IDA	International Development Association
IDO	International Defence Organisation
IFC	Industrial Finance Corporation; International Finance Corporation
IFTU	International Federation of Trade Unions

INTELSET : International Telecommunications Satellite Consortium
IUCNNS : International Union for the Conservation of Natural & National Resources
League : The League of Nations
NATO : North Atlantic Treaty Organization
OAS : Organization of American States
OEEC : Organization for European Economic Co-operation
OAU : Organization for African Unity
OECD : Organization for Economic Co-operation and Development
OIHP : Office International d'hygiene Publique
PATA : Pacific Area Travel Agency
Permanent Court : Permanent Court of International Justice (of the League of Nations)
PEN : (International Club of) poets, playwrights, Essayists, Editors and Novelists.
SEATO : South East Asia Treaty Organization
SEADO : South East Asia Defence Organization
SUNFED : Special United Nations Fund for Economic Development
TC : Trusteeship Council (U. N. Organ)
TAB : Technical Assistance Board
TAC : Technical Assistance Committee
UN : United Nations
UNAC : United Nations Appeal for Children
UNESCO : United Nations Educational, Scientific, and Cultural Organization
UNICEF : United Nations International Children's Emergency Fund
UPU : Universal Postal Union
UNRRA : United Nations Relief and Rehabilitation Administration
UN!COB : United Nations Committee on the Balkans
UNSCOP : United Nations Special Committee on Palestine
UNECAFE : United Nations Atomic Energy Commission, for Asia and Far East
UNCIP : United Nations Commission for India and Pakistan (Kashmir)
UNAEC : United Nations Atomic Energy Commission
UNCTAD : United Nations Conference on Trade and Development

UNEDA : United Nations Economic Development Administration
UNEF : United Nations Emergency Force (U.A.R)
UNIPOM : United Nations, India Pakistan Observation Mission
UNOID : *United Nations Organization for Industrial Development*
UNRRA : United Nations Relief and Rehabilitation Administration
WAY : World Assembly of Youth
WEU : Western European Union
WFTU : World Federation of Trade Unions
WHO : World Health Organization
WMO : World Mateorological Organization
WTUC : Worker's Trade Union Committee; World Trade Union Congress
WUS : *Women's Voluntary Service*

APPENDIX—D

STRUCTURE OF THE GENERAL ASSEMBLY

Main Committees	*Procedural Committees*	*Standing Committees*	*Other Bodies Established by General-Assembly*
First Committee Political and Security (Including the regulation of armaments)	General Committee	Advisory Committee on Administrative and Budgetary questions.	1. Interim Committee of the General Assembly. 2. Disarmament Commission. 3. Special Committee on Peace-keeping Operations. 4. Committee on the Peaceful Uses of Outer Space. 5. United Nations Scientific Committee on the Effects of Atomic Radiation.
Special Political Committee	Credentials Committee	Committee on Contributions	6. Special Committee on the Situation with regard the Implementation of the Declaration on the Granting of Independence to Colonial Countries and Peoples.
Second Committee Economic and Financial			7. United Nations Representative for the Supervision of Elections in the Cook Islands.
Third Committee Social, Humanitarian and Cultural			8. Panel for Inquiry and Conciliation. 9. Peace Observation Commission 10. Collective Measures Committee
Fourth Committee Trusteeship (Including Non-Self-Governing Territories)			11. Committee for the International Co-operation Year. 12. Special Committee on the South African Government's Policies of Apartheid 13. United Nations Commission for the Unification and Rehabilitation of Korea (UNCURK)

Main Committees	Procedural Committees	Standing Committees	Other Bodies Established by General–Assembly
Fifth Committee Administrative and Budgetary			14. United Nations Emergency Force (UNEF)
			15. United Nations Conciliation Commission for Palestine
			16. United Nations Relief and Works Agency for Palestine Refugees in the Near East (UNRWA)
Sixth Committee Legal			17. Special Representative of the Secretary–General, Jordan
			18. Ad Hoc Committee on Oman.
			19. United Nations Special Fund.
			20. United Nations Conference on Trade and Development
			21. Committee on a United Nations Capital Development Fund
			22. United Nations Children's Fund (UNICEF)
			23. Office of the United Nations High Commissioner for Refugees
			24. Ad Hoc Committee of the Whole Assembly
			25. United Nations Staff Pension Committee.
			26. Investments Committee.
			27. Board of Auditors.
			28. Panel of External Auditors.
			29. Consultative Panel on United Nations Information Policies and Programmes.
			30. United Nations Administrative Tribunal
			31. Committee on Application for Review of Administrative-Tribunal Judgements.

Main Committees	*Procedural Committees*	*Standing Committees*	*Other Bodies Established by General-Assembly*
			32. International Law Commission.
			33. Committee on Arrangements for a Conference for the Purpose of Reviewing the Charter.
			34. Committee on Government Replies on the question of Defining Aggression.
			35. Commission on Permanent Sovereignty over Natural Resources.
			36. Special Committee on Principles of International Law concerning Friendly Relation and Co-operation among States.
			37. Special Committee on Techincal Assistance to Promote the Teaching Study, Dissemination and Wider Appreciation of International Law.

Source : United Nations office of Public Informations (Extracted from Plano & Riggs : op. cit , p. 81)

Appendix—E

U.N. MEMBERSHIP & GEOGRAPHIC REGION

Admiss on Date	Western Europe	Eastern Europe	Asia	Africa	Latin America	Other	Total Membership	Number of Admissions
Original Members	8	6	9	4	20	4	51	
1946	10	6	11	4	20	4	55	4
1947	10	6	13	4	20	4	57	2
1948	10	6	14	4	20	4	58	1
1949	10	6	15	4	20	4	59	1
1950	10	6	16	4	20	4	60	1
1955	16	10	21	5	20	4	76	16
1956	16	10	22	8	20	4	80	4
1957	16	10	23	9	20	4	82	2
1958	16	10	22	10	20	4	82	1*
1960	17	10	22	26	20	4	99	17
1961	17	10	24	29	20	4	104	4*
1962	17	10	24	33	22	4	110	6
1963	17	10	25	35	22	4	113	3
1964	18	10	25	36	22	4	115	3
1965	18	10	26	37	22	4	117	3*
1966	18	10	27	39	24	4	122	4

* Membership Totals do not correspond with the number of admissions in 1958, 1961, and 1964-1966, for the following reasons; (1) Syria and Egypt gave up their separate membership in 1958 when the United Arab Republic was formed, but regained them in 1961 when Syria decided to resume its sovereign, independent status. (2) The Union of Tanganyika and Zanzibar to from the Republic of Tanzania in 1964 and the same effect on UN membership [illegible] the 1958 UAR merger. (3) Indonesia withdrew from the United Nations in 1965 and resumed participation without formal readmission in 1966.

UNITED NATIONS SECRETARIAT, 1966

	Sec.-Gen. and Under-Secs.	Directors and Principal Officers	Other Professional Level Staff	General Service: Principal Level	General Service: Other Level	Manual Workers	Local Level Positions	Total
Controller	1	9	[illegible]	25	81	—	—	196
Legal Affairs	1	5	29	5	24	—	—	64
Personnel	1	7	41	13	79	—	—	141
Jnt. Staff and Pension Brd. and U.N. Pension Comm.	—	1	4	3	12	—	—	20
Executive Office	2	5	16	4	22	—	—	49
Division of Human Rights	—	2	33	—	21	-	—	56
Office of Under-Secs. for Special Pol. Affairs.	2	2	6	2	10	—	—	22
Geneva Office	1	13	225	18	471	75	—	803
Political and Security Affairs	1	9	51	3	27	—	—	91
Trusteeship and Non-Self-Governing Terr.	1	3	29	3	17	—	14	67
Economic and Social Affairs.	4	42	424	41	332	—	—	843
ECE	1	8	87	2	100	—	—	198
ECAFE	1	9	120	—	—	—	205	335
ECLA	1	9	124	—	—	—	235	369
ECA	1	7	133	—	—	—	242	383
Conference Services	1	15	499	79	486	28	—	1108
General Services	1	8	60	48	483	175	—	775
Public information	1	13	155	16	106	—	230	521
TOTAL	21	167	2116	262	2271	278	926	6041

Source : Genral Assembly Official Records, 20th Session, Supplement No. 5, pp. 70–64.
(Extracted from Plano & Riggs : op. cit , p. 178)

Appendix—G

Principal Regional Organizations (1966)

Region	Primarily Military	Primarily Economic	Primarily Political
West Europe and Atlantic Community	(1) NATO (2) WEU	(7) Benelux (10) Euratom (8) ECSC (11) EFTA (9) EEC (12) OECD	(19) Council of Europe (20) Nordic Council
The Americas		(13) LAFTA (14) CACM	(21) OAS (22) ODECA
Africa		(15) UDEAC (16) EACSO	(23) OAU (24) OCAM
Asia and Pacific	(3) ANZUS (4) SEATO (5) CENTO	(17) Colombo Plan	(25) Council of the Entente (26) ASPAC (27) Arab League
East Europe	(6) WTO	(18) COMECON	
Non-Geographical			(28) Commonwealth

Organization	Founded	Members	Basic Objective
[1] North Atlantic Treaty Organization	1949	15	Defence of West Europe and Atlantic Area
[2] Western European Union	1954	7	Maintain security of West Europe
[3] Anzus Security Treaty Organization	1951	3	Create military defence zone in Pacific
[4] Southeast Asia Treaty Organization	1954	8	Maintain security of South East Asia

Organization	Founded	Members	Basic Objective
[5] Central Treaty Organization	1959	4	Maintain Security of Middle East
[6] Warsaw Treaty Organization	1955	8	Integrate East Europe defense forces
[7] Benelux Customs Union	1948	3	Establish Common market, integrate economics
[8] European Coal & Steel Community	1953	6	Establish Common market for coal, steel and iron ore
[9] European Economic Community	1958	6	Establish Common market integrate economics
[10] European Atomic Energy Community	1958	6	Stimulate research and deve. of peaceful uses of atomic energy
[11] European Free Trade Association	1959	7	Eliminate teriffs among members
[12] Organization for Economic Co-operation and Development	1961	21	Develop joint policies for aid and economic growth
[13] Latin American Free Trade Association	1961	9	Encourage economic development
[14] Central American Common Market	1960	5	Encourage economic development and integration
[15] Central African Customs and Economic Union	1966	5	Promote economic development and integration
[16] East African Common Services Organization	1961	3	Coordinate transport, communication, finance, commerce, social services.
[17] Colombo Plan	1951	[illegible]	Promote joint development effort
[18] Council for Mutual Economic Assistance	1949	9	Establish planned national specialization
[19] Council of Europe	1949	18	Foster Political unity in West Europe

Organization	Founded	Members	Basic Objective
[20] Nordic Council	1952	5	Consulation on common problems
[21] Organization of American States	1948	21	Promote joint hemispheric programs.
[22] Organization of Central American States	1952	5	Encourage political unity
[23] Organization of African Unity	1963	38	Consulation on continental problems
[24] Common Organization of Africa and Malagasy	1965	14	Promote political, economic, social development.
[25] Council of the Entente	1959	4	Political and economic consultation
[26] Asian and Pacific Council	1966	9	Political and economic Cooperation
[27] League of Arab States	1945	13	Foster joint defence and social policies
[28] Commonwealth of Nations	1924	26	Consultation and economic preferences

Source : Plano & Riggs : op. cit., p. 62.

Appendix—H

United Nations Budget : Members' Scale of Assessments

Member States	*Percentage (1966–67)*
Afghanistan	0·05
Albania	0·04
Algeria	0·10
Argentina	0·92
Australia	1·58
Austria	0·53
Belgium	1·15
Bolivia	0·04
Brazil	0·95
Bulgaria	0·17
Burma	0·06
Burundi	0·04
Byelorussian SSR	0·52
Combodia	0·04
Camroon	0·04
Canada	3·17
Central African Republic	0·04
Ceylon	0·08
Chad	0·04
Chile	0·27
China	4·25
Colombia	0·23
Congo (Brazzaville)	0·04
Congo (Dem. Republic of)	0·05
Costa Rica	0·04
Cuba	0·20
Cyprus	0·04
Czechoslovakia	1·11
Dahomey	0·04
Denmark	0·62
Dominican Republic	0·04
Ecuador	0·05
El Salvador	0·04
Ethiopia	0·04
Finland	0·43
France	6·09
Gabon	0·04
Gambia	0·04
Ghana	0·08
Greece	0·25
Guatemala	0·04
Guinea	0·04
Haiti	0·04
Honduras	0·04
Hungary	0·56
Iceland	0·04
India	1·85
Iran	0·20
Iraq	0·08
Ireland	0·16
Israel	0·17
Italy	2·54
Ivory Coast	0·04
Jamaica	0·06
Japan	2·77
Jordan	0·04
Kenya	0·04
Kuwait	0·06
Laos	0·04
Lebanon	0·05

Member States	Percentage (1966–67)	Member States	Percentage (1966–67)
Liberia	0 04	Saudi Arabia	0·07
Libya	0 04	Senegal	0 04
Luxembourg	0 05	Sierra Leone	0 04
Madagascar	0 04	Singapore	0 04
Malawi	0 04	Somalia	0 04
Malaysia	0·12	South Africa	0·52
Mali	0 04	Spain	0·73
Maldive Islands	0 04	Sudan	0 06
Malta	0·04	Sweden	1·26
Mauritania	0 04	Syria	0 05
Mexico	0 81	Thailand	0 14
Mongolia	0 04	Togo	0·04
Morocco	0·11	Trinidad and Tobago	0 04
Nepal	0·04	Tunisia	0·05
Netherlands	1·11	Turkey	0·35
New Zealand	0·38	Uganda	0 04
Nicaragua	0 04	Ukrainian SSR	1·97
Niger	0·04	USSR	14·92
Nigeria	0·17	United Arab Republic	0 23
Norway	0·44	United Kingdom	7·21
Pakistan	0·37	United Republic of Tanzania	0 04
Panama	0·04	United States	31·91
Parguay	0·04	Upper Volta	0·04
Peru	0·09	Uruguay	0·10
Philippines	0·35	Venezuela	0·50
Poland	1·45	Yemen	0·04
Portugal	0·15	Yugoslavia	0·36
Romania	0·35	Zambia	0 04
Rwanda	0 04		

Source : Plano & Riggs : op. cit., pp. 66-67.

EXERCISE

1. Critically examine the concept of International Organization
आलोचनात्मक रूप से अन्तर्राष्ट्रीय संघ की धारणा का परीक्षण कीजिए।

2. What is the nature of International Organization? Discuss its importance in the world of today
अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के लक्षण क्या है? आज के सन्दर्भ में इसके महत्व की व्याख्या कीजिए।

3. Define "International Organization". What are its fundamental assumptions?
"अन्तर्राष्ट्रीय संगठन" की परिभाषा कीजिये। इसकी आधारभूत अवधारणाएं क्या हैं?

4. "International *Organization* is a process; international *Organizations* are representative aspects of the phase of that process which has been reached at a given time." Discuss.
"अन्तर्राष्ट्रीय संगठन (Organization) एक प्रक्रिया है, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन (Organization) उस प्रक्रिया के प्रतिनिध्यात्मक पहलू हैं।" विवेचना कीजिये।

5. Critically examine the approaches to the study of International Organizations.
अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के अध्ययन के दृष्टिकोणों की आलोचनात्मक परीक्षा कीजिये।

6. Discuss the problem of membership in International organizations.
अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में सदस्यता की समस्या की विवेचना कीजिये।

7. Define and classify International Organizations.
अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की परिभाषा और उनका वर्गीकरण कीजिये।

8. Write a critical essay on "Evolution of International Organization"
"अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के विकास" पर आलोचनात्मक निबन्ध लिखिये।

9. In what respect did the formation of the League of Nations mark an advance in the history of International Organization? Discuss.

राष्ट्रसंघ के निर्माण को अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के इतिहास में किन दृष्टियों से प्रगति की दिशा में एक कदम माना गया है ? विवेचन कीजिये।

10 "The Hague approach to the problem of peace was distinctly rationalistic and legalistic." Discuss.

"शान्ति की समस्या के प्रति हग दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से विवेकवादी और विधानवादी था।" विवेचना कीजिए।

11 Write a critical essay on "process of change in International Organizations."

"अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में परिवर्तन की प्रक्रिया" पर आलोचनात्मक निबन्ध लिखिये।

12 What are the main instruments of change in international Organizations ? Do you agree that the processes of change within International Organizations have not been intensively studied ?

अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में परिवर्तन के मुख्य साधन क्या हैं ? क्या आप इस बात से सहमत हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में परिवर्तन की प्रक्रियाओं का अभी तक गहन अध्ययन नहीं किया गया है।

13 What kinds of obstacles often arise in the process of change in International Organizations ?

अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में परिवर्तन की प्रक्रिया में किस प्रकार की बाधाएं प्रायः उपस्थित होती हैं ?

14 Critically examine the work of the League of Nations in the political sphere. Do you agree with the view that the League could only succeed in minor disputes where the interests of big powers did not come into clash ?

राजनीतिक क्षेत्र में राष्ट्रसंघ के कार्यों का विवेचन कीजिये। क्या आप इस मत से सहमत हैं कि "राष्ट्रसंघ केवल उन छोटे झगड़ों को निपटाने में सफल हुआ जिनमें बड़े राष्ट्रों के हित परस्पर नहीं टकराते थे।"

15. "The Manchurian crisis decided the fate of the League of Nations." Examine the statement.

"मन्चूरिया के संकट ने राष्ट्रसंघ के भाग्य का निर्णय कर दिया।" इस कथन की समीक्षा कीजिए।

16. Describe and examine the League machinery for the maintenance of international peace.

अन्तर्राष्ट्रीय शांति को कायम रखने के लिए राष्ट्रसंघ द्वारा निर्मित कार्य-प्रणाली का वर्णन करते हुए उसकी परीक्षा कीजिए।

17. Critically examine the League system and account for its failure.

राष्ट्रसंघ प्रणाली की आलोचना करते हुए उसकी असफलता पर प्रकाश डालिये।

18. Describe and examine the League machinery for the administration of the Mandates.

मेण्डेट्स के प्रशासन के लिए राष्ट्रसंघ के मेण्डेट आयोग का वर्णन कीजिए।

19 What are the essentials of a world government ? Do you think the United Nations Organization satisfies any of these essentials ? Give reasons for your answer.

विश्व सरकार की क्या आवश्यकताएं हैं ? क्या आपके विचार में संयुक्त राष्ट्रसंघ किसी एक को भी सन्तुष्ट करता है ? उत्तर में कारण स्पष्ट कीजिए।

20. Describe the steps that led to the establishment of the United Nations.

संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना के लिए उठाये गये कदमों का वर्णन कीजिए।

21. In what respects is the Charter of the United Nations an improvement on the Covenant of the League of Nations ?

संयुक्त राष्ट्रसंघ का चार्टर राष्ट्रसंघ के प्रसंविदा से किस सीमा तक सुधरा हुआ रूप है ?

22. "The tendency toward government by the great powers, which was already unmistakable in the League of Nations, completely dominates the distribution of functions in the United Nations" Comment.

"महान शक्तियों द्वारा शासन, जिसका स्पष्ट संकेत राष्ट्रसंघ में निहित था, संयुक्त राष्ट्र के कार्य विभाजन में पूर्ण हावी हो गया।" टीका कीजिए।

23. Examine the case far and against the organization of international police force Do you think that the absence of such a force is a source of weakness of the United Nations ?

अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस शक्ति के निर्माण के पक्ष और विपक्ष में तर्क का परीक्षण कीजिए। क्या आपके विचार में ऐसी शक्ति का न होना संयुक्त राष्ट्र की कमजोरी का कारण है ?

24. Describe and examine the U.N. machinery for the administration of Trust Territories.

न्यास प्रदेशों के प्रशासन के लिए संयुक्त राष्ट्र न्यास व्यवस्था का वर्णन कीजिए।

25. Make out a case far and against the revision of the United Nations Charter.

संयुक्त राष्ट्र चार्टर संशोधन के पक्ष और विपक्ष में तर्क दीजिए।

26 Examine the concept of world peace through world law in the light of the Clark-Sohn proposals

क्लार्क-सोन के प्रस्तावों के आधार पर विश्व कानून द्वारा विश्वशान्ति की मान्यता का परीक्षण कीजिए।

27. Describe and examine the structure and functions of the International Court of Justice

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के ढाँचे तथा उसके कार्यों का वर्णन कीजिए।

28 Give an account of the organization and functions of the United Nations Organizations.

संयुक्त राष्ट्रसंघ के संगठन तथा उसके कार्यों का विवरण दीजिए।

29. Discuss the importance and the working method of the Security Council of the United Nations Organization with special reference to the Veto Would you advocate the abolition of the Veto as a means of making the United Nations more effective ?

निषेधाधिकार को विशेषतः स्पष्ट करते हुए संयुक्त राष्ट्रसंघ की सुरक्षा परिषद् के महत्व तथा कार्य-प्रणाली की विवेचना कीजिए। क्या आप संयुक्त राष्ट्रसंघ को और भी प्रभावशाली बनाने के लिए निषेधाधिकार को समाप्त करने का अनुमोदन करेंगे ?

30 "It has not only provided a forum, but has shown itself capable of taking decisions." In the light of this statement discuss the role of the General Assembly of the United Nations.

"इसने न केवल वाद-विवाद के लिए एक रंगमंच प्रदान किया है, बल्कि अपने आपको निर्णय लेने में समर्थ भी सिद्ध किया है।" इस कथन के प्रकाश में संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा की समीक्षा कीजिए।

31. How far is the U.N. Trusteeship system an improvement upon the Mandate system ?

क्या आप संयुक्त राष्ट्रसंघ की न्यास पद्धति को राष्ट्रसंघ की अध्यादेश पद्धति की अपेक्षा अधिक सुविकसित समझते हैं ?

32. Describe the machinery for the pacific settlement of international disputes under the Covenant of the League of Nations. What improvement if any, has the United Nations Charter made in this regard ?

राष्ट्रसंघ के संविदा के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शांतिपूर्ण समाधान के लिए जिस मशीनरी की व्यवस्था की गई थी उसका वर्णन कीजिए। इस सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में क्या सुधार अपनाये गये हैं ?

33. Article 52 of the Charter of the United Nations provides for the creation of regional agreements for the maintenance of international peace and security. Mention the regional agreements that have been created under this Article and examine briefly the nature of the work that is being done by them in the cause of international peace.

संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के अनुच्छेद 52 में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा कायम रखने के लिये प्रादेशिक अथवा क्षेत्रीय संगठनों के निर्माण का प्रावधान है। उन क्षेत्रीय संगठनों का वर्णन कीजिए जिनकी रचना इस अनुच्छेद के अन्तर्गत हुई है और साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय शांति के नाम पर किए जाने वाले इनके कार्यों की प्रकृति की भी परीक्षा कीजिए।

34. Examine the main changes that have taken peace in the organization and working of the United Nations since 1945.

1945 के उपरान्त संयुक्त राष्ट्रसंघ के संगठन तथा कार्य-संचालन में होने वाले मुख्य परिवर्तनों का परीक्षण कीजिए।

35. Examine the 'peace-keeping' role of the United Nations and account for its success and failures.

संयुक्त राष्ट्रसंघ के 'शान्ति-रक्षा' सम्बन्धी योगदान की परीक्षा करते हुए उसकी सफलताओं के कारणों पर प्रकाश डालिये।

36. Discuss the social welfare activities of the United Nations.

संयुक्त राष्ट्रसंघ के सामाजिक कल्याण सम्बन्धी कार्यों का विवेचन कीजिये।

37. Assess the role of the Secretary-General in the political activities of the United Nations.

संयुक्त राष्ट्रसंघ की राजनीतिक गतिविधियों में उसके महासचिव की स्थिति का मूल्यांकन कीजिये।

38. Do you think that it is possible to strengthen the United Nations and make it a more effective instrument to bring about world-peace, international co-operation and social justice ? Give concrete suggestions.

क्या आप समझते हैं कि संयुक्त राष्ट्रसंघ को अधिक शक्ति देकर उसे विश्व-शान्ति, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और सामाजिक न्याय के प्रसार का अधिक प्रभावी उपकरण बनाया जा सकता है ? इस सम्बन्ध में ठोस सुझाव दीजिये।

39. Discuss Article [illegible] (7) of the United Nations Charter with particular reference to the aparthied policies of the Union of South Africa.

संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के अनुच्छेद 2(7) का, विशेषत, दक्षिण अफ्रीका के संघ की 'जातीय पृथक्करण' की नीति को ध्यान में रखते हुए, विवेचन कीजिए।

40 Discuss the role of the United Nations in the eradication of colonialism, *giving concerete examples. What is hindering the* process of complete recolonisation.

उपनिवेशवाद के उन्मूलन में संयुक्त राष्ट्रसंघ के योगदान का सोदाहरण विवेचन कीजिये। उपनिवेशवाद की पूर्ण समाप्ति के मार्ग में क्या बाधायें हैं ?

41 "Since the Korean fighting ended, there has been a retreat from the concept of collective security." Do you agree to this view of working of the United Nations Organization ? Accout far the situation and suggest some solution.

"जब से कोरियन लड़ाई समाप्त हुई, तभी से सामूहिक सुरक्षा की सकल्पना से दूर हटा जाता रहा है।" क्या आप संयुक्त राष्ट्रसंघ के कार्यों से सम्बन्धित इस कथन से सहमत हैं ? जो स्थिति उत्पन्न हो गई है उसके कारणों पर प्रकाश डालिये और कोई उपाय सुझाइए।

42. Write a short note on Disarmament and evaluate the work of the World Disarmament Conference.

निःशस्त्रीकरण पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये और विश्व निःशस्त्रीकरण सम्मेलन के कार्य का मूल्यांकन कीजिए।

43 Discuss the progress of disarmament under the United Nations Organization.

संयुक्त राष्ट्रसंघ के तत्वावधान में निःशस्त्रीकरण की दिशा में की गई प्रगति की विवेचना कीजिए।

44 What is meant by Collective Security and what are its problems ? Is there any alternative to Collective Security ?

सामूहिक सुरक्षा से क्या तात्पर्य है तथा उसकी समस्याएं क्या हैं ? क्या सामूहिक सुरक्षा का कोई अन्य स्थानापन्न उपाय है ?

45. Write an essay on the working of the United Nations as an instrument for the establishment of World Peace.

विश्व-शान्ति की स्थापना के एक यन्त्र के रूप में संयुक्त राष्ट्रसंघ के कार्य पर एक निबन्ध लिखिए।

46. Describe in brief the objectives, functions and achievements of the I.L.O.

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ के उद्देश्यों, कार्यों और उपलब्धियों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

47. Describe in brief the objectives, functions and achievements of the UNESCO.

यूनेस्को के उद्देश्यों, कार्यों और उपलब्धियों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

48. Describe briefly the objectives, functions and achievements of International Monetary Fund and the International Bank for Reconstruction and Development.

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष तथा पुनर्निर्माण और विकास के लिए अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के उद्देश्यों, कार्यों और उपलब्धियों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

49 "The tendency toward Government by the great powers, which was already unmistakable in the League of Nations, completely dominates the distribution of functions in the United Nations" Comment.

"महान् शक्तियों द्वारा शासन, जिसका स्पष्ट संकेत राष्ट्रसंघ में निहित था, संयुक्त राष्ट्रसंघ के कार्य-विभाजन में पूर्णतः हावी हो गया है।" टीका कीजिये।

50. Describe the mechanism for collective Security under the Charter of the United Nations and show how it differs from the collective security system under the Covenant of the League of Nations.

संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के अन्तर्गत सामूहिक सुरक्षा का वर्णन कीजिए और बताइये कि राष्ट्रसंघ के संविदा के प्रतिज्ञा-पत्र के अन्तर्गत सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था से वह कहाँ तक भिन्न है ?

51 What are the week points of the United Nations ? Give suggestions for strengthening the U. N.

संयुक्त राष्ट्रसंघ की कमजोरियाँ क्या हैं ? संघ को शक्तिशाली बनाने के सुझाव दीजिये।

52. Write short notes on the following :—

(a) The Covenant on Human Rights, (b) Technical Assistance (c) Optional Clause, (d) Little Assembly of the United Nations, (e) The International Refugee Organization, (f) The World Health Organization, (g) West Asian crisis and the United Nations, (h) Afro-Asian Block, (i) World Development Authority, (j) Conflicts in Vietnam and Combodia

निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये:—

(क) मानव अधिकारों का संविदा, (ख) तकनीकी सहायता, (ग) ऐच्छिक धारा, (घ) संयुक्त राष्ट्रसंघ की लघु सभा, (ङ) अन्तर्राष्ट्रीय शरणार्थी संगठन, (च) विश्व स्वास्थ्य संगठन, (छ) पश्चिम एशिया संकट और संयुक्त राष्ट्रसंघ, (ज) अफ्रीकी-एशियाई राष्ट्र गुट, (झ) विश्व विकास अधिकरण, (ञ) वियतनाम और कम्बोडिया में लड़ाई-झगड़े।

Appendix—J

SUGGESTED READINGS

A. Official Records and other U.N. Publications :

1. Official Records of the General Assembly.
2. Official Records of the Security Council.
3. Official Records of the Trusteeship Council.
4. Year Book of the United Nations.
5. Year Book on Human Rights.
6. Weekly Bulletin.
7. United Nations Bulletin.
8. United Nations Review.
9. U N. Monthly Chronicle
10. United Nations Weekly Newsletter, New Delhi.
11. Every Man's United Nations, 1945–65.
12. Universal Declaration of Human Rights
13. The Impact of the Universal Declaration of Human Rights.
14. Basic Facts about the United Nations.

B. General Books:

1. **Arne, Sigrid** : United Nations Primer.
2. **Bentwich, Norman, & Martin, Andrew** : A Commentary on the Charter of the United Nations, 1951.
3. **Brierly, J. L.** : The Covenant and the Charter.
4. **Ball, M Margaret, and Killough Hugh B.** : International Relations.
5. **Buell, R. L.** : International Relations.
6. **Bentwich, N.** : The Mandates System.
7. **Cheever and Haviland** : Organization for Peace : International Organization in World Affairs.
8. **Chase, Eugene, P.** : The United Nations in Action, 1950.

9. **Claude, Inis L.** : Swords in to Ploughshare—the Problems and Progress of International Organization.
10. **Coyle, David Cushman** : The United Nations, 1958.
11. **Clark and Sohn** ; World Peace Through World Law.
12. **Dulles, John Foster** : War or Peace, 1957.
13. **Eagleton, Clyde** : International Government.
14. **Feller, A.H.** : United Nations & World Community, 1952.
15. **Firedmann, W.** : An Introduction to World Politics, 1951.
16. **Falk and Mendlovit, ed** : The Strategy of World Order, Vol. III.
17. **Goodrich, Leland M. & Hambro Edvard** : Charter of the United Nations, 1949.
18. **Gathorne-Hardy, G. M.** : A Short History of International Affairs, (1920–1939), 1950
19. **Goodrich Leland M & Simons, Anne P.** : The United Nations and the Maintenance of International Peace and Security, 1955.
20. **Galt, Tom** : How United Nations Works ?
21. **Gyorgy, Andrew, and Gibbs, Hubert S. eds.** : Problems in International Relations, 1955.
22. **Goodrich, Leland M.** : The United Nations, 1959.
23. **Gooch, G. P.** : Problems of Peace, Twelfth series.
24. **Hass, Ernest B. and Whiting, Allen S.** : Dynamics of International Relations, 1956.
25. **Havilland, H. Field** : The Political Role of the General Assembly, 1951.
26. **Hammarskjold, Dag** : The United Nations : An Appraisal 1956.
27. **Holcombe, Arthur N.** : Strengthing the United Nations, 1957.
28. **Kirk, Grayson** : The Changing Environment of International Relations, 1956.
29. **Luard, Evan** : The International Protection of Human Rights, 1966.
30. **Leonard, L. Larry** : International Organizations, 1951.
31. **Luard, Evan** : The Evolution of International Organizations, 1966.
32. **Langsam, Walter Consuelo** : The World Since 1914.
33. **Lie, Trygve** : In the Cause of Peace, 1954.

34. Learch, Charles O. : Principles of International Politics, 1956.
35. Levi W. : Fundamentals of World Organization.
36. Lord Attlee : The Future of United Nations, 1961.
37. Morgenthau Hans J., & Thomson, Kenneth W. ed. : Principles and Problems of International Politics, 1950
38 Maclaurin, John : The United Nations and Power Politics, 1951.
39 Morgenthau, Hans J. : Politics Among Nations.
40 Mangone, Gerard J. : A short History of International Organization.
41. Martin-Andrew, & Edwards, John B. S : The Changing Charter 1955.
42. Maanen-Helmer, V : The Mandates System.
43. Palmer, Norman D. & Perkins, Howard C. : International Relations, 1954
44. Potter, Pitman B. : An Introduction to the Study of International Organization, 1948.
45. Plano and Riggs : Forging World Order-The Politics of International Organization, 1967.
46. Padelford, Norman J. & Lincoln, George A. : International Politics, 1954.
47. Retuer, Paul : International Institutions, 1958.
48 Schwarzenberger, George : Power Politics : A Study of International Society, 1951.
49. Schuman, Frederick L : International Politics. 1953.
50 Sohn, Louis B. ed Basic Documents of the United Nations. 1956.
51. Schwebel, Stephen M. : The Secretary General of the United Nations, 1952.
52. Schleicher, Charles P. · Introduction to International Relations, 1954.
53. Theimer, Walter : Encyclopaedia of World Politics
54. Wright, Quincy : The Study of International Relations, 1955.
55. Wilcox, Francis O. & Marcy, Carl M. : Proposals for Changes in the United Nations, 1955.

56. Waters, Maurice : The United Nations, 1967.
57. Walters, F. P. : A History of the League of Nations, 1960.
58. Webster, C. K. : The League of Nations in Theory and Practice, 1933.
59 Wright Quincy : Mandates Under the League of Nations, 1930.

C. Journals, Magazines etc. :

1 The American Journal of International Law
2 The American Political Science Review.
3. Annual Review of United Nations Affairs, New York.
4. The British Year Book of International Law, London.
5. International Affairs, London.
6. Pacific Affairs, New York.
7 Foreign, New York.
8. The Indian Journal of Political Science.
9. The Hindustan Times, New Delhi.
10. The Year Book of World Affairs, London.
11. Foreign Affairs Reports, New Delhi.
12. I.L.O. News Service, New Delhi.
13. Dinman (Weekly).

मुद्रक : मूलचन्द प्रिन्टर्स, जयपुर–2